नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

प्राचीन शोधसंबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग १०—अंक १—२

NEW EDITION

VOL. 10

KHANDA. 1-4.

SAMVAT. 1986.

संपादक

महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

वैशाख-कार्तिक १९८६] [मूल्य प्रति संख्या २॥) काशी

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

प्राचीन शोधसंबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग १०—संवत् १९८६

संपादक

महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

लेख-सूची

शुद्धि-पत्र

पुराणों के महत्व का विवेचन

इस लेख के प्रूफ संशोधन में कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं। उनमें से प्रधान ये हैं:—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२९३	१६	समय समय	समय समय पर
२९५	७, १०	या	और
२९९	७, १०, २५	*	*
३०१	२	Portions	Portion
३०५	२०	होने	होवे
३११	५, २६	या	और
३१४	१७, १८	२४०००	१८०००
३१५	१४	२३०००	२५०००
	१५	श्लोक संख्या	श्लोक संख्या (२३०००)
३१८	१२	१०५००	१०७००

(१) ज्योतिषग्रंथ गर्गसंहिता में भारतीय इतिहास

[लेखक—श्री काशीप्रसाद जायसवाल, एम० ए०, विद्यामहोदधि]

गर्गसंहिता नामक एक ज्योतिषग्रंथ संस्कृत में है। यह ग्रंथ अभी तक छपा नहीं है। लुप्तप्राय हो रहा है। प्रतियाँ इतनी कम हैं कि १५ वर्ष की खोज में मुझे केवल दो पूरी और दो अधूरी मिलीं। एक अधूरी प्रति डच पंडित डा० कर्न (Dr. Kern) को मिली थी जिसमें से कुछ अवतरण उन्होंने अपने बृहत्संहिता-संस्करण की भूमिका में दिए हैं*। गर्गसंहिता में एक अध्याय **युगपुराण** नाम से है। इसमें संक्षेप से और युगों का हाल देकर कलि का इतिहास दिया हुआ है। यह इतिहास ऐसा है कि जो पुराणों में नहीं पाया जाता। डाक्टर कर्न के अवतरण देख मुझे इस अध्याय के अध्ययन करने की उत्कंठा हुई। एक पुरानी प्रति से उसके ऐतिहासिक अंश को, अपनी टिप्पणियों सहित, पहले "ब्राह्मण-साम्राज्य" (Brahmin Empire)† नामक निबंध में सन् १९१४ में मैंने प्रकाशित किया। यह संस्करण फोर्ट विलियम कालेज की एक प्रति से, जिस पर १८२५ सन् की मुहर है, तैयार किया गया था‡। इसके बाद

*Bibliotheca India, 1864-65. एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता से ईसवी सन् १८६४-६५ में छपी हुई बृहत्संहिता (वराहमिहिराचार्यकृत) अँगरेजी भूमिका पृ० ३२-४० ।

† Express समाचार, पटना, द्वारा ।

‡ अब एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता के पुस्तकालय में है। MS. 20 D. 1. पुस्तक का नाम पोथी में कहीं वृद्धगार्ग सं०, कहीं गर्ग सं० और कहीं **गार्गीय सं०** है।

महामहोपाध्याय विन्ध्येश्वरीप्रसादजी की कृपा से काशी संस्कृत कालेज की पूरी प्रति (नं० १२२)* मिली। उस पोथी में ग्रंथ-नाम **वृद्ध-गर्ग-विरचित-ज्योतिषसंहिता** है। भांडारकर इंस्टिट्यूट भांडागार (पूना) में एक प्रति है (नं० ५४९) पर इसमें युगपुराणवाले पत्रे गायब हैं।

ग्रंथ का रचना-काल

वराहमिहिराचार्य ने अपनी बृहत्संहिता में गर्गसंहिता से अवतरण दिए हैं, और यों कहना चाहिए कि ज्योतिष विषयक बहुत सी बातें, देशों की चर्चा, आदि गर्ग के ढंग पर ही उन्होंने की है। यह सरसरी तौर पर मेरे देखने में आई। वराहमिहिर से इस ग्रंथ के पुराने होने में संदेह नहीं है। शकों के राज्य तक का इतिहास दिया हुआ है। शकों के बाद के राज्यों का हाल इसमें नहीं है, तथा शकों का हाल इस तरह पर दिया है कि जैसे आँख से देखा हो। वरन् एक जगह तो ऐसा लिखा है कि अमुक बात मौखिक सुनी (**जनश्रुत**) है अर्थात् गर्ग ने या लेखक ने उसे सुनकर लिखा। शकों का राज्य और उसके साथ ही घोर अवर्षण तथा दुष्काल का वृत्तांत देकर युगपुराण पूरा हो जाता है। इससे जान पड़ता है कि यह ग्रंथ ईसाई संवत् के ४०-५० पहले का है अथवा यों कहिए कि जिस सामग्री से युगपुराण की रचना हुई वह मूल सामग्री २००० वर्ष पहले की है।

ग्रंथ लक्षण

युगपुराण की भाषा प्राकृतमिश्रित है। ग्रंथ के मूल की भाषा चाहे प्राकृत ही रही हो या संस्कृत-प्राकृत-मिश्र रही हो। इतिहास विषय इसमें संक्षेप और सचाई से वर्णित है। मगध साम्राज्य का मूल रूप से इतिहास है। पाटलिपुत्र स्थापना से आरंभ करके अग्निमित्र के वंश के समय में शकों का आना तथा अग्निमित्र-काल

---

* अधूरी प्रति नं० १२३ अंकित है।

के पहले यवन राजा का पाटलिपुत्र तक धावा करना, तथा कुछ ऐसे यवन (Greek) राजाओं के नाम देना जिनका कहीं भी वर्णन नहीं है, सिर्फ़ सिक्कों से आधुनिक ऐतिहासिक उनका नाम जानते हैं, एवं सिप्रा नदी पर (मालवा में) शकों का राज्य करना आदि अन्यत्र-अलभ्य वृत्तांत इसमें दिए हुए हैं।

पाठ-संस्करण

युगपुराण में बहुत संक्षेप से पूर्व तीन युगों के वर्णन के बाद तीसरे युग के अंत में महाभारत के नायकों की चर्चा-पुरस्सर महारानी कृष्णा की मृत्यु के साथ कलि का आरंभ माना है। यहाँ से लेकर प्राय: अंत तक का पाठ मैं कलकत्ता और काशी की प्रतियों* के आधार पर ठीक करके देता हूँ। एशियाटिक सोसाइटी की प्रति को (क), बनारस कालेज की प्रति को (ख) तथा डा० कर्न की प्रति के अवतरणों को (ग) के संकेत से लक्षित करता हूँ। यदि किसी सज्जन को अन्य कोई प्रति मिले तो पाठांतर मुझे सूचित करने की कृपा करें या स्वयं छाप दें। मेरी प्रतियाँ बिलकुल शुद्ध नहीं हैं।

शंकर और स्कंद के संवादरूप में युगपुराण है।

[§१ कलि का प्रारंभ]

(१) द्रुपदस्य सुता कृष्णा देहांतरगता मही ॥
(२) ततो न रक्षये वृत्त श्व(: ?) शाते नृपमंडले।
(३) भविष्यति कलिर्नाम चतुर्थं पश्चिमं युगं ॥
(४) तत: कलियुगस्यातो (० दौ) परीक्षिज्ज[न]मेजय:।
(५) पृथिव्यां प्रथित: श्रीमानुत्पत्स्यति न संशय: ॥

* कलकत्ता पु० पत्र १०२। काशी पु० पत्र ६२ से।
(२) शाते (ख) = शाते (क)
(३) यह पंक्ति (क) में नहीं है।
(४) कलियुगस्यातो (क), ०स्यांते (ख) ० जनमेजय (क), (ख),
(५) (क) शंशय:

(६) सोपि राजा द्विजै(:) सार्द्ध विरोधमुपधास्यति ।
(७) दारविप्रकृतामर्षः कालस्य वशमागतः ॥

[§२ पाटलिपुत्र की स्थापना]

(८) ततः कलियुगे राजा शिशुनागात्प्रजो बली ।
(९) उदधी (० यी) नाम धर्मात्मा पृथिव्यां प्रथितो गुणैः ॥
(१०) गंगातीरे स राजर्षिर्दक्षिणे स महावरे ।
(११) स्थापयेन्नगरं रम्यं पुष्पारामजनाकुलं ॥
(१२) तेथ (तत्र) पुष्पपुरं रम्यं नगरं पाटलीसुतम ।

[§३ पुष्पपुर की चिरजीविता]

(१३) पञ्चवर्षसहस्राणि स्थास्यते नात्र संशयः ॥
(१४) वर्षाणां च शताः पञ्च पञ्चसंवत्सरास्तथा ।
(१५) मासपञ्चमहोरात्रं मुहूर्त्ताः पञ्च एव च ॥

[§४ पुष्पपुर में राजा शालिशुक और "धर्मविजय"]

(१६) तस्मिन् पुष्पपुरे रम्ये जनराजा शताकुले ।
(१७) ऋतुका कर्मसुतः शालिशूको भविष्यति ॥

---

(७) (क) मर्ष
(८) शिशुनागात्मजो (ख), (ग)
(९) उदधीर्नाम (ग)
(१०) दक्षिणे समानाना चरो (ग), (क)
(११) नगरे (क), नगरे रम्ये पुष्पो राम जन संयुतं (ख)
(१२) तेथ (क, ख) प्राकृत-पन का द्योतक है। मालूम होता है कि मूल था तत्थ = तत्र। (ग) तेऽथ पुष्पपुरे रम्ये नगरे पाटलीसुते ।
(१३) स्थास्यंते (क, ग)
(१४) इस और १५ वीं पंक्ति में प्राकृत ढंग है। वर्षाणां वर्शताः (ख) संवत्सर० (ख)
(१५) ०रात्रा (ख)
(१६) रम्य जनशाजा (ग, क) रम्ये जनराजा (ख)
(१७) ऋतुका—(ग), ऋतुकः (ख)

(१८) स राजा कर्मसूतो दुष्टात्मा प्रियविग्रहः ।
(१९) स्वराष्ट्रमर्दते घोरं धर्मवादी अधार्मिकः ॥
(२०) स ज्येष्ठभ्रातरं साधुं केतिति (केतति?) प्रथितं गुणैः
(२१) स्थापयिष्यति मोहात्मा विजयं नाम धार्मिकम् ॥

[§५ पुष्पपुर पर यवन-चढ़ाई]

(२२) ततः साकेतमाक्रम्य पंचालान्मथुरां तथा ।
(२३) यवना दुष्टविक्रान्ता(:) प्राप्स्यन्ति कुसुमध्वजं ॥
(२४) ततः पुष्पपुरे प्राप्ते कर्दमे प्रथिते हिते ।
(२५) आकुला विषयाः सर्वे भविष्यन्ति न संशयः ॥
(२६) श(स्त्र)दु(द्रु)म-महायुद्धं तद् (तदा) भविष्यति पश्चिमं ।

[§६ कलि के अंत में देश की दशा*]

(२७) अनार्याश्चार्यधर्माश्च भविष्यन्ति नराधमाः ।
(२८) ब्राह्मणा(:) क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैवं युगक्षये ।
(२९) समवेषा(:) समाचारा भविष्यन्ति न संशयः ।
(३०) पाषंडैश्च समायुक्ता नरास्तस्मिन् युगक्षये ।
(३१) आनिमित्तं च मित्राणि करिष्यन्ति न संशयः ।
(३२) चीरवल्कलसंवीता जटावल्कलधारिणः ।

---

(१८) कर्मसूतो (सब में)
(१९) मर्द्दते (ख), घोरो (क) की जगह चैव (ख)
(२०) केतिति पाठ सब में है । पाली कितेति सं० केतति ।
(२२) पञ्चाला माथुरा (क, ख), (ग) का पाठ ऊपर दिया गया है ।
(२३) एवना (ख), ० ध्वजा (क)
* कलि का अंत पहले १००—१५० वर्ष विक्रम संवत् से पूर्व माना गया है। आगे देखिए ।
(२७) अनार्याश्चाप्यधर्माश्च (क).
(२८) चैव (ख)
(२९) समवेषा समाचारा (क)
(३२) चीरी० संवात्ता (क)

(३३) भिक्षुका वृषला लोके भविष्यन्ति न संशयः ।

(३४) त्रेताग्निवृषला लोके होष्यन्ति लघुविक्रियाः ।

(३५) ऊंकारप्रथितैर्मन्त्रै(:) युगांते समुपस्थिते ।

(३६) आग्निकार्ये च जप्ये च अग्निके च दृढव्रताः ।

(३७) शूद्राः कलियुगस्यान्ते भविष्यन्ति न संशयः ।

(३८) भोवादिनस्तथा शूद्रा[:] ब्राह्मणाश्च[ा]र्यवादिनः ।

(३९) स[म]वेशा(:) समाचारा भविष्यन्ति न संशयः ।

[§७ धर्ममीत का धन दुहना और यवनों का मध्य देश से वापिस जाना]

(४०) धर्म्ममीत-तमा वृद्धा जनं भोक्ष(क्ष्य)न्ति निर्भयाः ।

(४१) यवना ज्ञापयिष्य(ं)ति [नश्येरन्] च पार्थिवाः ।

(४२) मध्यदेशे न स्थास्यन्ति यवना युद्धदुर्मदा ।

(४३) तेषामन्योन्य-संभाव(ं) भविष्यति न संशयः ।

(४४) आत्मचक्रोत्थितं घोरं युद्धं परमदारुणं ।

[§८ साकेत के राजा और मगध की दशा]

(४५) ततो युगवशात्तेषां यवनानां परिक्षये ।

(४६) स[ा]केते सप्तराजानो भविष्यन्ति महाबलाः ।

---

(३३) वृषका (क)

(३४) हाष्यन्ति (ख)

(३६) अग्निकाये च जयो च (क)

(३८-३९) (ख) में है, (क) में नहीं। समावेशा पाठ पुस्तकों में है।

(४१) नशरेयं (क), (ख)

(४२) मध्ये (क), मध्यं (ख), (ग)

(४३) संभाव (ख), संभावा (क), (ग), भविष्यति (क), (ख) भविष्यन्ति (ग)

(४४) दारुणां (क)

(४५) परिक्षये (क), (ख), परिक्षयं (क)

(४६) संकेते (क) (ग), सकेते (ख)

(४७) लोहिता[द्रे]स्तथा योधैर्योधा युद्धपरिक्षता: ।

(४८) करिष्यन्ति पृथिवीं शून्यां रक्तघोरां सुदारुणां ।

(४९) ततस्ते मगधा: कृत्स्ना गङ्गासीना(:) सुदारुणा: ।

(५०) रक्तपातं तथा युद्धं भविष्यति तु पश्चिमं ।

(५१) अ[ा]ग्निवैश्यास्तु ते सर्वे राजानो (०नः) कृतविग्रहा: ।

(५२) क्षयं यास्यन्ति युद्धेन यथैषामाश्रिता जना: ।

[§९ शकों का आगमन]

(५३) शकानां च ततो राजा ह्यर्थलुब्धो महाबल: ।

(५४) दुष्टभावश्च पापश्च विनाशे समुपस्थिते ।

(५५) कलिंग-शत-राजार्थे विनाशं वै गमिष्यति ।

(५६) केचद्रकण्डै: (?) शबलैर्विलुपन्तो गमिष्यति ।

(५७) कनिघ्रास्तु हता(:) सर्वे भविष्यन्ति न संशय: ।

[§१० प्रथम शक राज्य का अंत]

(५८) विनष्टे शकराजे च शून्या पृथिवी भविष्यति ।

(५९) पुष्पनाम तदा शून्य (॰) [वी]भत्स (॰) भवति [वत] ।

(६०) भविष्यति नृप: कश्चिन्न वा कश्चिद् भविष्यति ।

(४७) लोहिताद्रौ० (क), ०द्रै (ख), योधैर् (क) में नहीं है। युद्ध परीक्षिता: (ख).

(४८) पृथिवीं शून्या (क).

(४९) मागधा: (क), कृत्स्नां (क).

(५०) (क) सुधं = युद्धं (ख)

(५२) ०मश्रिता (क)

(५३) ह्यर्थयुध्वा महबला: (क)

(५५) कलिंग० (ख), ०गा० (क), (ग), ०राजार्थं (ख), (ग) राजार्थं (क)

(५६) केचद्रकण्डै (क), (ग), कोवेडुकंडै: (ख) विलुंपन्तो (ख)

(५८) शकराजे (ग), ०राज्ये (क), (ख)

(५९) पुष्पनामान तदा शून्य वीभत्स भवति च त० (क), भवति वतं, (ख) भावता वत ।

[§११ म्लेच्छ राजागण]

(६१) ततो (ऽ)रणो धनुमूलो भविष्यति महाबलः ।
(६२) अम्लाटो लोहिताचेति पुष्यनामं [ग]मिष्यति
(६३) सर्वे ते नगरं गत्वा शून्यमासाद्य [स]र्वतः ।
(६४) अर्थलुब्धाश्च ते सर्वे भविष्यन्ति महाबलाः ।
(६५) ततः स म्लेच्छ आम्लाटो रक्ताक्षो रक्तवस्त्रभृत् ।
(६६) जनमादाय विवशं परमुत्सादयिष्यति ।
(६७) ततो वर्णांस्तु चतुरः स नृपो नाशयिष्यति ।
(६८) वर्णाधःवस्थितान् सर्वान् कृत्वा पूर्वाण्यवस्थि[तान्] ॥
(६९) आम्लाटो लोहिताक्षश्च विपत्स्यति सबान्धवः ।
(७०) ततो भविष्यते राजा गोपालोभाम-नामतः ॥
(७१) गोपा[लः] तु ततो राज्यं भुक्त्वा संवत्सरं नृपः ।
(७२) पुष्पकं चाभिसंयुक्तं ततो निधनमेष्यति ॥
(७३) ततो धर्मपरो राजा पुष्यको नाम नामतः ।
(७४) सोपि संवत्सरं राज्यं भु[क्त्वा] निधनमे(ष्ये)ति ।

(६१) ०रणो धनु० (ख).
(६२) आम्ला (म्ना?) ये (ख) गामिष्पति (क), (ख).
(६३) अन्त्यशब्द पर्यंतः पुस्तकों में है ।
(६४) अर्थबुधा ० (क)
(६५) अम्लाटो (क), ०स्तूचों (क).
(६६) ०त्स्याद्ये० (क),
(६८) वर्णाध०(क), कृत्वा सर्वे पूर्वा (क); (ख). पूर्वा की जगह पूस्मी (ख).
(६९) आम्राप लोहिताज्ञश्च विपत्सवोवधः । (क). आम्लाटोहि ०ताज्ञश्च विपत्स्यति सबान्धवः । (ख).
(७०) ०भामनमतः (क); ०नाम नामतः (ग).
(७१) गोपाळं नु (क) गोपाल (ग).
(७२) पुष्यके (क),(ख); "पुष्यक" (ग).
(७३) नाम-म्नानतः (क).
(७४) भुक्ता पुस्तकों में, प्राकृत है ।

(७५) ततः सविलो राजा अनरण्यो महाबलः ।
(७६) सोपि वर्षत्रयं भुक्त्वा पश्चान्निधनमेष्यति ।
(७७) ततो विकुयशाः कश्चिद्ब्राह्मणो लोकविश्रुतः ।
(७८) तस्यापि त्रीणि वर्षाणि राज्यं दुष्टं भविष्यति ।

[§१२ पुष्पपुर और राजा अग्निमित्र]

(७९) ततः पुष्पपुर (ं) स्या [त] तथैव जनसंकुलं ।
(८०) भविष्यति वीरं (र-) सिद्धार्थं(र्थ-) प्रसवोत्सवसंकुलं ।
(८१) पुरस्य दक्षिणे पार्श्वे वाहनं तस्य दृश्यते ।
(८२) हयानां द्वे सहस्रे तु गजवाहस्तु (क)ल्पतः ।
(८३) तदा भद्रपाके देशे अग्निमित्रस्तत्र कीलके ।
(८४) तस्मिन्नुत्पत्स्यते कन्या तु महारूपशालिनी ।
(८५) तस्या (अ)र्थे स नृपो घोरं विग्रहं ब्राह्मणैः सह ।
(८६) तत्र विष्णुवशाद्देहं विमो[क्ष्य]ति न संशयः ।
(८७) तस्मिन्युद्धे महाघोरे व्यतिक्रान्ते सुदारुणे ।
(८८) अ[ा]ग्निवैश्यस्तदा राजा भविष्यति महाप्रभुः ।
(८९) तस्यापि विंशद्वर्षाणि राज्यं स्फीतं भविष्यति ।
(९०) [आ]ग्निवैश्यस्तदा राजा प्राप्य राज्यं महेन्द्रवत् ।
(९१) भीमैः शरर(शबर?)-संघातैर्विग्रहं समुपेष्यति ।

(७५) सत्रिलो (क). "सत्रिल" (ग). स विपुलो (ख). अनरंण्यो (ख).
(७९) पुष्यपुरस्यात (क), ०स्यां (ख).
(८०) भविष्यति वीरं सिद्धार्थं (क) भवेद्वीरं सिद्धार्थं (ख).
(८२) काल्पतः पुस्तकों में ।
(८३) (ग) "भद्रपाक" "अग्निमित्र" (ग), आपेमित्र (क).
आमेसित्र (ख).
(८५) घोरं विक्रमं (ख).
(८६) तत्र वि—वसादेहं (क). विमोचति (क), (ख).
(८९) स्फीनं (क).
(९०) आग्नेवेश्य ०(क). महोद्रवत् (क).
(९१) भीमैा शररसंध्यतै (क).

(९२) ततः शरर(शवर?)-संघोरे प्रवृत्ते स महाबले ।

(९३) वृषकोटे (टि)ना स नृपो मृत्युः समुपयास्यति ॥

[§१३ आग्निवैश्य (आग्निमैत्र्य) राजाओं का अंत और देश की दशा]

(९४) ततस्तस्मिन् गते काले महायुद्धे [सु]दारुणे ।

(९५) शून्या वसुमती घोरा स्त्रीप्रधाना भविष्यति ।

(९६) कृषिं नार्यः करिष्यन्ति लाङ्ग[लक]र्णपाणयः ।

(९७) दुर्लभत्वान्मनुष्याणां क्षेत्रेषु धनुयोधनाः ।

(९८) [विंश]द्भार्या दशो या (वा) भविष्यन्ति नरास्तदा ।

(९९) प्रक्षीणाः पुरु[षा] लोके दिक्षु सर्वासु पर्वसु ।

(१००) ततः संघातशो नार्यो भविष्यन्ति न संशयः ।

(१०१) आश्चर्यमिति पश्यन्तो [दृष्ट्वा]धो(ऽधः)पुरुषाः स्त्रियः ।

(१०२) स्त्रियो व्यवहरिष्यन्ति ग्रामेषु नगरेषु च ।

(१०३) नराः स्वस्था भविष्यन्ति गृहस्था रक्तवाससः ।

[§१४ सातुराज]

(१०४) ततः सातुवरो राजा ह(हृ)त्वा दण्डेन मेदिनी(म्) ।

(१०५) व्यतीते दशमे वर्षे मृत्युं समुपयास्यति ।

---

(९२) ततः शरे रस घोरे प्रवृत्ते समुदावेले (क). महाबले शायद महाहवे की जगह हो ।

(९३) वृषपातेन (ख). मृत्युः (क).

(९४) ततस्मिन् (क). सदारुणे (पुस्तक में)

(९६) कृषीकार्यं ०लान्लो वण पाणयः (क). लाङ्गलोवर्ण-पाणयः (ख).

(९७) मनुष्यानां ० धनुयोधाना (क).

(९८) विसद् भार्य्या दशो या भवि ० (क); विशद् ० (ख).

(९९) पुरुषं (क), (ख).

(१००) ततः सघातशो नार्यो (क).

(१०१) दष्टा (पुस्तक में)

(१०३) नराः स्वरथा ० गृहस्ता (क)

(१०४) सतु० (क); सातु (ख).

(१०५) व्यतन्ते (क).

[§१५ सिप्रा पर शकों का उपद्रव]

(१०६) ततः प्रनष्टचारित्राः स्वकर्मोपहताः प्रजाः ।

(१०७) करिष्यन्ति चका(-शका) घो[रा] बहुलाश्च इति श्रुतिः ।

(१०८) चतुर्भागं तु [श]स्त्रेण नाशयिष्यन्ति प्राणिनां ।

(१०९) हरिष्यन्ति शकाः पोशं (कोशं? तेषां ?) चतुर्भागं स्वकं पुरं ।

(११०) ततः प्रजायां शेप्रायां तस्य राज्यस्य परिक्षयात् ।

[§१६ दुष्काल और महामारी]

(१११) देवो द्वादशवर्षाणि अनावृष्टिं करिष्यति ।

(११२) प्रजानाशं गमिष्यन्ते दुर्भिक्षभयपीडिताः ।

(११३) ततः पापक्षते लोके दुर्भिक्षे रोमहर्षणे ।

(११४) भविष्यति युगस्यान्तं सर्वप्राणिविनाशनं ।

(११५) जनमारस्ततो घोरो भविष्यति न संशयः ।

इसके बाद वर्णन है कि किस किस मंडल में अवर्षण से कैसा कष्ट रहा। यह वर्णन देते हुए अध्याय समाप्त हो जाता है।

ये यवन कौन थे ?

ईसवी सदी से कोई २०० वर्ष पूर्व देमित्रिय (Demetrios) नाम का यवन राजा हुआ जो काबुल से पश्चिम, बलख में, राज्य करता था। उसे ग्रीक ऐतिहासिकों ने "भारतीयों का राजा"

(१०७) वका (ख); घोरो (क), (ख); इतिश्रुतः (क).

(१०८) शास्त्रेन (क). शास्त्रेण (ख). नाशयिष्यति (ख).

(१०९) पोशं (क), (ख).

(११०) शेषायां (ख). राज्यां (ख).

(१११) देवो द्वारै द्यशवर्षाणि (क).

(११३) पापक्षये (क). दुर्भिक्षे (क).

(११४) विनाशानां (क).

(११५) जन्मार० (क).

कहा है। उसी के बारे में वहाँ लिखा हुआ है कि जब उसके मूल देश बैक्ट्रिया (बल्ख) में उसके अपने आदमी बिगड़ गए और गृहयुद्ध मच पड़ा तो देमित्रिय अपने देश को भारत से वापस चला गया। स्पष्ट है कि यही राजा मौर्यों के अंतकाल और शुंग-राज्य (पुष्यमित्र—बृहस्पति मित्र के राज्य) के आदि में आया था जिसे यहाँ **धर्ममीत** कहा है और जो आत्मचक्रोत्थित युद्ध के कारण मध्यदेश छोड़ वापस गया। इसके अफसरों को **तमावृद्धाः** कहा है अर्थात् वे **तमा** के बड़े अफसर थे। **तमा** ग्रीक में खजाने को कहते हैं अर्थात् ये उस समय के बकशी या कलेक्टर साहब थे जिनका अमल देश में बच रहा।

यवनराज का पटने की ओर आना श्रीखारवेल के शिलालेख से भी साबित होता है, और उसका साकेत घेर लेना पुष्यमित्र की सभा के व्याकरण भाष्यकार पतंजलि के **अरुणद् यवनसाकेतं** उदाहरण से भी विदित है।

म्लेच्छ राजा

केवल सिक्कों से ही कुछ यवन राजाओं के नाम विदित हैं। इनके विषय में और कोई दूसरा लेख नहीं है। इनके सिक्के काबुल और पंजाब में मिलते हैं। इनमें से एक का नाम **अमिनट** (Amyntas) है। गर्गसंहिता में इसका नाम **अम्लाट** था **आम्लाट** जान पड़ता है। दूसरा मुद्रांकित नाम (Appolophanes) अपोलोफान है, इसी का रूपांतर **गोपालोभाम** (ग० सं०) जान पड़ता है। ऐसे ही मुद्रागत Peukelaos (प्युकेल) और जिओल (Ziolos) नाम हैं। **पुष्पक** शायद **प्युकेल** की जगह हो या न हो पर **सबिल जिओल** से बहुत मिलता जुलता है। ये इंडोग्रीक के नाम से इतिहास में लिखे जाते हैं। इनका समय १५०—१०० ई० पूर्व माना जाता है। देमित्रिय के सिक्के संस्कृत और ग्रीक अक्षरों में पंजाब में पाए गए हैं।

अग्निमित्र का वंश

साकेत में अग्निमित्र के पिता पुष्यमित्र शुंग के वंशज राज्य करते थे यह बात अयोध्या के धनमित्रवाले शिलालेख से साबित है।

राजा शालिशूक

पुराणों के अनुसार यह राजा मौर्यवंश में अशोक के बेटे सुयश अथवा कुनाल का पुत्र था। इसके बड़े भाई संप्रति ने जैनधर्म को खूब फैलाया। मालूम पड़ता है कि शालिशूक ने इसकी नकल की। अशोक ने अपने शिलालेख में कहा है कि मेरे बेटे और पोते '**धर्मविजय**' की स्थापना करें। शालिशूक के बारे में यहाँ गर्गसंहिता में लिखा है कि यह अधार्मिक मोहात्मा राजा धर्मविजय नाम की स्थापना करनेवाला हुआ, अर्थात् इसने अवैदिक धर्म चलाया।

पाटलिपुत्र का कर्दम हित

'हित' (मेड़ या पुरता) के अर्थ का पता मनु (९—२७४) के **ग्रामघाते हिताभंगे** वाले कानून से लगता है। कर्दम का पुश्ता पिछले साल की खुदाई में यहाँ पटने के दक्खिन भाग में निकला है। १४ फुट की मिट्टी की मोटी दीवार है। साल के लाठों से जकड़ी हुई है। यही शहरपनाह थी। इस पर शतघ्नी आदि यंत्र रखे हुए थे। (अ० २४, अर्थशास्त्र कौटिलीय)। अब भी इस दीवार के मोर्चे खुदकर बाहर हुए हैं जिनमें शस्त्र पाए गए हैं। इसी दीवार पर लड़ाई हुई जिसमें यवनों को हारकर पीछे हटना पड़ा।

कलि का शेष भाग

जैसे यहाँ यवनराज्य कलिशेष में लिखा है वैसे ही वायुपुराण (९९। ३८८—९०) में भी लिखा है। यवन विक्रम संवत् से कोई १५० या १०० वर्ष पूर्व यहाँ जमे थे। इससे कलिशेष १५०-१०० वि० पूर्व हुआ। मनु ने (१। ६९—७०) १२०० वर्ष कलि को माना है। श्रीकृष्ण की मृत्यु (यहाँ कृष्णा द्रौपदी की मृत्यु)

से महापद्म तक १,०५० होते हैं। पुराणों में भी साफ लिखा है कि परीक्षित् के अभिषेक से बारह सौ वर्ष तक कलि का काल है।* इससे जान पड़ता है कि २०० पूर्व विक्रम के लगभग कलि-शेष माना गया। फिर पीछे जब समय लौटता नहीं देखा तो कलि को विक्रम तक माना और फिर कल्कि तक, जो पाँचवीं सदी में हुए।†

* वचनों को J. B. O. R. S. III. P. 254 में मैंने उद्धृत कर दिया है।

† Indian Antiquary July, 1917. में मैंने कल्किराज के प्रादुर्भाव का संवत् जैन ग्रंथों से दिया है।

(२) अवधी हिंदी प्रांत में राम-रावण-युद्ध

[लेखक—रायबहादुर श्री हीरालाल बी० ए०]

बाबू श्यामसुंदरदास ने अपने 'हिंदी भाषा का विकास' नामक ग्रंथ में लिखा है—"प्राचीन अर्धमागधी" की स्थानापन्न अवधी भाषा है जिसे कुछ विद्वानों ने 'पूर्वी हिंदी' भी नाम दिया है। अवधी के अंतर्गत तीन मुख्य बोलियाँ हैं—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। अवधी और बघेली में कोई अंतर नहीं है, बघेलखंड ही में बोली जाने के कारण अवधी का नाम बघेली पड़ गया है। छत्तीसगढ़ी पर मराठी और उड़िया का प्रभाव पड़ा है इस कारण वह अवधी से कुछ बातों में भिन्न हो गई है।" यह सर जार्ज ग्रियर्सन की भारतीय भाषा-निरूपण ग्रंथावली के आधार पर लिखा गया है। ग्रियर्सन साहब ने अपनी ग्रंथावली की भूमिका में एक मानचित्र दिया है उसका कुछ भाग यहाँ दिया जाता है। इस मानचित्र में संयुक्त प्रांत और मध्य प्रदेश तथा मध्यभारत के कुछ रजवाड़े यथा बघेलखंड और बुंदेलखंड दिखलाए गए हैं और जिस प्रकार की हिंदी इन प्रांतों में बोली जाती है उनकी सीमा इंगित कर दी गई है। इस लेख का संबंध पूर्वी हिंदी बोलनेवाले विशेष कर अवधी भाषी प्रांत से है। इसके उत्तरी छोर पर अयोध्या और दक्षिणी छोर पर अमरकंटक है जो बघेलखंड के अंतर्गत है। अमरकंटक के परे छत्तीसगढ़ का प्रांत है जो प्राचीन काल में महाकोशल कहलाता था और जिसमें दंडकारण्य फैला हुआ था। अवधी भाषा कुछ कर्कश है और कई लोगों को उजड्डपन और ग्रामीणतापूर्ण जान पड़ती है। नीचे लिखी बानगी को परख देखिए—"याकन के घर मा कथा होति रहै। उन गाँव भरे का न्यौता दीन रहै। सुनुवैयन मा एकु अहिरौ रहै। कथा सुनै की बेरिया वहु रूवावा

बहुत करै। जो पंडित कथा बाँचति रहैं उइ वहि का प्रेमी जानि-कै निकी तना बैठावैं औ खुब खातिर करैं। याक दिन पंडित पूँछेन कि भगानि भाई तुम एतना रवावत काहे का हौ। तुम का का जानि परत है। यह सुनि कै अहिरवा औरौ ज्वार ज्वार रवावै लाग। वह ब्वाला कि महराज मोरे एकु भैंसि बियान रहै। वह नजरयाय गै औ पड़ौना का नगच्याय न देई। पड़ौना दिन भरि चिल्लान औ सँझली जून मरिगा। वही की तना पंडित तुमहू दिन-भरि चिल्लाति हौ। यहि ते मोंहि का डेर लागत है कि कतौं तुम-हूना वही की नाहिंन मरि जाव।" परंतु कविवर तुलसीदासजी ने इसी भाषा में रामचरितमानस लिखकर उसे ऐसी ऊँची सिढ़ी पर चढ़ा दिया है कि वह श्रेष्ठ काव्य की जननी बन गई है। साथ ही साथ एक और विशेष महत्त्व की बात का पता लगा है। वह यह है कि सब से प्राचीन महायुद्ध इसी के उदरांचल के भीतर हुआ। त्रेता युग में राम उत्तर कोशल के छोर से पैदल चलकर दक्षिण या महाकोशल की सीमा को पहुँचे और उन्होंने उस सम्राट् को, जिसने उनकी प्रिय पत्नी का हरण कर लिया था, हराकर विजय का डंका बजाया और उभय कोशलों का आधिपत्य प्राप्त कर प्रजा-पालन और शासन का वह नमूना दिखला दिया जो 'रामराज' शब्द के उच्चारण करते ही प्रत्येक हिंदू के हृदय में आदर्श का चित्र खड़ा कर देता है। क्या कोई ऐसा भी हिंदू है जिसने राम, सीता, रावण और लंका या रामायण का नाम न सुना हो? भग-वान् राम की पत्नी सीता को लंका का राजा रावण हर ले गया, इससे राम ने रावण को मार डाला। इसी कथा को तो रामा-यण कहते हैं। राम अयोध्या के राजा के ज्येष्ठ पुत्र थे। अयोध्या आज तक उसी नाम से स्थिर है। किसी को उसके विषय में कभी शंका न हुई, और न है। परंतु रावण की लंका के विषय में बहुत बड़ा भ्रम है। यथार्थ में लंका जातिवाचक संज्ञा है। कई भाषाओं में लंका का अर्थ द्वीप, टापू या टीला होता है। इसके कारण और

भी अधिक गड़बड़ मच गई है। बहुतेरे लोग सिंहल द्वीप या सीलोन को लंका मानने लगे हैं, परंतु कई ऐसे हैं जो उसकी स्थिति सीलोन के पश्चिमोत्तर मालद्वीप को निर्धारित करते हैं। कोई कोई पूर्व की ओर झुककर मलाया प्रायद्वीप के निकट बतलाते हैं और कोई कोई कहते हैं कि लंका अब रही ही नहीं; रामचंद्रजी के अयोध्या लौटने पर समुद्र में डूब गई। यह तो जल के मध्यस्थ अनुमानित लंका की दशा है। अन्य विद्वान् थल के बीच कोई आसाम और कोई विंध्य पर्वत पर बतलाते हैं। इसी अंतिम कल्पना के आधार पर ऊपर कह चुके हैं कि रामचरित की पूर्ण घटना अवधी प्रचारांचल के बीच में हुई।

नौ वर्षों से अर्थात् जब से भारतीय विद्वत्परिषद (Indian Oriental Conference) का जन्म हुआ है तब से जोर दिया जा रहा है कि रावण की लंका मध्यभारत में विंध्यगिरि की अमरकंटक नामक चोटी पर थी। इस मंतव्य के पक्ष विपक्ष में अनेक हिंदी और अँगरेजी पत्र पत्रिकाओं में कई लेख लिखे जा चुके हैं और विद्वत्परिषद की कई बैठकों में वाद-विवाद भी हो चुका है। परंतु अभी तक कोई ऐसा तर्क नहीं उपस्थित हुआ जो इस नूतन विचार को निर्मूल सिद्ध कर सके।

वाल्मीकीय रामायण की कथा से स्पष्ट लख पड़ता है कि लंका अयोध्या से दक्षिण की ओर थी। राम को जब वनवास की आज्ञा हुई तब वे दक्षिण की ओर जाकर चित्रकूट में बहुत दिनों तक रहे; वहाँ से चलकर दंडकारण्य को गए और उसी जंगल से रावण सीता को हरकर लंका द्वीप को ले गया। द्वीप का अर्थ सागर-मध्यस्थ थल का टुकड़ा लेने से सैकड़ों मील के विस्तारवाले समस्त द्रविड़ देश को बिना पार किए उसकी स्थिति बैठाने का सुभीता नहीं होता था, परंतु राम की दैवी शक्तियों का मनन करने से इस आपत्ति को झेलना कठिन नहीं जान पड़ा, जिसका परिणाम यह हुआ कि लोग सीलोन को रावण की लंका मानने लगे। इसका प्रचार कब से हुआ इसका पता

नहीं चलता, किंतु कुछ ग्रंथों से यह निष्कर्ष निकलता है कि सिंहल द्वीप लंका से भिन्न है। निदान सहस्रेक वर्ष पूर्व कोई कोई विद्वान् जानते थे कि सिंहल द्वीप लंका से भिन्न है। यथा कवि राजशेखर के बालरामायण नाटक में सीता-स्वयंवर के समय राजशेखर नामक सिंहल के राजा का उपस्थित होना लिखा है। वहाँ रावण भी उपस्थित था। वह राजशेखर को ताना मारकर यों कहता है—

रावण—सिंहलपते किमिदं संदिह्यते। न च संदेह देहो वीर-वृत्तनिर्वाहः।

इससे स्पष्ट है कि यदि सिंहल और लंका एक होते तो लंकेश रावण राजशेखर को सिंहलपति क्यों कहता।

इस प्रकार के और भी कई उल्लेख मिलते हैं जिनसे लंका की सिंहल से विभिन्नता सिद्ध होती है। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में दक्षिणीय देशों के नाम गिनाते समय लंका और सिंहल के अलग अलग नाम लिखे हैं। इस प्रकार की ज्ञप्ति होने पर भी जो रूढ़ि चल निकली, उस पर शंका करना अधर्म का चिह्न गिना जाने लगा। इसलिये श्रद्धा-प्रवाह के प्रतिकूल जाने के लिये किसी का साहस न हो सका।

परंतु वह जमाना अब नहीं रहा। अँगरेजी शिक्षा तर्क वितर्क पर अधिक ध्यान देती है। उसी के प्रभाव से अब लंका की स्थिति पर अनेक शंकाएँ उपस्थित की गई हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। हर एक के विषय में जो जो प्रमाण पेश किए गए हैं उनकी जाँच से तो अभी तक यही प्रतीत होता है कि रावणीय लंका के अमरकंटक में होने का दावा दृढ़तर है। बहुतेरे लोगों की समझ में यह नहीं आता कि लंका पहाड़ के ऊपर कैसे हो सकती है। अमरकंटक के पास सागर कहाँ है? हनुमान् सागर-पार करके लंका को गए थे। थल के बीच सागर कैसे हो सकता है? रामेश्वर सागर के तट पर था। वह तो कन्याकुमारी के निकट है। मध्य-भारत में क्योंकर आ सकता है? राम ने सागर में जो सेतु बाँधा था वह कहाँ है?

यद्यपि कई लोगों ने महोबे के कीर्तिसागर, बिलहरी के लछमन-सागर और सागर जिले के सागर सदर मुकाम और उसके तालाब का हाल, जिसके कारण नगर और जिले का नाम पड़ा, अवश्य सुना होगा और कदाचित् छत्तीसगढ़ की महासमुद्र नामक तहसील का भी नाम सुना होगा, तथापि उनका ध्यान इस बात पर पूर्णरूप से आकृष्ट नहीं हुआ कि बड़े बड़े जलाशय भी सागर कहलाते हैं। लोग बहुधा सागर के एक ही अर्थ अर्थात् समुद्र का चिंतन कर भ्रम में पड़ जाते हैं। दंडकारण्य इस प्रकार के सागरों से भरा हुआ था। वहाँ अभी तक बड़े बड़े तालाबों की बहुलता है। वस्तुतः दंडक शब्द का शावरी भाषा में अर्थ ही "जलमय" या "जलप्लावित" होता है। वही अर्थ जनस्थान का होता है जो शावरी जैतान का संस्कृत रूप है। अमरकंटक की तली में आज तक एक बड़ा भारी दलदल है जिसको कोई पार नहीं कर सकता। मध्य प्रदेश के प्रथम चीफ़ कमिश्नर ने कोई साठ वर्ष पूर्व हाथी पर चढ़कर कुछ दूर जाने का प्रयत्न अवश्य किया था, परंतु हाथी धँस जाने से उक्त साहब बहादुर को कष्ट सहकर वापिस आना पड़ा। इस पर से सरलता से अनुमान किया जा सकता है कि राम के समय में वहाँ पर पानी का कितना भारी संग्रह रहा होगा। उसको यदि सागर की उपमा दी गई रही हो तो कौन सी असंगत बात है! आजकल के लोग भी अमरकंटक की चोटी पर चढ़कर नीचे की ओर जब दृष्टिपात करते हैं तो सोननद के जल पर नज़र पड़ते ही सहसा उनके मुखों से निकल पड़ता है 'यह कौन समुद्र भरा है'। सोनभद्र इसी अमरकंटक से निकला है। वहीं से नर्मदा का भी निकास है। परंतु नर्मदा नव वधू के समान अपना कोश छिपाए हुए है। सोन मानों बरात सजाकर अपने वैभव की प्रदर्शिनी करता है।* अस्तु, अमरकंटक के किनारे का ही जलाशय सागर

* स्मरण रहे कि एक पौराणिक कथा के अनुसार नर्मदा और सोन का विवाह होनेवाला था, परंतु कुछ अनबन हो जाने के कारण पूरा नहीं हो पाया।

था महासागर था जिसको तैरकर (या काव्य की भाषा में कूदकर) हनुमान् लंकापुरी को पहुँच गए थे और अंत में राम ने इसी पर सेतु बाँधकर अपने वानरों की सेना का रावण की राजधानी में प्रवेश करवाया था। इस स्थल में शिव के मंदिरों की बहुतायत है। कई एक तो बिलकुल टूट फूट गए हैं, केवल विशाल लिंग एकाकी खड़े यत्र तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। राम के जमाने में लंका-तटस्थ जलाशय का विस्तार सौ योजन बतलाया गया है, परंतु शत योजन शब्द ही अनुमान का संकेत करता है। उससे इतना ही बोध होता है कि उसका विस्तार अन्य तालाबों से बड़ा था। कई समीपस्थ-स्थानों के नामों पर से भी समर्थन होता है कि लंका यहीं पर थी। यथा अमरकंटक के दक्षिण में अब तक लवन नामक परगना है जिसकी भूमि आस पास की भूमि से नीची है। प्राचीन काल में कदाचित् बहुत नीची संभवतः पानी से भरी रही हो। प्राचीन लेखों में लंका की स्थिति लवण सागर में बतलाई गई है। इस पर से प्रश्न उठता है कि वर्तमान लवन की स्थिति क्या केवल आकस्मिक है या प्राचीनकालिक याथातथ्य की स्मारक है? पुनः इसी प्रांत में "लक्ष्मणेश्वर" नामक शिवालय खरौद गाँव में विद्यमान है। कहा जाता है कि वहाँ खर-दूषण से युद्ध हुआ था। लक्ष्मणेश्वर के मंदिर के अस्तित्व से यह सहज भावना उत्पन्न होती है कि उसके आस पास रामेश्वर मंदिर भी कहीं रहा होगा। उसको उस स्थल पर होना चाहिए जहाँ पर से राम ने सेतु बाँधने का काम आरंभ किया था। कालांतर में सेतु तथा जलाशय आदि के मिट जाने पर क्या मंदिर का मिट जाना कोई आश्चर्य की बात है? रामायणी कथा प्रसंग का मनन करने से जान पड़ता है कि सागर नामक एक स्थानीय सरदार भी था जिसका आधिपत्य इस विस्तीर्ण जलाशय पर था। इसके बीच में भी एक टापू था जहाँ पर वह संभवतः रहता था। सागर ने राम सेना के उतरते समय रोक टोक की थी, परंतु जब राम ने उसके विध्वंस कर डालने की धमकी दी तब वह

सीधा हो गया। इस प्रकार से साधारण लोगों की शंकाओं का समाधान हो सकता है।

अब उन बातों की चर्चा करना अभीष्ट जान पड़ता है जिनके आधार पर ऊपर वर्णित नवीन कल्पना का जन्म हुआ है। मानव शास्त्रवेत्ताओं का मत है कि आर्य लोगों ने वायव्य की ओर से इस देश में प्रवेश किया और ज्यों ज्यों वे आगे बढ़ते गए त्यों त्यों वे जंगली मूल निवासियों को हटाते गए। जान पड़ता है कि रामचंद्र के होते तक उन्होंने विंध्य के उत्तरीय प्रांतों में अपना अधिकार जमा लिया था। इसके पश्चात् उन्होंने आगे बढ़ने का विचार किया और मार्ग खोलने के लिये विंध्य के पार निविड़ जंगलों में ऋषि मुनियों को मिशनरियों की भाँति पठवाना आरंभ किया, परंतु मूल निवासियों ने इसको अपने अधिकार पर, आक्रमण समझा, इसलिये वे उनको अनेक प्रकार से कष्ट पहुँचाने लगे और बहुतेरों को उन्होंने मार भी डाला। जब रामचंद्र ने दंडकारण्य में प्रवेश किया तब उनको अनेक ऋषियों की हड्डियों के ढेर दिखलाए गए और सुझाया गया कि यह सब जंगली लोगों का काम था जिनको कि वे राक्षस कहते थे। इसमें उनके राजा की भी सम्मति थी। उस समय यह राजा रावण था और अपने राज्य के पर्वतों की सबसे ऊँची चोटी पर रहता था। इस प्रांत में आज तक गोंडों की बहुतायत है जिनका रावण से संबंध अभी तक विस्मृत नहीं हुआ। गोंड बिलकुल अशिक्षित प्रायः जानवरों की समता की जाति है, इसलिये उन लोगों को अब यह नहीं मालूम, कि रावण कौन था, परंतु वंशपरंपरा की रूढ़ि द्वारा इतना जानते हैं कि वे रावणवंशी हैं। सन् १८९१ ईस्वी की जन-संख्या के समय प्रत्येक जाति की आंतरिक पंक्तियों के नाम भी लिखे गए थे, उस समय लाखों गोंडों ने अपने को रावणवंशी लिखाया था। आज भी कोई जाकर पूछे, तो वे यही बात बताते हैं। खीष्टीय तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी में ये गोंड लोग मौका पाकर मध्य प्रदेश के राजा बन बैठे थे। इनका आधिपत्य तीन चार सौ वर्षों तक

स्थिर रहा। इस राजघराने में सबसे प्रतापी राजा संग्रामशाह हुआ जिसके सोने के सिक्कों में उसके नाम के आगे "पौलिस्त्यवंश" खुदा मिलता है। इससे स्पष्ट है कि यद्यपि संग्रामशाह ब्राह्मण मंत्रियों और कार्यकर्त्ताओं से घिरा हुआ था जिन्होंने उसे क्षत्रियों में शामिल कर लिया था, तथापि उसने अपने यथार्थ वंश के नायक का तिरस्कार नहीं किया और अपनी वंशसूचक पदवी को स्थिर रखा। इतनी बात जानकर चित्रकूट छोड़ने पर राम की वनचर्या पर मनन करने की आवश्यकता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सीता का हरण अमरकंटक के आस पास के प्रांत में हुआ और उसी के निकट राम-रावण का अंत में युद्ध हुआ। राम ने गोंडों के विपक्षी उराँवों और शवरों को अपने पक्ष में कर लिया और उनकी सहायता से विजय पाई। यही उराँव प्राचीन काल में वानर कहलाते थे। शवरों की कदाचित् ऋक्ष संज्ञा रही हो। ये दोनों अभी तक अमरकंटक के आस पास पाए जाते हैं। शवरों की संख्या अब प्रायः छः लाख और उराँवों की नव लाख है। रामायण के पढ़ने से स्पष्ट लख पड़ता है कि राम ने इस संसार में नर-लीला की अर्थात् जिस प्रकार साधारण मनुष्य काम काज करते हैं उसी प्रकार उन्होंने किया। यथा जब वे अयोध्या से चले तब उनके मुकाम प्रतिदिन पंद्रह बीस मील पर होने लगे। उन्होंने यह नहीं किया कि अपनी दैवी शक्ति से अयोध्या से एकदम उड़ान मारकर एक ही दिन में चित्रकूट पहुँच जायँ। इसी प्रकार जब वे चित्रकूट से आगे बढ़े तो मामूली मंजिलें तय करते हुए पंचवटी पहुँचे जहाँ से सीता का हरण हुआ। जब वे सीता की खोज में निकले तो वही क्रम रहा। ऐसा कहीं नहीं पाया जाता कि वे दिन में सौ सौ मीलों की छलांगें भरने लगे हों। इस बात को ध्यान में रखकर अब हमको जाँचना चाहिए कि वाल्मीकीय रामायण में बतलाए हुए स्थानों को अतिक्रम कर किष्किंधा पहुँचने तक रामचंद्र की पार्टी दंडकारण्य के किस भाग तक पहुँची होगी। रामायण में एक स्थान से दूसरे स्थान तक की,

कहीं कहीं पर, दूरी भी लिखी मिलती है। इससे और भी निश्चयात्मक बोध होता है।

चित्रकूट छोड़ने पर श्रीरामचंद्रजी सब से पहले महर्षि अत्रि के आश्रम को पहुँचे। चित्रकूट के पास इनका आश्रम अब भी प्राचीन नाम से प्रसिद्ध है वहाँ के तपस्वियों ने राम को सावधान करते हुए दंडक वन में जाने का सुगम मार्ग बतलाया। तब वे कई ऋषियों के आश्रमों को देखते मरणप्राय. शरभंग के आश्रम में पहुँचे, वहाँ उनको निकटवर्त्ती सुतीक्ष्ण के आश्रम में जाने की सलाह दी गई और चेतावनी कर दी गई कि पंपा से लेकर चित्रकूट तक राक्षसों का बड़ा उपद्रव है। सुतीक्ष्ण के आश्रम में पहुँचकर राम वहाँ कुछ दिन रहे और फिर इधर उधर कई वर्षों तक घूम घामकर वहीं आ गए। पश्चात् वे वहाँ से चार योजन की दूरी पर अगस्त्य के भाई के आश्रम को गए, फिर वहाँ से अनतिदूर अगस्त्य के आश्रम को जाकर उन्होंने अपने रहने योग्य स्थान का पता लगाया। अगस्त्य ने अपने आश्रम से दो योजन पर गोदावरी नदी के तट पर पंचवटी स्थान बताया। वहीं पर कुटी बनाकर राम की पार्टी रहने लगी। यहीं से सीताजी को रावण हर ले गया। पंचवटी से थोड़ी दूर पर जटायु ने रावण को रोका परंतु उसने गृद्ध के पंख काट डाले और पंपा सरोवर से होते हुए सागर को लाँघकर वह ठेठ लंका को जा पहुँचा।

राम और लक्ष्मण जब सीता की खोज में निकले तो तीन कोस की दूरी पर क्रौंचारण्य में पहुँचे। उसे पार कर पूर्व की ओर मुड़ने पर एक घोर वन मिला। फिर वे एक भयंकर खोह में होकर महारण्य में घुसे। वहाँ कबंध राक्षस मिला। उसने बताया कि यहाँ से दक्षिण की ओर पंपा सरोवर के तट पर ऋष्यमूक पर्वत है; उस पर सुग्रीव नामक बंदर रहता है। उससे पूछने से सीताजी का पता लग जायगा। तब वे पंपा की ओर चले। वहाँ पर शबरी मिली। यह स्थान पहले मतंग ऋषि का आश्रम था। उसके पूर्व में ऋष्यमूक

पर्वत था जहाँ पर सुग्रीव से भेंट हुई। इसके निकट ही किष्किंधा थी जहाँ सुग्रीव का भाई बालि रहता था।

चित्रकूट छोड़ने पर जितने स्थलों के नाम बतलाए गए हैं उनकी स्थिति निश्चयपूर्वक स्थिर नहीं हुई है; तथापि रामायण में जो दूरी का हिसाब बताया गया है, उससे प्रकट होता है कि चित्रकूट से सुतीक्ष्ण का आश्रम प्राय: ३० मील था और वहाँ से पंचवटी लगभग ४८ मील पर थी। पंचवटी से किष्किंधा प्राय: १८ मील थी। इस प्रकार चित्रकूट से किष्किंधा सौ मील से अधिक दूरी पर नहीं थी। यदि वर्तमान रूढ़ि के अनुसार किष्किंधा निजाम के राज्य के दक्षिणीय अंतिम छोर पर अनगुंडी के पास मानी जाय तो पंचवटी से सीधी रेखा में उसका फासला लगभग ४०० मील पड़ता है, चाहे आप नासिक की पंचवटी मानें या बस्तर की पर्णशाला को मानें। ढूँढ़ते भटकते हुए लोगों को अनगुंडी को पहुँचते पहुँचते कम से कम एक महीना तो अवश्य लगना चाहिए, परंतु रामायण से व्यक्त होता है कि राम की सुग्रीव से भेंट होने में इससे आधा भी समय नहीं लगा। पुन: वाल्मीकि रामायण ही में नर्मदा नदी को किष्किंधा के दक्षिण में बतलाया है। परंतु अनगुंडी से नर्मदा नदी ४०० मील उत्तर में है। इन बातों से स्पष्ट लक्ष पड़ेगा कि सुग्रीव का स्थान दूर से दूर बिलासपुर जिले में था। इस जिले में केंदा नाम की एक प्राचीन जमींदारी है। संभव है कि यह किष्किंधा का लघु रूप हो। इसके सिवाय अनेक स्थान मिलते हैं जो प्राचीन ऋषि-आश्रमों के स्मारक हैं, यथा मातिन जहाँ आज भी जंगली हाथी मिलते हैं, मतंग ऋषि का आश्रम यहीं ज्ञात होता है। कदाचित् मतंगों की बहुतायत से ही यहाँ के ऋषि का नाम मतंग प्रसिद्ध हो गया हो।

इन्हीं स्थलों के आस पास उराँव = बनराँव = वानर जाति की बहुलता है जिसके मुखिया सुग्रीव थे। अनगुंडी के आस पास वानर जाति का लेशमात्र को भी पता नहीं है। इस प्रकार चित्रकूट और

अमरकंटक के बीच में सभी बातें ऐसी जम जाती हैं कि राम की नरलीला में कोई बाधा नहीं आती और उन जातियों का भी पता लग जाता है जो राम और रावण की सहायक थीं। एक समस्या अलबत्त: रह जाती है जो चित्त को कुछ क्षुब्ध करती है, यद्यपि उससे रावणी लंका की स्थिति में कोई विशेष आपत्ति नहीं आती। वह यह है! जिस पंचवटी से सीता का हरण हुआ वह कहां है? रामायण से ज्ञात होता है कि वह गोदावरी के किनारे थी। प्रख्यात गोदावरी, जो मध्यप्रदेश और निजाम के राज्य के बीच सीमा बनाती चली गई है वह, चित्रकूट और अमरकंटक के दक्षिण में सैकड़ों मील की दूरी पर है। उसकी स्थिति नूतन कल्पना के अनुसार चित्रकूट और अमरकंटक के बीच में होनी चाहिए। निस्संदेह इन स्थलों के बीच गुप्त गोदावरी नामक एक नदी अवश्य है परंतु वह चित्रकूट से दस बारह ही मील पर है। परंतु रामायण के अनुसार उसको चित्रकूट से कोई ७८ मील पर होना चाहिए। अभी तक कोई तीसरी गोदावरी का पता नहीं चला। परंतु इसका भी समाधान हो जाता है, जब हम देखते हैं कि द्राविड़ी जंगली लोग नदी को गोदारि कहते हैं। बत्तीस वर्ष पूर्व जब लेखक बस्तर रियासत में भ्रमण कर रहा था, तब उसको इस बात का अनुभव हुआ। लेखक की आदत थी कि जो नदी नाले पर्वत इत्यादि रास्ते में पड़ते थे उनके नाम अपने पथदर्शक कुली से अवश्य पूछता था। उसके मार्ग में कई नदी नाले पड़े परंतु पथ-दर्शकों ने सभी को गोदारि बतलाया। स्मरण रहे कि पथदर्शक एक गाँव से दूसरे गाँव तक ही जाता है, गाँव मिलते ही दूसरा व्यक्ति संग हो लेता है। इस प्रकार एक ही दिन की यात्रा में पाँच छः व्यक्तियों से काम पड़ जाता है। लेखक को दो तीन दिन तक एक ही नाम सब से सुनकर विश्वास हो गया कि ये लोग व्यक्तिवाचक संज्ञा न बतलाकर जातिवाचक संज्ञा बतला देते हैं अर्थात् केवल इतना इंगित करते हैं कि जिसके विषय में पूछ ताँछ की जाती है वह "नदी" है, इसलिये

गोदारि का अर्थ हुआ "नदी" जिसको आर्यों ने व्यक्तिवाचक समझकर साधु भाषा में गोदावरी कर डाला। इसी प्रकार राम को भी कोई स्थल बतलाया गया होगा जो किसी नदी के किनारे था और जिसे स्थानीय लोग गोदारि कहते थे। इस पर कदाचित् यह प्रश्न होगा कि क्या नदी के लिये गोदारि शब्द बिलासपुर ज़िले में अब भी प्रचलित है। लेखक बिलासपुर ज़िले की प्राय: सभी जातियों से मिला है, और उसने ओर से छोर तक तमाम ज़िला घूम डाला है, क्योंकि वहाँ पर वह कभी इंस्पेक्टर आफ़ स्कूल्स था, कभी फ़ैमिन रिलीफ़ आफ़िसर था और कभी एक्स्ट्रा असिस्टेंट कमिश्नर था। इसके सिवाय उसने मदु मशुमारी के लिये दो बार प्रांतीय दौरा किया था और अनेक जंगली भागों में जाकर केवल उनकी गणना ही का प्रबंध नहीं किया परंतु मध्यप्रदेशीय जाति विवरण ग्रंथ के लिये अनेक जातियों का ब्यौरेवार वर्णन उन जातियों के मुखियों के मुखों से सुनकर लिखा था। इसके सिवाय सर जार्ज ग्रियर्सन् की भाषा-निरूपण ग्रंथावली के लिये अनेक जंगली शब्दमालाएँ भी प्रस्तुत कीं, परंतु उस ज़िले में किसी को गोदारि शब्द का उपयोग करते नहीं पाया। इससे केवल यह सिद्ध होता है कि इस शब्द का बिलकुल लोप हो गया है। बिलासपुर ज़िले की जंगली भाषाओं में हिंदी के अनेक शब्द घुस गए हैं जिन्होंने मूल शब्द को अप्रचलित कर दिया है। तिस पर भी संभव है कि विशेष खोज करने पर अब भी पता लग जाय। लेखक के हाल ही के अनुभव से ज्ञात होता है कि कभी कभी वे बातें जिनका हम समझते हैं लोप हो गया है अकस्मात उभड़ पड़ती हैं। इसी साल की बात है कि लेखक राय साहब भैय्यालाल एक्स्ट्रा असिस्टेंट डाइरेक्टर कृषि-विभाग को, अपने गाँव हीरापुर (बंधा) को इस अर्थ से लिवा ले गया कि वे नर्मदा के तीरस्थ पड़ी हुई जमीन के काश्त करने की कोई युक्ति बतलावें। गाँव पर पहुँचने पर किसान भी संग हो लिए। नर्मदा के किनारे पहुँचकर प्रश्न किया गया कि सन्

१६२६ ई० का पूर कहाँ तक आया था। एक किसान ने तुरंत उत्तर दिया "लंका तक"। हम लोग आश्चर्यान्वित होकर पूछने लगे, लंका कहाँ है? उसने झट एक टीले को इंगित किया। तब हम सब लोग वहाँ गए और उस टीले को देखा तो उसे सब से ऊँचा पाया, उसके चारों ओर सूखे नाले थे। लेखक ने पूछा, इसको लंका क्यों कहते हैं? क्या यहाँ कभी रामलीला हुई थी? उत्तर मिला, "नहीं साहब, ऐसे ऊभड़ खाभड़ जंगल में रामलीला कैसे हो सकती है। यह नाम पुराना है। ऐसे ऊँचे टीलों को लंका ही कहते हैं।" हीरापुर (बंधा) जबलपुर शहर से १३ मील नर्मदा के किनारे पर एक गाँव है। यह लेखक के अधिकार में चार पाँच वर्ष पूर्व ही आया है। लेखक का विश्वास था कि टीला या टापू के लिये "लंका" शब्द का उपयोग दक्षिण ही में किया जाता है। परंतु यह तो अमरकंटक से भी उत्तर के गाँवों में अकस्मात् मिल गया।

लेखक ने अयोध्या, प्रयाग, चित्रकूट, अमरकंटक, बस्तर की पर्णशाला, नासिक, अनागुंडी, रामेश्वरम्, धनुषकोटि और सिंहल-द्वीप को स्वयं देखा है और रूढ़िगत राम-मार्ग का भी मनन किया है और उसके अनुसार रावण की राजधानी को सिंहलद्वीप के पोलन नरुआ (प्राचीन पौलस्त्य नगर) में स्थिर करने का प्रयत्न भी किया है, परंतु इसके पश्चात् अमरकंटक की बात सम्मुख आने पर पौरा-णिक और स्थानीय खोज के आधार से उसको प्रतीत होता है कि राम और रावण का युद्ध अमरकंटक की चोटी पर हुआ। एक ओर गोंड़ सेना और दूसरी ओर उराँव और शबरों की मुठभेड़ हुई। अंत में राम की जीत का डंका बजा जिसके द्वारा उभय कोशलों में रघुवंशी राज्य स्थिर हो गया और उसके साथ इस विस्तीर्ण प्रांत के एक छोर से दूसरे छोर तक अवधी भाषा का भी आधिपत्य जम गया और पूर्ण रूप से उसका प्रचार हुआ। अवधी का कलेवर जगन्नाथजी के कलेवर की नाईं चंदन ही का बना रहा, कभी ऐसा नहीं हुआ कि यत्र तत्र सागौन या साल के पच्चड़ लगाने पड़े हों।

(३) पृथ्वीराज-रासो का निर्माण-काल

[लेखक—महामहोपाध्याय रायबहादुर श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा]

पृथ्वीराज-रासो राजस्थानीय हिंदी भाषा का वीररसात्मक बृहत् काव्य है। राजपूताने में उसका बड़ा आदर है। पहले वही ग्रंथ इतिहास का खजाना समझा जाता था, परंतु आधुनिक विद्वान् शोधक उसकी असलियत में संदेह करने लगे हैं। उसका रचयिता चंद बरदाई उक्त ग्रंथ के अनुसार पृथ्वीराज का राजकवि था। यदि वास्तव में वह ग्रंथ पृथ्वीराज के समय में बना होता, तो उसमें लिखी हुई पृथ्वीराज के संबंध की सब घटनाएँ शुद्ध होतीं, परंतु प्राचीन शोध की कसौटी पर उनमें से अधिकांश ठीक नहीं उतरतीं। राजपूताने के प्रसिद्ध इतिहास-लेखक कर्नल टॉड ने उस ग्रंथ से बहुत सी बातें अपने 'राजस्थान' में उद्धृत की हैं और उसकी कविता पर मुग्ध होकर उसने उसके तीस हजार छंदों का अँगरेजी अनुवाद भी किया था*। बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी ने उसे ऐतिहासिक ग्रंथ समझकर उसका कुछ अंश अपनी ग्रंथमाला में प्रकाशित भी किया था।

ई० सन् १८७५ में प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डाक्टर बूलर को कश्मीर में संस्कृत-ग्रंथों की खोज करते समय [जयानक कवि-रचित] 'पृथ्वीराज-विजय महाकाव्य' की भोजपत्र पर लिखी हुई एक प्राचीन अपूर्ण प्रति मिली, जिस पर द्वितीय राजतरंगिणी के कर्त्ता जोनराज की टीका भी है। इस पुस्तक को पढ़ने के पश्चात् उक्त डाक्टर ने एशियाटिक सोसाइटी बंगाल को निम्नलिखित आशय का पत्र लिखा—

* मेरा लिखा हुआ कर्नल जेम्स टॉड का जीवनचरित्र, (खड्गविलास प्रेस; बाँकीपुर, (पटना) से प्रकाशित 'हिंदी टॉड राजस्थान'; प्रथम खंड में) पृ० ३३।

"पृथ्वोराज विजय का कर्त्ता निःसंदेह पृथ्वीराज का समकालीन और उसका राजकवि था। वह संभवतः कश्मीरी था और एक अच्छा कवि तथा पंडित था। उसका लिखा हुआ चौहानों का वृत्तांत चंद के लिखे हुए विवरण के विरुद्ध है और वि० सं० १०३० तथा वि० सं० १२२६ के शिलालेखों से मिल जाता है। 'पृथ्वोराज विजय महाकाव्य' में पृथ्वोराज की जो वंशावली दी हुई है वही उक्त लेखों में भी मिलती है और उसमें लिखी हुई घटनाएँ दूसरे साधनों अर्थात् मालवे और गुजरात के शिलालेखों से मिल जाती हैं। उक्त पुस्तक में पृथ्वोराज के पिता सोमेश्वर के संबंध में लिखा है—'उसका पिता अर्णोराज और उसकी माता गुजरात के सुप्रसिद्ध राजा जयसिंह की पुत्री कांचनदेवी थी। अर्णोराज की पहली रानी सुधवा से, जो मारवाड़ की राजकन्या थी, दो पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें से बड़े का नाम किसी ग्रंथ या शिलालेख में लिखा नहीं मिलता और छोटे का विग्रहराज (वीसलदेव) था।

"ज्येष्ठ पुत्र ने, जिसका नाम किसी ग्रंथ या शिलालेख में नहीं दिया है, अपने पिता को मार डाला। इस विषय में कवि लिखता है—'उसने अपने पिता की वैसी ही सेवा की, जैसी परशुराम ने अपनी माता की की और अपने पीछे दीपक की बत्ती के समान दुर्गंध छोड़ गया'। अर्णोराज के बाद उसका पुत्र विग्रहराज और उसके अनंतर उसका पुत्र अपरगांगेय (अमरगंगू) राजा हुआ। फिर उक्त पितृघाती के पुत्र पृथ्वोभट या पृथ्वोराज (दूसरे) को गद्दी मिली। पृथ्वोराज के पीछे मंत्रियों ने सोमेश्वर को राज्य-सिंहासन पर बिठाया, जिसने तब तक सारा समय विदेश में बिताया था और अपने नाना जयसिंह से शिक्षा पाई थी। सोमेश्वर ने चेदि (जबलपुर जिला) की राजधानी त्रिपुर में जाकर चेदिराज की कन्या कर्पूरदेवी से विवाह किया, जिससे उक्त काव्य के चरित्र-नायक पृथ्वोराज और हरिराज उत्पन्न हुए। अजमेर की गद्दी पर बैठने के थोड़े ही समय पीछे सोमेश्वर का देहांत हो गया और अपने पुत्र

पृथ्वीराज की नाबालिगी में अपने मंत्री कादंबवास (कादंबवास) की सहायता से कर्पूर देवी राजकाज चलाने लगी।

"उक्त काव्य में कहीं इस बात का नामनिशान तक नहीं है कि पृथ्वीराज दिल्ली के राजा अनंगपाल की कन्या से उत्पन्न हुआ था और उसे अनंगपाल ने गोद लिया था। यह आश्चर्य की बात है कि पुराने मुसलमान इतिहास-लेखकों ने भी यह कहीं नहीं लिखा कि पृथ्वीराज दिल्ली में राज्य करता था। वे उसे अजमेर का राजा बतलाते हैं; उनका कहना है कि वह राजद्रोह के कारण विजेताओं (मुसलमानों) के हाथ से, जिन्होंने उसे उसके राज्य में कुछ अधिकार दे रखे थे, अजमेर में मारा गया।

"मुझे इस काल के इतिहास के संशोधन की बड़ी आवश्यकता जान पड़ती है और मैं समझता हूँ कि चंद के रासो का प्रकाशन बंद कर दिया जाय, तो अच्छा होगा। वह ग्रंथ जाली है, जैसा कि जोधपुर के मुरारिदान और उदयपुर के श्यामलदास ने बहुत काल पहले प्रकट किया था। 'पृथ्वीराज विजय' के अनुसार पृथ्वीराज के बंदीराज अर्थात् मुख्य भाट का नाम पृथ्वीभट था न कि चंद बरदाई।"*

यह तो प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डाक्टर बूलर का मत है। हिंदी भाषा के इतिहास-लेखक मिश्र-बंधुओं ने अपनी 'हिंदी नवरत्न' नामक पुस्तक में चंद बरदाई का जन्म संवत् ११८३ और मृत्यु संवत् १२५० बतलाया है† और लिखा है—"रासो जाली नहीं है। पृथ्वीराज के समय में ही चंद ने इसे बनाया था। इसके अकृत्रिम होने का एक यह भी कारण समझ पड़ता है कि यदि कोई मनुष्य सोलहवीं शताब्दी के आदि में इसे बनाता, तो वह स्वयं अपना नाम न लिखकर ऐसा भारी (२५०० पृष्ठों का) बढ़िया महाकाव्य चंद को क्यों समर्पित कर देता।"‡

* यह पत्र एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल की प्रोसीडिंग्ज़ संख्या ४ और ५ (अप्रेल और मई) सन् १८९३ पृ० ९४-९५ में प्रकाशित हुआ है।

† हिंदी नवरत्न; तृतीय संस्करण; पृष्ठ ५५।

‡ वही; पृष्ठ ५९१।

बाबू श्यामसुंदरदासजी तथा पंडित रामचंद्रजी शुक्ल पृथ्वीराज रासो की घटनाओं तथा संवतों को अशुद्ध स्वीकार करते हुए उसके कर्त्ता का समय १२२५ और १२४९ के बीच में मानते हैं* और 'पृथ्वीराज-विजय' में जिन जिन घटनाओं तथा नामों का उल्लेख है, उन्हें ठीक समझते हैं† ।

यदि 'पृथ्वीराज-विजय' और 'पृथ्वीराज रासो' दोनों ग्रंथ पृथ्वीराज के समय में लिखे गए होते, तो एक ग्रंथ में पृथ्वीराज की वंशोत्पत्ति, उनके पूर्व-पुरुषों की नामावली, उसके माता पिता, भाई, बहिन तथा रानियों के नाम और युद्धों आदि के जो वर्णन दिए हुए हैं, वे ही दूसरे में भी होते, परंतु पृथ्वीराजरासो की मुख्य मुख्य बातें पृथ्वीराज-विजय से बहुधा भिन्न हैं और विजय के कथन तो शिलालेख आदि से मिलते हैं, पर रासो के नहीं। ऐसी दशा में दोनों ग्रंथों का निर्माण-काल पृथ्वीराज के समय में मानना किसी प्रकार युक्तिसंगत नहीं।

अब हम पृथ्वीराज रासो का समय निर्णय करने के लिये उसमें दी हुई मुख्य मुख्य घटनाओं की जाँच करते हैं—

पृथ्वीराज रासो और अग्निवंशी क्षत्रिय

पृथ्वीराज रासो में लिखा है—"आबू पर्वत पर एक बार ऋषि लोग यज्ञ करने लगे तो राक्षसों का समूह यज्ञ-विध्वंस की चेष्टा करने लगा। इस महान् उपद्रव से अत्यंत दुःखी हो सब ऋषियों ने वशिष्ठ के पास जाकर अपना समस्त दुःख निवेदन किया। तब वशिष्ठ ने स्वयं अग्निकुंड के पास आकर उसमें से परिहार, चालुक्य और परमार ये तीन क्षत्रिय उत्पन्न किए और उन्हें राक्षसों को मारने के लिये आज्ञा दी, किंतु जब यथासाध्य चेष्टा करने पर भी इन तीनों क्षत्रियों द्वारा अपेक्षित कार्य का संतोषप्रद साधन न हो सका तब वशिष्ठ स्वयं एक नवीन यज्ञकुंड की रचना कर श्री

* नागरीप्रचारिणी पत्रिका; भाग ९, पृष्ठ २८।

† वही; पृष्ठ ३३।

चतुरानन ब्रह्मा का ध्यान और जप करते हुए आहुति देने लगे, जिससे तुरंत ही चार बाहुवाला एक दीर्घकाय महान् तेजस्वी पुरुष उत्पन्न हुआ।............ वेदी से निकले हुए उस पुरुष को देखकर वशिष्ठ ने उसे चहुवान नाम से संबोधन किया" *

इस समय उक्त चारों क्षत्रियों के वंशज अपने को अग्निवंशीय मानते हैं, पर उनमें से केवल परमार की उत्पत्ति के संबंध में परमारों के शिलालेखों† तथा उनके ऐतिहासिक

---

*नागरीप्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित पृथ्वीराजरासो, आदि पर्व; पृथ्वीराजरासो सार; पहिला समय, पृष्ठ ७—८।

† अस्त्युच्चैर्गगनावलंबशिखरः क्षोणीभृदस्यां भुवि-
ख्यातो मेरुमुखोच्छ्रितादिषु परां कोटिं गतोप्यब्बुर्दः (बुर्दः)
........[३]॥

तस्मिंस्त्यक्तभवश्चरित्रविभवस्तथ्यं तपो तप्यत
ब्रह्मज्ञाननिधिर्गुणैर्निरवधिः श्रेष्ठो वसिष्ठो मुनिः।
........[४]॥

मुनेस्तस्यांतिके रेजे निर्मला देव्यरुंधती।
स्थिरवश्येंद्रियग्रामा तपः श्रीरिव जंगमा॥ [५]॥
अनन्यसुलभा धेनुः कामपूर्वास्य सन्निधौ।
ददती वांछितान्कामांस्तपः सिद्धिरिव स्थिता॥ [६]॥
ततः क्षत्रमदोद्वृत्तो गाधिराजसुतश्छलात्।
धेनुं जह्रेस्य दुष्प्राप्यां विप्रं सिद्धिमिवोद्यतां॥ [७]॥
अथ पराभवसंभवमन्युना ज्वलनचंडरुचा मुनिनामुना।
रिपुवधं प्रतिवीरविधित्सया हुतभुजि स्फुटमंत्रयुतं हुतं॥ [८]॥
पृष्ठे तोणीरयुग्मं दधदथ च करे चंडकोदण्डदण्डं।
बध्नन्जूटं जटानामतिनिबिडतरं पाणिना दक्षिणेन।
क्रुद्धो यज्ञोपवीती निजविषमदृशा भाययञ्जीवलोकं।
तस्मादुद्दामधामा प्रतिबलदलनो निर्गतः कोपि वीरः॥ [९]॥
आदिष्टस्तेन यातो रणममरगणैर्मंगले गीयमाने।
वाढं व्याप्तान्तरालैर्दिनकरकिरणच्छादकैर्बाणवर्षैः॥
कृत्वा भंगं रिपूणां प्रबलभुजबलः कामधेनुं गृहीत्वा।
भक्त्या तस्यांघ्रिपद्मद्वयलुलितशिराः सोऽवतस्थौ पुरस्तात्॥ [१०]॥

ग्रंथों* में लिखा है—'एक बार विश्वामित्र, आबू पर्वत पर रहनेवाले वशिष्ठ ऋषि की गाय नंदिनी को हर ले गए। इस पर वशिष्ठ ने क्रुद्ध होकर अपने अग्निकुंड में आहुति दी, जिससे उस कुंड में से एक वीर पुरुष प्रकट हुआ, जो शत्रु से लड़कर गाय छीन लाया। उसकी वीरता से प्रसन्न होकर ऋषि ने उसका नाम 'परमार' अर्थात् शत्रु के मारनेवाला रखा'। पृथ्वीराज रासो का परमारों की उत्पत्ति का कथन ऊपर उद्धृत किए हुए उन्हीं के शिलालेखों और पुस्तकों से भी नहीं मिलता।

प्रतिहार, चालुक्य (सोलंकी) और चौहानों के १६ वीं शताब्दी के पूर्व के शिलालेखों और पुस्तकों में कहीं भी अग्निवंश या वशिष्ठ के

आनतस्य जयिनः परितुष्टो वांछिताशिषमसौ विभिधाय।
तस्य नाम परमार इतीत्थं तथ्यमेव मुनिराशु (शु) चकार ॥ [११] ॥

बांसवाड़ा राज्य के अर्थुणा ग्राम के मंडलीश्वर महादेव के मंदिर में लगा हुआ परमार वंश के राजा मंडनदेव के समय में वि० सं० ११३६ का शिलालेख। इस प्रकार की उत्पत्ति अन्य शिलालेखों में भी मिलती है।

* ब्रह्माण्डमण्डपस्तम्भः श्रीमानस्त्यर्बुदो गिरिः ॥......॥ ४६ ॥
अतिस्वाधीननीवारफलमूलसमित्कुशम्।
मुनिस्तपोवनं चक्रे तत्रेक्ष्वाकुपुरोहितः ॥ ६४ ॥
हृता तस्यैकदा धेनुः कामसूर्गाधिसूनुना।
कार्तवीर्यार्जुनेनेव जमदग्नेरनीयत ॥ ६५ ॥
स्थूलाश्रुधारसन्तानस्नपितस्तनवल्कला।
अमर्षपावकस्याभूद्भर्तुस्समिदरुन्धती ॥ ६६ ॥
अथाथर्वविदामाद्यस्समंत्रामाहुतिं ददौ।
विकसद्विकटज्वालाजटिले जातवेदसि ॥ ६७ ॥
ततः क्षणात् सकोदण्डः किरीटी काञ्चनाङ्गदः।
उज्जगामाग्नितः कोऽपि सहेमकवचः पुमान् ॥ ६८ ॥
दूरं संतमसेनेव विश्वामित्रेण सा हृता।
तेनानिन्ये मुनेर्धेनुर्दिनश्रीरिव भानुना ॥ ६९ ॥
परमार इति प्रापत् स मुनेर्नाम चार्थवत् ।......॥ ७१ ॥

पद्मगुप्त (परिमल) रचित 'नवसाहसाङ्कचरित'; सर्ग ११।

यज्ञ के संबंध की कोई बात नहीं मिलती। उनसे उनका वंश-परिचय नीचे लिखे अनुसार मिलता है।

प्रतिहार वंश की उत्पत्ति

ग्वालियर से वि० सं० ९०० (ई० स० ८४३) के आसपास की प्रतिहार राजा भोजदेव की एक बड़ी प्रशस्ति मिली है। उसमें प्रतिहार सूर्यवंशीय बतलाए गए हैं* इसी प्रकार सुप्रसिद्ध कवि राजशेखर, जिसने वि० सं० की दसवीं शताब्दी में कई नाटक रचे, अपने नाटकों में उक्त भोजदेव के पुत्र महेंद्रपाल को, जो उसका शिष्य था, 'रघुकुल-तिलक†' और उसके पुत्र महीपाल को 'रघुवंशमुक्तामणि' लिखता है। शेखावाटी के प्रसिद्ध हर्षनाथ के मंदिर की चौहान राजा विग्रहराज के समय की वि० सं० १०३० की प्रशस्ति से भी कन्नौज के प्रतिहारों का रघुवंशी होना ज्ञात होता है‡। इन प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिहार पहले अपने को अग्निवंशीय नहीं, किंतु सूर्यवंशीय (रघुवंशी) मानते थे।

---

* मन्विक्ष्वाकुककुस्थ(त्स्थ) मूलपृथवः क्ष्मापालकल्पद्रुमाः ॥ २ ॥
तेषां वंशे सुजन्मा क्रमनिहितपदे धाम्नि वज्रेषु घोरं ।
रामः पौलस्त्यहिन्ध्रं (हिंस्रं) क्षत विहितसमित्कर्म्म चक्रे पलाशैः ।
श्लाध्यस्तस्यानुजोसौ मघवमदमुषो मेघनादस्य संख्ये ।
सौमित्रिस्तीव्रदंडः प्रतिहरणविधेर्यः प्रतीहार आसीत् ॥ ३ ॥
तद्वंशे प्रतिहारकेतनभृति त्रैलोक्यरक्षास्पदे ।
देवो नागभटः पुरातनमुनेर्मूर्त्तिर्ब्बभूवाद्भुतम् ।······॥ ४ ॥

आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया; वार्षिक रिपोर्ट, ई० सन् १९०३-४, पृष्ठ २८०

† रघुकुलतिलको महेंद्रपालः (विद्धशालभंजिका)।
देवो यस्य महेंद्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणिः ।
बालभारत; १ । ११ ।
तेन (महीपालदेवेन) च रघुवंशमुक्तामणिना ।
बालभारत ।

‡ इंडियन् ऐंटिक्वेरी; जिल्द ४२, पृष्ठ ५८-५९ ।

चालुक्य (सोलंकी) राजा विमलादित्य के ८वें राज्यवर्ष अर्थात् वि० सं० १०७५ (ई० स० १०१८) के दानपत्र में सोलंकियों को चंद्रवंशी लिखा है। इसके सिवा उसमें ब्रह्मा से अत्रि, अत्रि से सोम, सोम से लगाकर विचित्रवीर्य तथा उसके पुत्र पांडुराज तक की पूरी नामावली, पांडु के पाँचों पुत्रों युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन आदि के नाम और अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु से लगाकर विमलादित्य तक की वंशावली भी दी हुई है*। इससे स्पष्ट है कि उक्त संवत् में सोलंकी अपने को चंद्रवंशांतर्गत पांडवों के वंशज मानते थे।

चालुक्य वंश की उत्पत्ति

सोलंकी राजा कुलोत्तुंग चोड़देव (दूसरे) के सामंत बुद्धराज के शक संवत् १०९३ (वि० सं० १२२८) के दानपत्र में कुलोत्तुंग चोड़देव के प्रसिद्ध पूर्वज कुब्जविष्णु† को 'चंद्रवंश-तिलक' कहा है। सुप्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचंद्र ने, जो गुजरात के सोलंकी राजा जयसिंह (सिद्धराज, वि० सं० ११५०—११९९) तथा उसके

---

* श्रीधाम्नः पुरुषोत्तमस्य महतो नारायणस्य प्रभो-
नाभीपंकरुहाद् बभूव जगतस्स्रष्टा स्वयंभूस्ततः [।]
जज्ञे मानससूनुरत्रिरिति यस्तस्मान्मुनेरत्रित-
स्सोमो वंश[क]रस्सुधांशुरुदित [:] श्रीकंठचूडामणिः ॥ १ ॥
तस्मादासीत्सु[धा]सूतेर्बुधो बु[ध]नुतस्ततः [।]
ज[ा]तः पुरु(रू)रवानाम चक्रव[र्ती स] विक्रमः। [२]
ततोर्जुनादभिमन्युरभिमन्योः परिक्षि[त् परिक्षि]तो जनमेजयः जनमेजयात्क्षेमुकः क्षेमुकान्नरवाहनः नरवा[हन]। [च्छ]तानीकः शतानीकादुदयनः ....। तस्यैव दाननृपतेस्साध्व्याश्चार्य्य [।] महादेव्याः [।]
सूनुर्विमलादित्यस्सत्याश्रयवंशवर्द्धनो देवः [१२]
अनलानलरंध्रगते शकवर्षे वृषभमासि सितपक्षे।
यष्षष्ठ्यां गुरुपुष्ये सिंहे लग्ने प्रसिद्धमभिषिक्तः। [१३]
एपिग्राफिआ इंडिका; जिल्द ६ पृ० ३४१-४८।

† ओं [॥] अस्ति श्रीस्तनकुंकुमांकितविराज [द्व्यू]ढ वक्षस्थलो
देवश्शीतमयूखवंशतिलक [:] श्री [कु]ब्जविष्णुर्नृपः।...१
वही; जिल्द ६, पृ० २६६।

उत्तराधिकारी कुमारपाल (वि० सं० ११९९-१२३०) से सम्मानित हुआ था, अपने 'द्वयाश्रय महाकाव्य' के ९वें सर्ग में गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव के दूत और चेदि देश के राजा कर्ण के वार्तालाप का सविस्तर वर्णन किया है। उसका सारांश यह है—

"दूत ने राजा कर्ण से पूछा कि भीम आपसे यह जानना चाहते हैं कि आप उनके मित्र हैं वा शत्रु। इसके उत्तर में कर्ण ने कहा कि कभी निर्मूल न होनेवाला सोम (चंद्र) वंश विजयी है। इसी वंश में जन्म लेकर पुरूरवा ने पृथ्वी का पालन किया। इंद्र के अभाव में डरे हुए स्वर्ग का रक्षण करनेवाला मूर्तिमान् क्षात्रधर्म नहुष इसी कुल में उत्पन्न हुआ। इसी वंश के राजा भरत ने निरंतर संग्राम करने और अनीति के मार्ग पर चलनेवाले दैत्यों का संहार कर अतुल यश प्राप्त किया। इसी कुल में जन्म लेकर धर्मराज युधिष्ठिर ने उद्धत शत्रुओं का नाश किया। जनमेजय तथा अन्य अक्षय यशवाले तेजस्वी राजा इसी वंश में हुए और इन सब पूर्ववर्ती राजाओं की समानता करनेवाला भीम (भीमदेव) इस समय विजयी है। सत्पुरुषों में परस्पर मैत्री होना स्वाभाविक है, अतएव हमारी मैत्री के विरुद्ध कौन क्या कह सकता है"।*

ऊपर उद्धृत किए हुए प्रमाणों से निश्चित है कि पृथ्वीराज के समय तथा उससे पूर्व भी सोलंकी अपने को अग्निवंशी नहीं, किंतु चंद्रवंशी और पांडवों की संतान मानते थे।

चौहान वंश की उत्पत्ति

पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर का बड़ा भाई विग्रहराज (वीसलदेव चतुर्थ) बड़ा विद्वान् राजा था। उसने अजमेर में अपनी बनवाई हुई संस्कृत पाठशाला (सरस्वती मंदिर) में अपना बनाया हुआ 'हरकेलि नाटक', अपने राजकवि सोमेश्वररचित 'ललित विग्रहराज' नामक नाटक तथा चौहानों के इतिहास का एक काव्य शिलाओं पर खुदवाए। मुसलमानों ने उस मंदिर को तोड़कर वहाँ पर 'ढाई दिन का झोंपड़ा' नाम की

* द्व्याश्रय महाकाव्य; सर्ग ९, श्लोक ४०-५९ (सोलंकियों का प्राचीन इतिहास; प्रथम भाग, पृष्ठ ९ और १० के टिप्पण में प्रकाशित)।

मसजिद बनवाई। वहीं से उक्त काव्य की प्रथम शिला मिली है, जिसमें चौहानों को सूर्यवंशी कहा है*।

'पृथ्वीराज विजय' में भी चौहानों को जगह जगह सूर्यवंशी लिखा है†, अग्निवंशी कहीं भी नहीं। ग्वालियर के तोमर (तँवर) वंशी राजा वीरम के दरबार के जैन कवि नयचंद्र सूरि ने वि० सं० १४६० के आसपास 'हम्मीर महाकाव्य' बनाया। उसको भी चौहानों का अग्निवंशी होना मालूम नहीं था। उसने लिखा है—"ब्रह्माजी यज्ञ करने के निमित्त पवित्र भूमि की शोध में फिरते थे। उस समय उनके हाथ में से पुष्कर (कमल का फूल) गिर गया। जहाँ पर कमल गिरा, उस भूमि को पवित्र मान वहीं यज्ञ प्रारंभ किया, परंतु राक्षसों का भय होने से उन्होंने सूर्य का ध्यान

---

* ....देवो रविः पातु वः।
तस्मात्समालंव(ब)नदंडयोनिरभूज्जनस्य स्खलतः स्वमार्गे।
वंशा स दैवोढरसो नृपाणामनुद्धतैर्नाघुणकीटरन्ध्रः॥ २४॥
समुत्थितोऽर्कदनरण्ययोनिरुत्पन्नपुन्नागकदंव(ब)शाखः।
आश्चर्यमंतः प्रसरत्कुशोयं वंशोर्थिनां श्रीफलतां प्रयाति॥ २५॥
आधिव्याधिकुवृत्तदुर्गतिपरित्यक्तप्रजास्तत्र ते
सप्तद्वीपभुजो नृपाः समभवन्निक्ष्वाकुरामादयः।...२६॥
तस्मिन्नथारिविजयेन विराजमानो
राजानुरंजितजनोजनि चाहमानः।... ....॥ २७॥
चौहानों के ऐतिहासिक काव्य की राजपूताना म्यूजियम (अजमेर) में रखी हुई पहली शिला।

† काकुत्स्थमिक्ष्वाकुरघू च यद्दधत्
पुराभवत्त्रिप्रवरं रघोः कुलम्।
कलावपि प्राप्य स चाहमानतां
प्ररूढतुर्यप्रवरं बभूव तत्॥ २। ७१॥
.........भानोः प्रतापोन्नतिं।
तन्वन् गोत्रगुरोर्निजेन नृपतेर्जज्ञे सुतो जन्मना॥ ७। ५०॥
सुतोप्यपरगांगेयो निन्येस्य रविसूनुना।
उन्नतिं रविवंशस्य पृथ्वीराजेन पश्यता॥ ८। ५४॥
पृथ्वीराजविजय महाकाव्य।

किया, जिस पर सूर्यमंडल से एक दिव्य पुरुष उतर आया। उसने यज्ञ की रक्षा की और यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हुआ। जिस स्थान पर ब्रह्माजी के हाथ से पुष्कर (कमल) गिरा था, वह स्थान पुष्कर तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुआ और सूर्यमंडल से बुलाया हुआ जो वीर पुरुष आया था, वह चाहमान (चौहान) कहलाया और ब्रह्माजी की कृपा से महाराजा बनकर राजाओं पर राज्य करने लगा"।*

इस प्रकार पृथ्वीराज के पूर्व से लगातार वि० सं० १४६० के आस पास तक चौहान अपने को सूर्यवंशी मानते थे। यदि पृथ्वीराज रासो पृथ्वीराज के समय का बना हुआ होता, तो वह चौहानों को अग्निवंशी न कहता।

पृथ्वीराज-रासो और चौहानों की वंशावली

पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज तक की जो वंशावली दी है, वह अधिकांश में कृत्रिम है। हम वि० सं० १०३० से लगाकर वि० सं० १६३५ के आस पास तक के चौहानों के शिलालेखों और संस्कृत-पुस्तकों में मिलनेवाली भिन्न भिन्न वंशावलियों का एक नकशा यहाँ देते हैं, जिसमें पृथ्वीराज रासो की भी वंशावली उद्धृत की गई है। उनके परस्पर के मिलान से ज्ञात हो जायगा कि रासो का कर्त्ता पृथ्वीराज का समकालीन नहीं हो सकता, क्योंकि रासो की वंशावली कुछ इधर उधर के नामों को छोड़कर सारी कृत्रिम है; किसी भी प्राचीन शिलालेख या ग्रंथ से नहीं मिलती।

* यज्ञाय पुण्यं क्वचन प्रदेशं द्रष्टुं विधातुर्भ्रमतः किलादौ।
प्रपेतिवत् पुष्करमाशुपाणिपद्मात्पराभूतमिवास्य भासा ॥ १४ ॥
ततः शुभं स्थानमिदं विभाव्य प्रारब्धयज्ञो यमपास्तदैन्यः।
विशंक्य भीतिं दनुजव्रजेभ्यः स्मेरस्य सस्मार सहस्ररश्मेः ॥ १५ ॥
अवातरन्मंडलतोऽथभास्वां पत्युः पुमानुद्यतमंडलाग्रः।
तं चाभिषिच्याश्वदसीयरक्षाविधौ व्यधादेष मखं सुखेन ॥ १६ ॥
पपात यत् पुष्करमत्रपाणेः ख्यातं ततः पुष्करतीर्थमेतत्।
यच्चायमागादथ चाहमानः पुमानतोऽख्यायि स चाहमानः ॥ १७ ॥
हम्मीर महाकाव्य; सर्ग १

उक्त नकशे को देखने से ज्ञात हो जायगा कि चौहानों के सब से पुराने वि० सं० १०३० के लेख में दिए हुए आठों नाम विजोलियाँ के लेख से और पृथ्वीराज विजय से ठीक मिल जाते हैं। तनिक अंतर के विषय में यही कहना आवश्यक होगा कि गूवक (प्रथम) के स्थान पर गोविंदराज लिखा है, जो उक्त प्राकृत नाम का संस्कृत रूप है। शशि नृप और चंद्रराज भी एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। इसी तरह प्राकृत 'वप्पराज' का संस्कृत रूप वाक्पतिराज है।

विजोलियाँ के लेख और पृथ्वीराज विजय की वंशावली भी पूर्णतः परस्पर मिलती हैं। विजोलियाँ के लेख का लौकिक नाम 'गण्डू' संस्कृत में गोविंदराज में, 'इसल' दुर्लभ में और 'वीसल*' विग्रहराज में बदल गए हैं। विजोलियाँ के लेख का सिंहट नाम पृथ्वीराज-विजय में नहीं है और पृथ्वीराज विजय का अपरगांगेय (अमर गंगू†) उक्त शिलालेख में नहीं है। प्रबंधकोश के अंत में दी हुई चौहानों की वंशावली भी बीजोल्यां के लेख और पृथ्वीराजविजय से अधिकतर मिलती है, क्योंकि उसमें दिए हुए ३१ नामों में से २२ नाम ठीक मिल जाते हैं। हम्मीर महाकाव्य में दिए हुए ३१ नामों में से २१ नाम पृथ्वीराजविजय से और उनके अतिरिक्त ३ नाम प्रबंधकोश से मिलते हैं। 'सुर्जनचरित' महाकाव्य बूँदी के चौहान राव सुर्जन के समय में वि० सं० १६३५ के आसपास बना, इसलिये उसमें प्राचीन ग्रंथों से बहुत अधिक समानता नहीं पाई जाती तो भी २७ नामों में से १३ नाम मिल जाते हैं। उसमें और हम्मीर महाकाव्य तथा प्रबंध-कोश में अधिक समानता है। उपर्युक्त नामों के अतिरिक्त सुर्जनचरित के ७ नाम प्रबंधकोश या हम्मीर महाकाव्य से मिलते हैं, परंतु

* अशोक के लेखवाले दिल्ली के सवालक स्तंभ पर के चौहान राजा विग्रहराज (वीसलदेव) के वि० सं० १२२० वैशाख सुति (सुदि) १५ के लेखों में वीसल और विग्रहराज दोनों एक ही राजा के नाम दिए हैं। इंडियन ऐंटिक्वेरी जिल्द १९ पृष्ठ २१८ और प्लेट।

† अबुल फ़ज़ल ने अमरगंगू नाम दिया है। वह थोड़े ही दिन राज्य कर बचपन में मर गया था, जिससे उसका नाम छोड़ दिया गया हो।

पृथ्वीराजरासो के ४४ नामों में से केवल कहीं कहीं के ७ नाम ही बिजोलियाँ के लेख और पृथ्वीराजविजय के नामों से मिलते हैं, अन्य सब कृत्रिम और कल्पित हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि पृथ्वीराजरासो बहुत अधिक अर्वाचीन है। यदि रासो पृथ्वीराज के समय ही बना होता तो उसकी वंशावली में और पृथ्वीराजविजय की वंशावली में इतना अधिक अंतर न होता। पृथ्वीराजरासो १७ वीं सदी के पूर्वार्ध में बने हुए सुर्जनचरित से भी पीछे प्रसिद्धि में आया, ऐसा ज्ञात होता है। राजपूताने में चौहानों का मुख्य और पुराना राज्य बूँदी है। यदि सुर्जन के समय पृथ्वीराजरासो वहाँ प्रसिद्धि में आ गया होता, तो उसी के आधार पर सुर्जनचरित में वंशावली लिखी जाती, परंतु ऐसा न होना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि उस समय तक बूँदी में उसकी प्रसिद्धि नहीं हुई थी। उस समय पृथ्वीराजरासो की कुछ कथाएँ जनश्रुति से लोगों में कुछ कुछ अवश्य प्रचलित थीं।

पृथ्वीराजरासो और पृथ्वीराज की माता

पृथ्वीराजरासो में लिखा है—'दिल्ली के तँवर राजा अनंगपाल ने अपनी छोटी कुँवरि कमला का विवाह सोमेश्वर के साथ किया*, जिससे पृथ्वीराज का जन्म हुआ था। अंत में अनंगपाल देहली का राज्य अपने दौहित्र पृथ्वीराज को देकर बदरिकाश्रम में तप करने को चला गया†।" यह सारी कथा कल्पित है, क्योंकि उस समय न तो अनंगपाल दिल्ली का राजा था और न उसकी पुत्री कमला का विवाह सोमेश्वर के साथ हुआ था। दिल्ली का राज्य तो पहले ही सोमेश्वर के बड़े भाई विग्रहराज (चतुर्थ) ने ही अपने राज्य (अजमेर) के अधीन कर लिया था। बिजोलियाँ के उक्त लेख में

* पृथ्वीराजरासो; आदि पर्व, रासोसार, पृ० १५।

† वही, दिल्ली-दान प्रस्ताव, अट्ठारहवाँ समय; रासोसार, पृ० ६२।

विग्रहराज का दिल्ली और हाँसी को लेना लिखा है* । तबक़ाते नासिरी में शहाबुद्दीन गोरी के साथ की पहली लड़ाई में दिल्ली के राजा गोविंदराज का पृथ्वीराज के साथ होना और उसी (गोविंद-राज) के भाले से सुलतान का घायल होकर लौटना तथा दूसरी लड़ाई में, जिसमें पृथ्वीराज की हार हुई, उस (गोविंदराज) का मारा जाना लिखा है† । इससे निश्चित है कि पृथ्वीराज (तीसरे) के समय दिल्ली अजमेर के उक्त सामंत के अधिकार में थी ।

पृथ्वीराज की माता का नाम भी कमला नहीं, किंतु कर्पूर देवी था और वह दिल्ली के राजा अनंगपाल की पुत्री नहीं, किंतु त्रिपुरी (चेदि अर्थात् जबलपुर के आसपास के प्रदेश की राजधानी) के हैहय (कलचुरि) वंशी राजा तेजल (अचलराज) की पुत्री थी‡ ।

यदि पृथ्वीराजरासो पृथ्वीराज के समय में लिखा जाता, तो उस में यह घटना ऐसी कल्पित न लिखी जाती । पंद्रहवीं शताब्दी का

---

* प्रतोल्यां च वलभ्यां च येन विश्रामितं यशः [।]
ढिल्लिकाग्रहणश्रांतमाशिकालाभलंभितः (तं) ॥२२॥
बिजोलियाँ का लेख (छाप पर से)

† तबकाते नासिरी का अँगरेजी अनुवाद (मेजर रावर्टी का किया हुआ); पृ० ४५६-६८ ।

‡ इति साहससाहचर्यचर्यस्समयज्ञैः प्र[तिपादि]तप्रभावाम् ।
तनयां स सपादलक्षपुण्यैरुपयेमे त्रिपुरीपुर[न्द]रस्य ॥ [१६] ॥
पृथ्वीराजविजय; सर्ग ७ ।

पृथ्वीं पवित्रतां नेतुं राजशब्दं कृतार्थताम् ।
चतुर्वर्णधनं नाम पृथ्वीराज इति व्यधात् ॥ [३०] ॥
वही; सर्ग ८ ।

मुक्तेवति सुभ्रवावंशं गलत्पुरुषमौक्तिकं ।
देवं सोमेश्वरं द्रष्टुं राजश्रीरुदकण्ठत ॥ [४७] ॥
आत्मजाभ्यामिव यशः प्रतापाभ्यामिवान्वितः ।
सपादलक्षमानिन्ये महामात्यैर्महीपतिः ॥ [४८] ॥
कर्पूरदेव्यथादाय दानभोगविधात्मजौ ।
विवेशाजयराजस्य संपन्मूर्तिमती पुरीम् ॥ [४६] ॥
वही; सर्ग ८ ।

लेखक नयचंद्र भी 'हम्मीर महाकाव्य' में पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूर देवी देता है* और सुर्जनचरित का कर्त्ता भी कर्पूर देवी ही लिखता है तथा उसको दिल्ली के राजा की पुत्री नहीं, किंतु दक्षिण के कुंतल देश के राजा की पुत्री बतलाता है।†

पृथ्वीराजरासो और पृथ्वीराज की बहिन

पृथ्वीराजरासो में लिखा है-'पृथ्वीराज की बहिन पृथा का विवाह मेवाड़ के राजा समरसिंह (रावल तेजसिंह के पुत्र और रत्नसिंह के पिता) के साथ हुआ था‡, जो पृथ्वीराज के पक्ष में लड़ता हुआ शहाबुद्दीन के साथ की लड़ाई में मारा गया'।§

यह कथा भी बिलकुल कल्पित है, क्योंकि समरसिंह पृथ्वीराज के बहुत समय बाद हुआ। पृथ्वीराज का देहांत (वि०सं० १२४९ ई० स० ११९३ में) हो गया था। समरसिंह का दादा जैत्रसिंह उक्त संवत् के बहुत बाद तक विद्यमान था। उसके समय के दो शिलालेखों में से एक एकलिंगजी के मंदिर के चौक में और दूसरा नादेसमा गाँव में चारभुजा के मंदिर के निकटवर्ती सूर्य-मंदिर के स्तंभ पर तथा दो हस्तलिखित पुस्तकें मिली हैं। दोनों शिलालेख

* इलाविलासी जयति स्म तस्मात्
सोमेश्वरोऽनश्वरनीतिरीतिः ॥ ६७ ॥
कर्पूरदेवीति बभूव तस्य
प्रिया [प्रिया]राधनलावधाना ॥ ७२ ॥
हम्मीर महाकाव्य; सर्ग २।

† शकुन्तलाभां गुणास्पर्शीलैः
स कुन्तलानामधिपस्य पुत्रीम्।
कर्पूरधारां जनलोचनानां
कर्पूरदेवीमुदुवाह विद्वान् ॥ ४ ॥
सुर्जनचरित; सर्ग ९।

‡ पृथ्वीराजरासो, पृथाब्याह कथा; (इक्कीसवां समय) रासोसार; पृ० ७०-७१।

§ पृथ्वीराजरासो, बड़ी लड़ाई; (छासठवां समय) रासोसार; पृ० ४२८।

क्रमशः वि० सं० १२७०* और १२७९† के हैं। उसी के समय में 'पाक्षिक वृत्ति' वि० सं० १३०९‡ में लिखी गई। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि जैत्रसिंह वि० सं० १३०९ तक विद्यमान था। समरसिंह का पिता तेजसिंह वि० सं० १३२४§ तक तो अवश्य विद्यमान था, जैसा कि उसके समय के उक्त संवत् के शिलालेख से, जो गंभीरी नदी (चित्तोड़ के पास) के पुल के नवें कोठे (महराब) में लगा है, पाया जाता है। समरसिंह के समय के आठ शिलालेख मिले हैं, जिनमें से प्रथम वि० सं० १३३०|| का है, जो चीरवे के विष्णु-मंदिर की दीवार में लगा है और अंतिम लेख वि० सं० १३५८¶ का है, जो चित्तोड़ के रामपोल दरवाजे के बाहर पड़ा हुआ पाया गया। इनसे स्पष्ट है कि रावल समरसिंह वि०

---

* संवत् १२७० वर्षे महाराजाधिराज श्री जैत्रसिंह देवेपु......(भावनगर प्राचीन-शोधसंग्रह; पृ० ४७, टिप्पण। भावनगर इंस्क्रिप्शंस; पृ० ९३, टिप्पण)।

† श्रों संवत् १२७९ वर्षे वैशाख सुदि १३ सु(शु)क्रे अद्येह श्रीनागद्रहे महाराजाधिराजश्रीजयतसिंहदेवकल्याणविजयराज्ये.........................
(नांदेसमा का शिलालेख)

‡ संवत १३०९ वर्षे माघ वदि १४ सोमे स्वस्ति श्रीमदाघाटे महाराजाधिराजभगवन्नारायणदक्षिणउत्तराधीशमानमर्दनश्रीजयतसिंहदेवतत्पदत्रिभुवनराजाश्रिते जयसिंहविजयराज्ये............ठ० वयजलेन पाक्षिक वृत्तिर्लिखितेति ॥

(पीटर्सन की तीसरी रिपोर्ट; पृ० १३०)।

§ संवत् १३२४ वर्षे इहचित्रकूटमाहादुर्गे तलहट्टिकायां पवित्र..............
महाराज श्रीतेजःसिंहदेवकल्याण विजयी......।

दी जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल;
जि० ५५, भाग १, १८८६. पृ० ४६-४७।

|| यह शिलालेख मेरी तैयार की हुई छाप के आधार पर छप चुका है (वियना ओरिएंटल जर्नल; जि० २१, पृ० १५५—१६२)।

¶ श्रों ॥ संवत् १३५८ वर्षे माघ शुदि १० दशम्यां...... .....महाराजाधिराज श्रीसमरसिंह दे[वक]ल्याणविजयराज्ये............।
यह शिलालेख उदयपुर के विक्टोरिया हाल में सुरक्षित है।

सं० १३५८ तक अर्थात् पृथ्वीराज की मृत्यु से २०६ वर्ष पीछे तक तो अवश्य जीवित था। ऐसी अवस्था में पृथाबाई के विवाह की कथा भी कपोलकल्पित है। पृथ्वीराज, समरसिंह और पृथाबाई के वि० सं० ११४३ और ११४५ (इस संवत् के दो); वि० सं० ११३९ और ११४५; तथा वि० सं० ११४५ और ११५७ के जो पत्र, पट्टे, परवाने नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हिंदी पुस्तकों की खोज में फोटो सहित छपे हैं, वे सब जाली हैं, जैसा कि हमने नागरीप्रचारिणी पत्रिका (नवीन संस्करण) भाग १, पृ० ४३२-५२ में बतलाया है।

पृथ्वीराजरासो और सोमेश्वर की मृत्यु

रासो का कर्त्ता लिखता है—'गुजरात के राजा भीम के हाथ से पृथ्वीराज का पिता सोमेश्वर मारा गया। अपने पिता का वैर लेने के लिये पृथ्वीराज ने गुजरात पर चढ़ाई कर भीमदेव को मारा और उसके पुत्र कचराराय को अपनी ओर से गद्दी पर बिठाकर गुजरात के कुछ परगने अपने राज्य में मिला लिए'।*

यह सारी कथा भी असत्य है, क्योंकि न तो सोमेश्वर भीमदेव के हाथ से मारा गया और न भीम पृथ्वीराज के हाथ से। सोमेश्वर के समय के कई शिलालेख मिले हैं, जिनमें से पहला वि० सं० १२२६ फाल्गुन वदि ३ का बिजोलियाँ का प्रसिद्ध लेख है† और अंतिम वि० सं० १२३४ भाद्रपद सुदी ४ का है‡। पृथ्वीराज का सबसे पहला लेख वि० सं० १२३६ आषाढ़ वदि १२ का

---

* पृथ्वीराजरासो; भीमवध (चौवालीसवां समय), रासोसार; पृ० १६१।

† दी जर्नल, एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल; जिल्द ५५, भाग १, ई० स० १८८६ पृ० ४०-४६।

‡ ओं। स्वस्ति श्रीमहाराजाधिराज श्रीसोमेस्व(श्व)रदेवमहाराये (ज्ये) ... .संवत् १२३४ भाद्र [पद] शुदि ४ शुक्रदिने०।

आंवलदा गांव का लेख (अप्रकाशित)।

यह लेख उदयपुर के विक्टोरिया हाल में सुरक्षित है।

है।* वि० सं० १२३६ के प्रारंभ में सोमेश्वर का देहांत और पृथ्वी-राज की गद्दीनशीनी मानी जा सकती है, जैसा कि प्रबंधकोष के अंत की वंशावली से ज्ञात होता है।† भीमदेव वि० सं० १२३५ में गद्दी पर बिलकुल बाल्यावस्था में बैठा और ६३ वर्ष अर्थात् वि० सं० १२९८ तक वह जीवित रहा‡। इतनी बाल्यावस्था में वह सोमेश्वर को नहीं मार सकता और न पृथ्वीराज ने उसका बदला लेने के लिये उसपर चढ़ाई कर उसे मारा था। गुजरात के ऐतिहासिक संस्कृत ग्रंथों में भी कहीं इस बात का उल्लेख नहीं है। राजपूताना म्यूजियम में भीमदेव का वि० सं० १२६५ का एक शिलालेख विद्यमान है§। आबू पर देलवाड़ा गाँव के प्रसिद्ध तेजपाल के जैन-मंदिर की वि० सं० १२८७ की प्रशस्ति के लिखने के समय भी भीमदेव विद्यमान था+। डाक्टर बूलर ने वि० सं० १२९६ मार्ग-शीर्ष वदि १४ का भीमदेव का दानपत्र प्रकाशित किया है।¶ इससे निश्चित है कि भीमदेव पृथ्वीराज की मृत्यु से अनुमान पचास वर्ष पीछे भी विद्यमान था।

---

* संवत् १२३६ आषाढ़ वदि १२ श्रीपृथ्वीराजराज्ये............।

लोहारी गाँव का लेख (अप्रकाशित)।

यह उदयपुर के विक्टोरिया हाल में सुरक्षित है।

† पृथ्वीराजः संवत् १२३६ वर्षे राज्यं चकार। संवत् १२४८ मृतः। (यह वि० सं० १२४८ कार्तिकादि है, चैत्रादि १२४९ होगा)

प्रबन्धचिन्तामणि; पृष्ठ २४।

‡ सं० १२३५ पूर्वंवर्षाहर्षे ६३ श्रीभीमदेवेन राज्यं कृतं............वही; पृ० २४९।

§ यह लेख इंडियन ऐंटिक्वेरी; जि० ११, पृष्ठ २२१-२२ में प्रकाशित हो चुका है।

+ ओं नमः ....[संव]त् १२८७ वर्षे लौकिक फाल्गुन वदि ३ रवौ अद्येह श्रीमदणहिलपाटके........महाराजाधिराज श्री भ......... विजयिराज्ये........तस्यैव महाराजाधिराज श्रीभीमदेवस्य प्रसा[द]......।

एपिग्राफिया इंडिका; जि० ८, पृष्ठ २१९।

¶ इंडियन ऐंटिक्वेरी; जि० ६, पृष्ठ २०६-२०८।

पृथ्वीराजरासो और पृथ्वीराज के विवाह

पृथ्वीराजरासो का कथन है कि पृथ्वीराज का प्रथम विवाह, ग्यारह वर्ष की अवस्था में, मंडोवर के पड़िहार नाहरराय की कन्या से हुआ*। यह कथन भी सत्य नहीं है। मंडोवर का नाहरराय पड़िहार पृथ्वीराज से कई सौ वर्ष पूर्व हुआ था, जैसा कि मंडोवर के पड़िहारों के वि० सं० ८६४ के शिलालेख से पाया जाता है†। वि० सं० १२०० से पूर्व मंडोवर पर से पड़िहारों का राज्य अस्त हो गया था और नाडोल के चौहानों ने उस पर अधिकार कर लिया था। पृथ्वीराज के समय के आस पास तो नाडोल के चौहान रायपाल के पुत्र सहजपाल का मंडोवर पर अधिकार था, जैसा कि वहाँ से मिले हुए उसके शिलालेख से पाया जाता है‡।

नाहरराय की पुत्री से विवाह

पृथ्वीराजरासो में लिखा है कि, १२ वर्ष की अवस्था में, पृथ्वीराज ने आबू के परमार राजा सलख की पुत्री और जैत की बहिन इच्छनी से विवाह किया§। यह कथा भी ऐतिहासिक नहीं है। आबू पर सलख या जयत नाम का परमार राजा कभी हुआ ही नहीं। आबू पर की वि० सं० १२८७ की वस्तुपाल के मंदिर की प्रशस्ति में आबू के परमारों की उस समय तक की वंशावली दी है+। उसमें वहाँ के परमार राजा यशोधवल का पुत्र धारावर्ष होना लिखा है। यशोधवल का वि० सं० १२०२ का शिलालेख राजपूताना म्यूजियम (अजमेर) में विद्यमान है। उसके पुत्र धारावर्ष के १४ शिलालेख और १ ताम्रपत्र मिला है, जिनमें से वि० सं० १२२० ज्येष्ठ सुदि

इच्छनी से विवाह

---

* पृथ्वीराजरासो; विवाह समय (पैंसठवाँ समय), रासोसार; पृ० ३८२।

† एपिग्राफिया इंडिका; जि० १८, पृ० ६५-६७।

‡ आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, एन्युअल् रिपोर्ट, ई० स० १९०९—१०, पृष्ठ १०२—१०३।

§ पृथ्वीराजरासो; विवाह समय (पैंसठवाँ समय), रासोसार; पृष्ठ ३८२।

+ एपिग्राफिया इंडिका; जिल्द ८, पृष्ठ २०८—२१३।

१५,* वि० सं० १२६५, १२७१ और १२७४† के चार मूल लेख राजपूताना म्यूजियम में सुरक्षित हैं, जिनसे निश्चित है कि पृथ्वीराज की गद्दीनशीनी के पूर्व से लगाकर उसकी मृत्यु के बहुत पीछे तक आबू का राजा धारावर्ष था, न कि सलख या जैत।

पृथ्वीराजरासो में लिखा है कि, १३ वर्ष की अवस्था में, पृथ्वीराज ने दाहिमा चावंड की बहन से विवाह किया, जिससे रैणसी का जन्म हुआ‡। यह कथन भी निराधार कल्पित है, क्योंकि पृथ्वीराज का पुत्र रैणसी नहीं, किंतु गोविंदराज था, जो पृथ्वीराज के मारे जाने के समय बालक था; फारसी तवारीखों में उसका नाम 'गोला' या 'गोदा' पढ़ा जाता है, जो फारसी वर्णमाला की अपूर्णता के कारण गोविंदराज का बिगड़ा हुआ रूप ही है। हम्मीर महाकाव्य में भी गोविंदराज नाम मिलता है§। सुलतान शहाबुद्दीन ने अपनी अधीनता में उसे अजमेर की गद्दी पर बिठाया, परंतु उसके सुलतान की अधीनता में रहने के कारण पृथ्वीराज के छोटे भाई हरिराज ने उसे अजमेर से निकाल दिया, जिससे वह रणथंभोर में जा रहा। हरिराज का नाम पृथ्वीराजरासो में नहीं दिया, परंतु पृथ्वीराजविजय, प्रबंधकोश के अंत की वंशावली और हम्मीर महाकाव्य में

दाहिमा चावंड की बहिन से विवाह

---

* ओं ॥ स्वस्ति श्री संवत् १२२० जेष्ठ सु[शु]दि १५ शनिदिने सोमपर्व्वे महाराजाधिराजमहामंडलेश्वर श्रीधारावर्षदेवेन शासनं प्रदत्त .... ।

इंडियन ऐंटिक्वेरी; जि० ५६, पृ० ५१।

† संवत् १२७४ माघफाल्गु(ल्गु)नयो [म]ध्ये [सो]मग्रहणपर्व्वे श्रीधोमराजसंतान जसधवलदेवसूत (सुत) श्रीधारावर्ष विजयराज्ये।

वही; जि० ५६, पृ० ५१।

‡ पृथ्वीराजरासो; विवाह समय (पैंसठवां समय), रासोसार; पृ० ३६२।

§ तत्रास्ति पृथ्वीराजस्य प्राक् पित्राते निरासितः।
पुत्रो गोविन्दराजाख्यः स्वसामर्थ्यात्तवैभवः ॥ २४ ॥

हंम्मीर महाकाव्य; सर्ग ४।

दिया है* और फ़ारसी तवारीखों में हीराज या हेमराज मिलता है†, जो उसी के नाम का बिगड़ा हुआ रूप है।

इसी तरह रासे में देवगिरि के यादव राजा भान की पुत्री शशिव्रता और रणथंभोर के यादव राजा भानराय की पुत्री हंसावती से विवाह करना लिखा है‡। ये दोनों बातें भी कल्पित हैं, क्योंकि देवगिरि में भान नाम का कोई राजा ही नहीं हुआ। रणथंभोर पर कभी यादवों का राज्य ही नहीं रहा। उस पर तो पहले से ही चौहानों का अधिकार था। पृथ्वीराज के मारे जाने के बाद उसके भाई हरिराज ने अपने भतीजे गोविंदराज को अजमेर से निकाला तब वह रणथंभोर में रहा§ और हम्मीर तक उसके वंशजों ने वहीं राज्य किया||।

शशिव्रता और हंसावती से विवाह

इसी प्रकार ११ वर्ष की अवस्था से लगाकर ३६ वर्ष की अवस्था तक के १४ विवाह होना पृथ्वीराजरासो में लिखा है, जो ऊपर जाँच किए हुए पाँच विवाहों के समान निर्मूल हैं। पृथ्वीराज ३६ वर्ष तक जीवित भी नहीं रहा। वह तो ३० वर्ष से पहले ही मारा गया था। वि० सं० १२३६ में जब वह गद्दी पर बैठा, उस

* जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी; ई० स० १९१३ पृ०२७०-७१।

† इलियट; हिस्ट्री ऑफ इंडिया; जिल्द २, पृष्ठ २१९।

‡ पृथ्वीराजरासो; विवाह समय (पैंसठवां समय), रासोसार; पृ० ३८२।

§ मंत्रयित्वेति भूपीयं सर्वं कोशबलादिकं।
सहादाय चलंति स्म रणस्तंभपुरं प्रति॥ २६॥
दावपावकवत् वाक्ष्यं ज्वालयन् देशमुद्धसं।
शकः पश्चादुपागत्याऽजयमेरुपुरं ललौ॥ २७॥
अथ प्राप्य रणस्तंभं पुरं गोविन्दभूपतेः।
समगंसत ते सर्वे वृत्तान्तं च न्यगादिषुः॥ २८॥
पितृव्यस्य तथाभूतं मृत्युं श्रुत्वा धराधिपः।
वाचामगोचरं कष्टं कलयामास मानसे॥ २९॥
हम्मीर महाकाव्य; सर्ग ४।

|| वही; सर्ग ४ से सर्ग १४ तक।

समय वह बालक था और उसकी माता कर्पूर देवी अपने मंत्री कादंबवास की सहायता से राज्य-कार्य करती थी* ।

यदि पृथ्वीराजरासो पृथ्वीराज के समय में लिखा गया होता, तो पृथ्वीराज का वंशपरिचय, उसके पूर्व पुरुषों की नामावली, माता, पिता, बहिन और रानियों आदि का तो शुद्ध परिचय मिलना चाहिए था। ऐसा न होना यही बतलाता है कि वह पृथ्वीराज के कई सौ वर्ष पीछे चौहानों के इतिहास से अनभिज्ञ चंदबरदाई नाम के किसी भाट ने लिखा होगा।

पृथ्वीराजरासो में दिए हुए भिन्न भिन्न संवतों की जाँच

पृथ्वीराजरासो में दिए हुए सभी संवत् अशुद्ध हैं। कर्नल टाड ने पृथ्वीराजरासो के आधार पर चौहानों का इतिहास लिखते समय संवतों की जाँच कर उन्हें अशुद्ध बताया और लिखा कि आश्चर्यजनक भूल के कारण सब चौहान जातियाँ अपने इतिहासों में १०० वर्ष पहले के संवत् लिखती हैं† । रासो को प्राचीन सिद्ध करने की खींचतान में पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने टाड का बतलाया हुआ १०० वर्ष का अंतर देखकर एक नए 'भटायत' संवत् की कल्पना कर वि० सं० १९४४ में 'पृथ्वीराजरासो की प्रथम संरक्षा' नामक पुस्तिका लिखी, परंतु इस कल्पना से भी पृथ्वीराजरासो के संवतों की अशुद्धि दूर न हुई। इससे पृथ्वीराज के जन्म संवत् ११ ५ में ४३ साल जोड़कर उसकी मृत्यु ११५८ भटायत

* ऋणाशुद्धिं विनिर्माय निर्माणैरीदृशैः पितुः ।
तत्परे दर्शनं कर्तुं परलोकजयी नृपः ॥ [७१] ॥
ए [काकिना हि] मत्पित्रा स्थीयते त्रिदिवे कथम् ।
बालश्च पृथिवीराजो मया कथमुपेक्ष्यते ॥ [७२] ॥
[इतीवास्याभिषिक्तस्य रक्षार्थंव्रतचारिणीम् ।
स्थापयित्वा निजां देवीं पितृ]भक्त्या दिवं ययौ ॥ [७३] ॥
पृथ्वीराजविजय; सर्ग ८ ।

† टॉड राजस्थान (कलकत्ते का छपा अँगरेजी), जिल्द २, पृ० ४००, टिप्पण ।

संवत् अर्थात् विक्रम संवत् १२५८ में माननी पड़ती थी, परंतु वि० सं० १२४९ में अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों से उसकी मृत्यु सिद्ध थी। इस वास्ते इन ९ वर्षों की कमी पूरी करने के लिये उन्होंने पृथ्वीराज के जन्म-संवत् संबंधी दोहे* में 'अनंद' शब्द को देखकर 'अनंद संवत्' की कल्पना की और उक्त शब्द का अर्थ 'अनंद' अर्थात् 'नौ रहित' किया। फिर इसे नौ रहित सौ अर्थात् ९१ वर्ष का अंतर बताकर उन्होंने उक्त नवीन संवत् की कल्पना की और कहा कि पृथ्वीराजरासो में दिए हुए सब संवतों में ९१ जोड़ देने से वे शुद्ध विक्रम संवत् हो जाते हैं। 'अनंद संवत् की कल्पना' नाम के विस्तृत लेख† में हमने इसकी निराधारता सिद्ध की है। अब हम पृथ्वीराजरासो में दिए हुए कुछ संवतों की जाँच नीचे करते हैं—

वीसलदेव की गद्दीनशीनी का संवत्

पृथ्वीराजरासो में वीसलदेव की गद्दीनशीनी का संवत् ८२१ दिया है‡ और लिखा है कि उसने शत्रुओं से अजमेर लिया और उसके बुलाने पर वीसल-सरोवर (बीसलिया नाम का तालाब, अजमेर में) पर अन्य राजा तो आ गए, परंतु गुजरात के चालुक्य राजा बालुकाराय के न आने के कारण वीसलदेव ने उसकी राजधानी पाटन पर चढ़ाई की। बालुकाराय के मंत्रियों ने उससे मिलकर संधि कर ली§।

यह संपूर्ण कथन भी निराधार है। अजमेर बसने के बाद वीसलदेव नाम का एक ही चौहान राजा (सोमेश्वर का बड़ा भाई) हुआ, जिसने अपने नाम से बीसलसर तालाब बनवाया और उसके

* एकादस सै पंचदह विक्रम साक अनंद। तिहिं रिपु जय पुर हरन कौं भय प्रिथिराज नरिंद।

† नागरीप्रचारिणी पत्रिका; (नवीन संस्करण) जिल्द १, पृष्ठ ३७७-४५४।

‡ आठ सैं रु इक ईस। बैठि बीसल सु पाट बस। सुक्रवार प्रतिपदा। मास वैसाख सेत पख॥......२३६॥

पृथ्वीराजरासो; आदिपर्व, पहिला समय पृ० ६६।

§ पृथ्वीराजरासो; आदिपर्व, पहला समय, रासोसार पृ० ११।

समय के शिलालेख वि० १२१०, १२११ और १२२० के मिले हैं,* जिनसे वि० सं० ८२१ अर्थात् पंड्याजी के अनंद संवत् के अनुसार वि० सं० ९३१ में उसका राज्याभिषेक होना किसी प्रकार नहीं माना जा सकता। इसी तरह पंड्याजी के माने हुए संवत् तक पाटन में सोलंकियों का अधिकार भी नहीं हुआ था। उस समय तो क्षेमराज चावड़ा गुजरात का राजा था। वि० सं० १०१७ में सोलंकी मूलराज ने अपने मामा सामंतसिंह को मारकर पाटन का राज्य लिया और चावड़ा वंश की समाप्ति की। बालुकाराय नाम का सोलंकी राजा गुजरात में कोई हुआ ही नहीं।

विग्रहराज (वीसलदेव) नाम के चार चौहान राजा हुए, जिनमें से तीन तो अजमेर बसने से पूर्व हुए थे। दूसरे विग्रहराज ने, जिसके समय की वि० सं० १०३० की हर्षनाथ के मंदिर की प्रशस्ति है, मूलराज सोलंकी पर, जिसने १०१७ से १०५२ तक राज्य किया था†, शाकंभरी (साँभर) से चढ़ाई की थी। इस चढ़ाई का वर्णन पृथ्वीराजविजय, हम्मीर महाकाव्य और प्रबंध-चिंतामणि में मिलता है, परंतु पृथ्वीराजरासो के कर्त्ता को तो केवल एक वीसलदेव का ज्ञान था, जिसने वीसलसर बनाया था। वह वस्तुतः चतुर्थ वीसलदेव था। वीसलदेव (दूसरे) की सोलंकी राजा मूलराज पर

---

* संवत् १२१० मार्ग शुदि ५ आदित्यदिने श्रवणनक्षत्रे मकरस्थे चन्द्रे हर्षणयोगे वालवकरणे हरकेलि-नाटकं समाप्तं ॥ मंगलं महाश्रीः ॥ कृतिरियं महाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीविग्रहराजदेवस्य......

(शिलाओं पर खुदा हुआ हरकेलि नाटक, राजपूताना म्यूजियम, अजमेर, में सुरक्षित)।

ॐ ॥ संवत् १२११ श्रीः (श्री)परमपासु(शु)पताचार्येन(ण)विश्वेश्वर[प्र]ज्ञेन श्रीवीसलदेवराज्ये श्रीसिद्धेश्वरप्रासादे मण्डपं[भूषितं]॥

(लोहारी के मंदिर का लेख, अप्रकाशित)।

ॐ संवत् १२२० वैशाख शुति १५ शाकंभरी भूपति श्रीमदल्लदेवात्मज श्रीमद्वीसलदेवस्य ॥

इंडियन एंटिक्वेरी; जिल्द १९, पृ० २१८।

† राजपूताने का इतिहास; जिल्द १, पृष्ठ २१४—१५।

चढ़ाई करने की परंपरागत स्मृति से रासो के कर्त्ता ने चौथे वीसलदेव की गुजरात पर चढ़ाई लिख दी और वहाँ के राजा का ठीक नाम ज्ञात न होने से उसका नाम बालुकराय धर दिया।

पृथ्वीराजरासो में वि० सं० ११५५ में पृथ्वीराज का जन्म होना लिखा है। यदि पंड्याजी के कथनानुसार इसे अनंद विक्रम संवत् मानें, तो भी (११५५ + ९१) विक्रम संवत् १२०६ में पृथ्वीराज का जन्म मानना पड़ता है, जो सर्वथा असंभव है, क्योंकि पृथ्वीराजविजय में लिखा है कि सोमेश्वर के देहांत के समय (वि० सं० १२३६ में) पृथ्वीराज बालक था। वि० सं० १२०६ तक तो पृथ्वीराज का पिता सोमेश्वर भी बालक था और उसका विवाह भी नहीं हुआ था। पृथ्वीराजविजय में लिखा है कि सोमेश्वर के उत्पन्न होने पर उसके नाना जयसिंह (सिद्धराज) ने उसे अपने यहाँ बुला लिया। उसके बाद कुमारपाल ने बालक सोमेश्वर का पालन किया। सोमेश्वर बहुत वीर हुआ। एक युद्ध में उसने कुमारपाल के शत्रु कोंकण के शिलारा राजा मल्लिकार्जुन को मारा था। फिर उसने चेदि कलचुरि राजा की पुत्री से विवाह किया, जिससे ज्येष्ठ की द्वादशी को पृथ्वीराज का जन्म हुआ। उसका चूड़ाकर्म संस्कार होने के नौ मास बाद हरिराज उत्पन्न हुआ।*

पृथ्वीराज का जन्म संवत्

* ज्येष्ठस्य प्रथयन्परन्तपतया ग्रीष्मस्य भीष्मां स्थितिम्।
द्वादश्यास्तिथिमुख्यतामुपदिशन्भानोः प्रतापोन्नतिं
तन्वन्गोत्रगुरोर्निजेन नृपतेर्जज्ञे सुतो जन्मना ॥ [५०] ॥

पृथ्वीराजविजय; सर्ग ७।

प्रसूतपृथ्वीराजा देवी गर्भवती पुनः।
उदेष्यत्कुमुदा फुल्लपद्मेव सरसी बभौ ॥ [४७] ॥
माघस्याथ तृतीयस्यां सितायामपरं सुतम्।
प्रसादमिव [पार्वत्या मूर्तं] परमवाप सा ॥ [४६] ॥

युद्धेष्वस्य हस्तिदलनलीलां भविष्यन्तीं जानतेव हरिराजनाम्नायं स्वस्य कृतार्थत्वायेव स्पष्टः। हरिराजो हि हस्तिमर्दनः।

श्लोक ५० पर जोनराज की टीका, मूल श्लोक बहुत सा नष्ट हो गया है।

वही; सर्ग ८।

इस वर्णन से दो तीन बातें स्पष्ट होती हैं कि कुमारपाल के गद्दी पर बैठने के समय अर्थात् वि० सं० ११९९ में सोमेश्वर बालक था। मल्लिकार्जुन के वि० सं० १२१३ और १२१७ के लेख* और उसके उत्तराधिकारी अपरादित्य का प्रथम लेख वि० सं० १२१९ का† मिला है। इससे स्पष्ट है कि मल्लिकार्जुन वि० सं० १२१८ में सोमेश्वर के हाथ से मारा गया, जिसके पीछे सोमेश्वर ने चेदि देश में जाकर कर्पूर देवी से विवाह किया। बहुत संभव है कि वि० सं० १२२० या उसके कुछ पीछे पृथ्वीराज का जन्म हुआ हो। पृथ्वीराज-विजय में विग्रहराज (वीसलदेव) चौथे की मृत्यु के प्रसंग में लिखा है कि अपने भाई (सोमेश्वर) के दो पुत्रों के पैदा होने का समाचार सुनकर वह मरा ‡ वीसलदेव की मृत्यु वि० सं० १२२१ और १२२४ के बीच किसी संवत् में हुई, जैसा कि उसके अंतिम लेख वि० सं० १२२० और उसके उत्तराधिकारी पृथ्वीभट (पृथ्वीराज दूसरे) के वि० सं० १२२४ के लेख से मालूम होता है§। इस तरह पृथ्वीराजरासो का वि० सं० १११५ तथा पंड्याजी की उक्त नवीन कल्पना के अनुसार वि० सं० १२०६ में पृथ्वीराज का जन्म होना सर्वथा असंभव है।

पृथ्वीराजरासो में लिखा है कि वि० सं० ११३६ में पृथ्वीराज के सामंत सलख (आबू का परमार) ने शहाबुद्दीन को कैद किया।

* बंबई गजेटियर, जिल्द १, भाग १, पृ० १८६।

† वही; पृष्ठ १८६।

‡ अथ भ्रातुरपत्याभ्यां सनाथां जानता भुवम्।
जग्मे विग्रहराजेन कृतार्थेन शिवान्तिकम्॥ [४३]॥

पृथ्वीराजविजय; सर्ग ८।

§ इंडियन ऐंटिक्वेरी; जिल्द ४१, पृ० १९।

|| पृथ्वीराजरासो; सलख युद्ध समय (तेरहवाँ समय); रासोसार; पृ० ४३।

यह कथन भी कल्पित है। हम ऊपर बतला चुके हैं कि आबू पर सलख नाम का कोई परमार राजा ही नहीं हुआ। यदि इस

पृथ्वीराज के सामंत सलख के शहाबुद्दीन को कैद करने का संवत

संवत् को अनंद विक्रम संवत् अर्थात् वि० सं० १२२७ माना जाय, तो भी यह संवत् ठीक नहीं ठहरता। वि० सं० १२२७ तक तो पृथ्वीराज गद्दी पर भी नहीं बैठा था और न उस समय तक शहाबुद्दीन गोरी भारत में आया था। वि० सं० १२२०-२१ में गयासुद्दीन गोरी ने गोर का राज्य पाया। उसके छोटे भाई शहाबुद्दीन गोरी ने वि० सं० १२३० में गज़नी भी छीनी, जिस पर गयासुद्दीन ने उसे वहाँ का हाकिम बनाया। उसने वि० सं० १२३२ में भारत पर चढ़ाई कर मुलतान लिया तो वि० सं० १२२७ में पृथ्वीराज का शहाबुद्दीन को कैद करना कहाँ तक ठीक सिद्ध हो सकता है। इसी तरह रासो में दिया हुआ वि० सं० १३३८ और अनंद विक्रम संवत् के अनुसार वि० सं० १२२९ में चामुंडराय द्वारा शहाबुद्दीन गोरी का कैद करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि गोरी तो वि० सं० १२३२ में भारत में आया था और उस समय तक पृथ्वीराज गद्दी पर भी नहीं बैठा था।

रासो में लिखा है कि पृथ्वीराज वि० सं० ११३८ में दिल्ली की गद्दी पर बैठा* और उसी वर्ष में उसने खाटू के जंगल से धन

कुछ अन्य संवत

निकाला†। समुद्रशिखर के यादव राजा विजयपाल की पुत्री पद्मावती से वि० सं० ११३९ में उसने विवाह किया,‡ वि० सं० ११४१ में दक्षिण देशीय राजाओं ने कर्नाट देश की एक सुंदरी वेश्या पृथ्वीराज को अर्पण§

* पृथ्वीराजरासो; दिल्लीदान प्रस्ताव (अट्ठारहवाँ समय); रासोसार; पृ० ६२-६३।

† वही; धन कथा (चौबीसवाँ समय); रासोसार; पृ० ७४।

‡ वही; पद्मावती-विवाह-कथा (बीसवाँ समय); रासोसार; पृ० ६८-६९।

§ वही; कर्नाटी पात्र समय (तीसवाँ समय), रासोसार; पृ० ११२।

की। ये सारे संवत् कल्पित हैं। अनंद संवत् मानने से ये संवत् क्रमशः १२२९, १२३० और १२३२ होते हैं, तो भी वे निराधार ठहरते हैं, क्योंकि उस समय तक तो पृथ्वीराज गद्दी पर भी नहीं बैठा था।

इसी तरह पृथ्वीराजरासो में दिए हुए सभी संवत् कल्पित हैं, जिनका विवेचन हम अनंद विक्रम संवत् की कल्पना नामक लेख में कर चुके हैं। यदि रासो का कर्ता पृथ्वीराज का समकालीन होता, तो संवतों में इतनी अशुद्धियाँ न होतीं।

पृथ्वीराजरासो की कुछ मुख्य मुख्य घटनाएँ

पृथ्वीराजरासो में केवल उपर्युक्त घटनाएँ और संवत् ही अशुद्ध नहीं दिए, परंतु उसका मूल कथानक भी ऐतिहासिक कसौटी पर परीक्षा करने से प्रायः संपूर्ण अशुद्ध ठहरता है। उसमें दी हुई मुख्य घटनाएँ प्रायः सभी निराधार तथा अनैतिहासिक हैं। उनमें से बहुत सी घटनाओं की जाँच ऊपर हो चुकी है। अतएव बाकी की घटनाओं में से कुछ मुख्य मुख्य घटनाओं की जाँच यहाँ करते हैं—

पृथ्वीराज का दिल्ली गोद जाना

चंदबरदाई ने लिखा है कि अनंगपाल ने अपने दोहते पृथ्वीराज को गोद लेकर वि० सं० ११३८ में दिल्ली का राज्य दे दिया। यह कथा भी सर्वथा निराधार है। हम ऊपर बता चुके हैं कि दिल्ली का राज्य तो वीसलदेव ने पहले ही अपने राज्य में मिला लिया था और अनंगपाल की पुत्री से पृथ्वीराज का जन्म नहीं हुआ था। दिल्ली का राज्य तो अजमेर के राज्य का सूबा मात्र था।

मेवाती मुगल से युद्ध

पृथ्वीराजरासो में लिखा है कि सोमेश्वर ने मेवात के मुगल राजा (मुग्दलराय) से अन्य राजाओं के समान कर माँगा। उसके इंकार करने पर सोमेश्वर ने उस पर चढ़ाई कर दी। पृथ्वीराज भी कुछ समय बाद अजमेर से चला और रातों रात मुगल सेना पर उसने आक्रमण

कर दिया। युद्ध में मुगल पराजित हुए। मुगल राजा का ज्येष्ठ पुत्र बाजिदखाँ मारा गया और वह स्वयं कैद हुआ*।

यह कथा भी कल्पित है। सोमेश्वर के समय में तो मेवात प्रदेश अजमेर के राज्य के अंतर्गत था। वहाँ कोई स्वतंत्र राजा नहीं था और मुगलों का तो क्या, अन्य मुसलमानों तक का उस प्रदेश पर अधिकार नहीं था। सोमेश्वर की जीवित अवस्था में पृथ्वीराज इतना बड़ा न था कि युद्ध में जा सकता।

संयोगिता का स्वयंवर

चंदबरदाई लिखता है कि कन्नौज के राजा विजयपाल ने, जिसने दिल्ली के अनंगपाल की पुत्री सुंदरी से विवाह किया था, विजय-यात्रा करते हुए सेतुबंध तक का सारा प्रदेश जीत लिया। बहुत से राजा अधीन हो गए, परंतु पृथ्वीराज ने उसकी अधीनता स्वीकार न की। विजयपाल के सुंदरी से उत्पन्न पुत्र जयचंद ने भी जब राजसूय यज्ञ के लिये सब राजाओं को निमंत्रित किया, तब भी पृथ्वीराज न आया। इसलिये और पृथ्वीराज से अपने नाना अनंगपाल का आधा दिल्ली का राज्य लेने के लिये उसने पृथ्वीराज और उसके सहायक रावल समरसिंह पर आक्रमण किया, परंतु उसमें सफलता न हुई। इसलिये उसने राजसूय के साथ संयोगिता के स्वयंवर-मंडप में द्वारपाल के स्थान पर पृथ्वीराज की स्वर्ण-प्रतिमा रखी। संयोगिता ने, जो पृथ्वीराज की वीरता पर पहले से ही मुग्ध थी, उसकी प्रतिमा के गले में ही वरमाला डाली। इस पर जयचंद ने क्रुद्ध होकर संयोगिता को कैद कर लिया। पृथ्वीराज यह सुनकर ससैन्य कन्नौज पर चढ़ा और युद्ध कर संयोगिता को लेकर दिल्ली लौट आया। इस-पर लाचार होकर जयचंद ने अपने पुरोहित श्रीकंठ को दिल्ली भेज-कर दोनों का विधि-पूर्वक विवाह करा दिया†।

* पृथ्वीराजरासो; मेवाती मुगलकथा (आठवाँ समय); रासोसार; पृ० ३८।

† पृथ्वीराजरासो; संयोगिता नाम प्रस्ताव (पचासवाँ समय); रासो-सार; पृ० १८४—८८।

इस संपूर्ण कथन में विजयपाल के पुत्र जयचंद के उसके पीछे गद्दी पर बैठने और पृथ्वीराज तथा जयचंद की समकालीनता के सिवा एक भी बात सत्य नहीं है। सोमेश्वर के समय अनंगपाल दिल्ली की गद्दी पर था ही नहीं और न उसकी पुत्रियों का विजयपाल और सोमेश्वर से विवाह हुआ था। कमला के सोमेश्वर के साथ विवाह की कथा के समान सुंदरी के विजयपाल के साथ विवाह की कथा भी कल्पित ही है। विजयपाल के दिग्विजय की कथा भी निर्मूल है। रासो में उक्त प्रसंग के संबंध में जिन जिन राजाओं के नाम दिए हैं, वे सब प्रायः कल्पित हैं। समरसिंह का जन्म भी उस समय तक नहीं हुआ था, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। जयचंद के राजसूय यज्ञ की बात मनगढ़ंत कथा ही है। जयचंद बहुत दानी राजा था। उसके कई उपलब्ध दानपत्रों से पाया जाता है कि उसने प्रसंग प्रसंग पर अनेक भूमिदान किए। यदि उसने राजसूय यज्ञ किया होता, तो उस महत्त्वपूर्ण अवसर पर वह बहुत अधिक दान करता, परंतु उसके संबंध का न तो अब तक कोई दानपत्र ही मिला और न किसी शिलालेख या प्राचीन पुस्तक में उसका उल्लेख है। इसी तरह पृथ्वीराज और जयचंद की परस्पर लड़ाई और संयोगिता-स्वयंवर की कथा भी ऐतिहासिक नहीं है। ग्वालियर के तँवर राजा बीरम के दरबार के प्रसिद्ध कवि जयचंद्र ने वि० सं० १४६० के आसपास 'हम्मीर महाकाव्य' बनाया, जिसमें पृथ्वीराज का विस्तृत वर्णन दिया है और उसी की रची हुई 'रंभा-मंजरी' नाम की नाटिका में उसने जयचंद को उसका नायक बनाया है, जिसकी प्रशंसा में लगभग दो पृष्ठ उसके विशेषणों के दिए हैं। इन दोनों पुस्तकों में पृथ्वीराज और जयचंद की पारस्परिक लड़ाई, राजसूय यज्ञ और संयोगिता के स्वयंवर का उल्लेख तक नहीं है। इससे स्पष्ट है कि वि० सं० १४६० तक ये कथाएँ प्रसिद्धि में नहीं आई थीं।

रासे के ६६ वें समय से पाया जाता है कि रावल समरसिंह ने, शहाबुद्दीन के साथ की अंतिम लड़ाई में जाते समय, अपने छोटे पुत्र रतनसिंह को उत्तराधिकारी बनाया, जिससे उसका ज्येष्ठ पुत्र कुंभ (कुंभा) दक्षिण में बीदर के मुसलमान बादशाह के पास जा रहा।

रावल समरसिंह के ज्येष्ठ पुत्र कुंभा का बीदर जाना

शहाबुद्दीन के साथ की पृथ्वीराज की लड़ाई तक न तो समरसिंह का जन्म हुआ था और न दक्षिण में मुसलमानों का प्रवेश हुआ था। मुसलमानों का प्रथम प्रवेश दक्षिण में अलाउद्दीन खिलजी के समय वि० सं० १३५९ में हुआ। बहमनी सुलतान अलाउद्दीन-हसन ने दिल्ली के सुलतान से विद्रोह कर बहमनी राज्य की स्थापना की थी। इस वंश का दसवाँ सुलतान अहमदशाह वली ई० स० १४३० (वि० सं० १४८७) में बीदर बसाकर गुलबर्गे से अपनी राजधानी वहाँ ले आया। अतएव ऊपर लिखा हुआ कुंभा का वृत्तांत वि० सं० १४८७ से पीछे लिखा जा सकता है, जिससे पूर्व बीदर का पृथक् राज्य भी स्थापित नहीं हुआ था।

चंदबरदाई पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन की अंतिम लड़ाई का वर्णन करते हुए लिखता है कि शहाबुद्दीन पृथ्वीराज को कैद कर गजनी ले गया। वहाँ उसने उसकी आँखें निकलवा लीं। फिर चंद कवि योगी का भेष धारण कर गजनी पहुँचा और उसने सुलतान से मिलकर उसको पृथ्वीराज की तीरंदाजी देखने को उत्सुक किया। पृथ्वीराज ने चंद के संकेत के अनुसार शब्दवेधी बाण चलाकर सुलतान का काम तमाम कर दिया। फिर चंद ने अपने जूड़े में से छुरी निकालकर उससे अपना पेट काटकर वह छुरी पृथ्वीराज को दे दी, जिससे उसने भी अपना पेट फाड़ लिया। इस प्रकार तीनों की मृत्यु हुई। पृथ्वीराज के पीछे उसका पुत्र रैणसी दिल्ली की गद्दी पर बैठा*।

पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन की मृत्यु

* पृथ्वीराजरासो; बड़ी लड़ाई समय (छाछठवाँ समय); रासोसार; पृ० ३८३—४३४।

यह संपूर्ण कथन भी ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं है, क्योंकि शहाबुद्दीन की मृत्यु पृथ्वीराज के हाथ से वि० सं० १२४६ में नहीं, किंतु वि० सं० १२६३ चैत्र सुदि ३ को गक्खरों के हाथ से हुई थी। जब वह गक्खरों को परास्त कर लाहौर से गजनी जा रहा था उस समय, धमेक के पास, नदी के किनारे बाग में नमाज पढ़ता हुआ वह मारा गया। पृथ्वीराज के पीछे भी उसका पुत्र गोविंदराज दिल्ली की गद्दी पर नहीं, किंतु अजमेर की गद्दी पर बैठा था, न कि रैणसी, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है।

इस तरह ऊपर कुछ मुख्य घटनाओं की जाँचकर हमने देखा कि वे बिलकुल असत्य हैं और उनका लेखक चौहानों के इतिहास से बिलकुल अपरिचित था। यदि रासो का कर्त्ता पृथ्वीराज का समकालीन होता, तो इतनी बड़ी भूलें न करता।

पृथ्वीराजरासो का समय-निर्णय

यहां तक हमने पृथ्वीराजरासो की विभिन्न घटनाओं की जांच कर यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि वह ग्रंथ पृथ्वीराज के समय में नहीं बना। तब वह कब बना, इस पर विचार करना आवश्यक है। हमारी सम्मति है कि वह ग्रंथ विक्रम संवत् १६०० के आसपास बना। इसके लिये हम संक्षेप से नीचे विचार करते हैं—

वि० सं० १४६० में हम्मीर महाकाव्य बना, जिसका निर्देश ऊपर कई जगह किया गया है। उसमें चौहानों का विस्तृत इतिहास है, परंतु उसमें पृथ्वीराजरासो के अनुसार चौहानों को अग्निवंशी नहीं लिखा और न उसकी वंशावली को आधार माना गया है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय तक पृथ्वीराजरासो प्रसिद्धि में नहीं आया। यदि रासो की प्रसिद्धि हो गई होती, तो हम्मीर महाकाव्य का लेखक उसी के आधार पर चलता।

चंदबरदाई ने रावल समरसिंह के ज्येष्ठ पुत्र कुंभा का बीदर के मुसलमान बादशाह के पास जाना लिखा है, जिसकी जाँच हम

ऊपर कर चुके हैं। पृथ्वीराज के समय में तो दक्षिण में मुसलमानों का प्रवेश भी नहीं हुआ था। बीदर का राज्य तो बहमनी राज्य की उन्नति के समय में अहमद शाह वली ने ई० स० १४३० (वि० सं० १४८७) में स्वतंत्र रूप से स्थापित किया। इससे यह निश्चित है कि पृथ्वीराजरासो उक्त संवत् के पीछे बना होगा'।

चंदबरदाई ने सोमेश्वर और पृथ्वीराज को मेवात के मुगल राजा से लड़ाई और उसमें उसके कैद होने तथा उसके पुत्र बाजिदखाँ के मारे जाने की कथा लिखी है, जिसकी जाँच हम ऊपर कर आए हैं। हिंदुस्तान में मुगल राज्य तो वि० संवत् १५८३ में बाबर ने स्थापित किया। उससे पूर्व भारत में मुगलों का कोई राज्य था ही नहीं और मुगलों का सबसे पहला प्रवेश, मुगल तैमूरलंग द्वारा वि० सं० १४५५ में हुआ, जिससे पहले मुगल-राज्य की भारत में कल्पना भी नहीं की जा सकती। इससे यह स्पष्ट है कि पृथ्वी-राजरासो वि० सं०१५८३ से और यदि बहुत पहले भी मानें तो वि० सं० १४५५ से पूर्व नहीं बन सकता।

महाराणा कुंभकर्ण ने वि० सं० १५१७ में कुंभलगढ़ के किले की प्रतिष्ठा की और वहाँ के मामादेव (कुंभ स्वामी) के मंदिर में बड़ी बड़ी पाँच शिलाओं पर कई सौ श्लोकों का एक विस्तृत लेख खुदवाया, जिसमें मेवाड़ के उस समय तक के राजाओं का बहुत कुछ वृत्तांत दिया है। उसमें समरसिंह के पृथ्वीराज की बहिन पृथा से विवाह करने या उसके साथ शहाबुद्दीन की लड़ाई में मारे जाने का कोई वर्णन नहीं है, परंतु वि० सं० १७३२ में महाराणा राजसिंह ने अपने बनवाए हुए राजसमुद्र तालाब के नौचौकी नामक बाँध पर २५ बड़ी बड़ी शिलाओं पर एक महाकाव्य खुदवाया, जो अब तक विद्यमान है। उसके तीसरे सर्ग में लिखा है कि "समर-सिंह ने पृथ्वीराज की बहिन पृथा से विवाह किया और शहाबुद्दीन के साथ की लड़ाई में वह मारा गया, जिसका वृत्तांत भाषा के

'रासो' नामक पुस्तक में विस्तार से लिखा हुआ है।"* इन दोनों लेखों से निश्चित है कि पृथ्वीराजरासो वि० सं० १५१७ और १७३२ के बीच किसी समय में बना होगा। वि० सं० १६४२ की पृथ्वीराजरासो की सबसे पुरानी हस्तलिखित प्रति मिली है, इसलिये उसका वि० सं० १५१७ और १६४२ के बीच अर्थात् १६०० के आसपास बनना अनुमान किया जा सकता है।

पृथ्वीराजरासो की भाषा

पृथ्वीराजरासो की भाषा विक्रम की तेरहवीं शताब्दी की नहीं, किंतु वि० सं० १६०० के आसपास की है। हेमचंद्र के 'प्राकृत-व्याकरण' में अपभ्रंश भाषा के छंदोबद्ध उदाहरणों, सोमप्रभ के 'कुमारपाल प्रतिबोध', मेरुतुंग की 'प्रबंधचिंतामणि' तथा 'प्राकृत-पिंगल' में दिए हुए रणथंभोर के अंतिम चौहान राजा हम्मीर के प्रशंसात्मक पद्य, तथा वि० सं० १५९२ के बीठू सूजा रचित 'जैतसी राव को छंद' नामक ग्रंथ में मिलनेवाले छंदों की भाषा से पृथ्वीराजरासो की भाषा का मिलान किया जाय, तो बहुत बड़ा अंतर मालूम होता है। पठित चारण और भाट लोग अब भी कविता बनाते हैं, उसमें वीररस की कविता बहुधा डिंगल भाषा में करते हैं और दूसरी कविता साधारण भाषा में। डिंगल भाषा की कविता में व्याकरण की ठीक व्यवस्था नहीं होती और शब्दों के रूप तथा विभक्तियों के चिह्न कुछ पुराने ढंग के होते हैं। एक ही ग्रंथ में

---

* ततः समरसिंहाख्यः पृथ्वीराजस्य भूपतेः।
पृथाख्याया भगिन्यास्तु पतिरित्यतिहार्दतः ॥ २४ ॥
गोरीसाहिबदीनेन गज्जनीशेन संगरं।
कुर्वतोऽस्वर्वगर्वस्य महासामंतशोभितः ॥ २५ ॥
दिल्लीश्वरस्य चोहाननाथस्यास्य सहायकृत्।
स द्वादशसहस्त्रैःस्ववीराणांसहितो रणे ॥ २६ ॥
बध्वा गोरीपतिं दैवात् स्वर्यातः सूर्यबिंबभित्।
भाषारासापुस्तकेस्य युद्धस्योक्तोस्ति विस्तरः ॥ २७ ॥

राजप्रशस्ति महाकाव्य; सर्ग ३।

भिन्न भिन्न प्रकार की कविता देखनी हो, तो विक्रम संवत् १८७९ में आढ़ा किशन के बनाए हुए 'भीमविलास' और विक्रम की बीसवीं सदी में बने हुए मिश्रण सूर्यमल के बृहद्ग्रंथ 'वंशभास्कर' को देखना चाहिए। राजस्थानी भाषा की कविता में पहले फारसी-शब्दों का प्रयोग नहीं होता था, पीछे से कुछ कुछ होने लगा। पृथ्वीराजरासो में प्रति सैकड़ा दस फारसी शब्द पाए जाते हैं, जो उसकी प्राचीनता सिद्ध नहीं करते। आधुनिक लेखक भी स्वीकार करते हैं कि 'भाषा' की कसौटी पर यदि ग्रंथ (पृथ्वीराजरासो) को कसते हैं तो और भी निराश होना पड़ता है, क्योंकि वह बिलकुल बेठिकाने है—उसमें व्याकरण आदि की कोई व्यवस्था नहीं है। दोहों की और कुछ कुछ कवित्तों (छप्पयों) की भाषा तो ठिकाने की है, पर त्रोटक आदि छोटे छंदों में तो कहीं कहीं अनुस्वारांत शब्दों की ऐसी मनमानी भरमार है जैसे किसी ने संस्कृत-प्राकृत की नकल की हो कहीं कहीं तो भाषा आधुनिक साँचे में ढली सी दिखाई पड़ती है, क्रियाएँ नए रूपों में मिलती हैं। पर साथ ही कहीं कहीं भाषा अपने असली प्राचीन साहित्यिक रूप में भी पाई जाती है, जिसमें प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों के साथ साथ शब्दों के रूप और विभक्तियों के चिह्न पुराने ढंग के हैं। इस दशा में भाटों के इस वाग्जाल के बीच कहाँ पर कितना अंश असली है, इसका निर्णय असंभव होने के कारण यह ग्रंथ न तो भाषा के इतिहास के और न साहित्य के इतिहास के जिज्ञासुओं के काम का रह गया है*।

भाषा की दृष्टि से भी रासो वि० सं० १६०० से पूर्व का सिद्ध नहीं हो सकता।

पृथ्वीराजरासो का परिमाण

भाषा साहित्य के आधुनिक इतिहास-लेखक जब पृथ्वीराजरासो की घटनाएँ अशुद्ध पाते हैं तब यह कहते हैं कि 'मूल पृथ्वीराज-

* नागरीप्रचारिणी पत्रिका; (नवीन संस्करण) भाग ६, पृ० ३३-३४।

रासो छोटा होगा और पीछे से लोगों ने उसे बढ़ा दिया हो, यह संभव है', परंतु यह कथन भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि चंदबरदाई के वंशधर कवि जदुनाथ ने करौली के यादव राजा गोपालपाल (गोपालसिंह) के राज्य-समय अर्थात् वि० सं० १८०० के आसपास 'वृत्तविलास' नाम का ग्रंथ बनाया। उसमें वह अपने वंश का परिचय देते हुए लिखता है कि 'चंद ने १०५००० श्लोक (अनुष्टुप् छंद) के परिमाण का पृथ्वीराज के चरित्र का रासो बनाया।'* यह कथन नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित रासो के परिमाण से मिल जाता है। जदुनाथ के यहाँ अपने पूर्वज का बनाया हुआ मूल ग्रंथ अवश्य होगा, जिसके आधार पर ही उसने उक्त ग्रंथ का परिमाण लिखा होगा। ऐसी स्थिति में पृथ्वीराज-रासो के छोटा होने की कल्पना भी निर्मूल है।

पृथ्वीराजरासो को प्राचीन सिद्ध करनेवालों की कुछ अन्य युक्तियाँ

पृथ्वीराजविजय के पाँचवें सर्ग में विग्रहराज के पुत्र चंद्रराज का वर्णन करते हुए जयानक ने उसे अच्छे वृत्त (छंद) संग्रह करनेवाले चंद्रराज से उपमा दी है। इस पर से कोई कोई विद्वान् यह कल्पना करते हैं कि अच्छे छंदों का वह संग्रह-कर्त्ता चंदबरदाई हो†, परंतु यह युक्ति भी स्वीकार नहीं की जा सकती, क्योंकि चंदबरदाई रासो में अपने को पृथ्वीराज का मित्र और सर्वेसर्वा होना बतलाता है। इसके विपरीत पृथ्वीराजविजय का कर्त्ता पृथ्वीराज के वंदिराज अर्थात् मुख्य भाट का नाम 'पृथिवीभट' देता है, न कि चंद। कश्मीरी पंडित जयानक ने जिस चंद्रराज का उल्लेख किया है वह वही चंद्र (चंद्रक) कवि हो सकता है, जिसका उल्लेख विक्रम की ग्यारहवीं

* एक लाख रासो कियो सहस्र पंच परिमान।
पृथीराज नृप को सुजसु जाहर सकल जिहान॥ २९॥
नागरीप्रचारिणी पत्रिका; भाग ५, पृष्ठ १९७।

† नागरीप्रचारिणी पत्रिका; भाग ६, पृ० ३४।

सदी के उत्तरार्द्ध में होनेवाले कश्मीरी क्षेमेंद्र ने भी किया है।*
इसके सिवाय चंद्र नाम के कई और भी ग्रंथकार हुए, परंतु उनमें से किसी को हम चंदबरदाई नहीं मान सकते।

मिश्रबंधुओं का लिखना है कि 'यदि कोई मनुष्य सोलहवीं शताब्दी के आदि में इसे बनाता, तो वह स्वयं अपना नाम न लिखकर ऐसा भारी ('२५०० पृष्ठों का) बढ़िया महाकाव्य चंद को क्यों समर्पित कर देता'†। इसके उत्तर में इतना ही लिखना आवश्यक होगा कि चंद नाम के अनेक कवि समय समय पर हो सकते हैं। कालिदास नामक अनेक कवि हो गए और तेरहवीं सदी के आसपास होनेवाले 'ज्योतिर्विदाभरण' के कर्त्ता ज्योतिषी कालिदास ने अपने को विक्रम का मित्र और उसके दरबार के नवरत्नों में से एक होना लिख दिया है। इतनी ही नहीं, किंतु कलियुग संवत् ३०६८ (वि० सं० २४) में अपने ग्रंथ का प्रारंभ और अंत होना भी लिख डाला है।

उपसंहार

इस तरह हमने जाँचकर देखा कि पृथ्वीराजरासो बिलकुल अनैतिहासिक ग्रंथ है। उसमें चौहानों, प्रतिहारों और सोलंकियों की उत्पत्ति के संबंध की कथा, चौहानों की वंशावली, पृथ्वीराज की माता, भाई, बहिन, पुत्र और रानियों आदि के विषय की कथाएँ तथा बहुत सी घटनाओं के संवत् और प्रायः सभी घटनाएँ तथा सामंतों आदि के नाम अशुद्ध और कल्पित हैं; कुछ सुनी सुनाई बातों के आधार पर उक्त बृहत् काव्य की रचना की गई है। यदि पृथ्वीराजरासो पृथ्वीराज के समय में लिखा जाता तो इतनी बड़ी अशुद्धियों का होना असंभव था। भाषा की दृष्टि से भी यह ग्रंथ प्राचीन नहीं दीखता। इसकी डिंगल भाषा में जो कहीं कहीं प्राचीनता का आभास होता है वह तो डिंगल की विशेषता ही है।

* आफ्रेक्ट; कैटेलॉगस कैटेलॉगरम; भाग १, पृ० १७६।

† मिश्रबंधु; हिंदीनवरत्न; (तृतीय संस्करण) पृष्ठ ४६१।

आज की डिंगल में भी ऐसा आभास मिलता है, जिसका बीसवीं सदी में बना हुआ 'वंशभास्कर' प्रत्यक्ष उदाहरण है। रासो की भाषा में फारसी शब्दों की बहुलता भी उसके प्राचीन होने में बाधक है। वस्तुतः पृथ्वीराजरासो वि० सं० १६०० के आस पास लिखा गया। वि० सं० १५१७ की प्रशस्ति में रासो की घटनाओं का उल्लेख नहीं है और रासो की सब से पुरानी प्रति वि० सं० १६४२ की मिली है, जिसके बाद यह ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हो गया, यहाँ तक कि वि० सं० १७३२ की राजप्रशस्ति में रासो का स्पष्ट उल्लेख है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि पहले पृथ्वीराजरासो का मूल ग्रंथ उसके वर्तमान परिमाण से बहुत छोटा था, परंतु पीछे से बढ़ाया गया है, क्योंकि आज से १८५ वर्ष पूर्व उसी के वंशज कवि जदुनाथ ने उसका १०५००० श्लोकों का होना लिखा है। पृथ्वीराजरासो को प्राचीन सिद्ध करने के लिए जो दूसरी युक्तियाँ दी जाती हैं, वे भी निराधार ही हैं। अनंद विक्रम संवत् की कल्पना तो बहुत व्यर्थ और निर्मूल है, जिसका विस्तृत खंडन नागरीप्रचारिणी पत्रिका में किया जा चुका है। संक्षेप से इस लेख में भी उसकी जाँच की गई है।

इस ग्रंथ के प्रसिद्धि में आने के कारण राजपूताने के इतिहास में बहुत अशुद्धि हुई। उदयपुर, जोधपुर, जयपुर आदि राज्यों की ख्यातों के लिखनेवालों ने रासो के संवतों को शुद्ध मानकर वहाँ के कई पुराने राजाओं के संवत् मनमाने झूठे धर दिए। हिंदी भाषा का इतिहास लिखनेवाले जो विद्वान् चंदबरदाई को पृथ्वीराज का समकालीन मानते हैं, वे सत्य जाँच की उपेक्षा कर हठधर्मी ही करते हैं। यदि वे निष्पक्ष होकर इसकी पूरी जाँच करें, तो उन्हें स्पष्ट मालूम हो जायगा कि रासो वि० सं० १६०० से पूर्व का बना हुआ नहीं है और न वह ऐतिहासिक ग्रंथ है।

(४) आमेर के कछवाहा और राव पजून तथा राव कील्हण का समय

[लेखक—श्री हरिचरणसिंह चौहान]

वज्रदामा का समय आमेर राज्य की वंशावलियों के आधार पर चौथी शताब्दी माना जाता है। इसके पिता का नाम राय भानु और दादा का नाम लक्ष्मण राय मिलता है तथा लक्ष्मण राय को राजा नल का पोता लिखा है। वंशावलियों में राजा नल का समय ३५० वि० तथा टॉड साहब के लेखानुसार संवत् ३५१ वि० ठहरता है। लेकिन शिलालेखों के आधार पर वज्रदामा ने संवत् १०३४ वि० में पड़िहारों का प्रताप मिटाकर ग्वालियर दुर्ग पर अपना अधिकार जमाया था। रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद जी ओझा ने, वज्रदामा का पुत्र मंगलराज और उसके दो पुत्र कीर्तिराज और सुमित्र लिखकर कीर्तिराज के वंश में ग्वालियर के कछवाहे और सुमित्र के वंश में आमेर अर्थात् जयपुर और अलवर के कछवाहे लिखे हैं। शिलालेख में सुमित्र का नाम न होने पर भी, उन्होंने मूता नैणसी की ख्यात के आधार पर सुमित्र को उपरोक्त वज्रदामा के पुत्र मंगलराज का दूसरा पुत्र माना है। यद्यपि अन्य वंशावलियों की ही भाँति मूता नैणसी की दी हुई वंशावली भी बड़वा भाटों की वंशावलियों का ही आधार है तथापि शिलालेखों के आधार पर चलनेवाले रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा ने जब उसको प्रमाण मान लिया है तो मानना ही पड़ेगा कि वज्रदामा के पीछे मंगलराज, सुमित्र, मधुब्रह्म, कहान, देवानीक, ईशासिंह, सोढ़देव और दूलहराय हुए। इनका संवत् शिलालेखों में कहीं नहीं मिला, पर वंशावलियों में सोढ़देवजी का समय संवत् १०२३ से १०६३ तक मिलता है। जब कि वज्रदामा का संवत् १०३४ में ग्वालियर लेना मिलता है तब उसके ७वें वंशधर

का संवत् १०२३ कैसे हो सकता है ? किंतु पंडित मोहनलाल विष्णुलालजी पंड्या के निर्णय किए हुए अनंद संवत् का ९०-९१ वर्ष का अंतर जोड़ने से बज्रदामा से लेकर ईशासिंह तक ७ राजाओं के ७९ वर्ष होते हैं जिनमें प्रत्येक का राज्यसमय ११ वर्ष ३ मास से ऊपर पड़ता है। इन ईशासिंह के पुत्र सोढ़देव निंद-रावली से बरेली और बरेली से दौसा में आए और उन्होंने ढुंढार में राजधानी स्थापित की, जिसका वर्णन आगे आवेगा। उधर ग्वालियर में बज्रदामा के पुत्र मंगलराज के बड़े बेटे कीर्तिराज का शिलालेख संवत् १०७८ का मिल चुका है। उससे लेकर महीपाल तक ५ राजा ग्वालियर की गद्दी पर बैठे और महीपाल का शिलालेख संवत् ११५० का मिल चुका है तब उपरोक्त ५ राजाओं के ७२ वर्ष होते हैं, जिनमें प्रत्येक का राज्यसमय १४ वर्ष ५ महीने के लगभग बैठता है। इस प्रकार जब अनंद संवत् का अंतर लगने से वंशा-वलियों के संवत् शास्त्रीय अथवा शिलालेखों के संवतों से क्रमवार मिल जाते हैं तब इस युक्ति का समर्थन करना उचित ही जँचता है। और जो अनंद* संवत् का अंतर न लगाया जाय तो वंशावलियों से सोढ़देवजी का, जो बज्रदामा से आठवीं पीढ़ी में हैं, बज्रदामा से ११ वर्ष पूर्व द्यौसा (ढुंढार) की गद्दी पर बैठना सिद्ध होता है।

चारण रामनाथ रत्नू ने अपने बनाए हुए राजस्थान इतिहास में डाक्टर राजेंद्रलाल मित्र की किसी पुस्तक में छपे हुए ग्वालियर गढ़ के किसी पाषाणलेख के आधार पर लिखा है कि "तँवरों ने बला-त्कार ग्वालियर कछवाहों से छीना था, और जिस राजा ने कछवाहों को निकाला उसके अंश का लक्ष्मण नामी एक राजा संवत् ९४४ में राज्य करता था। इससे स्पष्ट है कि ९४४ से पहले कछवाहों से ग्वालियर छूट गया था, जिससे हमको (रामनाथ रत्नू को) कुछ वंशावलियों में कछवाहों के यहाँ आने का संवत् ९३३ मिला था सो सत्य प्रतीत होता है"।

* अनंद संवत् कल्पित है। [सं०]

हमने कछवाहों की ३० वंशावलियाँ इकट्ठी कीं, उन सबमें ही सौढ़देवजी तथा उनके पुत्र दूलह राय का संवत् १०२३ में ढुंढार में आना ही मिला है, संवत् ९३३ वाली कोई वंशावली नहीं मिली। कछवाहों को ग्वालियर से निकालनेवाले तँवर राजा के अंश का लक्ष्मण नामी राजा लिखा है सो भी ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ग्वालियर के दुर्ग में कछवाहा राजा बज्रदामा का एक लेख वैशाख सुदी १५ संवत् १०३४ का मिल चुका है जो J. A. S. B. के भाग ३१ पृष्ठ ३९३ में मुद्रित है। शिलालेखों में कछवाहों की वंशावली लक्ष्मण से मिलती है। लक्ष्मण के पुत्र बज्रदामा के विषय में लिखा है कि "गाधिपुर के राजा का प्रताप मिटाकर उसने अपने बाहुबल से गोपाद्रि (ग्वालियर) का दुर्ग विजय किया।" इस लेख से लक्ष्मण तँवर नहीं, कछवाहा सिद्ध होता है, क्योंकि वह बज्रदामा का पिता था। जब १०३४ वि० में कछवाहा बज्रदामा द्वारा ग्वालियर का दुर्ग विजय करना शिलालेखों में मिलता है तब ९४४ में कछवाहों से छीना जाना मानने के लिये कोई सहमत नहीं हो सकता। १५वीं शताब्दी के आरंभ काल में तँवरों ने सय्यद किलेदार से ग्वालियर छीनकर उस पर अपना अधिकार किया था।

शिलालेखों के आधार पर बज्रदामा का पुत्र मंगलराज और उसका कीर्तिराज था जिसका शिलालेख संवत् १०७८ का मिल चुका है। उक्त कीर्तिराज के वंश में क्रमशः मूलदेव, देवपाल, पद्मपाल, महीपाल, त्रिभुवनपाल, विजयपाल, सूरपाल और अनंगपाल ग्वालियर की गद्दी पर राज्य करते रहे। अनंगपाल संवत् १२१२ वि० में अपने पिता की विद्यमानता में युवराज था, उसके पीछे सोलंखपाल ग्वालियर का राजा था। इस पर हिजरी ५९२ (वि० १२५३) में मुसलमानों ने चढ़ाई की। एक वर्ष की विकट लड़ाई के पीछे सामग्री चुक जाने पर सोलंखपाल ने ग्वालियर का दुर्ग कुतुबुद्दीन के सुपुर्द कर दिया। इससे विदित होता है कि संवत्

१२५३ वि० तक ग्वालियर का दुर्ग कछवाहों के अधिकार में रहा और फिर उसके पीछे मुसलमानों के पास गया। संवत् १४३२ से पहले वीरसिंह तँवर ने वहाँ के किलेदार सय्यद को कैद कर अपने अधिकार में किया। इन सब बातों से प्रकट होता है कि लक्ष्मण के पुत्र वज्रदामा ने संवत् १०३४ वि० में ग्वालियर दुर्ग पर अपना अधिकार किया और उसके वंश में सोलंखपाल (संवत् १२५३) तक राज्य रहा फिर यवनों के अधिकार में गया, न कि तँवरों के।

मंगलराज के छोटे पुत्र सुमित्र के वंश में मधुब्रह्म, कहान, देवानीक, ईशासिंह और सोढदेव क्रम से हुए, यह महामहोपाध्याय रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा ने लिखा है किंतु वंशावलियों में इनको ग्वालियर का राजा लिखा है। लेकिन जब मंगलराज के बड़े पुत्र कीर्तिराज और उसके वंशजों के अधिकार में ग्वालियर का राज्य (संवत् १२५३ तक) रहना पाया जाता है तब यह मानना ही पड़ेगा कि मंगलराज के द्वितीय पुत्र सुमित्र को ग्वालियर राज्य में अवश्य कोई अच्छा ठिकाना मिला हो, जिस पर उनके (सुमित्र के) वंशजों का अधिकार रहा हो और वहाँ का राज्य ही वे अपने भानजे जैसाजी तँवर को दान देकर उसके इच्छानुसार वहाँ से बरेली जा रहे हों, क्योंकि वंशावलियों में सोढ़देव और उनके पुत्र दुर्लभराज का निंदरावली से बरेली जाना लिखा है, जिससे ऐसा संभव होता है कि ग्वालियर के अधीन निंदरावली का ठिकाना सुमित्र को जागीर में मिला हो और उसी को ईशासिंह द्वारा दान दे देने पर सोढ़देव बरेली जा रहे हों तो आश्चर्य नहीं। वंशावलियों में ग्वालियर का राज्य भानजे को देना लिखा है पर ग्वालियर पर ईश्वरीसिंह के कुटुंबियों का राज्य करना पाया जाता है तो यही प्रतीत होता है कि ग्वालियर राज्यांतर्गत जो ईश्वरी (ईशा) सिंह का राज्य था वह उन्होंने अपने भानजे जैसाजी तँवर को दे दिया हो और वंशावली लिखनेवालों ने ग्वालियर राज्यां-

तर्गत ठिकाने को (शायद निंदरावली ही हो*) ग्वालियर राज्य लिख लिया हो, यह संभव भी है क्योंकि छोटे ठिकाने को कोई नहीं जानता, उस प्रांत के बड़े स्थान का पता देने पर सब कोई जान जाता है। आजकल भी इस निंदरावली को हर कोई नहीं जानता। कोई कोई इस निंदरावली को बरेली के पास बतलाते हैं और संभव है कि वहाँ भी कोई निंदरावली हो, पर जिस निंदरावली का जिकर वंशावलियों में आता है वह नीदड़ नाम से अब भी करौली राज्य में विद्यमान है।

इस समस्त लेख का सारांश यह है कि, सोढ़देवजी निंदरावली से बरेली और वहाँ से अपने मोरा के चौहान संबंधियों की सहायता से धौसा (राजपूताने में) आए।

कछवाहों की वंशावली और ख्यातों में सोढदेवजी का धौसा में आने का समय १०२३ और पजवनजी (राव पजून = प्रद्युम्न) का समय संवत् ११२७ गद्दी पर बैठने का मिलता है। वंशावलियों में यह भी लिखा मिलता है कि राव पजून को पृथ्वीराज चौहान के काका नरनाह कन्ह की पुत्री ब्याही थी। पृथ्वीराजरासो में लिखा मिलता है कि राव पजूनजी ने महाराज पृथ्वीराज के मातहत बड़ी बड़ी लड़ाइयों में वीरता से युद्ध कर शत्रुओं के दाँत खट्टे किए और संवत् ११५१ की कन्नौज की लड़ाई में उसने वीरगति पाई। परंतु आजकल के शोधक लोग अपने शोधे शिलालेखों के आधार पर पृथ्वीराज और पजवनजी का समकालीन होना नहीं मानते, किंतु ऐसा नहीं है। शिलालेखों के आधार पर पृथ्वीराजजी के अंतिम युद्ध का संवत् १२४८-४९ सब शोधकों ने मान लिया है और पृथ्वीराजरासो में जो संवत लिखा मिलता है उसे पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने अनंद सनंद भेद से ९०-९१ वर्ष का अंतर बतलाकर रासो के सब संवतों को शोधकों के संवतों से मिला दिया है। इस युक्ति को कुछ

* नीदड़ (निंदरावली) एक पुराना कसबा आज कल करौली राज्यांतर्गत है।

विद्वानों ने भी मान लिया है। उसी आधार पर यदि पजवनजी का समय भी शोधा जाय तो वह भी शोधकों के शोधों से मिल जाता है। अभी तक आमेर के कछवाहों के कोई शिलालेख नहीं मिले हैं, नहीं तो यह झंझट सहज ही में मिट जाती, पर तो भी रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा महोदय ने आमेर के राजाओं के संवत् शोधने के लिये एक लेख पृथ्वीराजरासो के अनंद सनंद संवत् पर लिखते हुए नवीन संस्करणवाली नागरीप्रचारिणी पत्रिका के प्रथम भाग के चतुर्थ अंक में छपवाया है जिसमें उन्होंने पजवनजी को पृथ्वीराज का समकालीन न बतलाकर उसका संवत् १२९४ वि० में होना अनुमान किया है। उन्होंने अपनी गणना में प्रत्येक राजा का राज्यकाल २० वर्ष मानकर संवत् १०३४ में होनेवाले ग्वालियर के राजा बज्रदामा से राव पजवन जी का १३ वाँ नंबर, मूता नैणसी की ख्यात के आधार पर लिखकर, १३ × २० = २६० वर्षों को १०३४ में जोड़कर १२९४ संवत् निकाला है।

बीस वर्ष का राजत्व काल १००-५० पीढ़ी के लिये कि जहाँ राज्यकाल का कुछ भी पता नहीं चल सकता माना जा सकता है, १० ५ पीढ़ी के लिये नहीं और जहाँ बीच में किसी के भी राजत्व काल का समय मिल जाता है वहाँ बीस वर्ष का एवरेज (औसत) काम नहीं देता। उसी वंशावली में उन्होंने सोढ़देवजी का धौसा आने का समय किसी आधार से संवत् ११२५ लिखा है, जो उनकी २० वर्ष की गणना से नहीं मिलता। उनकी २० वर्ष की लगाई हुई गणना से सोढ़देवजी का संवत् ११७४ में धौसा आना साबित होता है, जो ११२५ से कहीं आगे निकल जाता है।

यदि महामहोपाध्याय रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा की दी हुई वंशावलियों के लेखानुसार ही राव पजवनजी का समय-निर्णय किया जाय तो वह इस प्रकार शोधा जा सकता है। बज्रदामा का समय शिलालेख के आधार पर संवत् १०३४ ग्वालियर विजय करने का है। उसके ८ वें वंशधर ग्वालियर के त्रिभुवन-

पाल् का समय संवत् ११६१ भी उन्हीं के लेखानुसार है। तब संवत् ११६१—१०३४=१२७ वर्ष का अंतर ८ राजाओं के बीच का है जिसको सात राजाओं में बाँटने पर प्रत्येक के राज्यकाल का परता १८ वर्ष पड़ता है। उधर बज्रदामा से आमेर के सोढ़देवजी का नंबर भी आठवाँ है जिसका समय भी उन्हीं के लेखानुसार संवत् ११२५ है। तब ११२५ में से १०३४ घटाने पर शेष ६१ रहते हैं जिनको ७ राजाओं में बाँट देने पर प्रत्येक राजा का राज्यकाल १३ वर्ष निकलता है। इस १३ वर्ष के परते को ग्वालियर के नरेशों के निकाले हुए १८ वर्ष के परते के साथ जोड़ दिया जाय और दो का भाग दे दिया जाय तो १३+१८÷२=१६ वर्ष के करीब पड़ता है।

जब ओझाजी महाराज के लेखानुसार ही बज्रदामा से राव पजवनजी का १३ वाँ नंबर है तब १२ राजाओं का राजत्व काल १६ वर्ष की गणना से १६२ वर्ष होता है जिसको संवत् १०३४ में जोड़ देने पर १२२६ संवत् बन जाता है जो पृथ्वीराजजी के समय से ठीक आ मिलता है। अतः पृथ्वीराज और राव पजवनजी के समकालीन होने में कोई भी अड़चन नहीं रह जाती।

आमेर राज्य की वंशावलियों में राव कील्हणजी का विक्रमी १२७३ से १३३३ तक राज्य करना लिखा है। उसी में यह भी लिखा है कि उन्होंने आबू के राजा विक्रमसेन की पुत्री ब्याही थी। परंतु महामहोपाध्याय कविराजा श्यामलदासजी ने अपने बनाए हुए मेवाड़ के वीरविनोद नामक इतिहास में जयपुर के इतिहास के प्रसंग में लिखा है

"दूसरा शक यह है कि, कील्हण राय का संवत् १२७३ लिखा है जो पृथ्वीराज के मारे जाने से २४ वर्ष पीछे हुआ। पजून से कील्हण तक ५ पुश्तें होती हैं जिनके लिये २४ वर्ष बहुत कम जमाना होता है, लेकिन यह कयासी वजह कुछ माकूल सबूत नहीं है। एक दूसरी दलील इस खयाली बात को मजबूत करनेवाली यह है कि महाराणा रायमल के रासो में कील्हण राय का महाराणा

कुंभा की सेवा में रहना लिखा है और उक्त ग्रंथ उसी जमाने के कवि ने बनाया था, महाराणा कुंभा वि० १४९० (हि० ८३६ = ई० १४३३) में गद्दीनशीन हुए और विक्रमी १५२५ (हि० ८७२ = ई० १४६८) तक राज्य करते रहे"।

कविराजा श्यामलदासजी के लेखानुसार संवत् १४९० से १५२५ के बीच में राव कील्हणजी का विद्यमान होना सिद्ध होता है, पर ऐसा नहीं है। राव कील्हणजी महाराणा कुंभा से लगभग १०० वर्ष पूर्व आमेर राज्य की गद्दी पर थे। यह हम भी मानते हैं कि जयपुर राजकीय वंशावलियों में जो संवत् दिए हुए मिलते हैं वे ठीक नहीं हैं। चाहे वे पृथ्वीराजरासो के अनंद संवत् के आधार पर लिखे गए हों और चाहे फिर बीच में उनको शास्त्रीय संवत् से मिलाने के लिये १०० अथवा ९०—९१ वर्ष का अंतर कई राजाओं में बाँटकर निकाल दिया गया हो जिससे उनका शास्त्रीय संवत् के सिलसिले में आ जाना संभव भी हो तो भी उनकी कल्पितता का पता चल जाता है। अस्तु,

जिस दलील से स्वर्गीय कविराजा श्यामलदासजी ने राव पजून से राव कील्हणदेव तक ५ पुश्तें लिखकर महाराजाधिराज पृथ्वीराज चौहान के शास्त्रीय संवत् से २४ वर्ष का अंतर निकाल-कर ५ पुश्तों का होना असंभव माना है, उसी दलील से राणा कुंभाजी से राव पृथ्वीराज आमेरवालों तक ५९ वर्षों का अंतर ९ पुश्तों (कील्हण से पृथ्वीराज तक) के लिये उन्होंने कैसे सही मान लिया ?

रायमलरासो में लिखा हुआ वृत्त कि "राय कील्हण का महाराणा कुंभा की सेवा में रहना" यह राव और भाटों की गढ़ंत नहीं तो क्या है ? इसको कविराजा श्यामलदास सरीखे ही विद्वान् मान सकते हैं; शोधकों के लिये तो जैसा पृथ्वीराजरासो वैसा ही रायमलरासो, दोनों समान हैं।

अब हम कविराजा श्यामलदासजी के सब विषय को छोड़कर राव कील्हणजी के असली समय की खोज के लिये अपने विचार प्रकट करते हैं। आमेर राज्य की वंशावली में लिखा है कि राव कील्हण ने आबू के राजा विक्रमसेन की पुत्री ब्याही थी, इसलिये आबू के राजा विक्रमसेन का पता लगाना जरूरी हुआ कि संवत् १२७३ से १३३३ तक आबू पर कोई विक्रमसेन नाम का राजा था या नहीं। आबू पर पहले प्रमारों का और फिर चौहानों का राज्य रहा है। चंद्रावती के प्रमारों में महाराजा प्रतापसिंह प्रमार से संवत् १३६८ वि० में चौहान राव कुंभा ने चंद्रावती का राज्य छीनकर उस पर भी अपना अधिकार जमाया और तब से चौहानों का वहाँ पर राज्य है। न तो प्रतापसिंह तक प्रमारों की वंशावली में विक्रमसेन राजा का नाम है और न चौहानों की वंशावली में ही। तब यह विक्रमसेन कौन और कहाँ का राजा था? अथवा कछवाहों की वंशावलियों में ही राव कील्हण के श्वशुर का यह कल्पित नाम बनाया गया है?

आबू पर वर्मांगा गाँव के सूर्य-मंदिर में संवत् १३५६ का एक लेख है, जिसमें लिखा है कि "महाराजकुल श्री विक्रमसिंह कल्याण विजय राज्ये"। इस लेख से पता चलता है कि चंद्रावती के प्रमार राजा प्रतापसिंह के समय में वर्मांगा में अथवा उसके आस पास किसी ठिकाने पर विक्रमसिंह नाम का कोई राजा था, जो संभव है प्रमारों की भाइप में कोई हो, और स्वतंत्र हो गया हो, क्योंकि उस के नाम के साथ में "महाराजकुल" शब्द लिखा मिला है जो संभव है महारावल का वाचक हो। यदि वंशावली में लिखा हुआ यही विक्रमसिंह राव कील्हण का श्वशुर विक्रमसेन हो तो मानना पड़ेगा कि संवत् १३५६ के आस पास कील्हणजी आमेर की गद्दी पर थे। उसमें और राणा कुंभा के समय में १३४ वर्ष का अंतर आता है जिससे रायमलरासो के लेखक का यह लिखना कि "राव कील्हण महाराणा कुंभा की सेवा में रहता था" असंभव प्रतीत होता है।

यदि राव पजून का समय उन्हीं के लेखानुसार महाराजाधिराज पृथ्वीराज के समकालीन माना जाय तो राव पजून से राव कील्हणजी तक, विक्रमसिंह के संवत् तक, ११४ वर्ष होते हैं जो ५ पुश्तों के लिये असंभव नहीं है।

यदि राव पजून का समय महामहोपाध्याय रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा के लिखे अनुसार संवत् १२६४ भी मान लिया जाय और उन्हीं के आधार पर प्रत्येक राजा का राज्य-काल २० वर्ष मान लिया जाय तब भी राव कील्हणजी का समय १३६४ के आस पास आता है, १४६० के आस पास नहीं।

इसके सिवाय राव उदयकर्ण राव कील्हणजी का परपोता था। उसके विषय में जगदीश के पंडा की प्राचीन बही में "जो उड़िया भाषा में लिखी है" लिखा मिला है कि राव उदयकर्ण अपने बड़े कुँवर बरसिंह सहित संवत् १४२६ वि० में जगदीश की यात्रा में पधारे। और इसी प्रकार बरसिंहजी के पौत्र नरूजी, जिनसे नरू वंश चला और जिनके वंश में अलवर के नरेश टीकाई हैं, उन्होंने संवत् १५५६ आसोज बदी १ के दिन अयोध्या में पहुँचकर सरयू में स्नान किया, यह अयोध्या के पंडा की बही से पता चला है।

जब संवत् १४२६ में राव कील्हणजी के चौथे वंशधर का जग-दीश-यात्रा करना और संवत् १५५६ में उनके ७वें वंशधर का अयोध्या की यात्रा करना वहाँ के पंडों की वहियों से साबित हो चुका है तब राव कील्हण का समय संवत् १४६० से १५२५ तक रायमलरासा के आधार पर मानना विश्वास योग्य नहीं है।

कविराजा श्यामलदासजी ने बीकानेर की तवारीख के अनुसार आमेर के राजा पृथ्वीराज का अंतिम संवत् १५८४ सही माना है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि बीकानेर के राव जैतसिंह ने संवत् १५८५ के आरंभ में १५००० सेना की सहायता देकर साँगा को आमेर की गद्दी दिलाने को भेजा था। उस समय आमेर में राव रत्नसिंह, राव पृथ्वीराज का पोता और राव भीमसिंह का बेटा राज्य करता था

जिसके और पृथ्वीराज के बीच पूर्णमल और भीमसिंह दो नरेश राज्य कर चुके थे। तब राव पृथ्वीराज का अंतिम संवत् १५८४ भी सही मानना विचार के विपरीत है। अतः राव कील्हण १४ वीं शताब्दी के मध्य भाग में आमेर की गद्दी पर थे और रायमलरासो—भाटों, रावों अथवा चारणों की कल्पना मात्र—काव्य-रचना का नमूना है जो राणा रायसिंह की प्रशंसा में बनाया गया था।

---

(५) पुराने सिक्कों की कुछ बातें

[लेखक—श्री लोचनप्रसाद पांडेय]

प्रत्येक जाति और देश में लोकव्यवहार के लिये मुद्राएँ (सिक्के) काम में लाई जाती हैं। ये ताम्र की, रौप्य की तथा सुवर्ण की बनाई जाती हैं और उन पर कई प्रकार के चित्र तथा राजाओं और शासकों की मूर्तियाँ या नाम आदि रहते हैं। हमारे देश के भिन्न भिन्न प्रांतों में बहुत से पुराने सिक्के मिले हैं और अब तक मिला करते हैं। इन मुद्राओं से 'इतिहास निर्माण' में बड़ी सहायता मिला करती है। अनेक मुद्राओं के लेखों पर से कई राजाओं के काल-निर्णय में यथेष्ट प्रकाश पड़ा है।

अँगरेज विद्वानों को एक समय यह कहने का मौका मिला था कि 'मुद्रा-प्रचलन' भारतवासियों ने ग्रीक आदि जातियों से सीखा है। पर अब उनको उनके आक्षेपों और शंकाओं के ऐसे उत्तर मिल गए हैं कि उन्हें लज्जित होना पड़ रहा है। सन् ईसवी के ५००० वर्ष पहले की भारतीय सभ्यता का पता मोहन जोदड़ो (सिंध) और हरप्पा (पंजाब) की खुदाई से लग जाने के कारण अब युरोपीय पुरातत्त्वज्ञों की अनेक धारणाएँ निर्मूल सिद्ध हो रही हैं। इन दोनों स्थानों की खुदाई से बहुत सी प्राचीन-तम मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं जिन पर के **चित्र-लिपि** में लिखित लेख अभी तक पढ़े नहीं जा सके हैं। इन मुद्राओं या मुहरों (seal) पर गाय, हाथी, बैल, व्याघ्र, गैंड़े आदि पशुओं के चित्र हैं। उन चित्रों के साथ साथ विचित्र लिपि में लेख भी हैं। धनुष बाण युक्त शिकारी (hunter) के भी चित्र हैं। अस्तु।

मुद्राओं में तौल या वजन उनकी प्रधान विशेषता है। भारतवर्ष में प्राचीन काल में कौड़ी का सर्वत्र प्रचलन था। लोग अब भी कहा करते हैं कि फूटी कौड़ी या कानी कौड़ी के मोल का नहीं।

अभिप्राय यह है कि एक कौड़ी का तो कुछ मोल भी होता है। एक कौड़ी से कम मोल की फूटी या कानी कौड़ी हुआ करती है। उसके भी मोल का नहीं अर्थात् बिलकुल ही बे-काम।

कई देशी भाषाओं में धनद्रव्य के लिये 'कौड़ी' शब्द व्यवहार किया जाता है। यथा वह महाजन कौड़ीवाला है अर्थात् खूब धनी है। हमारे देश में ६०-७० वर्ष पूर्व देहात के लोग शाक, भाजी, फल-मूल आदि कौड़ियों से खरीदा करते थे। २० कौड़ी की भाजी एक ८-१० मनुष्यवाले कुटुंब के लिये बस थी। देश की उस समय वैसी ही अवस्था थी। आज कल की भाँति शाक पात तक का दुर्भिक्ष न था।

कौड़ी के बाद ताँबे का पैसा था जो **पण** या **कार्षापण** कहलाता था। अनेक विद्वानों का मत है कि पाणि (हाथ) से 'पण' शब्द निकला है। जिसके बदले में पाणि अर्थात् मुट्ठी भर कौड़ी आ सके, उसका नाम "पण" (पैसा) था Indian पण a handful derived from Pani the hand. Indian पण was a handful of cowree shells, usually reckoned as 80. कर्ष का अर्थ तोल या वजन है और 'आपण' का अर्थ 'प्रचलन, व्यवहार' है। कार्षापण का अर्थ वह तोल जो लोगों में प्रचलित था।

४ कौड़ी का एक गंडा।	
५ गंडे की (५ × ४ = २० कौड़ी) एक बोड़ी या काकिणी*	ताम्र
४ बोड़ी का (४ × २० = ८० कौड़ी) एक पण	१४४ ग्रेन ताम्र
४ पण का एक टंक	१४ ग्रेन चाँदी
४ टंक का एक कार्ष	५६ ग्रेन चाँदी
४ कार्ष का एक पल	

* काकिणी, काकिणिका, काकिनी या काकणि उस ताम्र-मुद्रा का नाम था जिसके बदले में २० कौड़ियां आती थीं। A sum of money equal to 20 cowries or to a quarter of a Pana पण। गुसाईंजी महाराज ने अपनी "विनयपत्रिका" के भजन संख्या १४२ में लिखा है—

साधन फल श्रुति-सार नाम तव भव सरिता कहँ बेरो।
सो पर-कर काकिनी लागि सठ बेचि होत हठि चेरो॥

बोड़ी का प्रयोग देश के कई भागों में था। उत्कल में यह श्लोक प्रसिद्ध है—

तीर्थे धेनुः पथे गोश्च गृहे च षड् बोड़िका

"पुराण" और 'सुवर्ण" नाम भी रौप्य और स्वर्ण-मुद्राओं के लिये प्रचलित थे।

धर्म्म-ग्रंथों में पण के $\frac{1}{2}$, $\frac{1}{4}$, $\frac{1}{8}$ भागों का भी उल्लेख है। ये भाग नदियों के पार-उतराई के लिये थे। पण दिन भर की मजूरी में दिया जाता था अर्थात् मजदूरों को पेट भर भोजन और एक **पण** उनकी पूरी मजूरी थी।

मालवांतर्गत **उज्जैन** और **एरन** में प्राप्त मुद्राओं में कई एक इतनी छोटी छोटी हैं कि वे वजन में चार ग्रेन से ज्याद: नहीं हैं। ऐसी मुद्राओं का मोल बहुत करके दो कौड़ी से ज्याद: न था। उन्हें हम $\frac{1}{2}$ गंडा कह सकते हैं।

ताम्रमुद्राओं का क्रम इस प्रकार माना जा सकता है—

कौड़ी	पण	नाम	वजन रत्ती	वजन ग्रेन
५	$\frac{1}{16}$ पण			
१०	$\frac{1}{8}$ पण			
२०	$\frac{1}{4}$ पण	—	५	९
४०	$\frac{1}{2}$ पण	अर्धकाकिनी	१०	१८
२॥ बोड़ी या ५० कौड़ी की एक **निधि** मानी जाती थी।		काकिनी या बोड़ी या बोड़ी	२०	३६
८०	१ पण	अर्धपण	४०	७२
१० बोड़ी या २०० कौड़ी की एक दोगानी।		पण या कार्षापण	८०	१४४

तक्षशिला आदि स्थानों में ताम्र की जो चतुष्कोण चिह्नांकित मुद्राएँ (Punch-marked coins) मिला करती हैं वे सब 'पण' हैं। काकिनी या बोड़ी नामक मुद्रांश अब एक प्रकार से

विलुप्त से हो रहे हैं। छत्तीसगढ़-गौरव-प्रचारक मंडली बिलासपुर के संग्रहालय में ताम्र की अत्यंत छोटी छोटी मुद्राएँ हैं पर वे 'काकिनी' हैं या नहीं, सो ज्ञात नहीं। चाँदी के सिक्कों के तीन या चार भाग हुआ करते थे। यथा—

पण		कार्ष	नाम	वजन
४	=	$\frac{1}{4}$ कार्ष	टंका या पादिक	८ रत्ती
८	=	$\frac{1}{2}$ कार्ष	कोण	१६ ,,
१६	=	१ कार्ष	कार्षापण धरण पुराण	३२ ,,
१६०	=	१० कार्ष		

चाँदी की शतमान या पल नामक मुद्राएँ अभी तक कहीं नहीं पाई गई हैं। पर "महावंश" नाम के ग्रंथ में कार्षापण, अर्ध-कार्षापण और चतुर्थांश कार्षापण का उल्लेख है; यथा—The monks address the people, "Beloved," bestow on the priest-hood either a काहापण, or half or a quarter of one or even the value of a मासा।

उत्तर-भारत की स्वर्णमुद्राओं में दो प्रसिद्ध थीं—(१) सुवर्ण, (२) निष्क।

"शतपथ ब्राह्मण" में लिखित है—"हिरण्यं सुवर्णं शतमानम्" अर्थात् पीतवर्ण "शतमान" नामक स्वर्णमुद्रा। शतमान का तोल एक पल था। इससे यह भी कहा जाता है कि उसका अन्य नाम निष्क भी रहा होगा। ऋग्वेद में निष्क का उल्लेख है। काक्षिवत् ऋषि को राजा भावयव्य से उपहारस्वरूप १०० सुवर्ण निष्क, १०० घोड़े, १०० साँड़ प्राप्त हुए थे।

दक्षिण भारतवर्ष में कई भाँति की स्वर्ण की मुद्राएँ थीं। यहाँ स्वर्ण कार्ष का नाम 'हून' था। नीचे इन दक्षिण देशीय स्वर्ण मुद्राओं के तौल और नाम दिए जाते हैं—

१/१० हून का नाम फनम था जो तौल में ५.२८ ग्रेन हुआ करती थी।
१/४ ,, ,, ,, माद ,, ,, ,, ,, १३.२० ,, ,,
१/२ ,, ,, ,, प्रताप ,, ,, ,, ,, २६.४० ,, ,,
१ ,, ,, ,, वराह (Varaha or Pagoda)
,, ,, ,, ,, ५२.८० ,, ,,
१ कार्ष— का तौल ५७.६० ग्रेन था
१/२ सुवर्ण ,, ,, ७२ ,, ,,
१ सुवर्ण ,, ,, १४४ ,, ,,
१ निष्क, पल या शतमान ५७६ ,, ,,

कलिंग नगर के राजा प्रसिद्ध अनंतवर्मा चोड़गंग की बहुत सी छोटी छोटी स्वर्ण मुद्राएँ सोनपुर राज्य (उड़ीसा) में मिली थीं। उनमें से दो, जो मेरे निकट हैं, अत्यंत छोटी छोटी हैं। एक तो आकार में चने की दाल के बराबर है, दूसरी उससे छोटी है। उनके दोनों ओर चित्र और लेख हैं। ये अवश्य 'हून' और 'माद' के प्रतिरूप हैं। इनका समय सन् ई० की ग्यारहवीं सदी है।

प्राचीन चिह्नांकित (punch-marked) मुद्राओं को दक्षिण भारत में "शालाक" कहते हैं। चिह्नांकित मुद्राओं की दूसरी ओर जो केवल एक ही छाप या चिह्न देखा जाता हो वह उस स्थान या नगर का परिचायक हो सकता है जहाँ से वे प्रचारित की जाती थीं। तक्षशिला में प्राप्त अधिकांश मुद्राओं पर एक ही प्रकार की एक ही छाप पाई जाती है। पर यह केवल अनुमान है। बनारस कमिश्नरी में प्राप्त ऐसी मुद्राओं की पीठ पर एक ही आकार की छाप पाई जाती है जिससे यह माना जा सकता है कि वे बनारस या काशी में गढ़ी गई थीं।

अब मुद्राओं पर अंकित चित्रों के संबंध में कुछ थोड़ा लिखकर इस लेख का अंत किया जाता है—

१ साँड़, बैल, गाय या नंदी का रूप A bull or cow (संस्कृत-वत्स)

कौशांबी में, जो कि 'वत्स' नामक राज्य की राजधानी थी, जितनी मुद्राएँ मिली हैं सब पर गाय या बैल के रूप हैं।

२ सशस्त्र योद्धा की मूर्ति।

ऐसी मुद्राएँ यौधेय गण नामक 'गण' राज्य की थीं। यौधेय लोग प्रख्यात योद्धा हुआ करते थे।

३ वृक्ष —उदुंबर वृक्ष।

औदुंबर जाति की मुद्राओं पर उदुंबर वृक्ष का चिह्न रहता था।

४ सम चतुष्कोण सरोवर—मत्स्य सहित या मत्स्यरहित।

पुष्कर (अजमेर) देश या पुष्कलावती (पेशावर) देश की मुद्राएँ।

५ सर्प (संस्कृत में अहि)।

अहिच्छत्र या अहिच्छेत्र देश की मुद्राएँ।

६ मयूर—इससे मयूरपुर का ज्ञान होता था।

७ खर्जूर वृक्ष—चंदेलों की प्राचीन राजधानी खर्जूरपुर (वर्तमान खजराहो) का परिचायक चित्र।

८ पद्म—पद्मावतीपुर (नरवर) नल राजा की राजधानी का सूचक चिह्न।

९ पाटली—पाटलिपुत्र का परिचायक चिह्न।

१० नारी मूर्ति—(खड़ी हुई) सिर से पाँच किरणें ऊपर जा रही हैं। पंच किरणों से पांचाल देश का परिचय मिलता है। द्रुपदराज की पुत्री पांचाली के पाँच पति (पंच पांडव) थे यह महाभारत से प्रकट है।

बहुत से नृपालवृंद अपने नाम के बदले में चित्र-काव्य या श्लेष से काम लिया करते थे। अर्थात्,

राजा सूर्यमित्र या भानुमित्र की मुद्राओं पर सूर्य का चित्र रहता था। उसी प्रकार चंद्रगुप्त के नाम के लिये चंद्रमा का चित्र देते थे। कुमारगुप्त के नाम के लिये "कुमारी देवी" की मूर्ति दी जाती थी। राजा हस्ति के नाम के लिये हस्ती या हाथी का चित्र अंकित किया जाता है।

कभी कभी 'सूर्य' के चित्र से **सूर्यदास**, सर्प या नाग के चित्र से **नागसेन** और गज के चित्र से **गजसिंह** का बोध होता था। वीरदेव राजा के नाम के लिये 'योद्धा' का चित्र, गोपाल-देव के नाम के लिये 'गो' का चित्र मुद्राओं पर दिया जाता था।

भारतवर्ष में प्राय: प्रत्येक प्राचीन स्थान में प्राचीन मुद्राएँ मिला करती हैं पर उनके संग्रह की ओर लोगों का ध्यान नहीं जाता।

---

(६) हिंदी साहित्य के इतिहास के अप्रकाशित परिच्छेद

[लेखक—श्री भास्कर रामचंद्र भालेराव]

प्राक्कथन

नागरीप्रचारिणी सभा काशी को स्थापित हुए संवत् १९८५ में ३६ वर्ष हो चुके। इन गत ३६ वर्षों का हिंदी साहित्य का इतिहास प्रचार, प्राचीन साहित्य-संशोधन तथा नूतन साहित्य-संवर्धन की दृष्टि से, महाकवि चंद से लगाकर बाबू हरिश्चंद्रजी के समय तक की किसी भी शताब्दी से, विशेष महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। जैसे एक छोटे से वट वृक्ष का पौधा समय पाकर पल्लवित तथा प्रस्फुटित होकर विशाल रूप धारण कर लेता है, सभा के जीवन का इतिहास ठीक उसी वट वृक्ष की नाईं है। काशमीर से कन्या कुमारी तक

"हिंदी हमारी राष्ट्रभाषा और लिपि है नागरी"

की ध्वनि गुंजायमान होना किस नागरी भाषा-भाषी को पुलकित नहीं करेगा? इसमें संदेह नहीं, कि सभा ने प्रचार तथा प्रकाशन के द्वारा उस दिशा में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है, और यद्यपि उसे अपने कार्य में अन्य संस्थाएँ तथा व्यक्ति भी सहायक हुए हैं, तथापि विक्रम की बीसवीं शताब्दी के हिंदी साहित्य-क्षेत्र का कर्णधारत्व तो एकमात्र सभा ही को प्राप्त है। भारतवर्ष में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा स्थापित बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के अतिरिक्त नागरीप्रचारिणी सभा जैसी न तो किसी प्रांत में संस्था स्थापित हुई और न कोई संस्था इतना सुयश ही संपादन कर सकी। संस्था के जन्मदाता स्वनामधन्य रायसाहब श्यामसुंदरदासजी, हिंदी का सिक्का जमाने की दृष्टि से, century man (शताब्दी-पुरुष) कह-

लाने के सर्वथा पात्र हैं; अतः इन महापुरुष के प्रति श्रद्धा भक्ति से प्रेरित होकर स्मारक ग्रंथ प्रकाशित करना सर्वथा योग्य ही है, अस्तु।

सभा ने भारतवर्ष में हिंदी के प्रचार का खासा प्रयत्न किया, पर हमारी दृष्टि से उसका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है हिंदी के गुण-गरिमा-प्रदर्शक प्राचीन साहित्य-रत्नों का संशोधन तथा प्रकाशन। × × भाषा का सौंदर्य तथा वैभव प्राचीन साहित्य से ही ज्ञात हो सकता है। और बिना भाषा का महत्त्व स्थापित किए समाज उसका अनुयायी नहीं हो सकता। नागरी भाषा, नागर समाज-सुसंस्कृत, सभ्य तथा उच्च समाज—की भाषा थी; यह बात हिंदी के प्राचीनतर इतिहास से भली भाँति ज्ञात हो सकती है। अपभ्रंश संस्कृत के प्राकृत का प्रत्यक्ष स्वरूप प्राचीन हिंदी है, और, विक्रम की सातवीं शताब्दी से लगाकर आज तक सर्वत्र उसी भाषा का प्रचार है। मेरे स्वर्गीय मित्र संस्कृत तथा प्राकृत के प्रकांड विद्वान् चंद्रधरजी गुलेरी ने प्राकृत से हिंदी के क्रम-विकास पर अच्छा प्रकाश डाला था। ईसा की सातवीं शताब्दी में अवंतिका में पुष्य या पुंड नामक हिंदी का आदि-कवि होना कहा जाता है। पर, तत्संबंधी कोई प्रमाण नहीं मिलता। ईसा की नवीं शताब्दी के पूर्व देशी भाषाओं के स्वतंत्र अस्तित्व का प्रमाण आज तक नहीं प्राप्त हुआ था। पर, नागरी की प्राचीनता की दृष्टि से हाल ही में एक अपूर्व संशोधन हुआ है। गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज का सत्ताईसवाँ ग्रंथ **अपभ्रंश काव्यत्रय** हाल ही में प्रकाशित हुआ है। उसके परिशिष्ट में **कुवलय कथामाला** नामक काव्य के कुछ अवतरण दिए हैं। उक्त अपभ्रंश भाषा-ग्रंथ चैत्र कृष्णा १४ शाके ७०० (सन् ७७८) को लिखा गया। इसकी भाषा प्राकृत है; किंतु प्राकृत के अतिरिक्त अन्यान्य १८ देशी भाषाओं का उस समय अस्तित्व होने का उसमें उल्लेख है। उसमें वर्तमान मध्य भारत तथा मालवे की प्राचीन भाषाओं का उल्लेख भी पाया जाता है, जो हिंदी के प्राचीनतर रूप कहे जा सकते हैं। यथा—

मूल प्राकृत	संस्कृत छाया	हिंदी अर्थ
'तेरे मेरे आउत्ति'	'तेरे मेरे आओ'	तेरे मेरे आओ
जम्पिरे मज्झ	इति जल्पतो मध्य	कहने वाले मध्य देशियों
देसे य	देशांश्च	को उसने देखा।
'भाउअ भइणि	भा.. भणतोऽथ	भाई बहन
तुम्हे' भणिरे		तुम्हे' बोलनेवाले
अह मालवे दिट्ठे	मालवीयान् दृष्टिवान्	मालवियों को उसने देखा।

यह तो हुई हिंदी के प्राचीन स्वरूप की बात। पर हमें इस लेख के द्वारा यह बतलाना है कि हिंदी के आदि महाकवि चंद बरदाई के समय तथा उसके भी पूर्व से लगाकर वर्तमान काल तक सुदूर प्रांत महाराष्ट्र तथा गुजरात में केवल हिंदी का प्रचार ही नहीं हुआ किंतु ग्रंथ-रचना भी हुई और इस प्रकार हिंदी को आधुनिक काल ही में नहीं; किंतु १२वीं शताब्दी से ही देश-व्यापी राष्ट्र-भाषा का स्थान प्राप्त हो गया; अतः हम सबसे पहले महाराष्ट्र प्रांत के प्राचीन हिंदी साहित्य की ओर दृष्टिपात करते हैं।

महाराष्ट्र में हिंदी-प्रचार के कारण

महाराष्ट्र में हिंदी के प्रचार होने के कई कारण हैं। नाथपंथ के संस्थापक आचार्य-प्रवर श्री मच्छेंद्रनाथ तथा श्री गोरखनाथ के सिद्धांतों का बारहवीं शताब्दी से महाराष्ट्र में बड़ा प्रचार हुआ और उस प्रांत के कई प्रमुख साधु-संत, कवि तथा गृहस्थ उनके अनुयायी बन गए। अब भी महाराष्ट्र के विभिन्न स्थानों पर नाथपंथियों के मठ वर्तमान हैं। नाथपंथियों को अपनी गुरु-भाषा का ज्ञान प्राप्त करके उनके सिद्धांतों का प्रचार करना आवश्यक था। इसी से प्रायः प्रत्येक नाथपंथीय साधु की हिंदी-रचना उपलब्ध है। महाराष्ट्र में दसवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म का, परिवर्तित स्वरूप में, महानुभाव नामक एक पंथ स्थापित हुआ और १५ वीं शताब्दी के अनंतर तो उस पंथ का सूदूर

प्रदेश काबुल तक प्रचार हो गया। अब भी पंजाब तथा अफगानिस्तान में उसी महाराष्ट्रीय पंथ महानुभाव उर्फ जयकृष्णी मत के मठ वर्तमान हैं। महानुभाव पंथ के अनुयायियों ने हिंदी में विपुल रचना की है, यहाँ तक कि चंद के पूर्व की हिंदी रचनाएँ भी पाई जाती हैं। हिंदुओं के प्राचीन तीर्थ-स्थान काशी, गया आदि उत्तरीय भारत में ही स्थित होने के कारण जब कभी महाराष्ट्रीय उत्तरी भारत में तीर्थ-यात्रा को आते तब उन्हें हिंदी का अध्ययन करना आवश्यक था। देवगिरि का महाराष्ट्रीय स्वराज नष्ट हो जाने के कारण मुसलमानी राज की जड़ महाराष्ट्र में जमी, जिससे पारस्परिक विचार विनिमय के उद्देश से हिंदी का वहाँ पर विशेष प्रचार हुआ। श्री शिवाजी छत्रपति के पूर्ववर्त्ती, तत्कालीन तथा परवर्त्ती साधु संतों को स्वधर्म-प्रचार तथा परधर्मियों पर हिंदू धर्म का सिक्का जमाने के निमित्त हिंदी का ही आश्रय लेना पड़ता था। मराठों की फौज में प्रायः पूर्वीय राजपूत तथा मुसलमान आदि जातियों के रंगरूट भरती हुआ करते थे, जिससे उनके द्वारा भी हिंदी-प्रचार का कार्य जारी रहा। मुगलों के अंतिम दिनों तक दिल्ली नगर ही भारतीय राजनीति का केंद्र कहलाता था, जिससे महाराष्ट्रीय राजनीतिज्ञों का ध्यान सर्वदा दिल्ली की ओर लगा रहता था; अतः उन्हें विवश होकर तत्प्रांतीय भाषा का ही ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक हो गया। महाराष्ट्र के क्षत्रिय मराठे प्रायः राजपूताने से ही उस प्रांत में जाकर बसे थे; अतः प्राचीन मराठे तथा उनके वर्तमान वंशज भी अपने को राजपूत कहलाना परम गौरवास्पद समझते हैं तथा येन केन प्रकारेण राजपूतों से अपना संबंध रखने की चेष्टा किया करते हैं। छत्रपति शिवाजी महाराज ने ज्योंही स्वराज स्थापित करने का प्रयत्न किया और उनके उत्तराधिकारियों ने उस उद्देश्य-सिद्धि के प्रीत्यर्थ उत्तरीय भारत से अपना राजनीतिक संबंध प्रस्थापित किया, त्योंही उत्तर भारतीय हिंदी भाषा से उनका संबंध अधिक हो गया। इस प्रकार कारण-परंपरा से, महाराष्ट्र में हिंदी की जड़ दृढ़ हो गई। महाराष्ट्रीय साधु,

कवि तथा लेखकों ने हिंदी भाषा को अपनी रचना से खूब अलंकृत किया। पर हमारे साहित्य का यह परिच्छेद अभी तक अज्ञात है। महाराष्ट्रीय तथा हिंदी भाषा-भाषियों के पारस्परिक संबंध का यह परिणाम हुआ कि भक्तप्रवर नाभाजी ने अपनी **भक्तमाल** में कई महाराष्ट्रीय संतों का गुण-गान किया, गुरु नानक ने अपने ग्रंथ साहब में महाराष्ट्रीय कवि नामदेवजी की कृति को स्थान दिया तथा महाराष्ट्र के प्रायः सभी संतों ने अपनी रचित संत-नामावलियों में उत्तरीय भारत के संतों का गुण गान किया। महाराष्ट्र के आदि-कवि ज्ञानेश्वर महाराज से लगाकर प्रायः सभी कवियों ने हिंदी रचना की और महाराष्ट्र में बसे हुए प्रायः सभी मुसलमान साधु तथा कवियों ने महाराष्ट्रीय भाषा में ग्रंथ-रचना की। १८ वीं शताब्दी में महाराष्ट्र का उत्तरीय भारत पर राजनीतिक अधिकार स्थायी हो जाने पर तो मध्य भारत और राजपूताने के कई कवियों ने भी महाराष्ट्र विजेताओं की भाषा सीखकर उस भाषा में रचना की है। महाराष्ट्र में हिंदी-प्रचार के कारणों पर प्रकाश डालकर अब हम संक्षेप में चंद-गोरख-विद्यापति-काल से लगाकर आज तक के तत्प्रांतीय हिंदी साहित्य का वर्णन करते हैं।

चंद-गोरख-विद्यापति-काल

१—**सोमेश्वर**—यह चालुक्य वंशीय राजा थे और इनका विरुद 'सर्वज्ञ भूप' था। इनका लिखा हुआ **मानसोल्लास** अर्थात् **अभिलषितार्थ-चिंतामणि** नामक ग्रंथ उपलब्ध हुआ है। उक्त ग्रंथ में लगभग १५ विषयों का वर्णन किया गया है, जिनमें समाज, भूगोल, सेना, वाद्य, ज्योतिष, छंद, हाथी, घोड़े आदि का वर्णन है। राग रागिनियों के वर्णन में कई देशी भाषाओं के पद्यों के उदाहरण भी दिए गए हैं। लाटी भाषा के जो उदाहरण हैं, वे पूर्वकालिक हिंदी से मिलते जुलते हैं। यथा—

नंद गोकुल जायो कान्ह जो गोत्री जण पडि हेली रे नयणे जो विया घदणा भरआ विनि छाणि हक्कारियो कान्हो भरडा सो

आह्वाणा चितिया देउ बुध रूपणा जो दाणवपुरी बचउणि॰ वेद (पु)रूपेण।

महाराष्ट्र की पुरानी हिंदी का यही प्राचीनतर नमूना है। उक्त ग्रंथ की रचना संवत् ११८४ वि० में हुई।

२—**चक्रधर**—उक्त उल्लिखित महानुभाव पंथ के संस्थापक तथा आदिम आचार्य आप ही थे। इस पंथ के ग्रंथ प्रायः गुप्त लिपियों में लिखे हुए पाए जाते हैं। ये ग्रंथ सकल लिपि, सुंदरी लिपि, पारिमांडल्य लिपि, अंक लिपि, शून्य लिपि, सुभद्रा लिपि, श्री लिपि आदि कई सांकेतिक लिपियों में लिखे जाते थे। अर्थात् तवर्ग व्यंजनों के बदले टवर्ग, टवर्ग की जगह तवर्ग; पवर्ग की जगह चवर्ग आदि स्वर व्यंजन वर्ण परस्पर उलट पलट कर दिए जाते थे। खास खास शब्दों के लिये विशिष्ट चिह्न नियत थे। श्री-चक्रधर तथा उनके ५०० शिष्यों के लिखे हुए फुटकर पद्य तथा गद्य ग्रंथ ही मराठी की आदि रचना कहे जाते हैं। १५वीं शताब्दी के अनंतर तो इस धर्म का प्रचार काबुल—पंजाब तक हो गया था, और अब भी इनके मठ उस ओर **जयकृष्णी** पंथ के नाम से मशहूर हैं। हर्ष की बात है कि चक्रधर महोदय तथा उनके शिष्यों की बहुत सी हिंदी रचनाएँ उपलब्ध हैं। चक्रधरजी की कविता निम्न है। इनका समय शाके ११६४ निश्चित है—

सुती वंथी स्थिर होई जेणे तुम्ही जाई।
सो परो मोरो वैरी आणता काई॥

पवण पुरो हो मनि स्थिर करो हो चद्रा मेली वा भान अयागमन ई जे वारो बुद्धि राखो अपनेय।

उक्त उदाहरण से महाराष्ट्र की चंदकालीन हिंदी का परिचय हो सकता है।

३—**उमाम्बा**—श्रीचक्रधर के नागदेवाचार्य नामक शिष्य थे। उनकी भगिनी उमाम्बा की भी रचित चौपदियाँ उपलब्ध हैं, जो प्रायः हिंदीमिश्रित गुजराती में हैं। यथा—

नगर द्वार हो भिच्छा करो हो वापुरे मोरी अवस्था लो।
जिहा जावों तिहा आप सरिखा कोउ न करी मोरी चिंता लो॥
हाट चौहाटा पड रहूं मांग पंच घर भिच्छा।
वापुड लोक मोरी अवस्था कोऊ न करी मोरी चिंता लो॥

टीप ग्रंथ में इन चौपदियां का विशद अर्थ किया गया है।

४—**दामोदर पंडित**—आप भी चक्रधरजी के समकालीन और शिष्य थे। आपकी ईश-भक्तिविषयक विभिन्न राग रागिनियों की कविता पाई जाती है। ये बड़े उच्च कोटि के कवि थे। इनकी रचना पर हिंदी का पूर्ण प्रभाव दिखाई पड़ता है; यथा चौपदी—स्फुटिक मध्ये हीरा वेध कर गया। उजयडो लापली भिग कला। आदि।

५—**ज्ञानेश्वर**—ये नाथपंथीय साधु संवत् १२८६ वि० में हो गए हैं। आपकी लिखी भगवद्गीता पर ज्ञानेश्वरी टीका सर्वोत्कृष्ट रचना कही जाती है। आपके भ्राता निवृत्तिनाथजी ने गुरु गोरखनाथजी के शिष्य से दीक्षा ली थी और आप अपने भ्राता से दीक्षित हुए थे। आपके पिता रामानंदजी के शिष्य थे। निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर तथा सोपानदेव ये तीन भ्राता और मुक्ताबाई भगिनी इन चारों की रचनाएँ मराठी में उपलब्ध हैं। आपकी रचनाएँ मौखिक गाई जाती हैं, जिससे शताब्दियाँ बीत जाने के कारण बहुत कुछ विकृत हो गई हैं। सौभाग्य की बात है कि श्री ज्ञानेश्वर महाराज तथा उनकी भगिनी मुक्ताबाई की हिंदी रचना उपलब्ध है। ज्ञानेश्वर महाराज की रचना निम्न है—

(१)

निर्गुन सागर अथक पसारा, वाको तरंग सकल संसारा।
उद्भव प्रलय वाते होई, लेना एक और देना दोई॥

(२)

सोई कच्चा वे, नहीं गुरु का बच्चा।
दुनिया तजकर खाक रमाई, जाकर बैठा वन में।
खेचरि मुद्रा वज्रासन मों ध्यान धरत है मन मों।

तीरथ करके उम्मर खोई जागे जुगति मों सारी।

× × × × ×

हुकुम निवृत्ति का ज्ञानेश्वर को तिनके ऊपर जाना।
सद्गुरु की कृपा भई तब आपहि आप पिछाना॥

६—**मुक्ताबाई**—इनकी रचनाएँ निम्न हैं—

वाह वाह साहब जी सद्गुरु लाल गुसाईं जी।
लाल बोच मों उदला काला ओंठ पीठ सों काला;
पीत उन्मनी भ्रमर गुंफा रस झूलनेवाला॥

× × × × ×

सदगुरु चेले दोनों बराबर एक दस्त मों भाई।
एक से ऐसे दर्शन पाये महाराज मुक्ताबाई॥

७—**गोरखनाथ**—आप हिंदी के आदि गद्यलेखक कहे जाते हैं। आपने महाराष्ट्र में पर्यटन करके अपने मत का खूब प्रचार किया था। इसी से आपके कई छोटे बड़े मराठी ग्रंथ भी उपलब्ध हैं। आप के हिंदी भाषा-भाषी होने पर भी महाराष्ट्रीय इन्हें अपने प्रांत का ही मानते हैं।

८—**नामदेव**—इनका समय संवत् १४८० वि० निश्चित है। आपके सहस्रों मराठी तथा हिंदी फुटकर पद्य पाए जाते हैं। आपकी रचना को सिक्खों के धर्मग्रंथ—ग्रंथसाहब—में भी स्थान मिला है। कविता निम्न प्रकार है—

जहँ तुम गिरवर तहँ हम मोरा, जहँ तुम चंदा तहँ हम चकोरा।
जहँ तुम सरवर तहँ हम माछो, जहँ तुम दीया तहँ हम बाती॥
जहँ तुम पंथी तहँ हम साथी, × × × × × ×
बेल के पाती शंकर पूजा, नामदेव कहे भाव नहीं दूजा।

सूर-तुलसी-काल

१—**भानुदास**—यह बड़े वैष्णव भक्त और कवि हो गए हैं। इनका समय संवत् १५५५ वि० निश्चित है। यह अपने नाती श्री एकनाथ महाराज के कारण, जो महाराष्ट्र में बड़े विद्वान् साधु हो गए

हैं, अधिक प्रसिद्ध हैं। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध तीर्थस्थान पंढरपुर की श्री विट्ठल मूर्त्ति विजयनगर से लाकर आपने ही स्थापित की थी। आपकी स्फुट मराठी तथा हिंदी रचना उपलब्ध है। आपकी प्रभातियाँ गोस्वामी श्री तुलसीदासजी की रचना के टक्कर की हैं। यथा—

उठहु तात मात कहे, रजनी को तिमिर गयो,
मिलत बाल सकल ग्वाल, सुंदर कन्हाई।
जागहु गोपाल लाल, जागहु गोविंद लाल,
जननी बलि जाई॥
संगी सब फिरत बयन, तुम बिन नहिं छूटत धेनु,
तजहु सयन कमलनयन, सुंदर सुखदाई।
मुख ते पट दूर कीजो, जननी को दरस दीजो,
दधि खीर माँग लीजो, खाँड़ औ मिठाई॥
झमत झमत श्याम राम, सुंदर मुख तव ललाम,
थाती की छूट कछू 'भानुदास' पाई॥

२—**जनार्दन स्वामी**—यह महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत और कवि एकनाथजी के गुरु थे। इनका समय संवत् १५०४ वि० निश्चित है। यह निजामशाही में एक उच्च कर्मचारी थे, किंतु बाद में वैराग्य छा जाने के कारण आप साधु हो गए। आपकी समाधि अभी तक दौलताबाद उर्फ देवगिरि के किले में मौजूद है। इनकी बहुत सी हिंदी और मराठी कविता उपलब्ध है।

३—**दादू पिंजारा**—यह जाति का मुसलमान था। इसकी मातृभाषा हिंदी होने पर भी, महाराष्ट्र-निवासी होने के कारण, इसने बड़ी सफलता के साथ मराठी में कविता की है। यह महान् भक्तों में गिना जाता है। इसका बनाया हुआ **विचारसागर** नामक विशाल हिंदी ग्रंथ उपलब्ध हुआ है। इसका समय शाके १५२८ निश्चित है।

४—**एकनाथ**—१६ वीं शताब्दी के अंत में तथा १७ वीं शताब्दी के आरंभ में महाराष्ट्र में महात्मा तुकाराम, समर्थ रामदास आदि जितने बड़े बड़े महात्मा हुए हैं, उनमें महात्मा एकनाथजी का

नाम भी प्रसिद्ध है। आपकी जीवनी भक्त-प्रवर नरसिंह मेहता से मिलती जुलती है। आप महाराष्ट्र के प्राचीन नगर पैठण अर्थात् प्रतिष्ठान ग्राम के निवासी थे। ज्ञानेश्वर महाराज का ज्ञानेश्वरी ग्रंथ, प्राचीन भाषा के कारण, दुर्बोध सा हो गया था; अतः एकनाथजी ने ही समयानुकूल भाषाशुद्धि करके उसका प्रचार किया। आपके लिखे एकनाथी भागवत, भावार्थ-रामायण आदि दर्जनों छोटे बड़े ग्रंथ तथा असंख्य स्फुट कविता पाई जाती है। महाराष्ट्र में आप जैसा धर्मप्रचारक दूसरा नहीं हुआ। हर्ष की बात है कि आपकी बहुत सी हिंदी रचना भी पाई जाती है। आप बहुत दिवस तक काशीजी जा बसे थे, अतः हिंदी पर भी आपका अच्छा अधिकार हो गया था। आपकी रचना पर तत्कालीन प्रचलित उर्दू का बड़ा प्रभाव पड़ा है। आपका समय शाके १४६३ निश्चित है। रचना का नमूना निम्न है—

देव छिनाल का—छिनाल का।
खेल खिलाड़ी बांका॥
छंद बड़ा सुरवर को बांटा।
जाकर झरोके में बैठा॥

एकनाथ का वाली।
उसे कौन देवे गाली॥

५—**तुकाराम**—आप भी एक प्रसिद्ध महाराष्ट्रीय साधु हो गए हैं। आप जाति के वैश्य थे। गोस्वामी तुलसीदासजी की तरह, उनकी स्त्री के कारण, उन पर वैराग्य छा गया था। महाराष्ट्र स्वराज-संस्थापक छत्रपति शिवाजी महाराज ने आपसे गुरु-मंत्र लेने की इच्छा प्रकट की थी; किंतु निवृत्तिवादी होने के कारण आपने समर्थ रामदासजी से ही गुरुमंत्र लेने का महाराज से अनुरोध किया था। आपका स्थापित किया हुआ भक्ति-मार्ग-प्रवर्तक वारकरी

पंथ अद्यावधि वर्तमान है। हर्ष की बात है कि आपकी हिंदी रचना भी उपलब्ध है, यथा—

तुका बड़ो वह ना तुले, जाहि पास बहु दाम।
बलिहारी वा बदन की, जेहि ते निकसे राम॥
तुका कहे जग भ्रम परा, कही न मानत कोय।
हाथ परेगो काल के, मार फोरिहै डोय॥

आपका समय शाके १४९० निश्चित है।

६—**कान्होबा**—यह महात्मा तुकारामजी के छोटे भाई थे। इनके मृत्यु-काल का ठीक पता नहीं चलता। इनकी हिंदी रचना भी पाई जाती है। यथा—

चुरा चुराकर माखन खाया, ग्वालिन का नंदकुमार कन्हैया।
काहे बड़ाई दिखावत मोही जानत हू प्रभु मन तेरा सब ही॥
और बात सुन ऊखल सो गला बाँध लिया तू ने अपना गोपाला।
फिरता बन बन गाय चरावत, कहे **तुकया बंधु** लकरी ले ले हाथ॥

७—**जनी जनार्दन**—ये भी जनार्दन स्वामी के शिष्य और एकनाथजी के गुरुभाई थे। ये बीजापुर बादशाही में तहसीलदार थे। एक समय आपने अकाल में खजाना लुटा दिया था, जिससे हाथी के पैरों से कुचलवा देने की इन्हें सजा दी गई थी। किंतु आपके व्यक्तित्व के कारण घातकों पर बड़ा प्रभाव पड़ा और वे भाग गए। उस घटना से आप विरक्त बन गए। आपका उद्धव-बोध नामक ग्रंथ तथा बहुत सी हिंदी मराठी रचनाएँ पाई जाती हैं। शाके १५२३ में इनका देहावसान हुआ। आपकी हिंदी-रचना का नमूना यह है—

जब तू आया, तब क्या लाया, क्या ले जावेगा।
किनने बुलाया, झूठा धंधा, पड़िया फंदा, देखत क्या हो अंधा।
कहत **जनार्दन** सुन अरे मन, न छोड़ उस साईं के चरन॥

८—**इब्राहीम आदिलशाह**—शाके १५०२ में बीजापुर के बादशाह थे। आप हिंदी कविता के बड़े रसिक थे। इसी से आपके

दरबार में हिंदी कवियों का बड़ा जमाव रहता था। आपका लिखा हुआ '**नव रस**' नामक एक हिंदी संगीत-विषयक ग्रंथ पाया जाता है।

९—**जयराम**—ये कवि छत्रपति शिवाजी महाराज के पिता शाहजी महाराज के दरबारी कवि थे। ये महाराष्ट्रीय, किंतु भारतवर्ष की विभिन्न बारह भाषाओं के ज्ञाता थे। इनका लिखा हुआ **राधा-माधव-विलास चंपू काव्य** हाल ही में उपलब्ध होकर प्रकाशित हुआ है। उससे कई महाराष्ट्रीय ऐतिहासिक घटनाओं के अतिरिक्त हिंदी साहित्य के एक अज्ञात भाग पर भी बड़ा प्रकाश पड़ा। पिछले दिनों हिंदी में कुछ लोगों के प्रयत्न से यह बात उठाई गई थी कि छत्रपति शिवाजी के दरबार में भूषण जैसे हिंदी कवि का राजदरबारी कवि होना असंभव है; प्रत्युत भूषण शिवाजी के समकालीन ही नहीं थे। इस ग्रंथ से तो भूषण के आश्रित शिवाजी ही के क्या, वरन् छत्रपति के पिता शाहजी के दरबार में तक, पचासों हिंदी कवियों के आश्रय पाने का पता चलता है। इस ग्रंथ के द्वारा शाहजी के दरबारी ३८ हिंदी कवियों का पता चल चुका है; जिनका विशद वर्णन हमने **समालोचक** की ग्रीष्म संवत् १९८३ की संख्या में किया है। जयराम की रचना भी बड़ी सरस है, यथा—

जगदीश विरंचि को पूछत है, कहु सृष्टि रची रखि कौन कहाँ।
कर जोर कही जयराम विरंचि...तिरलोक जहाँ के तहाँ॥
ससि वो अरु पूरब पच्छिम लों तुम सोय रहो सर सिंधु महा।
अरु उत्तर दच्छिन रच्छिन कों इत साहिजू हैं उत साहिजहाँ॥४॥

ग्रंथ के अंतर्गत प्रमाणों से इसकी रचना का शाके १५७५ में होना सिद्ध है। इस ग्रंथ में कवि जयराम ने अपने समकालीन प्राय: ४० कवियों की हिंदी समस्या-पूर्तियों के उदाहरण दिए हैं।

१०—**रघुनाथ व्यास**—इसने शाहजी के शौर्य के कारण शत्रुस्त्रियों की दशा के विषय में लिखा है कि—

बालम की बाट लखें बारबार बावरी सी,
बैरिन की बधू फिरें बेरन के बन में॥

११—**रघुनंदन कवि**—ठाकुर चतुरद, लच्छीराम, श्याम-गुसाईं, ठाकुर शिवदास, केहरि, गंग, गयंद, देव काशी-निवासी, सुखलाल, रामानुज, दुर्ग ठाकुर, सुबुद्धिराय, विश्वंभर भाट आदि दरबारी कवियों की मनोहारिणी समस्याएँ तथा उनकी पूर्तियाँ भी उपलब्ध हैं। पर, स्थानाभाव के कारण उनका विशद वर्णन नहीं किया जा सकता। उन रचनाओं के कुछ नमूने निम्न हैं—

चौंकि गिरी दृग चंचल तारन कौलभि भौंर मनों लहराते।
हाथ नचावत बातन मों, मनु नौ द्रुम के नव पल्लव राते॥
शाहजू ही कर लेत फिरंग फिरंगिन को फिर रंग गयो है।

× × × × ×

शाह बली तब बाहुन को जसु राहु ससीहु सराहन लागे।

× × × × ×

का कमि है तिनको धन की जिनकी नृप साहिजू बाँह गही है।

× × × × ×

गोलकुंडा पट्टन, देव सौंहे औरंग,
दक्खिन में बाजा और राजा देखे शाहजी।

× × × × ×

जाणा छाँ शाहराज, राणा जी रो भाई छै जी,
राजगढ़ चित्तोड़ कुल जात राणा री

× × × × ×

है खुदा को वली, शाह सरजा बली......
आदि आदि।

१२—**कृष्ण मुनि**—पीछे महानुभाव पंथ उर्फ जयकृष्णी पंथ का उल्लेख किया जा चुका है। १५ वीं शताब्दी में सुदूर प्रदेश पंजाब में इसके प्रचार होने का श्रेय कृष्ण मुनि को ही प्राप्त है। आप पंजाब

के अंतर्गत सारंगगढ़ के निवासी थे। एक समय व्यापार के उद्देश्य से दक्षिण पहुँचे और वहाँ पर एक महानुभाव साधु की संगति में रहने के कारण आप भी साधु हो गए। इनके बहुत से हिंदी ग्रंथ पाए जाते हैं। इनकी कविता का नमूना निम्न है—

जड़ मूल बिन देखा एक दरख्त गूलर का।
उसको अनंत अपार गूलर लागे शुमार नहीं फूलों का।
जमीन आसमान बराबर देखे—है। दो सूरज चंदा देखे नौ लख तारे।
चौदह भुवन सातों दरयाव मेरु परवत नदी नाले कई हजार।

उक्त कविता यौगिक संकेत पर है।

१३—**चक्रपाणि व्यास**—विधिचंद्र शर्मा, चक्रपाणि मुनि आदि कृष्ण मुनि के ही समकालीन महानुभाव साधु हो गए हैं। विधिचंद्र के अवतार-रासा, ब्रह्म-विद्यार्थ-प्रकाश आदि ग्रंथ तथा चक्रपाणि मुनि की रुक्मिणीहरण आदि हिंदी रचनाएँ पाई जाती हैं।

भूषण-बिहारी-काल

१—**श्री समर्थ रामदास**—आप महाराष्ट्र नव-जीवन-प्रदायक श्रीछत्रपति शिवाजी के गुरु थे। मृतावस्था को पहुँचे हुए या मृत होनेवाले राष्ट्रों को संजीवनी बूटी का रस पिलाकर नवजीवन का संचार करानेवाले जितने महात्मा आज तक इस अवनी-तल पर अवतीर्ण हुए, उनमें श्रीरामदासजी का पद बहुत ऊँचा है। श्रीसमर्थ के दास-बोध ग्रंथ ने विदेशी आक्रमणों से निर्जीव बने हुए महाराष्ट्र के शरीर में ऐसा चैतन्य डाला कि उसके बल पर गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक हिंदू साम्राज्य स्थापित हुआ। श्रीसमर्थ की कर्मण्यता की पुकार ने, महाराष्ट्र को वैभव के शिखर पर चढ़ाकर उसको 'आनंद वन भुवन' कहलाने का पात्र बनाया। श्रीसमर्थ ने समग्र भारत में भ्रमण करके स्थान स्थान पर राष्ट्र-धर्म-प्रचारक मठ स्थापित किए और असंख्य शिष्य भी बनाए। हर्ष की बात है कि श्रीसमर्थ तथा उनके शिष्योपशिष्यों की मराठी के अतिरिक्त हिंदी रचना भी उपलब्ध है। समर्थ की रचना का नमूना निम्न है—

चातुर चतुर को चटकारे।
रसिक वचन जन दरशन मन में अजब लगत चटकारे।

× × ×

सुनाए गैब क्या बाता गैबी मर्द उसे कहा।
रंजीदा खुश होता है, रोता है झूठ लालची।
खुदा सो कौण सो कैसा, बेग खातिर ल्यावणा॥

२–**श्री शिवाजी महाराज**—श्री समर्थ के कर्मवीर शिष्यवर, आर्य्य-कुल-भानु, प्रातःस्मरणीय, गौ-ब्राह्मण-प्रतिपालक, महाराष्ट्र-साम्राज्य-संस्थापक, श्रीछत्रपति शिवाजी महाराज ने, हिंदी भाषा के अहोभाग्य हैं कि, उसे अपनाकर उस भाषा के सपूतों को आश्रय भी दिया। कौन कह सकता है कि यदि महाराज वीररसाचार्य भूषणजी को आश्रय न देते तो हिंदी भाषा वीर रस के भंडार से परिपूरित होती! महाराज के दरबार में भूषण के अतिरिक्त गंगेश, गोविंद आदि कवियों के होने का भी पता चलता है। रामदास पंथ में यह प्रथा है कि प्रत्येक शिष्य को प्रतिदिन पाँच पदों से ईश्वर-गुणगान करना पड़ता है, जिसे पंचपदी कहते हैं; प्रत्युत महाराज ने स्व-रचित पंचपदी बनाई थी। सौभाग्य का विषय है कि उसमें एक हिंदी पद भी पाया जाता है, जो स्वर्णाक्षरों से हिंदी साहित्य के इतिहास में अंकित करने योग्य है। यथा—

जय हो महाराज गरीब निवाज।
बंदा कमीना कहलाता हूँ साहिब तेरी ही लाज।
मैं सेवक बहु सेवा माँगूँ, इतना है सब काज।
छत्रपती तुम सेकदार* 'शिव' इतना हमारा अर्ज।

छत्रपति के पुत्र महाराजा संभाजी तथा उनके दीवान कवि कलश की हिंदी रचना भी पाई जाती है। संभाजी 'नृप शंभु' के

---

* सेकदार = चौकीदार। यहाँ पर भगवान् को छत्रपति (राजा) मानकर अपने को चौकीदार माना है।

नाम से कविता करते थे। इन उभय कवियों की रचनाएँ 'विनोद' में भी पाई जाती हैं।

३—**गंगेश**—यह छत्रपति के दरबारी भाट थे। इनकी बहुत कम कविता उपलब्ध हुई है। भाषा भी मँजी हुई नहीं है। यथा—

राज मा राज महाराज शिवराज सब,
साज से भूप मैं आज देखे।
सूरत से सार दीदार भर जान के,
मदन से सर्व सौंदर्य रेखे।
वक्त के तख्त सारूढ़ खुशवख्त,
दिनख्त के सर्व सौंदर्य साठे।
धीर गंभीर केयूर मणि मुकुट,
हृदय से बंदते सब मराठे॥

× × × × ×

असि धार जुझार गज भार दिलदार,
गज तोप के बार बंदूक हाटे।
भाट असवार घन दुंदभी के गजर,
सुनत दुश्मनों की फाटे।

× × × × ×

गंगेश के पूत भव संग निर्भूत,
दिन रात संजूत गुरु नाथ सेवा।

४-**श्री गोविंद**—यह भी महाराज के दरबारी कवि थे। न तो इनकी कविता ही विशेष प्रसिद्ध है न हाल ही। पद्य का उदाहरण—

भूप शिवराज साहि प्रबल प्रचंड तेज,
तेरो दौरदंड झूम झारत झड़ाका है।
कारे आसमान भासमान को गरब गाड़े,
डारे मघवान हूँ के हिय में हड़ाका है॥
कहै **श्रीगोविंद** सब शत्रुन के शीशन पै,
गाज ते गिरत गास गाज से धड़ाका है।

हौदा काट हाथी काट भूतल बराह काट,
काटी श्रीकमल पीठ काटती कड़ाका है ॥

५—**मानसिंह**—यह भी श्री शिवाजी के समकालीन नाथ-पंथीय कवि थे। इनकी रचना का नमूना निम्न है।

बिगरी कौन सुधारे, नाथ बिन बिगरी कौन सुधारे।
बनी बने का सब कोई साथी बिगरी काम न आवे रे।

× × × × ×

नाथ जलंदर मुद्रा धारे **मानसिंह** जस गाई रे।

६—**नाथ स्वामी**—इनका समय शाके १६०० निश्चित है। इनका एक **खुशरंग हजारा** नामक हिंदी ग्रंथ उपलब्ध है।

श्री समर्थ रामदास तथा उनके समकालीन अन्य चार साधु 'पंचायतन' के नाम से प्रसिद्ध थे। उनमें से केशव स्वामी भागानगरवाले और रंगनाथ स्वामी निगड़ीवाले (टेहरी के राजगुरु) की हिंदी रचनाएँ पाई जाती हैं। श्रीसमर्थ के शिष्य दिनकर, गिरधर, देवदास और बयाबाई नामक शिष्य शिष्याओं की भी हिंदी रचना पाई जाती है। दिनकर की स्फुट रचना, गिरधर कवि का सीता-स्वयंवर नामक हिंदी ग्रंथ तथा देवदासजी की अन्य धर्मावलंबियों पर हिंदू धर्म का प्रभाव डालनेवाली कविता बड़ी महत्त्वपूर्ण है। यथा—

कही बात येही सही ब्राह्मणों की।
अच्छी सी भली है राहनी उन्हीं की ॥
तुम्हारा हमारा खुदा एक भाई।
कहें देवदासा नहीं है जुदाई ॥

७—**बयाबाई** की रचनाएँ भी स्त्री-रचना की दृष्टि से महत्त्व की हैं। यथा—

बाग रंगेली महल बना है।
महल के बीच में झूलना पड़ा है
इस झूलने पर झूलो रे भाई।
जनम मरण की याद न आई
दासी बया कहे गुरु मैया ने,
मुझ को झुलाया सोही झुलावे॥

८—**नामा—सेना नाई—शेख सुलतान—शेख फरीद—काजी मोहम्मद—जिंदा फकीर—सय्यद हुसैन—बहादुर बाबा—लतीफ शाह मुनि—फाजिलखाँ—मोहम्मद बाबा—शाह बेग—सुलतान—कादर** आदि मुसलमान कवि इसी शताब्दी में हो गए हैं। महाराष्ट्रीय संतों के प्रभाव के कारण उनके हृदयों में भी हिंदू धर्म के प्रति प्रेम उमड़ आया था। इसी से उन्होंने मराठी के अतिरिक्त हिंदी में भी रचना करके नागरी-प्रचार का पुण्य-संपादन किया था। निबंध विस्तृत हो जाने के भय से उनकी रचनाओं के नमूने यहाँ पर नहीं दिए जा सकते।

मुदन-पद्माकर-काल

१—**मानपुरी और श्रीधर**। श्रीधरजी का समय शाके १६५७ निश्चित है। हिंदी में गोस्वामीजी की रचनाओं का जितना प्रचार है, महाराष्ट्र में श्रीधरजी की रचनाओं का भी उतना ही प्रचार है। आपकी रचनाएँ अत्यंत सरल, मृदु और मनोहारिणी हैं। आपके ग्रंथ मराठी भाषा-भाषी आबाल स्त्री पुरुष बड़े चाव से पढ़ते हैं। आपके ग्रंथों के अतिरिक्त कुछ स्फुट हिंदी मराठी रचना भी पाई जाती है। इनके गुरु का नाम मानपुरी था। मानपुरीजी की भी स्फुट रचनाएँ पाई जाती हैं।

२—**भारती विश्वनाथ**—यह जाति का नाई था। इसका लिखा नासिक पुराण नामक ग्रंथ पाया जाता है, जो शाके १६६० में लिखा गया है। इस ग्रंथ का अंतिम अध्याय हिंदी में लिखा गया है।

३—**सोहिरोबानाथ**—इनका जन्म शाके १६३६ में हुआ था। एक समय ग्वालियर-राज्य-संस्थापक महादजी सेंधिया से इनकी भेंट हुई। किसी कारण आप उनसे कुपित हो उठे और आपने निम्न भडौआ कहा—

अवधूत, नहीं गरज तेरी, हम बेपरवाह फकीरी।
तू है राजा, हम हैं जोगी, प्रथक पंथ का न्यारा।
छत्रपती सब तेरे सरीखे पाँउन परे हमारा॥
फौजबंद तुम, झोलिबंद हम चार खूँट जागीरी।
तीन काल में दुआयें, फिरती घर घर अलख पुकारी॥
सोना चाँदी हमें न चहिए, अलख भुवन के बासी।
महल मुलक सब पशम बराबर हम गुरुनाम उपासी॥
तू ही डूबे हमें डुबावे, तेरा हम क्या लिया।
कहे सोहिरा सुनो महाद जी प्रकाश जोग गँवाया॥

४—**देवनाथ**—ये बरार के निवासी थे। बड़े निस्पृह महात्मा थे। इनका जन्म सन् १७५४ के लगभग हुआ था। आपकी शिष्य-परंपरा अभी तक महाराष्ट्र में वर्तमान है आपकी हिंदी मराठी दोनों रचनाएँ बड़ी अनूठी हैं। आपकी शुद्ध ब्रजभाषामय कविता पठनीय है। यथा—

आज मोरी साँवरिया से लागी प्रीति।
रैन दिन मोहे चैन परे नहिं उलट भई सब रीति॥
कहा कहौं कहँ जाउँ सखी री कैसे बनी अब वीति।
देवनाथ प्रभु नाथ निरंजन निश दिन गावे गीत॥

५—**महाराजा महादजी सेंधिया**—मराठों के इतिहास में जितना छत्रपति शिवाजी का महत्त्व है, उतना ही महत्त्व उनके परवर्ती महाराष्ट्रीय वीरों में महादजी सेंधिया का है। आप अद्वितीय कृष्णभक्त थे, इसी से आपने मथुरा को अपनी राजधानी बनाया था। उत्तरीय भारत में अधिक दिवस बिताने के कारण हिंदी तथा ब्रजभाषा पर भी आपका अच्छा अधिकार हो गया था। आपकी

रचना का संग्रह 'माधव विलास' नामक ग्रंथ में इन पंक्तियों के लेखक द्वारा प्रकाशित हो चुका है। महाराष्ट्र साम्राज्य का विस्तार जितना महादजी सेंधिया ने किया, उतना किसी ने नहीं किया। इसी से आपके नाम की तरह आपकी रचना भी अमर है। यथा—

अरी बँसुरिया बाँस की, छलि तप कीन्यो कौन।
उन अधरन लागी रहै, हम चाहति हैं जौन॥
मोहन माधव जगत के, ते तुहि लीने मोहि।
हमें अधर धरि साँवरे, राख्यो अधरनि तोहि॥
कानन कानन ढूँढ़ि के, बंसी करी सुढार।
कानन सुनि कानन रहे, कुल की सखि निर्धार॥

× × × × ×

जान्यो जू जान्यो मने, ऊधो तुम्हरो नाथ।
कुबजा पटरानी करी, आप त्रिभंगी नाथ॥
ऊधो तुम हम सों कहो, सूधी सूधी बात।
तुम्हें कुटिल संगति भई, सूधे हिय न समात॥
ऊधो तुव उपदेस को, लयो सबै हम जान।
कुटिल होत सँग कुटिल के, ज्यों गुन साथ कमान॥

× × × × ×

ए हो ताल तमाल तरु, बकुल कदंब रसाल।
मोसों कहिए करि कृपा, कित माधव नँदलाल॥
चकित थकित कह देखती, हे हरिनी हरि-पंथ ?
मोहि बताओ करि कृपा, श्री माधव व्रजकंत॥

× × × ×

अंत में राजकवि महादजी की 'छेकापह्नुति' का नमूना दिया जाता है—

धन्य यशोमति भाग्य बखान्यो। सब देवन अचरज हिय मान्यो॥
सकल ब्रह्मांड जो धरत उठावत। जसुमत तेहि पग धरि अन्हवावत॥
अपने स्नेह सों सबहि जिवावत। ताको माता स्नेह लगावत॥

याही नारायन लौकिक पानी। तै प्रच्छालत लावत पानी ॥
जासों प्रकट भयो है अंबर। ताको पोंछति लेके अंबर ॥
शिव विधि करत चरन-रज इच्छा। माता करत स्वपद्र-रज रच्छा ॥
विधि उपदेस करन में धारे। माता श्रवन फूँक जल डारे ॥
माधव श्रीपति ईश निरंजन। ता दृग माता डारत अंजन ॥

६—**अनंत कवि**—राजपूताने के भाट चारण की तरह महाराष्ट्र में भी गोंधली जाति के लोग वीर तथा शृंगार के पद गाकर स्वराज-उपभोगियों का दिल रिझाते थे। ये जाति के ब्राह्मण, परंतु आपने भी वही पेशा अख्तियार किया था। इनके हिंदी उत्तान (अश्लील) शृंगार तथा वीर-रस-पूर्ण पद पाए जाते हैं। इन्हीं के साथी कविवर राम जोशी, होना जी, सगन भाऊ, परसराम, प्रभाकर आदि ने भी शृंगार रस की हिंदी रचना की है। स्थानाभाव तथा अश्लीलता अधिक होने के कारण उनकी कविता के नमूने नहीं दिए जा सकते।

७—**रत्नाकर**—इनका मृत्यु-समय शाके १६४६ निश्चित है। इनका लिखा **व्रज भागवत** नामक ग्रंथ उपलब्ध हुआ है।

८—**महीपति**—ये महाराष्ट्र के नाभाजी के नाम से प्रसिद्ध हैं। आप ही ने हिंदी ग्रंथ **भक्तमाल** का मराठी में भक्ति-विजय तथा भक्त-लीलामृत ग्रंथों में अनुवाद किया है, जिनमें बहुत से संत तथा उनकी कथाएँ बढ़ा दी गई हैं। आपकी यत्र तत्र हिंदी रचना भी पाई जाती है।

९—**मोरोपंत**—ये महाराष्ट्र भाषा के केशवदासजी या महाराष्ट्र के मिलटन कहे जा सकते हैं। आपकी रचना विशाल है। श्री सूरदास, तुलसीदास, मीरा बाई आदि का आपने खूब गुण-गान किया है। हिंदी छंद हरिगीतिका का आपही ने सब से पहले मराठी में उपयोग किया था। आप हिंदी के बड़े अच्छे ज्ञाता थे। कविता का नमूना निम्न है—पकड़ो लियो, हकालो, वे विश्वामित्र भाग जावेगा। आपकी मृत्यु शाके १७१६ में हुई।

१०—**दयालनाथ**—ये उक्त उल्लिखित देवनाथजी के शिष्य थे। आपकी बहुत सी हिंदी मराठी कविता पाई जाती है। हिंदी पर आपका अच्छा अधिकार था। यथा—

जरा हँस हँस वेणु बजाओ जी तुम्हें दुहाई नंद चरण की।—जरा०।
लटपट पेंच मुकुट पर छूटे हँसि आवत तोरे लटकन की।
घूँघट खोल, दरश मोहि दीजे चोट चलाओ नयना पलकन की।
सब बनिता विरहन की मारी, वृत्ति विकल भव छन मन की।
देवनाथ प्रभु **दयालु** तुमही, आस लगी पद सुमिरन की।

इनकी मृत्यु शाके १७५७ में हुई।

११—**नगाजी महाराज, भैरव अवधूत, अनंत गनपतराव वहिरम** और **जन पंडित** इन्हीं के समकालीन थे। प्रत्येक की हिंदी रचना भी पाई जाती है।

१२—**महीपतिनाथ**—ये महात्मा यशवंतराव होलकर के गुरु थे। इन्होंने मध्य भारत तथा राजपुताने में घूमकर धर्म-जागृति का अच्छा काम किया था। ग्वालियर में आपका अभी तक मठ वर्तमान है। मृत्यु शाके १७४५ में हुई। हिंदी रचना का नमूना यह है—

धीरे धीरे झूलो जी नंदलाल॥
वर्षा ऋतु सावन का महीना, गाओ राग मल्हार।
तुम सुकमार कुँवर कन्हैया, ऊँचो कदम की डार॥
पवन छूटे बिजली चमके उड़त काँधे रूमाल।
नरहरि महीपति गावें नाचें, सब संग ग्वाल गोपाल॥

१३—**ठाकुरदास बाबा**—ये गंगातीरस्थ शिवराजपुर के निवासी थे और पूना जाकर बसे थे। आपका पेशवा के दरबार में बड़ा आदर हुआ। पूना और बंबई में आपके मंदिर अभी तक वर्तमान हैं तथा बंबई का ठाकुरद्वार अभी तक आपके ही नाम से मशहूर है। आपकी मृत्यु शाके १७५२ में हुई। आपने मराठी पर भी अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया था। आपकी हिंदी तथा मराठी स्फुट कविता पाई जाती है।

१४—**महाराजा दौलतराव सेंधिया**—आपने भी अपने पिता महादजी सेंधिया की तरह काव्योद्यान में क्रीड़ा करने का सुयश प्राप्त किया। आपकी मृत्यु सन् १८२७ में हुई। आप शृंगार-रसाचार्य पद्माकर, बाग विलास के कर्त्ता शिव कवि, लक्ष्मण-चंद्रिका के लक्ष्मणराव फालके, मिताक्षरा के रचयिता रघुनाथ पंडित आदि के आश्रयदाता थे। आपके कविवर पद्माकर को एक लाख रुपया तथा एक हाथी देकर सम्मानित करने की बात कही जाती है। आपको भी हिंदी रचना का चाव था। यथा—

चरण गहे की लाज दुलारो ॥
तुम तो दीनानाथ कृपा करो, भक्त काज उधारो।
दौलत प्रभु के चरण गहे हो, दीनबंधु प्रभुता तुम्हारो ॥

यह तो हुई प्राचीन हिंदी साहित्य के इतिहास की बात। स्थानाभाव के कारण यह वर्णन अत्यंत संक्षेप में किया गया है। इसी से कई कवियों का नामोल्लेख भी नहीं किया जा सका और यहाँ पर लिखे हुए कवियों की रचनाएँ भी विस्तृत रूप से उद्धृत नहीं की जा सकीं। हिंदी कवियों के आश्रयदाता कई धनी मानी तथा राजपुरुषों का भी उल्लेख नहीं किया जा सका है। चंद से लगाकर हरिश्चंद्रजी के समय तक के लगभग ३०० महाराष्ट्रीय कवियों की रचनाएँ तो हमारे संग्रह में मौजूद हैं तथा खोज करने से और भी सामग्री उपलब्ध हो सकती है।

भारतेंदु तथा आधुनिक काल

भारतेंदुजी के समकालीन ग्वालियर के बालकृष्ण नाथ तथा मनोहर उर्फ आवा महाराज अच्छे कवि हो गए हैं और उनकी हिंदी रचनाएँ भी पाई जाती हैं। जालौन के नारायण महाराज तथा गुलसराय के रामचंद्र कवि की रचनाएँ भी अच्छी हैं। काशी के आद्य हिंदी पत्र बनारस गजट के संपादक गोविंद शास्त्री थत्ते महाशय महाराष्ट्रीय ही थे। सप्रेजी, चिंचोलकर, लाखे, भोपटकर, देउसकर, पराड़कर, भगाड़े, तामस्कर, गर्दे, शिंगिवेकर, पाध्ये, दिवेकर, आठले,

आगटे, देशपांडे, साठे, मायानंद, चैतन्य आदि कई महाराष्ट्रीय सज्जन, अपने पूर्वजों का अनुकरण करके, राष्ट्रभाषा से नेह निभा रहे हैं। महाराष्ट्र के संत कवियों की परंपरा के अंतिम कवि ग्वालियर के सरदार बलवंत राव भय्या शिंदे हुए, जिनकी हिंदी रचना अत्यंत ओजपूर्ण है। आशा है कि भूतकाल की तरह महाराष्ट्रियों की राष्ट्र-भाषा-सेवा की लगन भविष्य में और भी अधिक दृढ़ होगी।

हमारा विचार गुजरात के आदि कवि नरसिंह मेहता से लगाकर आज तक के तत्प्रांतीय गुर्जर साहित्य-सेवियों की हिंदी स्फुट पद्य तथा ग्रंथ रचना का भी परिचय, इस निबंध के द्वारा, कराने का था। उस प्रांत में भी १५ वीं शताब्दी से लगाकर प्रत्येक शताब्दी में बड़े अच्छे हिंदी कवि तथा ग्रंथकार हो गए हैं। लगभग १५० कवियों की स्फुट तथा ग्रंथ रचना हमारे संग्रह में विद्यमान है। पर, यह निबंध विस्तृत हो जाने के कारण, शोक है कि, तत्संबंधी वर्णन नहीं कर सके। गुजरात तथा महाराष्ट्र की तरह सुदूर प्रदेश मद्रास के गोपालभट्ट आदि हिंदी कवि, पंजाब के गुरु नानक, गोपी आदि सिक्ख हिंदी कवि महानुभाव, बंगाल के विद्यापति, हिंदी पद्मावत ग्रंथ के बँगला अनुवादक, १७ वीं शताब्दी के कवि, आओयाल, मुसलमान हिंदी-सेवी आदि के संबंध में बहुत सी सामग्री हमने जुटाई है। उसके आधार पर हम हिंदी के १२ वीं शताब्दी से राष्ट्रभाषा होने के सिद्धांत को सिद्ध कर सकते हैं।

(७) रवींद्रनाथ ठाकुर

[लेखक—श्रीनलिनीमोहन सान्याल, भाषा-तत्त्व-रत्न, एम० ए०]

भूमिका

नाना दिक् से विश्व की तथा मानव-जीवन की उपलब्धि करने की व्याकुलता ने ही रवींद्रनाथ के कवित्व का उन्मेष किया है। अपने जीवन के द्वारा जिस संपूर्ण जीवन की ठीक उपलब्धि नहीं होती किंतु जिसका दूर से ही परिचय मिलता है, उसे आंतरिक औत्सुक्य के तीव्र आलोक से देदीप्यमान करने की चेष्टा ही उनकी कविताओं में व्यक्त होती है।

उनके अंतरतम चित्त में विश्व के लिये विरह-वेदना जाग उठी थी। वह अभिसार को जाना चाहते थे, पर रास्ता नहीं जानते थे; मन के आवेग से नाना ओर को दौड़ते थे और नाना भ्रम में पड़ते थे। इस प्रकार बाधा पाते पाते कवि ने अंत में अपना पथ निकाल लिया। रवींद्रनाथ की आध्यात्मिक साधना ने बाहरी किसी संस्कार का अवलंबन नहीं किया। वह उनके समस्त जीवन के भीतर से उद्भूत हुई है। जीवन की सब विचित्रताओं को परिपूर्ण एक के भीतर पाने की आकांक्षा ही कवि के परिणत जीवन में भी काम कर रही है।

जैसे concert वा एकतान संगीत में नाना वाद्य-यंत्र बजते हैं और प्रत्येक सुर अपना अपना काम पूरी तरह करते हुए भी समग्र संगीत को रूप देने में व्यस्त रहता है—और हमें उनकी पृथक् पृथक् सत्ता की अनुभूति नहीं होती—उसी प्रकार रवींद्रनाथ के जीवन की सब विचित्रताओं में से प्रत्येक ने अपने चरमतम सुर का प्रकाश करते हुए भी ऐक्य की रागिणी में अपने को विसर्जन किया है। इसी लिये उनके काव्य की खंडताओं की अपेक्षा समग्रता की मूर्ति अधिक दृष्ट होती है। जैसे ज्योतिष्क-

गण नीहारिका की अवस्था से क्रमशः गठित होते हैं, उसी प्रकार का गठन कवि के भीतर भी चल रहा है। उनके सुख-दुःख, वासना-वेदना उस सृजन के भीतर अपना अपना स्थान ग्रहण कर रही हैं। कवि-प्रकृति अपनी समस्त विचित्रताओं का उद्घाटन करते करते अग्रसर हुई है, एवं उनकी विच्छिन्नताओं वा विरोधों में एक बृहत् सामंजस्य तथा ऐक्य का अनुसंधान किया है। रवींद्रनाथ के जीवन का मूल-सूत्र है प्रकृति के साथ उनका एक निविड़ संबंध—एक गंभीर प्रेम। वह कहते हैं कि समस्त अणु-परमाणु हमारे सगोत्र हैं, पृथिवी के अनंत प्राणी-पर्याय, वायु का प्रवाह, ज्योतिष्कों की गति, छाया तथा आलोक का आवर्तन इन सब के साथ हमारी नाड़ियों के चलाचल का योग है। बाह्य जगत् के साथ यदि हमारा इस प्रकार का योग न होता, तो उनके संस्पर्श से हमें आनंद न होता। जड़ों के साथ हमारा यथार्थ जाति-भेद नहीं है। इसी कारण उभय को एक ही जगत् में स्थान मिला है, नहीं तो दो स्वतंत्र जगत् बनते। प्रकृति के साथ के इस योग को रवींद्रनाथ ने उत्तर काल में सर्वानुभूति नाम दिया है। समस्त जल, स्थल, आकाश को और समस्त मनुष्य-समाज को अपने चैतन्य में अखंड तथा संपूर्ण के रूप में अनुभव करने का नाम है सर्वानुभूति। यह सर्वानुभूति ही कवि के काव्य का मूल-सूत्र है।

बाहर विश्व-प्रकृति में सब चंचल और अस्थिर हैं। वहाँ परिवर्तन ही नियम है। वहाँ सब वस्तुओं का अहर्निश रूपांतर हो रहा है। वहाँ सब वस्तुएँ अपूर्ण होति हुई भी पूर्णता की ओर अग्रसर हो रही हैं। वहाँ सब का क्रम-विकाश हो रहा है; अतएव पूर्णता कहीं नहीं मिलती। परंतु असंपूर्णता का भाव आपेक्षिक भाव है इतना ही कहा जा सकता है कि अमुक अवस्था दूसरी किसी अवस्था से पूर्णतर है। पूर्णता का आदर्श केवल हमारे मन में ही Idea के रूप में रहा करता है। चित्रकला में, संगीत में, काव्य में संपूर्णता का आदर्श ही हम देखना चाहते

है। परंतु भाव को रूप-दान करना ही काव्य का एक मात्र काम नहीं; उसे जो रूप दिया जाता है, वह उसका स्थायी वस्तुगत रूप है या नहीं, इस बात की निश्चयता भी रहनी चाहिए। अपनी Grecian Urn वा ग्रीक मृत्पात्र नामक कविता में Keats ने क्षणिक सौंदर्य के भीतर एक मृत्युहीन अनंत स्थिति का अनुभव किया है और अपनी सौंदर्य-कल्पना को वस्तुगत रूप दिया है। सौंदर्य ही सत्य है और सत्य ही सौंदर्य है। सुंदर को सत्य बना देता है शिल्प।

Realism वा वास्तव-वाद है विश्व को वास्तव रूप में देखना और Idealism वा भाववाद है अंतर में अवस्थित संपूर्णता का बाह्य प्रकाश।

भीतर कहूँ, तो जगमग लाजै; बाहर कहूँ, तो झूठा लो।

यदि कहा जाय कि भीतर ही सत्य है तो समस्त जगत् लज्जित होता है; और यदि कहा जाय कि बाहर ही सत्य है, तो बात मिथ्या हो जाती है। अतएव भीतर एवं बाहर दोनों का सामंजस्य रखकर चलना आवश्यक है। आंरी बर्गसौं ने Realism और Idealism में से किसी को प्राधान्य नहीं दिया। वह कहते हैं कि ऊपर के संस्कार के स्थूल आवरण का मोचन कर उसकी चिर-नूतन अखंड सत्ता को उद्घाटित करने में ही शिल्प की सार्थकता है। बर्गसौं की यह व्याख्या बहुत सुंदर है। हम प्रत्येक वस्तु को नाना संबंधों में उलझा देते हैं। यदि हम उन्हें सुलझाकर उनके यथार्थ रूप देखने पाते तो वह कैसे आश्चर्य सुंदर प्रतिभात होते! रवींद्रनाथ ने "उर्वशी" नामक कविता में सकल-संबंध-विच्छिन्न कर नारी का सौंदर्य दिखाया है—"तुम न हो माता, न हो कन्या, न हो वधू, हे सुंदरी रूपसी"। सब वस्तुओं को एकांत, स्वतंत्र, अखंड करके देखना ही साहित्य का विशेषत्व है। साहित्य का चरम उद्देश्य यही है कि वह पूर्णता के आदर्श के द्वारा बाहर के सब आवरणों को छिन्न कर सब वस्तुओं की अंतरतम सत्ता को उद्घाटित कर दिखावे।

परंतु वह सत्ता स्वतंत्र न होनी चाहिए। उसे एक ही समय स्वतंत्र तथा मिलित, ससीम तथा असीम होना चाहिए। जिस काव्य से समग्र विश्व-प्रकृति के आनंद का झंकार उठता है, मानव-हृदय में वही चिरंतन आसन पाता है। वाल्मीकि का रामायण, होमर का इलियड, कालिदास का मेघदूत, कीट्स की कविताएँ, शेक्सपियर के नाटक, उमर खैयाम की रुबाइयाँ, देश-काल की संकीर्ण बाधाओं को अतिक्रम कर गई हैं। अब देखना चाहिए कि रवींद्रनाथ की कविता इस श्रेणी के अंतर्गत हो सकती है या नहीं।

रवींद्रनाथ का बाल्य-जीवन

रवींद्रनाथ का जन्म हुआ था सं० १९१८ के वैशाख में। यह धनी जमींदार के लड़के हैं। इनके पितामह द्वारकानाथ ठाकुर ने इँगलैंड की यात्रा की थी। वह प्रिंस द्वारकानाथ कहलाते थे। धूमधाम में और अपनी मर्यादा की रक्षा के लिये उन्हें वहाँ अत्यधिक व्यय करना पड़ा था और ऋण से यह निर्वाह किया गया था। वहीं उनकी मृत्यु हुई थी। महाजनों ने उनकी जमींदारी पर हाथ बढ़ाया था। रवींद्रनाथ के पिता देवेंद्रनाथ ने अपनी सचाई से जमींदारी बचाई थी। अपनी सचाई, त्याग, धार्मिकता, विद्या और निर्जन-प्रियता के लिये वह महर्षि कहलाते थे। रवींद्रनाथ के जन्म के कुछ वर्ष पहले से ही महर्षि प्रायः देशाटन में समय अतिवाहित करते थे। कभी कभी थोड़े दिनों के लिये घर चले आया करते थे।

घर पर शैशव में रवींद्रनाथ को बाहर के महल में नौकरों के रक्षणावेक्षण में रहना पड़ता था। वे उन्हें मारते थे और उनके साथ निर्दय व्यवहार करते थे। प्राथमिक शिक्षा घर ही पर आरंभ हुई थी। अति शैशव में ही वह ओरिएंटल सेमिनरी में दाखिल किए गए थे। वहाँ की शासन-प्रणाली देखकर वह घबरा गए थे। कुछ समय के बाद वह नार्मल स्कूल में भर्ती किए गए

थे। साथ साथ घर में भी पढ़ाई चलती थी। अपनी "जीवन-स्मृति" में रवींद्रनाथ घर की पढ़ाई का विवरण यों देते हैं—

"सुबह छः बजे से साढ़े नौ बजे तक पढ़ने का समय था। प्रत्यूष में अँधेरा रहते ही बिछौने से उठकर पहले ही लँगोटी बाँधकर एक काने पहलवान के साथ कुश्ती लड़नी पड़ती थी। उसके बाद मिट्टी लगे हुए बदन पर कुर्ता चढ़ाकर पदार्थ-विद्या, गणित, रेखा-गणित, इतिहास, भूगोल और 'मेघनादवध' काव्य पढ़ना पड़ता था। स्कूल से लौटते ही ड्राइंग और जिमनास्टिक के मास्टर हमारे सिर पर बैठ जाते थे। संध्या के बाद अँगरेजी की पढ़ाई होती थी। इसके अतिरिक्त हमें मुग्धबोध व्याकरण, अस्थि-विद्या और संगीत सिखाने का भी प्रबंध था। बँगला शिक्षा बहुत दूर अग्रसर होने पर हमारी अँगरेजी शिक्षा आरंभ हुई थी।"

लड़कपन में रवींद्रनाथ को बड़ी भारी सुविधा यह थी कि उनके घर में आठों पहर साहित्य की हवा चलती थी। परिवार के स्त्री-पुरुष सभी लोग शिक्षित थे और साहित्य तथा संगीत की चर्चा करते थे। तीन बड़े भाई बड़े भारी विद्वान थे। बहनों में एक भारी विदुषी और ग्रंथ-रचयिता हैं। बाकी बहनें और चचेरे भाई लोग साहित्य-सेवा और संगीत का अभ्यास करते थे। वे अपने घर में नाटक भी खेलते थे। महात्मा राममोहन राय ने ब्राह्म समाज की प्रतिष्ठा कर बंगीय अँगरेजी शिक्षित युवकों को ईसाई धर्म ग्रहण करने से बचाया था। यह समाज अँगरेजों के अनुकरण पर गठित हुआ था और इसका धर्ममत एकेश्वरवाद है। इसमें जाति-भेद नहीं है और न इसकी महिलाओं में पर्दे की रीति है। इसमें से बाल्य-विवाह और बहु-विवाह उठा दिए गए हैं। राजा राममोहन राय के बाद महर्षि देवेंद्रनाथ ब्राह्म समाज के नेता हुए। उनके घर से देव-देवियों की पूजा उठ गई। अपने घर की स्त्रियों को नाना विद्याओं और कलाओं में सुशिक्षित करने में महर्षि के धन ने उनकी बड़ी सहायता की। वस्त्रेन्धन-तंडुल-चिंता तो थी ही नहीं।

परिवार के लोगों को विद्या-चर्चा के लिये बहुत अवसर मिलता था। क्रमशः उनमें ललित कलाओं का ऐसा एक शौक उत्पन्न हुआ कि महर्षि का परिवार एक आदर्श परिवार में परिणत हो गया। इसी संस्कृतिपूर्ण वातावरण में रवींद्रनाथ का जन्म हुआ था।

कुछ समय के बाद रवींद्रनाथ नार्मल स्कूल से हटा लिए गए। अब उनकी बँगला शिक्षा बंद हो गई। पर रवींद्र कहते हैं कि उन्होंने लड़कपन में बँगला सीखी थी और इसी भाषा के माध्यम से उनकी अन्यान्य विषयों की शिक्षा हुई थी। इसी से उनके समग्र मन की चालना हो सकी थी।

अब वह बंगाल एकाडेमी नामक एक फिरंगियों के स्कूल में गए। वहाँ लैटिन की शिक्षा होने लगी। इसी समय रवींद्रनाथ का उपनयन हुआ। उपनयन के बाद ही उन्हें महर्षि के साथ हिमालय की यात्रा करनी पड़ी। उस समय उनकी अवस्था ११ वर्ष की थी। पहले कुछ दिन वीरभूम जिले के बोलपुर में रहे। बोलपुर के एक सुंदर अंश में महर्षि का एक विस्तीर्ण भूमिखंड था जहाँ उन्होंने एक पक्का मकान बनवाकर उसका नाम शांति-निकेतन रखा था। रवींद्रनाथ को कलकत्ते के बाहर जाने का कभी सौभाग्य नहीं हुआ था। यहाँ के मुक्त आकाश और प्राकृतिक शोभा से उन्हें बड़ा आनंद मिला। यहाँ कुछ दिन रहने के बाद वह पिता के साथ अमृतसर गए और एक महीना रहकर गुरुद्वारा इत्यादि देखने के अनंतर चैत्र मास के शेष भाग में उन्होंने डलहौसी पहाड़ की यात्रा की। यद्यपि वैशाख का महीना था तो भी जाड़ा बहुत था। वह अकेले पहाड़ों पर घूमा करते, महर्षि कुछ बाधा नहीं देते थे। वह कभी लड़कों की स्वतंत्रता में बाधा नहीं देते थे। उनके आदेश से रवि को ठंढे पानी से नहाना होता था। निर्दिष्ट समय पर महर्षि उन्हें पढ़ाते थे। पिताजी से उन्होंने इस समय कुछ अँगरेजी, कुछ संस्कृत व्याकरण और कुछ ज्योतिष-विज्ञान सीखा था। पर उनके बँगला पढ़ने का कोई विराम न था। पहले जिस शासन

से रवींद्रनाथ संकुचित रहते थे, हिमालय में जाकर वह संकोच दूर हो गया। चार पाँच महीने के बाद जब वह लौटे, तब उनका अधिकार प्रशस्त हो गया था। अंत:पुर की बाधा टूट गई थी और सब से स्नेह और आदर मिलने लगा था।

अब वह सेंट जेवियर कालेज में भेजे गए, पर कुछ लाभ न हुआ। कुछ समय के बाद उनका मातृ-वियोग हो गया। उनकी स्कूल की पढ़ाई विरक्ति-कर होने लगी। अतएव उनके अभिभावक लोग उन्हें स्कूल भेजने की वृथा चेष्टा से विरत हुए और उनकी आशा छोड़ दी।

रवींद्रनाथ लिखते हैं—

"मेरा एक भांजा मुझसे कई वर्ष बड़ा था। जब मेरी अवस्था सात आठ वर्ष की थी, तब उसने एक दिन मुझे अपनी कोठरी में बुला ले जाकर कहा—"तुम्हें पद्य लिखना होगा।" मैं चौंक पड़ा, पर उसने मुझे 'पयार' छंद की रीतियाँ समझा दीं और उस छंद में कुछ लिखने को कहा। कविता मैंने केवल छापे के अक्षरों में देखी थी। अपनी चेष्टा से कविता लिखी जा सकती है, ऐसी कल्पना करने का साहस मुझे कभी न हुआ था। मैंने लिखना आरंभ किया। देखा कि कुछ शब्दों को अपने हाथों से इधर उधर से जोड़ देने पर 'पयार' बन गया। अब कविता के विषय में मेरे मन में जो मोह था, वह कट गया। जब भय दूर हो गया, तो अब क्या था! पद्य का लिखना बिना बाधा के चलने लगा। हाय, बेचारी कविता पर कितनी ही मार पड़ती है, और उन मारों को उसे चुपचाप सहना पड़ता है। मेरी कविताओं के उत्साहदाताओं का अभाव न था।"

रवींद्रनाथ स्कूल छोड़कर घर पर एक अध्यापक से कुमारसंभव और मैकबेथ का अनुवाद सुनते थे, कविता करते थे और संगीत की चर्चा करते थे। उनकी एक भाभी को साहित्य से बड़ा अनुराग था। साहित्य-चर्चा में वही अब उनकी संगिनी हुई। बिहारीलाल चक्र-

वर्ती का 'शारदामङ्गल-सङ्गीत' उसी समय 'आर्य दर्शन' नामक मासिक पत्र में निकला था। भाभी जी उस पर लट्टू थीं। बिहारी बाबू के साथ ठाकुर परिवार की विशेष घनिष्ठता हुई थी, और उनका प्रभाव रवींद्रनाथ पर बहुत पड़ा था।

'ज्ञानांकुर' नामक मासिक पत्र में रवींद्रनाथ के बाल्य जीवन की कुछ कविताएँ निकलीं। कहीं कहीं से इनकी प्रशंसा भी होने लगी।

उस समय रवींद्रनाथ वैष्णव पदावली बहुत शौक से पढ़ते थे। इन पदों का प्रभाव उनकी कविताओं में विशेष दृष्ट होता है। वह उन कविताओं के भाव, भाषा और छंदों से ऐसे भरपूर हो गए थे कि उन्होंने उनका अनुकरण करने की ठानी। वह रचयिता का नाम गुप्त रखकर अनुकरण के पदों को 'भानुसिंह की पदावली' के नाम से 'भारती' नामक मासिक पत्र में प्रकाशित करने लगे। उन्होंने जाहिर किया कि भानुसिंह नामक एक प्राचीन वैष्णव कवि थे जिनकी 'पदावली' अब हस्तगत हुई है। लोग प्रतारित होकर कविताओं की प्रशंसा करने लगे। यह रवींद्रनाथ की उद्दंडता की अवस्था थी।

उनके मझले भाई सत्येंद्रनाथ बंबई प्रांत के अहमदाबाद में डिस्ट्रिक् जज थे। मझली भाभीजी बाल बच्चों के साथ इँगलैंड में ब्राइटन नगर में थीं। चार पाँच महीने के बाद सत्येंद्रनाथ इँगलैंड जानेवाले थे और अपने साथ रवींद्र को ले जाना चाहते थे। १७ वर्ष की अवस्था में वे भाई के साथ अहमदाबाद गए और चार पाँच महीने तक अँगरेजी साहित्य के अनेक कठिन ग्रंथ पढ़े। उनका भाव अवलंबन कर बँगला लेख लिखते थे। 'कविकाहिनी' नामक उनका प्रथम काव्य इसी समय निकला था।

भाभी जी के रहने के कारण विलायत में पहुँचने पर उन्हें किसी प्रकार की असुविधा न हुई। वहाँ वह एक बरस से कुछ अधिक रहे थे और कई महीने लंडन युनिवर्सिटी कालेज में पढ़े थे।

रवींद्रनाथ की कविता-पुस्तकों के नाम और उनके प्रकाशित होने के काल

(१) संध्या-संगीत सं० १९३९।
(२) भानुसिंह की पदावली सं० १९४१।
(३) प्रभात संगीत सं० १९४१।
(४) छवि ओ गान सं० १९४१।
(५) कड़ि ओ कोमल सं० १९४३।
(६) मानसी सं० १९४८।
(७) सोनार तरी सं० १९५१।
(८) चित्रा सं० १९५३।
(९) चैताली सं० १९५४।
(१०) काहिनी सं० १९५७।
(११) कल्पना सं० १९५७।
(१२) कथा सं० १९५७।
(१३) क्षणिका सं० १९५७।
(१४) कणिका सं० १९५७।
(१५) नैवेद्य सं० १९५८।
(१६) उत्सर्ग सं० १९५९
(१७) स्मरण सं० १९६०।
(१८) शिशु सं० १९६१।
(१९) खेया सं० १९६३।
(२०) गीतांजलि सं० १९६८।
(२१) गीतिमाल्य सं० १९७०।
(२२) गीतालि सं० १९७२।
(२३) वलाका सं० १९७३।
(२४) पलातका सं० १९७४।
(२५) शिशु भोलानाथ सं० १९७९।
(२६) प्रवाहिणी सं० १९८३।

(२७) पूरबी सं० १९८३ ।

इस क्रम से रवींद्रनाथ की कविता के भावों के क्रम-विकास का परिचय मिलता है ।

रवींद्रनाथ के शिल्प का क्रम-विकास

कवि की १८ वर्ष की अवस्था में 'भग्न-हृदय' नामक गीति-नाटिका प्रकाशित हुई थी, उसके बाद ही 'संध्या-संगीत'। तब वह इँगलैंड से लौट आए थे। "संध्या-संगीत" की भाषा, छंद और भाव से भली भाँति समझा जाता है कि कवि अपनी कविताओं के लिये नूतन रूप के आविष्कार का प्रयत्न कर रहे हैं। इनमें छंदों की गड़बड़ी है सही, परंतु छंदों के लिये रवींद्रनाथ किसी अन्य कवि के ऋणी नहीं हैं। एक अनुकरण-वर्जित स्वाधीनता का भाव "संध्या-संगीत" की असंपूर्ण कविताओं में परिस्फुट है। नवयौवन के आरंभ में जब हृदयावेग प्रबल हो रहे थे, परंतु विश्व के साथ उनका यथोचित योग संघटित नहीं होता था—जब हृदय की अनुभूतियों के साथ अभिज्ञता का सामंजस्य नहीं होता था, उस निरुद्ध अवस्था की अधीरता को ही "संध्या-संगीत" की कविताओं में व्यक्त करने की चेष्टा है। इस वेदना के विरुद्ध कवि के हृदय में एक संग्राम सा चल रहा था। यह भाव "पराजय-संगीत" नामक कविता से स्पष्ट समझा जाता है* । इसी समय "वाल्मीकि-प्रतिभा" और "काल-मृगया" नामक दो नाटक लिखे गए थे।

---

* के गो सेइ, के गो हाय हाय
जीवनेर तरुण बेलाय
खेलाइत हृदय माझारे
दुलित रे अरुण दोलाय ?
× × ×
अवशेषे एक दिन, केमने कोथाय कबे
किछुइ जे जानिने गो हाय
हाराइया गेलो से कोथाय !
× × ×

इसके बाद ही 'प्रभात-संगीत' है। परंतु 'संध्या-संगीत' के भावों के साथ इसके भावों का संपूर्ण व्यतिक्रम है। "प्रभात-संगीत" में कवि ने मानों विश्व-प्रकृति के आनंद को—जिसे उन्होंने खो दिया था—फिर से पाया है। अस्वस्थ अवसाद का भाव बिलकुल कट गया है। इस आकस्मिक आनंद का क्या कारण था? बहुत संकोच के साथ इसका उत्तर मैं यों देता हूँ—अब तक कवि का अवसाद कदाचित् निःसंगता के कारण उत्पन्न हुआ होगा, परंतु ठीक इसी समय उनका विवाह हुआ था। अभिलषित संगिनी से मिलित होने के कारण उनके मनोभाव का आकस्मिक परिवर्तन होना असंभव नहीं है। इस पुस्तक की "निर्झरेर स्वप्न-भंग" नामक कविता से उनके हृदय का आनंद झलकता है*। "प्रभात-उत्सव" में भी यह आनंद दृष्ट होता है†।

हारायेछि आमार आमारे
आज आमि असि अंधकारे।

* बहु दिन परे एकटि किरण
गुहाय दियेछे देखा,
पड़ेछे आमार आँधार सलिले
एकटि कनक रेखा।
प्राणेर आवेग राखिते नारि,
थरथर करि काँपिछे वारि,
टलमल जल करे खलखल
कलकल करि धरेछे तान।

† हृदय आजि मोर केमने गेल खुलि!
जगत आसिसेथा करिछे कोलाकुलि!
धराय आछे जत मानुष शत शत
आसिछे प्राणे मम, हासिछे गलागलि।
एसेछे सखा सखी बसिया चोखो चोखी,
दाँड़ाइये मुखोमुखी हासिछे शिशुगुलि,
एसेछे भाइ बोन पुलके भरा मन

'प्रभात-संगीत' में ही कवि के सारे जीवन के भावों की भूमिका निहित है। अंश के भीतर संपूर्ण की, सीमा के भीतर असीम की निविड़ उपलब्धि करना ही रवींद्रनाथ के समस्त जीवन की साधना है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि यह सर्वानुभूति ही उनके काव्य का मूल-सूत्र है और यही भाव एक नूतन चेतना के समान उनके भीतर काम करता आया है। कवि की दृष्टि के आवरण के आकस्मिक उन्मोचन से जो अखंड भाव पहले उपलब्ध हुआ था उसी ने, जीवन की विचित्रता के खंड खंड पथों में चालित होकर, शेष अवस्था में कवि को एक अखंड सौंदर्य की उपासना में नियत रखा है। इस काव्यग्रंथ की 'प्रतिध्वनि' कविता का भाव यह है कि वस्तु-जगत् के अंतराल में एक असीम अव्यक्त गीति-जगत है, जहाँ समस्त जगत् की विचित्र ध्वनियाँ, संगीत में परिणत हो 'अनाहत शब्द' के रूप में, निरंतर बज रही हैं*। उसकी प्रतिध्वनि प्रत्येक खंड सौंदर्य के खंड सुर में पाई जाती है। रवींद्रनाथ ने जगत् के सौंदर्य को कभी सुर के और कभी आलोक के भाव से वर्णित किया है।

डाकिछे 'भाइ, भाइ' आँखिते आँखि तुलि
× × ×
पराण पुरे गेल हरषे हल भोर
जगते केह नाइ सवाइ प्राणे मोर !
× × ×
जे दिके आँखि जाय से दिके चेये थाके
जाहारि देखा पाय तारेइ काछे डाके।

* Plato के Music of the Spheres के साथ तुलना कीजिए। गीतांजलि—

तुमि केमन करे गान करो जे गुणी,
अवाक 'ये शुनि, केवल शुनि।
सुरेर आलो भुवन फेलेछे जे,
सुरेर हवा चले गगन बेये,
पाषाण टुटे व्याकुल बेगे धेये
बहिया जाय सुरेर सुरधुनी।

वस्तुतः पक्षियों का गीत यथार्थ में पक्षियों का नहीं है, निर्झर का कलशब्द यथार्थ में निर्झर का नहीं है; वे सब उस मूल संगीत की नाना प्रतिध्वनियाँ हैं। इसलिये जगत् के सब सुर, जो ध्वनित होते हैं और जो नहीं होते हैं वे सब, मिलकर हमारे मन में एक सौंदर्य की वेदना जागरित करते हैं। हम नाना प्रतिध्वनि सुनते सुनते उस मूल संगीत को सुनने के लिये व्याकुल हो जाते हैं। रवींद्र गीति-कवि हैं—हृदयावेगों को अनिर्वचनीय भाषा में व्यक्त करना ही उनके चिरजीवन का काम है। सब विश्व-स्पंदनों को केवल आलोक के रूप में न देखकर वह एक अभूतपूर्व संगीत के रूप में उनका अनुभव करते हैं। रवींद्रनाथ की कविता के भीतर उनके पाठकगण जो एक अस्पष्टता का अनुभव करते हैं, वह उनके सुर के आवेग के कारण है। गान का सुर हमारे मन में जिस सौंदर्य को जगाना चाहता है, वह भाषा की संकीर्णता के कारण स्पष्टता से व्यक्त नहीं हो सकता। रवींद्रनाथ खंडों के साथ साथ उनके नित्य-सहचर अखंड को देखना चाहते हैं, पर वाक्यों के द्वारा अखंड भाव संपूर्ण प्रकाशित नहीं होता—बहुत सा अव्यक्त रह जाता है और एक अनिर्वचनीयता की हिल्लोल खेलती रहती है।

'बहू ठाकुरानी का हाट' नामक उनका प्रथम उपन्यास इसी समय लिखा गया था। 'प्रभात-संगीत' के बाद उन्होंने 'प्रकृति का परिशोध' नामक एक नाटक लिखा था। उसका भीतरी भाव यह है कि किसी समय प्रकृति के साथ उनका विच्छेद हुआ था, अपने भीतर आप अवरुद्ध रहकर उन्होंने वेदना पाई थी। वह वेदना विदूरित कर उन्होंने फिर विश्व के आनंद-लोक में प्रवेश किया था।

'छबि ओ गान' इसी समय लिखा गया था, 'कड़ि ओ कोमल' उसके बाद। रवींद्रनाथ की कविता इसी समय विक्षिप्तता छोड़कर संयत आकार धारण कर रही थी। उनके चित्र निर्दिष्ट, भाव स्पष्ट, भाषा तथा छंद नियमित होने लगे थे। 'छबि ओ गान' में कल्पना का भाग और 'कड़ि ओ कोमल' में हृदयावेग का भाग

अधिक पाया जाता है। 'राहु का प्रेम*' नामक कविता 'छवि ओ गान' की एक उत्कृष्ट कविता है।

इस समय की कविताओं के भाव वास्तविक भाव नहीं हैं—अनेक परिमाण में स्वप्न के भावों के सदृश मोहमय हैं†। किसी किसी ने इस मोह को भोग-लालसा का नाम दिया है। मनुष्य के मन में बहुत समय सौंदर्य के साथ भोग की इच्छा आ पड़ती है। मानव देह के इस सौंदर्य के सुर को कवि अपनी वीणा से निर्वासित न कर सके थे। जो सुर विधाता के जगत् में बज रहा है, वह सुर कवि की वीणा में भी बज उठा था। केवल इतना ही देखना होगा कि उस सुर ने विश्व-संगीत की अन्य तानों को अधिक आच्छन्न किया था या नहीं। भोग में केवल क्षणिकता और व्यर्थता का हाहाकार है। उसको अतिक्रम कर सौंदर्य का एक असीम मुक्त रूप है। वह रूप ठीक तरह से प्रतिभात होने से ही भोगलालसा आपसे आप क्षय-प्राप्त होती है। 'कड़ि ओ कोमल' की

* राहु का प्रेम—

शुनेछि आमारे भालो लागे ना,
नाइ वा लागिल तोर,
कठिन बंधने चरण बेड़िया,
चिरकाल तोरे रंब आँकड़िया
कठिन लौह-डोर।
× × ×
अनंत ए क्षुधा अनंत ए तृषा
करितेछे हाहाकार
× × ×
ए घोर पिपासा युग-युगांतरे
मिटिबे कि कभु आर?

† मधुर आलस मधुर आवेश
मधुर मुखेर हासिटि
मधुर स्वपने प्राणेर माझारे
बाजिछे मधुर बाँशिटि।

अनेक कविताएँ और 'चित्रांगदा' नामक नाटक किसी किसी के मत से इंद्रियासक्ति के काव्य हैं, अतएव निंदनीय हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि इन काव्यों में भोग का सुर बिलकुल नहीं है; किंतु दोनों में कवि ने भोग का सीमा-निर्देश कर दिया है। उन्होंने दिखाया है कि चित्रांगदा का रूप क्षणिक वस्तु है। बाह्य रूप और अंतर के मनुष्य में जो प्रबल द्वंद्व है, वह और किसी उपाय से दिखाया नहीं जा सकता था। इसमें जैसे भोग उज्ज्वल वर्णों से अंकित है, उसी प्रकार भोग का अवसाद और शून्यता भी अंकित हुई है*।

'मानसी' काव्य की प्रेम की कविताओं में यद्यपि प्रेम की गंभीरता का परिचय है—ऐसा प्रेम जो अपनी 'जीवन-मरण-मय सुगंभीर-कथा' कहने के लिये व्याकुल है—जिस प्रेम के ध्यान-नेत्र में 'जत दूर हेरि दिक्-दिगंत तुमि आमि एकाकार' है—जो प्रेम जन्म-जन्मांतर में अपने को अनंत समझता है—तथापि वह जीवन का यथा-सर्वस्व नहीं। जहाँ सौंदर्य और प्रेम ने समग्र को आच्छन्न कर वासना की संकीर्णता के भीतर जीवन को घुमाया है, वहीं कवि के चित्त में वेदना ने जाग उठकर वासना को छिन्न करने के लिये संग्राम किया है। 'मानसी' की अधिकांश कविताएँ गाजीपुर में लिखी गई थीं। रवींद्रनाथ एक बँगला बनवाकर सस्त्रीक कुछ दिन वहाँ रहे थे। मानसी में कई एक अच्छी कविताएँ—मेघदूत†,

---

* संसार पथेर
पान्थ, धूलिलिप्त वास, विक्षत चरण,
कोथा पाबो कुसुम-लावण्य दु दंडेर
अकलंक शोभा।

† मेघदूत—
कविवर, कबे कोन विस्मृत बरषे
कोन पुण्य आषाढेर प्रथम दिवसे
लिखे छिले मेघदूत! मेघमंद्र श्लोक
विश्वेर विरही जत सकलेर शोक
राखियाछे आपन आँधार स्तरे स्तरे

अहल्या, निष्फल कामना, वधू* इत्यादि—हैं। इसी काल में 'राजा ओ रानी' नामक नाटक लिखा गया था।

रवींद्रनाथ का जीवन-देवता और काव्य-कला का उत्कर्ष

नदिया जिले के पूर्वोत्तर में और पबना जिले के दक्षिण और पूर्व में महर्षि की बड़ी जमींदारी है। इस जमींदारी की एक कचहरी कुष्टिया के पास, पद्मा नदी के किनारे, शिलाइदह में है। महर्षि ने इस समय रवींद्रनाथ को आदेश किया कि वह अब से इस जमींदारी का काम देखें। अतएव रवींद्रनाथ को शिलाइदह में जाकर रहना पड़ा। उनका इस समय का जीवन प्रकृति के निविड़ आनंद में निमग्न हुआ। यह नौका-वास का और नाना नदियों में भ्रमण करने का जीवन था।

भाव यदि केवल मन से ही अपना खाद्य संग्रह कर जीवन-धारण की चेष्टा करे, तो वह वास्तव-संपर्क-शून्य एक अलीक वस्तु हो जाता

सघन संगीत माझे पुंजीकृत करे।

× × ×

कत काल धरे

कत संगि-हीन जन, प्रियाहीन घरे
वृष्टिक्लांत बहुदीर्घलुप्त ताराशशि
आषाढ़ संध्याय, क्षीण दीपालोके बसि
ओइ छंद मंद मंद करि' उच्चारणे
निमग्न करेछे निज विजन-वेदन।

वधू—

आमार आँखिजल केह ना बोझे।
अवाक् हये सबे कारण खोंजे।

× × ×

सबार माझे फिरि एकेला।
केमन करे काटे साराय बेला।
ईंटेर परे ईंट माझे मानुष कीट,
नाइको भालवासा नाइको खेला।

है। जमींदारी में आने पर कवि को वंग देश की ग्राम्य जीवन-यात्रा का प्रत्यक्ष परिचय मिलने लगा। इससे कवि की रचना क्रमशः व्यक्तित्व के बंधन से मुक्त होकर वास्तव सत्य पर प्रतिष्ठित होने लगी—अनुभूतियों का प्रकाश व्यक्तिगत न होकर विश्वगत होने लगा। कवि के 'साधना' नामक मासिक पत्र का जन्म इसी समय हुआ था। यह उच्च कोटि का पत्र था। इस समय रवींद्रनाथ की उमर तीस बरस की थी। इसी समय से 'गल्पगुच्छ' का सूत्रपात हुआ था।

'सोनार तरी' काव्य की कविताएँ यहीं रचित हुई थीं। इन कविताओं में बाहर के साथ अंतर के—मनुष्य के साथ विश्व-प्रकृति के—मिलन का भाव जाग्रत है। इस पुस्तक की प्रथम कविता का नाम 'सोनार तरी'* है। इस कविता की भीतरी बात यह है—सौंदर्य की जो संपद् नाना शुभ मुहूर्तों में एक चिर-परिचित तथापि

सोनार तरी—
गगने गरजे मेघ घन बरषा।
कुले एका बसे आछि, नाहि भरसा।
× × × ×
गान गेये तरी बेये के आसे पारे!
देखे जेनो मने हय चिनि उहारे।
× × × ×
ओगो तुमि कोथा जाओ कोन विदेशे!
× × × ×
सुधु तुमि निये जाओ चणिक हेसे
आमार सोनार धान कुलेते एसे।
× × × ×
आर आछे?—आर नाई, दियेछि भरे।
× × × ×
एखन आमारे लह करुणा करे।
× × × ×
ठाँइ नाइ, ठाँइ नाई! छोटो से तरी
आमारि सोनार धाने गियेछे भरि।

अपरिचित सी सत्ता के स्पर्श से जीवन के भीतर संचित हुई थी, उसे अपने भोग की लकीर के अंदर रखने की चेष्टा ठीक नहीं, क्योंकि वह विश्व की संपत्ति है। अतएव कवि उसे उस सत्ता के हाथ में समर्पण करते हैं। वह सत्ता उसे प्रसन्नता से ले लेती है; परंतु कवि जब उसके साथ जाने की प्रार्थना करने लगे, तब उस सत्ता ने उन्हें स्वीकार न किया; क्योंकि उसके पास केवल सौंदर्य को स्थान मिलता है, कवि को नहीं। कवि का काम है सौंदर्य बटोरना और बटोरे हुए सौंदर्य को विश्व-सौंदर्य के साथ मिला देना। वह सत्ता चली गई और कवि हताश होकर जहां के तहां रह गए—उन्हें आशंका हुई कि कदाचित् उनके जीवन का काम समाप्त हो गया है। "परश पाथर*" में भी कुछ कुछ यही भाव है। स्पर्श मणि ही नाना सौंदर्य के भीतर होकर जीवन को स्पर्श करती है—उस वास्तव सत्ता को छोड़कर कल्पना की सहायता से उसे खोजने से वह नहीं मिलती। वंग देश की वैष्णव कविताओं में भी यही भाव है। वास्तव क्षेत्र से हटाकर अप्रकृत के भीतर प्रेम स्थापित नहीं किया जा सकता। 'सोनार तरी' काव्य की कविताएँ वास्तव जगत् से विमुख होने के भाव के प्रतिवाद हैं।

* परश पाथर—

क्ष्यापा खुँजे खुँजे फिरे परश-पाथर।

× × × ×

काम्य धन आछे कोथा जाने जेनो सब कथा,
से भाषा जे बोझे सेइ खुँजे निते पारे।

× × × ×

कारे चाहि व्योम तले ग्रहतारा लये चले,
अनंत साधना करे विश्व चराचर।

× × × ×

अर्द्धेक जीवन खुँजि कोन् क्षणे चक्षु बूजि'
स्पर्श लभेछिल तार एक पल भर,
बाकि अर्द्ध भग्नप्राण आवार करिछे दान।
फिरिया खुँजिते सेइ परश पाथर।

कवि को एक दिन जो भोग-लालसा की निंदा मिली थी, उससे निवृत्ति-लाभ करना कठिन न था। परंतु अब उन पर एक ऐसा अपवाद लगाया जाने लगा जिससे छुटकारा पाना सहज न था। 'सोनार तरी' के कारण वह छायावादी कहलाने लगे। इन कविताओं में अंश के भीतर संपूर्णता का तत्त्व निहित है। जब अंश को, खंड को, असंपूर्ण को, परिपूर्ण समग्र के भीतर अखंड भाव से अनुभव किया जाता है, तब यह अनुभूत होता है कि सब विभिन्नताएँ, सब विचित्रताएँ, एक ही स्थान पर जाकर मिली हैं—सब एक ही स्थान पर अक्षत सुंदर हो रही हैं। हमारे जीवन के भीतर भी एक पूर्ण जीवन है। वह 'जीवन-देवता' हैं। बहुतों के मत में यह Mysticism वा अतींद्रियता है। खंड के भीतर अखंड का बोध बड़ी भारी प्रहेलिका है। परंतु वैष्णव भेदाभेद-दर्शन-शास्त्र में इस तत्त्व का प्रकाश करने की अशेष चेष्टा हुई है। हमारी चेष्टा, चिंता और कल्पना बराबर खंडता का परिहार कर भूमा के साथ हमारे योग का अनुभव करने को व्यस्त है। यद्यपि हम अद्वैत से भिन्न हैं, तथापि अद्वैत हमारे भीतर से प्रकाशमान हैं। भिन्न होते हुए भी हम अद्वैत के साथ एक और अभिन्न हैं। वस्तुतः हमारी चेतना का प्रवाह एक बार हमें अहं-बोध की खंड-चेतना की विचित्र तान के भीतर छोड़ देता है, और फिर समस्त विचित्रता की परिसमाप्ति जो विश्व-चैतन्य है, उसके अखंड सम के भीतर विलीन कर देता है। इस भेदाभेद के छंद से प्रत्येक मुहूर्त में विश्व-संगीत रचित हो रहा है। साधना के द्वारा हम इस विचित्रता और एकता को—तान और सम को—एकत्र मिलाकर विश्व-बोध में परिपूर्ण हो सकते हैं। विश्व में ऐसा कुछ नहीं है जिसका हम जीवन की अभिज्ञता के भीतर से अनुभव नहीं कर सकते।

अतएव हमारा क्षणिक जीवन और चिरंतन जीवन उपनिषद्-कथित एक ही वृक्ष पर के दो पक्षियों के सदृश परस्पर संलग्न

हैं। यह प्रहेलिका नहीं है। रागिणी में जैसे प्रत्येक सुर अभिन्नता से वर्तमान है, वैसे ही चिरंतन जीवन में प्रत्येक जीव का क्षणिक जीवन है।

'जीवन-देवता' संबंधी कविताओं में जो दूसरे एक जीवन की बात कही गई है, उसकी कोई विशेष मूर्त्ति नहीं है; कारण जीवन-देवता का स्वरूप विश्व-बोध है। वह जीवन के सब बुरे भलों को चूर्ण और गठित कर उनसे एक अखंड की उत्पत्ति कर रहे हैं और कवि के काव्य को उसके भावी-परिणाम की ओर अग्रसर कर रहे हैं। वही वैष्णवों के अन्तर्यामी हैं। 'अंतर्यामी' कविता में जीवन और काव्य में 'जीवन-देवता' की सृजन-लीला का आश्चर्य-रहस्य वर्णित है*। 'जीवन-देवता' कभी स्त्री और कभी पुरुष माने गए हैं।

कितने युग-युगांतर से जन्म-जन्मांतर से 'जीवन-देवता' का यह खेल चल रहा है। वह जीवन को बराबर विश्व-चराचर से संयुक्त कर कवि के संकीर्ण अर्थ को प्रशस्त कर देते हैं। वह हर जीवन की धारा को सब से स्वतंत्र कर अनादि काल से प्रवाहित कर रहे हैं। अनंत सृष्टि में हर एक विशेष धारा अक्षुण्ण है।

---

* ए कि कौतुक नित्य-नूतन
  ओगो कौतुकमयी,
आमि जाहा किछु चाहि बलिबारे
  बलिते दितेछो कई ?
अंतर माझे बसि अहरह
मुख हंते तुमि भाषा केड़े लह
मोर कथा लये तुमि कथा कह
  मिशाये आपन सुरे।

× × ×

जे कथा भाविनि बलि सेइ कथा,
जे व्यथा बुझि ना जागे सेइ व्यथा,
जानि ना एनेछि काहार वारता
  कारे शुनाबार तरे।

हर जीवन में इस विशेष धारा के साथ 'जीवन-देवता' की लीला चल रही है।

स्वर्गीय बाबू मोहितमोहन सेन कहते हैं—

'जीवन-देवता' को विश्व-देवता कहने से भ्रम होगा। 'अहं'-बोध वा व्यक्तित्व-बोध का एक नूतन तत्त्व रवींद्रनाथ में प्रतिभात हुआ है। 'अहं' के क्षेत्र में जीवन-देवता की विशेष लीलाएँ हैं। 'अहं' वा व्यक्तित्व को ही वह जीवन-जीवनांतर में बराबर विश्व के सब पदार्थों के साथ संयुक्त कर बृहत् से बृहत्-तर बना रहे हैं। विकाश के हर एक पर्याय में कितनी ही वस्तुओं के भीतर होकर यह 'अहं' उन सब विचित्र जीवनों की विस्मृत स्मृति किसी न किसी आकार में वहन कर लाया है। जो जीव-कोष उद्भिद् में है, यदि उसी का संचार मेरे शरीर में होता हो, तो ऐसा अनुमान करने में क्या दोष है कि मेरा जीव-कोष-समूह बहु युगों के विचित्र जीवनों की स्मृति लाया है? इसलिये 'मैं' सब विश्व-प्राण के आनंद का अनुभव कर सकता है—तरु-लताओं और पशु-पक्षियों की चेष्टाओं का आनंद मुझे स्पर्श करता है। यह कल्पना मात्र नहीं है। हमारे ऋषियों ने इसकी उपलब्धि की है। अन्य देशों में भी Wordsworth इत्यादि ने इसका अनुभव किया है। आत्मबोध वा व्यक्तित्व-बोध का मूल सीधे विश्व-अभिव्यक्ति के आरंभ-काल तक पहुँचा है। इसी लिये अहं-बोध में विश्व-बोध इतने सहज में, और इतनी प्रबलता से प्रकट होता है। हम केवल एक एक मनुष्य ही नहीं हैं। हमारे भीतर नाना-जीव-भाव भी काम कर रहा है। इस 'मैं' के स्वामी हैं जीवन-देवता। इन्हीं ने सब विकाश के भीतर—प्रथम वाष्प-नीहारिका, तब आदिम अणु-परमाणु, तब आदिम जीव-कोष, तब तरु-लता, कीट-पतङ्ग, सरीसृप, पक्षी, पशु इत्यादि वस्तुओं तथा प्राणियों के भीतर क्रमशः रखकर 'मैं' को वर्तमान अवस्था में परिणत किया है। जीवन-देवता ने विश्व-विकाश की नाना अवस्थाओं में

प्रवाहित 'मैं' को एक अखंड सूत्र से अनादि काल से धारण कर रखा है*। 'वसुंधरा,' 'प्रवासी,' 'समुद्रेर प्रति' इत्यादि कविताओं में जल-स्थल-आकाश के साथ एकात्मता का भाव प्रकट हुआ है।

'मानसी' का 'ध्यान,' 'अनंत प्रेम,' 'सोनार तरी' का 'सोनार तरी,' 'मानस-सुंदरी,' 'हृदय-यमुना,' 'निरुद्देश यात्रा', 'चित्रा' का 'प्रेमेर अभिषेक,' 'एबार फिरावो मोरे,' 'अंतर्यामी,' 'साधना,' 'जीवन-देवता' इत्यादि कविताओं में 'जीवन-देवता' का परिचय मिलता है।

'सोनार तरी' में, और विशेषता से 'चित्रा' तथा 'चैताली' में, रवींद्रनाथ की कविता ने यथेष्ट संपूर्णता प्राप्त की है। 'उर्वशी' और 'विजयिनी' नामक श्रेष्ठ कविताएँ चित्रा के अंतर्गत हैं और जीवन-देवता के अखंड-भाव-मूलक हैं। 'उर्वशी' में सौंदर्य बोध का जैसा संपूर्ण प्रकाश है, वैसा अपर किसी भाषा की किसी कविता में नहीं देखा जाता। यह सौंदर्य का एक निरपेक्ष चित्र है। उर्वशी के एक एक नृत्य की तरंग से समुद्र की तरंगें उच्छ्वसित हो रही हैं, शस्य-शीर्ष पर धरणी का श्यामल अंचल कंपित हो रहा है, उसके स्तन-हार-च्युत मणि-भूषण से अनंत आकाश खचित है, विश्व-वासना के विकसित पद्म पर उसके अतुलनीय पाद-पद्म स्थापित हैं†।

---

* आज मने हय सकलेर माझे
तोमारेइ भालबेसेछि।
जनता वाहिया चिर दिन सुधु
तुमि आर आमि एसेछि।

† सुरसभातले जबे नृत्य कर पुलके उल्लसि
हे विलोल-हिल्लोल उर्वशि!
छंदे छंदे नाचि उठे सिंधु माझे तरङ्गेर दल,
शस्य-शीर्षे शिहरिया उठे धरार अंचल,
तव स्तन-हारहते नभस्तले खसि पड़े तारा,
अकस्मात् पुरुषेर वक्षोमाझे चित्त आत्महारा,
नाचे रक्त-धारा,
दिगंते मेखला तव टुटे आचंम्बिते
अयि असंवृते।

रवींद्रनाथ का आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश

रवींद्रनाथ के जीवन और कविता-काल का और एक अध्याय आरंभ हुआ। उनके काव्य-जीवन में एक विच्छेद का सूत्रपात हुआ। यह कैसे? हमारी समझ में तो कवि ने अपने कवित्व के उच्चतम शिखर पर आरोहण किया है—मनुष्य के भीतर और विश्व-प्रकृति के भीतर उनका ऐसा यथार्थ प्रवेश हुआ है—जीवन को, मृत्यु को, प्रेम को, सौंदर्य-बोध को एक अखंड जीवन-सूत्र में ग्रथित देखने का उन्हें सौभाग्य हुआ है। उनका शिलाइदह का जीवन भी कैसा सुखमय था! तो अभाव किस बात का था?

'सोनार तरी', 'चित्रा' और 'चैताली' के इस माधुर्यपूर्ण जीवन से 'कथा', 'काहिनी', 'कल्पना', 'क्षणिका' इत्यादि काव्यों का परवर्ती जीवन कितना ही विभिन्न था! इसका कारण क्या है? सं० १९५३ में 'साधना' पत्र बंद हो गया और १९५४ में 'चैताली' काव्य समाप्त हो गया। उनकी उस समय की चिट्ठी-पत्रियों से मालूम होता है कि कवि को कहीं जीवन की असंपूर्णता का अनुभव हो रहा था। कवि लोग कल्पना के तीव्र आलोक से मानव प्रकृति के रहस्यों के भीतर जितना प्रवेश कर सकते हैं, उतना दूसरे लोग नहीं। तथापि उनका जीवन अधिक परिमाण में भाव-लोक में ही विचरता है—केवल प्रयोजन के अनुसार वे वास्तव का ग्रहण करते हैं। जो शिल्प वा कला केवल कल्पना ही पर प्रतिष्ठित है, वह स्थायी नहीं होती—वह आध्यात्मिक जीवन के स्थान पर अधिकार नहीं कर सकती। शिल्प-जीवन मनुष्य का शेष आदर्श नहीं हो सकता। खंड आश्रय स्खलित हो जाता है—उस पर आत्मा का निर्भर नहीं हो सकता। एक मात्र आध्यात्मिकता के अखंड बोध में सब भेदों का विलोप और विचित्रताओं का मिलन संभव है। कबीर साहब कहते हैं—

जो तन पाया खंड दिखाया तृष्णा नहीं बुझानी।
अमृत छोड़ खंड रस चाखा तृष्णा ताप तपानी॥

जिसने देह धारण किया है, वह खंड को देखकर ही चलता है, अतएव उसकी प्यास नहीं बुझती। अमृत को छोड़कर जो केवल खंड रस पीता है, उसे तृष्णा संतप्त करती ही रहती है।

रवींद्रनाथ का 'सोनार तरी' तथा 'चित्रा' के जीवन से विदा होने का प्रधान कारण यह है कि एक मात्र शिल्पमग्न जीवन की असंपूर्णता कवि के अंतर को पीड़ा दे रही थी। दूसरा कारण यह है कि उनके लिये एक बड़े वास्तव कर्मक्षेत्र का अभाव था। वह जमींदारी चला रहे थे, पर उसमें संकीर्णता थी। वह किसी ऐसे काम में लगना चाहते थे जिसके निर्वाह के लिये संपूर्ण आत्मोत्सर्ग से हृदय की तृप्ति और जीवन का गौरव अनुभव कर सकें। देश में कांग्रेस इत्यादि प्रतिष्ठान थे, परंतु उनके प्रति उनकी आंतरिक श्रद्धा न थी। अतएव उनमें से किसी में वह प्रवेश न कर सके।

'कल्पना', 'कथा', 'काहिनी' और 'क्षणिका' ये काव्य प्रायः एक ही समय में लिखे गए थे—सं० १९५५ से १९५७ के भीतर। इनमें देशबोध की सूचना मात्र है। इनमें वर्तमान बंधनों को छिन्न कर भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास, काव्य, पुराणों में प्रवेश करने की सामान्य चेष्टा पाई जाती है। सं० १९५८ में 'नैवेद्य' प्रकाशित हुआ। इसमें देशबोध का यथार्थ आरंभ दृष्ट होता है; परंतु यह बोध बहुत क्षीण आकार में था।

इस चेष्टा में एक पुलक-वेदना सी थी। यह एक नूतन जीवन में प्रवेश करना था। 'बिदाय' नामक कविता में कवि लिखते हैं कि समय आ गया है, अब बंधन तोड़ना है*। भोग-विलास में रहते हुए, वैराग्य से उन्हें अधिक परिचय न था। 'वर्ष शेष'

* अरुण तोमार तरुण अधर,
करुण तोमार आँखि,
अमिय रचन सोहाग वचन,
अनेक रयेछे बाकी।

में वैराग्य संपूर्ण रूप में प्रकट हुआ है, और 'वैशाख' में उन्होंने सब सुख-दुःख की आहुति दी है। जीवन को रिक्त कर वह कंगाल बने हैं। 'कथा' काव्य के प्रायः सब ऐतिहासिक चित्र ही त्याग की कहानियाँ हैं। 'कल्पना', 'कथा', 'काहिनी' के समान 'चणिका' काव्य में भी गत जीवन से विच्छेद का क्रंदन है*। परंतु इसके तुच्छ विषयों के भीतर भी पूर्ण-सौंदर्य का आवाहन है। 'नैवेद्य' में कवि गंभीर पूर्ण-सौंदर्य के भीतर आ पड़े और इसी में वे प्रकृति को छोड़कर प्रकृति के अधीश्वर का, थोड़ा थोड़ा करके, परिचय देने लगे।

कवि-जीवन को निःशेषित कर कवि जिस अध्यात्म जीवन में आ पड़े, उसकी परिपुष्टि भारतीय आदर्श से हुई। प्राचीन तपो-वन के ऋषियों की साधना के आदर्श को जीवन के भीतर ठीक ठीक लाभ करने की व्याकुल इच्छा "नैवेद्य" में प्रकाशित हुई है। कवि को प्राचीन साधना के आदर्श का अपने जीवन की पूर्णता के लिये प्रयोजन था। केवल इसी कारण उन्होंने उसे ग्रहण किया हो, ऐसा नहीं था। स्वदेश उनके कल्पना-नेत्र में—अपने अतीत और वर्तमान, अपनी हीनता और विकृति, अपनी आशा और नैराश्य के साथ—अखंड रूप में उपस्थित हुआ था। देश के इस अखंड भाव ने उनके सारे चित्त को प्रबलता से आकृष्ट किया था। बोलपुर में ब्रह्मचर्य आश्रम की प्रतिष्ठा का यही कारण था।

कवि को प्रयोजन था विचित्रता के जीवन और आध्यात्मिक जीवन को मिलाने का—भोग और त्याग के सामंजस्य से साधना का एक पथ निकालने का। रवींद्रनाथ ने समन्वय के आधार पर जीवन

---

* तोमारे पाछे सहजे बुझि
 ताइ कि एतो लीलार छल ?
बाहिरे जबे हासिर छटा
 भितरे थाके आँखिर जल।

के प्रयोजन का आविष्कार किया है। हिंदू समाज के आधुनिक युक्ति-हीन आचार के बंधन के साथ आध्यात्मिक जीवन का मिलन कैसे हो सकता है, यही वह देशवासियों को दिखाना चाहते थे। संसार का बेड़ा पार करने का अर्थ यह नहीं है कि संसार के साथ कोई संबंध न रखा जाय; उसका अर्थ है संसार को ब्रह्म के भीतर सत्य करके जानना। इस प्रकार के ज्ञान से भोग और त्याग में कोई विच्छेद नहीं रहता। कर्म के द्वारा कर्म-बंधन के छेदन की उपलब्धि करना ही यथार्थ साधना है।

यह कहा गया है कि केवल भाव के द्वारा चालित होने से वास्तव को दूर भगाना है। वास्तव क्षेत्र में भावुकों को टक्कर खानी पड़ती है। रवींद्रनाथ इस सत्य को खूब जानते थे। इस समय के लिखित 'गोरा' नामक उपन्यास में कवि ने इस तत्त्व का विश्लेषण किया है।

रवींद्रनाथ की स्वदेशिकता

सं० १९६० में कवि का स्त्री-वियोग हुआ। इस आघात ने उनके चित्त को कठिन त्याग की ओर अग्रसर किया। तभी से वह एक प्रकार से संसार से विच्छिन्न हैं। अपनी शक्ति, सामर्थ्य, अर्थ और समय को उन्होंने इस त्याग की तपस्या को पूर्ण करने के लिये लगाया है।

स्त्री-वियोग के एक बरस पीछे उनकी मध्यमा कन्या की मृत्यु हुई। यही शोकपूर्ण घटना "शिशु" नामक काव्य लिखने का कारण थी। इसकी कविताएँ वात्सल्य रस से भरपूर हैं। बच्चा माता से पूछता है कि तू मुझे कहाँ से उठा लाई है? माँ कहती है कि तू मेरे मन के भीतर इच्छा के रूप में था। विश्व के आनंद-उत्स से मूर्ति धारण कर शिशु प्रकाशित होता है। यही वैष्णव माधुर्य-तत्त्व है। जो लोग भगवान् को वात्सल्य रस के द्वारा देखते हैं, उन्हीं का माधुर्य रस 'शिशु' काव्य में प्रवाहित है।

सं० १९६३ में वंग-व्यवच्छेद के कारण जो तुमुल आंदोलन बंग देश में उपस्थित हुआ था, उस आंदोलन के प्रधान उद्योगी रवींद्रनाथ थे। इस समय उनकी जो गद्य रचनाएँ निकली थीं, वे अतुलनीय हैं।

'खेया' काव्य का इसी समय जन्म हुआ था। इसमें की कविताएँ फलाफल-विचार-हीन त्याग के भाव से पूर्ण हैं। "राजा के दुलाल जायँगे आज मेरे घर के सामने के पथ से" इसमें यह त्याग बड़ी सुंदरता से प्रकाशित हुआ है। 'आगमन' नामक कविता में वंग देश के अखंड स्वरूप के आविर्भाव का वर्णन है। इस राजा के आगमन का इंगित खेया की अन्यान्य बहुत सी कविताओं में है।

इस समय रवींद्रनाथ ने अकस्मात् इस आंदोलन से अपने को हटा लिया। सब उद्योगों के अग्रणी होते हुए भी जब वह अलग हो गए, तब उनके परम भक्त लोग भी विस्मित हुए। अलग होने का यह कारण था कि उनके कल्पना-रचित भारतवर्ष और वास्तव भारतवर्ष में बहुत प्रभेद मालूम हुआ। ध्यान और यत्न के अभाव से बोलपुर में प्रतिष्ठित उनका आश्रम नष्ट हो चला है; इसलिये उन्होंने स्वदेश के कर्मक्षेत्र से विदा ग्रहण की।

कर्म-जीवन जब सर्वोच्च सफलता लाभ कर चुका है, तब उसके कर्म-फल से अपने को वंचित करने में एक कठिन आत्मपीड़न है, परंतु उदार विश्व-भुवन में अपने अस्तित्व की तिलांजलि देने में भी एक अपार आनंद है। यही दोनों भाव 'खेया' की कविताओं में एक साथ मिलते हैं।

रवींद्रनाथ का आध्यात्मिक जीवन और रचना

उपनिषद् में आनंद-स्वरूप की उपलब्धि केवल अंतर की वस्तु ही नहीं। उसमें निखिल सत्य के साथ आनंद का पूर्ण योग है। सत्य से आनंद का कोई विच्छेद नहीं। जगत की यह रसमय उपलब्धि कवि की अपनी प्रकृतिगत वस्तु है। उनकी 'सब-पेयेछिर

देशे*' नामक कविता में कहा गया है कि जो कुछ प्रकाश पाता है, वही परिपूर्ण आनंद स्वरूप है। उपनिषद् का यह वाक्य ही कवि की उपलब्धि में पहुँचा है। इसी में परम तृप्ति है। इस साधना में कवि अभी तक निमग्न हैं। कवि सब सत्य को रसमय रूप में—समस्त विश्व को और मानव-प्रकृति को एक के भीतर अखंड भाव से देखने में नियुक्त हैं।

शांति-निकेतन की शांति में कवि ने कई अच्छे अच्छे नाटक लिखे। गीतांजलि की कविताएँ सं० १९६४ से १९६७ के भीतर लिखी गई थीं, 'गीतिमाल्य'† सं० १९६८ में और गीतालि दो एक वर्ष पीछे। सं० १९६९ के लगभग कुछ समय तक शिलाइदह में रहकर रवींद्रनाथ गीतांजलि का अनुवाद कर तीसरी बार विलायत गए। प्रसिद्ध छायावादी कवि येट्स गीतांजलि का अनुवाद पढ़कर विस्मित हो गए। अन्यान्य अँगरेज कवि भी गीतांजलि पढ़कर मोहित हुए। इंडिया सोसाइटी ने गीतांजलि का अनुवाद छपवाया। कवि येट्स ने इसकी भूमिका लिखी रवींद्रनाथ की ख्याति समग्र योरप और अमेरिका में फैली। उन पर सम्मान की वर्षा हुई।

---

* सब पेयेछिर देशे—

पथेर धारे घास उठेछे गाछेर छायातले,
स्वच्छ तरल स्रोतेर धारा पाश दिये तार चले।
कुटिरेते वेड़ार परे दोले झुमका-लता;
सकाल हते मौमाछिदेर व्यस्त व्याकुलता।
भोरेर बेला पथिकेरा की काजे जाय हेसे—
सांझे फेरे बिना वेतन सब-पेयेछिर देशे।

† गीति-माल्य —

श्रावणेर धारार मतो पड़ुक झरे पड़ुक झरे,
तोमारि सुरटि आमार मुखेर परे, बुकेर परे।
पूरबेर आलोर साथे पड़ुक प्राते दुइ नयाने—
निशीथेर अंधकारे गभीर धारे पड़ुक प्राणे,
निशिदिन एइ जीवनेर सुखेर परे, दुखेर परे
श्रावणेर धारार मतो पड़ुक झरे पड़ुक झरे॥

सं० १६७० में रवीन्द्रनाथ को साहित्य-विषयक नोबेल पुरस्कार मिला। भारतवर्ष में लौटते ही कलकत्ता युनिवर्सिटी ने उन्हें D. Litt. की उपाधि से भूषित किया। सं० १६७१ में उन्हें Knighthood मिला।

यह लेख बहुत बड़ा हो गया है। अब इसका उपसंहार करना चाहिए। सं० १६७१ में उन्होंने 'वलाका'* नामक सर्वोत्तम कविता-पुस्तक लिखी, १६७२ में 'पलातका', १६७६ में 'शिशु भोलानाथ', १६८३ में 'प्रवाहिणी' और 'पूरवी'। इसके बीच में उन्होंने

* छबि—

तुमि कि केवल छबि शुधु पटे लिखा ?
—ओइ जे सुदूर निहारिका
जारा करे आछे भीड़,
आकाशेर नीड़;
ओइ जारा दिन रात्रि
आलो—हाते चलियाछे आंधारेर यात्री
ग्रह तारा रवि,
तुमि कि तादेर मतो सत्य नओ ?
हाय छबि, तुमि शुधु छबि ?

× × ×

एइ तृण, एइ धूलि—ओइ तारा, ओइ शशि-रवि
सबार आड़ाले
तुमि छबि, तुमि शुधु छबि।

प्रवाहिणी—

नाम्बले जाय पाछे से
आंखि मोर घुम ना जाने।
काछे तार रइ, तबुओ
व्यथा जे रय पराणे।
से पथिक पथेर भुले
एलो मोर प्राणेर कूले
पाछे तार भूल भेंगे जाय
चले जाय कोन उजाने
आंखि मोर घुम ना जाने।

कई बार विदेशों की यात्रा की। सं० १९७६ में जलियानवालाबाग की निर्दयता ने उन्हें बहुत विचलित किया था; यहाँ तक कि उन्होंने अपनी Knight hood की उपाधि छोड़ दी। सं० १९८० में शांतिनिकेतन में विश्वभारती प्रतिष्ठित हुई।

वंग देश धन्य है कि एक ऐसा संपूर्ण जीवन उसके सामने उद्घाटित हुआ। हमारे व्यक्तिगत जीवन की साधना, हमारे देश की साधना, हमारी सौंदर्य की साधना, हमारे धर्म की साधना जितनी अग्रसर होती जायगी, उतना ही इस जीवन का आदर्श जाज्वल्यमान होकर निर्देश करेगा कि साधनाओं का भीतरी ऐक्य कहाँ है—सब खंडता का चरम परिणाम कहाँ है। खेद है कि मैं इस छोटे लेख में कवि की प्रतिभा को स्पष्ट न कर सका। इसके लिये अधिक शक्ति-संपन्न लेखक का प्रयोजन था। इस लेख के लिखने में मुझे परलोकगत अजितनाथ चक्रवर्ती की पुस्तकों से विशेष सहायता मिली है। E. J. Thompson की पुस्तकें भी मैंने पढ़ी हैं, परंतु अनेक विषयों में उनसे सहमत न हो सका। रवींद्रनाथ की आध्यात्मिक कविताओं पर ख्रिष्टीय धर्म का बहुत प्रभाव पड़ा, यह बात अश्रद्धेय है।

(८) कौटिल्य-काल की कुछ प्रथाएँ

[लेखक—श्री गोपाल दामोदर तामस्कर एम० ए०]

किसी काल की प्रथाओं से उस समय के समाज की स्थिति बहुत कुछ जानी जा सकती है। भारतवर्ष के इतिहास में अभी भिन्न भिन्न काल की प्रथाओं का विशेष विचार नहीं किया गया है। प्रथाओं के ज्ञान से इतिहास का कितना विशद ज्ञान हो सकता है, यह किसी भी काल की प्रथाओं के विवेचन से स्पष्ट हो सकेगा। इसी हेतु से यहाँ पर कौटिल्य-काल की प्रथाओं का दिग्दर्शन हम कराना चाहते हैं। यह स्पष्ट ही है कि इस लेख का एकमात्र आधार 'कौटिलीय अर्थशास्त्र'' है। यथासंभव हम उनके स्वरूप के वर्ग के क्रम से ही विचार करेंगे।

सबसे अधिक प्रथाएँ सामाजिक होती हैं और उनमें से बहुत सी विवाह के नियमों से संबंध रखती हैं। अपने यहाँ प्राचीन काल में जिन आठ प्रकार के विवाहों की रीति थी, वह कौटिल्य के ग्रंथ में भी उल्लिखित है। यहाँ भी ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गांधर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच विवाह बताए गए हैं। 'कन्यादानं कन्यामालंकृत्य ब्राह्मो विवाहः'—कन्या को अलंकृत कर कन्यादान करना ब्राह्म विवाह है। 'सह धर्मचर्या प्राजापत्यः'—दोनों मिलकर धर्म का आचरण करें इसलिये विवाह कर देना प्राजापत्य विवाह है। 'गोमिथुनादानादार्षः'—वर से गाय का जोड़ा लेकर कन्या दे देना आर्ष विवाह है। 'अंतर्वेद्यामृत्विजे दानाद्दैवः'—वेदी के समीप बैठकर ऋत्विज को कन्या दे देना दैवविवाह है। 'मिथः समवायाद्गांधर्वः'—कन्या और वर जब आपस में मिलकर विवाह कर लेते हैं तब गांधर्व विवाह होता है। 'शुल्कादानादासुरः'—(कन्या के पिता आदि को) धन देकर किया हुआ विवाह आसुर कहाता है। 'प्रसह्यादानाद्राक्षसः'—कन्या को बलात् ले लेना

राक्षस विवाह है। 'सुप्तमत्तादानात्पैशाचः'—सोती हुई कन्या को उठा ले जाने से पैशाच विवाह होता है। ऐसा जान पड़ता है कि विवाह बड़े होने पर ही होते थे; क्योंकि 'सब विवाहों में स्त्री-पुरुष की परस्पर प्रीति का होना अत्यावश्यक है'। यही बात कई अन्य उल्लेखों से सिद्ध होती है। बहुधा विवाह का करार नहीं तोड़ा जा सकता था। तथापि कुछ परिस्थिति में ऐसा हो सकता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों में पाणिग्रहण के पहले विवाह का करार तोड़ा जा सकता था, पर उसके बाद नहीं। शूद्रों में यह मर्यादा प्रथम सम्मिलन तक थी। परंतु प्रथम तीन वर्णों में भी 'औपशायिक दोष'* (ब्रह्मचर्य के उल्लंघन का दोष ?) दीख जाय तो पाणिग्रहण के बाद भी विवाहोच्छेद हो सकता था, पर लड़के बच्चे होने पर नहीं।

अपने यहाँ पुरुषों को एक से अधिक पत्नियाँ करने का अधिकार है। इसका उपयोग या तो धनी पुरुष करते हैं कि जिन्हें कामाचार के सिवा संसार में कोई दूसरा काम नहीं देख पड़ता या वे लोग करते हैं जिन्हें प्रथम या द्वितीय स्त्री से लड़के बच्चे नहीं होते या किसी स्त्री से केवल लड़कियाँ होती हैं। कौटिल्य का बताया नियम यदि उस समय प्रचलित था, तो यही कहना होगा कि उस समय की रीति आज से अधिक अच्छी थी। कौटिल्य कहता है 'यदि किसी स्त्री के बच्चा पैदा न हो या उसमें बच्चा पैदा करने की शक्ति न हो तो उसका पति आठ वर्ष तक राह देखे,

* पंडित उदयवीर शास्त्री ने 'वृत्तपाणिग्रहणयोरपि दोषमौपशायिकं दृष्ट्वा छिद्रमुपावर्तनम्' का अर्थ दिया है—"प्रथम तीन वर्णों में पाणिग्रहण हो जाने पर भी यदि स्त्री पुरुष के एक साथ प्रथम शयन काल में किसी में (स्त्री या पुरुष में) कोई दोष मालूम पड़े तो विवाहसंबंध तोड़ा जा सकता है।" इसी का श्री शामशास्त्री ने यह अर्थ किया है—'पाणिग्रहण के बाद यदि यह जान पड़े कि वधू का पहले किसी से संभोग संबंध हो चुका है, तो विवाह तोड़ा जा सकता है।' यह दोष छिपाने के लिये आगे जो दंड आदि बताए हैं उससे यही जान पड़ता है कि श्रीशामशास्त्री का ही अर्थ विशेष ठीक है।

यदि मरा हुआ बच्चा हो तो दस वर्ष तक राह देखे, यदि कन्याएँ ही हों तो बारह वर्ष तक राह देखे, तदनंतर 'पुत्रार्थी' दूसरा विवाह करे'। इस नियम का उल्लंघन करने पर पति दंडनीय होता था। क्या ही अच्छा होता यदि इस नियम का प्रचार आज भी किया जाता। माना कि बहुतेरे पुरुष धनाभाव के कारण एकपत्नीक हैं। पर पहली पत्नी से बच्चे होने पर भी दूसरी स्त्री करनेवाले लोग आज कुछ कम नहीं हैं। विवाह का प्रधान अर्थ है सृष्टि-परंपरा का चलाना। एक स्त्री रहते हुए और उसके बालबच्चे होने पर भी केवल विषय-वासना की तृप्ति के लिये दो तीन पत्नियाँ करना या अनुचित प्रकार से इस वासना की तृप्ति करना किसी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। अतः कौटिल्य के कहे अनुसार ऐसे अनुचित बहुविवाह करना अवश्य दंडनीय होना चाहिए।

तीसरे अधिकरण के दूसरे अध्याय के कई सूत्रों से बिलकुल स्पष्ट है कि स्त्रियाँ भी दूसरा विवाह (यानी पुनर्विवाह) कर सकती थीं। वहीं एक स्थान पर स्त्री-धन के विषय में कहा है 'कुटुंब-कामा तु श्वशुरपतिदत्तं निवेशकाले लभेत्'—"यदि वह कुटुंब की कामना रखती है (यानी दूसरा विवाह करना चाहती है) तो अपने श्वशुर और (मृत) पति के दिए हुए (धन) को वह 'निवेशकाल' में (यानी पुनर्विवाह के समय) ही पा सकती है (पहले नहीं)"। इसी प्रकार के कई अन्य सूत्र हैं। एक सूत्र और देखिए। 'बहु-पुरुषप्रजानां पुत्राणां यथापितृदत्तं स्त्रीधनमवस्थापयेत्'—'यदि किसी स्त्री के बहुत से पुरुषों से लड़के उत्पन्न हुए हों तो उसको उचित है कि वह अपनी संपत्ति की व्यवस्था उन लड़कों के पिताओं के किए अनुसार ही करे'। कदाचित् पुनर्विवाह की प्रथा निम्न जातियों में ही विशेष थी, उच्च अथवा आर्य जातियों में कम, क्योंकि हम अनेक स्थलों से ऐसा कह सकते हैं कि उस समय के भी समाज का आदर्श आजीवन काल एकपत्नीव्रत और एकपतिव्रत था। तलाक के जो नियम उसने दिए हैं उनसे यह बात बहुत स्पष्ट होती है। 'मोक्ष'

(यानी तलाक) के विषय में प्रथम ही कहा है 'अमोक्षो धर्मविवाहानामिति'—धर्म विवाहों में (यानी पहले चार प्रकार के विवाहों में) 'मोक्ष' नहीं हो सकता।

तथापि कुछ परिस्थितियों में 'मोक्ष' हो सकता था। उनमें से मुख्य है 'परस्परं द्वेषान्मोक्षः—एक दूसरे का द्वेष होने पर मोक्ष हो सकता है।' परंतु इसके पहले यह स्पष्ट बता दिया है कि केवल एक (यानी केवल पति या पत्नी) दूसरे का द्वेष करे तो मोक्ष नहीं हो सकता। यह ऊपर बता ही चुके हैं कि धर्म-विवाहों में मोक्ष निषिद्ध है। मोक्ष की रीति केवल अंतिम चार प्रकार के विवाहों के लिये बताई है।

'कन्याप्रधर्ष' यानी बलपूर्वक स्त्री-भोग करने के लिये उस समय आज से बहुत कड़े दंड थे। इस विषय में यहाँ पर विस्तारपूर्वक कहने की आवश्यकता नहीं। हम सारांश में यह बता सकते हैं कि विवाहिता स्त्री के साथ (कुछ अवस्थाओं को छोड़कर) संभोग करना, चाहे स्त्री की इच्छा भले ही हो, दंडनीय होता था। अक्षतयोनि कन्या से संग करने पर प्रत्येक पुरुष दंड पाता था। हाँ, सकामा और क्षतयोनि स्त्री के साथ उसका भावी पति, सात मासिक धर्म के बाद, संग करे तो दंडनीय न होता था। यह तभी क्षम्य था जब उस स्त्री का निश्चित विवाह रुका हुआ हो। इसी प्रकार तीन वर्ष तक मासिक धर्म होने पर यदि कन्या का विवाह न किया जाय तो कोई भी सवर्ण पुरुष उसके साथ, उसकी इच्छा होने पर, संबंध कर सकता था। पर यह स्मरण रहे कि इन दोनों अवस्थाओं में उन स्त्री पुरुषों का विवाह होना आवश्यक था। हाँ, चोरों के हाथ से, नदीप्रवाह से, दुर्भिक्ष से बचाकर और जंगलों में भटकती हुई तथा मर गई है ऐसा समझकर छोड़ी हुई पराई स्त्री को आपत्ति से बचाकर दोनों की इच्छा होने पर कोई भी पुरुष भोग सकता है'। स्मरण रहे कि यह कार्य इन अवस्थाओं में भी स्त्री की इच्छा के विरुद्ध नहीं किया जा सकता था। विवाहिता स्त्री

से व्यभिचार करनेवाला पुरुष ही नहीं वह स्त्री भी दंडनीय होती थी। जार के लिये मृत्युदंड तथा स्त्री के लिये नाक-कान काटने का दंड कौटिल्य ने बताया है। दंड के कुछ प्रकार बदल दिए जायँ तो कौटिल्य के बताए इस विषय के कई नियम आज भी व्यवहार में लाने योग्य हैं।

उस समय नियोग की प्रथा स्पष्टतया थी। तीसरे अधिकरण के छठे अध्याय के अंत में कहा है—

क्षेत्रे वा जनयेदस्य नियुक्तः क्षेत्रजं सुतम्।
मातृबंधुः सगोत्रो वा तस्मै तत्प्रदिशेद्धनम्॥

'अथवा उसकी स्त्री से नियोग के द्वारा उत्पन्न हुआ लड़का या उसकी माता के बंधु-बांधव या कोई सगोत्र उसकी संपत्ति का अधिकारी समझा जावे'।

पहले अधिकरण के १७वें अध्याय में कहा है—'वृद्धस्तु व्याधितो वा राजा मातृबंधुकुल्यगुणवत् सामन्तानामन्यतमेन क्षेत्रे बीजमुत्पादयेत्—अथवा यदि राजा बूढ़ा हो गया हो या सदा बीमार रहता हो, तो अपने मातृकुल के या अपने बंधुकुल के किसी पुरुष से या गुणवान् सामंत से नियोग के द्वारा अपनी स्त्री में पुत्र उत्पन्न करा ले'।

इसी प्रकार तीसरे अधिकरण के पाँचवें अध्याय में कहा है—

तेषां च कृतदाराणां लुप्ते प्रजनने सति।
सृजेयुः बांधवा पुत्रांस्तेषामंशान् प्रकल्पयेत्॥

'यदि इन उपर्युक्त पुरुषों की स्त्रियाँ हों, परंतु अपनी अशक्ति से ये उनमें बच्चे पैदा न कर सकें तो इन पुरुषों के बंधु बांधव उनमें जिन पुत्रों को उत्पन्न करें, वे अपनी पुरानी जायदाद के दायभागी हो सकते हैं।' पहले उदाहरण में पति के मृत होने पर नियोग की रीति है, पर दूसरे उदाहरण में पति के जीवनकाल में उसमें प्रजनन-शक्ति न होने के कारण उसे उचित बतायी है। यह सब जानते ही हैं कि नियोग की रीति केवल संतति की, विशेषकर, पुत्र

की, उत्पत्ति के लिये ही व्यवहृत होती रही है, केवल कामपूर्ति के लिये नहीं। परंतु कौटिल्य के ग्रंथ से ऐसा कहना पड़ता है कि वह काम-शांति की आवश्यकता को भी भरपूर मानता था। माता पिता यदि विवाह न कर दें तो ऋतुप्राप्ति होने पर कुछ विशिष्ट काल के बाद स्त्री अपने भावी पति से अथवा किसी सवर्ण पुरुष से अपना संबंध कर सकती थी। इसके दो उदाहरण हम ऊपर दे चुके हैं। इसी विषय का विचार करते समय कौटिल्य ने कहा है' 'ऋतुप्रतिरोधिभिः स्वाम्यादपक्रामति—क्योंकि वह (पिता) मासिक ऋतुरूपी तस्करों के कारण लड़की के स्वामित्व से हटा दिया जाता है' (यानी समय पर उसका विवाह न कर देने से पिता का कन्या पर कोई भी अधिकार नहीं रह जाता)। परंतु यह तो हुई विवाह न होने की दशा में कामशांति की बात। और इस अवस्था में भावी निश्चित पति अथवा विवाह की इच्छा रखनेवाला पुरुष ही उससे कामसंबंध कर सकता है। पर तीसरे अधिकरण के कई अध्यायों के कुछ सूत्रों से यह बात स्पष्ट है कि विवाह होने पर भी यदि स्त्री की कामेच्छा की पूर्ति की किसी अवस्था में आशा न हो तो उसकी पूर्ति के लिये दूसरे पुरुष से संबंध करना कौटिल्य ने उचित कहा है। इसके उदाहरण लीजिए। तीसरे अधिकरण के चौथे अध्याय में कहा है—

ह्रस्वप्रवासिनां शूद्रवैश्यक्षत्रियब्राह्मणानां भार्याः संवत्सरोत्तरकालमाकांक्षेरन्नप्रजाताः संवत्सराधिकं प्रजाताः प्रतिविहिता द्विगुणं कालम्। अप्रतिविहिताः सुखावस्थाः बिभृयुः परं चत्वारि वर्षाण्यष्टौ वा ज्ञातयः। ततो यथादत्तमादाय प्रमुंचेयुः। ब्राह्मणमधीयानं दशवर्षाण्यप्रजाता द्वादश प्रजाता राजपुरुषमायुःक्षयादाकांक्षेत। सवर्णतश्च प्रजाता नापवादं लभेत।

'थोड़े समय के लिये बाहर जानेवाले शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मणों की पुत्रहीन स्त्रियाँ एक वर्ष तक, तथा पुत्रवती इससे अधिक समय उनके (यानी पति के) आने की प्रतीक्षा करें। यदि पति उनकी जीविका का प्रबंध कर गए हों तो वे दुगुने समय तक उनकी

प्रतीक्षा करें। और जिनके भोजनाच्छादन का प्रबंध न हो, उनका उनके समृद्ध बंधु बांधव चार या आठ वर्ष पालन पोषण करें। इसके बाद प्रथम विवाह में दिए हुए धन को वापस लेकर दूसरे विवाह के लिये अनुमति दे दें। पढ़ने के लिये बाहर गए हुए ब्राह्मणों की स्त्रियाँ दश वर्ष तक और पुत्रवती बारह वर्ष तक उनकी प्रतीक्षा करें। यदि कोई व्यक्ति राजा के किसी कार्य से बाहर गए हों तो आयुपर्यंत उनकी स्त्रियाँ उनकी प्रतीक्षा करें। यदि समानवर्ण पुरुष से स्त्री के बच्चा पैदा हो जाय तो वह निंदनीय नहीं।'

उपर्युक्त उद्धरण के प्रारंभ के कुछ वाक्य तथा अंतिम वाक्य से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि पति के विदेश जाने पर सवर्ण पुरुष से कामपूर्ति करा लेना अनुचित नहीं है। केवल "अर्थशास्त्र" के आधार पर निश्चित रीति से यह कहना ठीक नहीं कि ऐसी प्रथा उस समय में थी। तथापि कौटिल्य के ग्रंथ के पठन से यही जँचता है कि संकटावस्था में सवर्ण अन्य पुरुष से कामशांति करा लेने पर लोग उस कार्य को निंदनीय नहीं समझते थे। ऊपर के उद्धरण में भी उपर्युक्त अवस्था में स्त्री का पुनर्विवाह करना अनुचित न समझा जाता था। कामशांति की आवश्यकता को कौटिल्य कितना महत्त्व देता था, यह हम ऊपर एक उद्धरण से दिखला चुके हैं। पर उससे बढ़कर एक वाक्य यह है—'तीर्थोपरोधो हि धर्मवधः इति कौटिल्यः—कौटिल्य कहता है कि ऋतुकाल में उपरोध होना (यानी ऋतुकाल में पुरुष का संग न होना) धर्म के नाश हो जाने के बराबर है।' इसी लिये उसने यह अनुमति दी है कि उचित काल तक राह देखकर स्त्री दूसरा विवाह कर ले। हाँ, यथासंभव नजदीक के नातेदार, विशेषकर, मृत पति के भाई उसके साथ विवाह करें। दूसरों के साथ विवाह करने को बहकानेवालों के लिये कौटिल्य ने दंड भी बताया है। तथापि ऐसा जान पड़ता है कि मृत पति के बंधुबांधव न रहने पर या विधवा अपनी इच्छा से दूसरे पुरुष के साथ विवाह कर सकती थी। नियोग की

प्रथा का उल्लेख तीसरे अधिकरण के सातवें अध्याय के प्रारंभ के कुछ सूत्रों में भी है।

आजकल जायदाद तथा धन के संबंध में स्त्री के अधिकार बहुत कम हो गए हैं; पर प्राचीन समय में ऐसी बात न थी। अब तो 'स्त्रीधन' का केवल नाम रह गया है; पर उस समय वास्तव में 'स्त्रीधन' नामक स्त्री के अधिकार का धन रहता था। वह दो प्रकार का होता था। एक तो वह जो परवरिश (वृत्ति) के लिये दिया जाता था, दूसरा वह जो गहने आदि (आवध्य) के रूप में रहता था। वृत्ति का धन कम से कम दो हजार* (पण) रहता था। आवध्य स्त्री-धन की कोई सीमा नहीं। इसके सिवा कदाचित् शुल्क नाम का एक प्रकार का स्त्रीधन और रहता था। कदाचित् यह विवाह के समय प्राप्त हुआ धन हो। स्त्रीधन पर बहुधा स्त्री का और उसके बाद लड़के बच्चों का ही अधिकार रहता था और उसका उपयोग संकटावस्था में अथवा पति के विदेश चले जाने की अवस्था में होता था। धर्मविवाहों के पति भी संकटावस्था में, पत्नी की अनुमति से, स्त्रीधन का उपयोग कर सकते थे। मृत पति के बाद पत्नी यदि दूसरा विवाह करती तो स्त्रीधन पर उसका अधिकार बहुधा नहीं रह जाता था—फिर उस पर उसके लड़के बच्चों का, अथवा पति का अथवा पति के निकट संबंधियों का अधिकार हो जाता था। जो पुरुष अपनी हैसियत के अनुसार स्त्रीधन नहीं दे सकता उसे वास्तव में विवाह न करना चाहिए। कौटिल्य के नियम से स्त्रियों की दुर्दशा थोड़ी बहुत अवश्य कम हो सकती है।

ऐसा जान पड़ता है कि उस काल में हमारे देश में, किसी न किसी रूप में, परदे की रीति थी। तीसरे अधिकरण के २३ वें अध्याय के दो सूत्रों से यह बात स्पष्ट होती जान पड़ती है। वहाँ लिखा है 'याश्चानिष्कासिन्यः प्रोषितविधवा न्यङ्गाकन्यका वात्मानं बिभृयुस्ताः स्वदासीभिरनुसार्य सोपग्रहं कर्म कारयितव्याः' और

* गरीब लोगों के लिये यह मर्यादा बहुत भारी जान पड़ती है।—लेखक

'सूत्रपरीक्षार्थमात्रः प्रदीपः। स्त्रिया मुखसंदर्शनेऽन्यकार्यसंभाष्यायां वा पूर्वः साहसदंडः'। ये बातें सूत्राध्यक्ष के कर्तव्यों के विवेचन में कुछ स्त्रियों से काम लेने के संबंध में कही गई हैं। पहले वाक्य में 'अनिष्कासिन्यः' शब्द आया है। उसका स्पष्ट अर्थ है 'बाहर न निकलनेवाली स्त्रियाँ'। इससे यह प्रगट होता है कि कुछ स्त्रियाँ ऐसी थीं जो बाहर न निकलती थीं। कदाचित् सुखवस्तु गृहस्थों की स्त्रियों में बाहर न निकलने की प्रथा रही हो या कदाचित् आर्य जाति की स्त्रियाँ बाहर न निकलती रही हों। 'अनिष्कासिन्यः' के साथ ही 'प्रोषित विधवा' शब्द आया है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि जिनके पति विदेश चले जाते थे वे बहुधा बाहर न निकलती थीं। जो स्त्रियाँ सूत्रशाला में साफ दिन निकलने के पहले आना स्वीकार करती थीं, उनके सूत्र की परीक्षा के लिये दीपक की आवश्यकता होती थी। पर 'प्रदीप' यानी दीपक का प्रकाश इतना ही रहे कि जितना सूत्र-परीक्षा के लिये नितांत आवश्यक है। उस समय स्त्री के चेहरे की ओर देखना और उससे इधर उधर की अन्य बातें करना मना था। उनके कार्य के लिये किसी प्रकार का पक्षपात अथवा अन्याय दंडनीय होता था। पर हम यह कह सकते हैं कि 'बुरके' की प्रथा न थी। अन्यथा उनके चेहरे की ओर देखने की मनाही करने की आवश्यकता न होती। और जहाँ तक हमने देखा है, बुरके की प्रथा का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष उल्लेख कहीं नहीं है। तमाम बातों को पढ़कर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि अँगरेजी संपर्क के पहले महाराष्ट्र में पुरुषों और स्त्रियों में जितना परदा माना जाता था, उतना परदा उस समय सारे भारतवर्ष में था। इससे यह अनुमान निकालना अनुचित न होगा कि मुसलमानी संपर्क से उत्तर भारत में परदे की प्रथा बहुत अधिक बढ़ गई, परंतु दक्षिण भारत में मुसलमानी संपर्क और प्रभाव कम होने के कारण परदे की प्रथा जितनी प्राचीन काल में थी उतनी ही अँगरेजी संपर्क तक बनी रही।

आज कल कहीं कहीं देवदासियों की प्रथा देख पड़ती है। पंढरपुर के मंदिर में यह प्रथा विशेष है। सूत्राध्यक्ष के अध्याय में ही कौटिल्य के ग्रंथ में देवदासियों का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि यह प्रथा भारतवर्ष में बहुत पुरानी है।

यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि उस समय यहाँ वेश्याओं की भी प्रथा थी। कौटिल्य की शासनव्यवस्था में उनके लिये एक अलग अधिकारी था। राज-दरबार की नियत वेश्याएँ रहती थीं और उन्हें भी वेतन मिलता था। उन पर राजा का इतना अधिकार रहता था कि वह उन्हें किसी से भी संबंध करने को कह सकता था और आज्ञा न मानने पर उन्हें दंड दे सकता था। तथापि यदि कोई पुरुष किसी भी वेश्या से उसकी इच्छा के विरुद्ध संग करता तो वह दंडनीय होता था। 'अकामायाः कुमार्यां वा साहसे उत्तमो दंडः। सकामायाः पूर्वः साहसदंडः। यदि कोई पुरुष कामरहित (वेश्या) कुमारी पर बलात्कार करे तो उसका उत्तम साहस दंड हो, पर यदि वह सकामा वेश्या से ऐसा ही कार्य करे तो उसका प्रथम साहस दंड हो'। यही बात एक दूसरे स्थान पर और कही है 'गणिकादुहितरं प्रकुर्वतश्चतुष्पञ्चाशत्पणो दंडः— यदि कोई पुरुष वेश्या की लड़की के साथ बलात् संग करे तो उसका ५४ पण दंड हो।'

अब हम अन्य प्रकार की प्रथाओं का विचार करेंगे।

उस काल में ग्रीस के समान अपने यहाँ भी दास-प्रथा थी। इसका विचार कौटिल्य ने अपने ग्रंथ के तीसरे अधिकरण के तेरहवें अध्याय में कुछ विस्तार से किया है। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि आर्य लोगों को कोई भी, यहाँ तक कि उनके माँ बाप भी, दास नहीं बना सकते थे—'न त्वेवार्यस्य दासभावः'। इन्हें जो दास बनाता वह अपने रिश्ते के अनुसार तथा दास बनाए मनुष्य की ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य नामक जातियों के अनुसार दंडनीय होता था। ग्रीस में स्वाधीन जाति और दास जाति नामक भेद थे। स्वाधीन जाति

के लोग (free men) कभी दास नहीं बनाए जा सकते थे। दास जाति के लोग सदैव दास बने रहते थे। लड़ाई में पकड़े हुए लोगों को भी दास बना सकते थे। कौटिल्य के विवेचन में आर्य जाति को अरस्तू के स्वाधीन मनुष्य (free men) कह सकते हैं और 'म्लेच्छों' को कुछ अंश में दास जाति वाले कह सकते हैं। यहाँ भी बालिग शूद्रों को दास बना सकते थे और संकटावस्था में आर्य लोग भी अपनी खुशी से दासत्व स्वीकार कर सकते थे। पर दोनों देशों की दासत्व प्रथा में कुछ बड़े बड़े अंतर हैं। ग्रीस में दास बिलकुल 'नाचीज' था, उसे मनुष्य का दर्जा नाम को भी न प्राप्त था—वह पूरा पूरा पशु का दर्जा पा चुका था। पर भारत में ऐसी बात न थी। माना कि यहाँ भी दास बेचे और खरीदे जा सकते थे; पर दासों के बाल बच्चों को उनकी इच्छा के विरुद्ध दास बनाने का अधिकार दास के मालिक को न था; दास की निजी संपत्ति होती थी जिस पर उसका, उसकी स्त्री और बच्चों का अधिकार होता था। हाँ, इन हकदारों के न रहने पर मालिक अपने दास की संपत्ति का अधिकारी होता था। दासों के प्रति अथवा उनकी स्त्री या संतान के प्रति अश्लील या अनुचित व्यवहार करना बिलकुल मना था। अपना मूल्य देकर दास मुक्त हो सकते थे यानी स्वतंत्र मनुष्य की पदवी पा सकते थे। फिर उनको कोई दासता की बेड़ी में जकड़े न रख सकता था। दासों से पाखाना, पेशाब या जूठन उठवाना मना था। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि यहाँ के दास बँधे हुए नौकर थे, ग्रीस के आजन्म और जन्म-जात दास जैसे वे नहीं थे। ग्रीस के दास तो किसी जानवर या निर्जीव वस्तु से किसी प्रकार अच्छे न थे।

खेती के संबंध की कुछ प्रथाओं का विचार करने लायक है। अब भी सारे भारत में बोनी के पहले देवी देवताओं को पूजनादि द्वारा प्रसन्न करने की रीति है। यह रीति उस प्राचीन काल से चली आती है, और इसमें कोई आश्चर्य नहीं क्योंकि कृषिकार्य

का महत्त्व यहाँ बहुत प्राचीन काल से बना आ रहा है। कौटिल्य ने कहा है कि एक मुट्ठी बीज को सुवर्ण के जल से भिगो दिया जाय और फिर उसे बोते समय यह मंत्र पढ़ा जाय—'प्रजापतये काश्यपाय देवाय च नमः सदा। सीता मे ऋध्यतां देवी बीजेषु च धनेषु च।' इसके अनंतर बोनी की जाय। आजकल जो लोग स्वयं खेती नहीं करते वे भिन्न भिन्न प्रकार की शर्तों में से किसी एक प्रकार की शर्त पर अपनी जमीन दूसरे किसी को बोने के लिये दे देते हैं। उनमें से एक रीति यह रहती है कि उपज का आधा मालिक ले और आधा बोनेवाला। इस रीति में मालिक अपना लगान देता है और बोने के लिये लगनेवाला सारा खर्च और श्रम बोनेवाले के जिम्मे रहता है। यह 'अधिया' या अधबटाई की रीति उस समय भी थी। इसका उल्लेख ग्रंथ के दूसरे अधिकरण के २४वें अध्याय में है। 'वापीरिक्तमर्धसीतिकाः कुर्युः'। जिन खेतों में बीज न बोया जा सके उनमें 'अधिया' या अधबटाई पर खेती करनेवाले किसान खेती करें।

आजकल भी बेगार की प्रथा करीब करीब सारे भारतवर्ष में है। यदि लोग सहायता न करें तो सरकारी अफसरों का काम चल ही न सके। इसलिये कौटिल्य ने उसे नियम-विहित कर दिया है। तीसरे अधिकरण के १० वें अध्याय में एक स्थान पर कहा है—'ग्रामार्थेन ग्रामिकं व्रजंतमुपवासाः पर्यायेणानुगच्छेयुरननुगच्छंतः पणार्धपणिकं योजनं दद्युः—जब गाँव का मुखिया गाँव के किसी काम के लिये बाहर जावे, तो ग्रामनिवासी अनुक्रम से उसके साथ जावें। न जाने पर १½ पण प्रति योजन के हिसाब से दंड दें'। आजकल की प्रथा में इतना कर दिया गया है कि बेगार का काम करनेवाले को कुछ निश्चित मजदूरी देने के लिये सरकारी नियमों में अवश्य कहा रहता है। यह बात अलग है कि कुछ अफसर उन गरीबों की मजदूरी को भी हड़प लेते हैं।

धर्म के नाम से आजकल जो अनेक बातें होती हैं उनमें से बहुतेरी उस समय भी थीं। उन्हीं में से एक प्रथा यह है कि कुल के बड़े लोगों की मृत्यु पर, देवों के नाम पर, कुछ जानवर छोड़ देते हैं। यह प्रथा बहुत पुरानी है। चौथे अधिकरण के तेरहवें अध्याय में एक स्थान पर कहा है—'देवपशुमृषभमुक्षाणं गोकुमारीं वा वाहयतः पंचशतो दंडः—देवता के नाम पर छोड़े हुए पशु, सांड़, बैल, या बछिया को जो कोई पुरुष जोते उसे ५०० पण दंड दिया जाय।'

आजकल जिस प्रकार नाबालिगों की जायदाद के लिये ट्रस्टी बनाने की प्रथा है उस प्रकार उस समय में भी थी, ऐसा जान पड़ता है। दूसरे अधिकरण के पहले अध्याय में एक स्थान पर कहा है—'बालद्रव्यं ग्रामवृद्धा वर्धयेयुराव्यवहारप्रापणात्—बालक की संपत्ति को ग्रामवृद्ध (ग्राम के बूढ़े लोग) उसके बालिग होने तक बढ़ाते रहें'।

यदि चुपचाप या कठिन स्थान से अपने राजा को सूचना देने का काम उसके अधिकारियों को करना पड़ता था, तब अन्य उपायों के अलावे पालत कबूतरों से भी काम लेते थे। इसका उल्लेख दूसरे अधिकरण के ३४वें अध्याय में है।

विवाह करने के पहले, संकटावस्था में स्त्री के पालन पोषण के हेतु, दो हजार (पण ?) अलग रखने का नियम कौटिल्य ने बताया है—'परद्विसाहस्रा स्थाप्या वृत्तिः।' इससे तथा इसके खर्च के विषय के नियमों से ऐसा जान पड़ता है कि यह धन किसी सुरक्षित स्थान में रखा जा सकता था। तीसरे अधिकरण के पाँचवें अध्याय में स्पष्टतया कहा है—'अप्राप्तव्यवहाराणां देयविशुद्धं मातृबंधुषु ग्रामवृद्धेषु वा स्थापयेयुर्व्यवहारप्रापणात्प्रोषितस्य वा—बालिग होने तक नाबालिगों की संपत्ति, ठीक ठीक हिसाब के साथ, उनके मामा अथवा गाँव के वृद्ध विश्वासी पुरुषों के पास रख दी जावे; विदेश में गए हुए पुरुष की संपत्ति का भी इसी तरह प्रबंध होना चाहिए'। इस वाक्य में तो ट्रस्टी-पद्धति स्पष्ट देख पड़ती है। और यह देख-

कर हमें कोई आश्चर्य न होना चाहिए। जहाँ पंचायत प्रथा बहुत बढ़ी चढ़ी थी, वहाँ ट्रस्टी-पद्धति का होना उसका एक अवश्यंभावी परिणाम है। यहाँ धरोहर की रीति भी थी। इसके नियमों का विवेचन तीसरे अधिकरण के बारहवें अध्याय में है।

स्त्री के प्रसूता होने पर प्रथम दस दिन उसका छूआछूत आज-कल बहुत माना जाता है। इसलिये प्रथम दस दिन के लिये उसका निवासस्थान रोज के स्थानों से कुछ भिन्न रखा जाता है। कौटिल्य के समय में प्रसूता का आज जैसा छूआछूत माना जाता था या नहीं यह तो नहीं कह सकते, पर उसके लिये दस दिन के वास्ते एक अलग कामचलाऊ निवास-स्थान अवश्य बनाया जाता था। इसका उल्लेख तीसरे अधिकरण के आठवें अध्याय में है।

---

(६) प्राचीन आर्यावर्त्त और उसका प्रथम सम्राट्

[लेखक—श्री जयशंकर प्रसाद]

पाश्चात्य विद्वानों ने संसार की सबसे महान् और प्राचीन पुस्तक ऋग्वेद और उसके परिवार के शास्त्रीय ग्रंथों का अनुशीलन करके हमारी ऐतिहासिक स्थिति को बतलाने की चेष्टा की है, और उनका यह स्तुत्य प्रयत्न बहुत दिनों से हो रहा है। किंतु इस ऐतिहासिक खोज से जहाँ हमारे भारतीय इतिहास की सामग्री बनने में बहुत सी सहायता मिली है उसी के साथ अपूर्ण अनुसंधानों के कारण और किसी अंश में सेमेटिक प्राचीन धर्मपुस्तक (Old Testament) के ऐतिहासिक विवरणों को मानदंड मान लेने से बहुत सी भ्रांत कल्पनाएँ भी चल पड़ी हैं। बहुत दिनों तक पहिले, ईसा के २००० वर्ष पूर्व का समय ही सृष्टि के प्राग् ऐतिहासिक काल को भी अपनी परिधि में ले आता था। क्योंकि ईसा से २००० वर्ष पूर्व जलप्रलय का होना माना जाता था और सृष्टि के आरंभ से २००० वर्ष के अनंतर जल-प्रलय का समय निर्धारित था—इस प्रकार ईसा से ४००० वर्ष पहले सृष्टि का आरंभ माना जाता था। बहुत संभव है कि इसका कारण वही अंतर्निहित धार्मिक प्रेरणा रही हो जो उन शोधकों के हृदय में बद्धमूल थी। प्राय: इसी के वशवर्ती होकर बहुत से प्रकांड पंडितों ने भी, ऋग्वेद के समय-निर्धारण में संकीर्णता का परिचय दिया है। हर्ष का विषय है की प्रत्नतत्त्व और भूगर्भ शास्त्र के नए नए अन्वेषणों और आविष्कारों ने मानव जाति के प्राग् ऐतिहासिक काल को, और उसके साथ ही आर्य संस्कृति को भी अधिक पुरातन कर दिया है। फलत: उस काल की सीमा विस्तृत हो चली है।

F. G. C. Hearenshaw अपने 'संसार के इतिहास*' पृष्ठ ३३ में लिखते हैं—"पिछले कई बरसों से मिस्र की प्राचीनता में विश्वास बढ़ रहा था। उसके मितीवार इतिहास का क्रम तो प्रायः ई० पूर्व ४००४ वर्ष से चला; पर इसके भी हजारों बरस पहिले से वहाँ के लोग सुसंगठित जीवन व्यतीत कर रहे थे। अब वर्तमान काल की खोजों और उपलब्धियों ने प्राचीनता का अधिकार बेबिलोनिया की सभ्यता को देने का निश्चित अभिमत दिया है। इसके अतिरिक्त बैबिलोनिया की सभ्यता के पूर्व उससे भी कुछ अधिक पुरानी सभ्यता इलाम की है*।"

सभ्यता का प्रश्न हल करने के लिये अवशिष्ट चिह्नों से काम लिया जाता है और यही उसकी प्राचीनता के मापक हैं। अभी कुछ दिनों पहिले तक भारतवर्ष में खोदाई का काम पूर्णतः न होने के कारण ईसवी पूर्व छठी शताब्दी से पहले के कोई चिह्न न मिले थे, और इस कारण आर्य्य संस्कृति की प्राचीनता में संदेह किया जाता था। केवल ऋग्वेद के मंत्रों से सामाजिक और साहित्यिक विकास के अनुमान पर अधिक से अधिक २००० वर्ष ई० पूर्व की आर्य्य सभ्यता में पाश्चात्य अपना विश्वास प्रकट कर रहे थे। पर हरप्पा और मोहंजोदरो की हाल की खोदाई ने, कुछ पत्थर के टुकड़ों को ही

* Egypt until the last few years has been generally regarded as having the best title to priority: its calendar was fixed in or about 4004 B. C., and for a thousand years before that it had lived a more or less settled life. But the weight of modern evidence seems to be definitely establishing a claim to a still earlier antiquity on behalf of the civilisation of Babylonia; while behind the Babylonian civilisation there seems to lie a still more primitive civilisation of Elam.

(P. 33, World History; F. G. C. Hearenshaw.)

प्रामाणिक महत्ता देनेवालों की आँखें खोल दी हैं, जिसकी प्राचीनता को डॉक्टर मार्शल-जैसे विद्वानों ने भी पैंतीस सौ ईसवी-पूर्व की माना है। प्राय: इतना ही समय Breasted आदि विद्वान् मिस्र के पिरामिडों को देते हैं। सर मार्शल लिखते हैं—'जैसे जैसे खोदाई का कार्य्य अधिक विस्तृत होता गया, यह प्रमाणित होने लगा कि भारत से मेसोपोटामिया का संबंध, केवल संस्कृति की समानता के आधार पर नहीं था, किंतु दोनों देशों में गाढ़तम व्यापारिक और अन्य संपर्कों के कारण था। इसी लिये "इंडो-सुमेरियन सभ्यता" शब्द को हटाकर उसके स्थान पर "सिंधु की सभ्यता" रखा गया*।"—

इस "इंडो-सुमेरियन" सभ्यता का विश्वास करने का कारण, प्रोफेसर 'इलियट स्मिथ' जैसे विद्वानों की सम्मति है। वे लिखते हैं—"सुमेरिया की मूल जाति की पूर्वीय और पश्चिमीय शाखाएँ ही क्रमश: भारत और बृटिश द्वीपपुंज एवं आयर्लैंड में पहुँचीं†।" उसी ग्रंथ की भूमिका के पृष्ठ ३० में लिखा है—"आधुनिक खोजों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि बैबिलोनिया के

* With the progress of exploration, however, it has become evident that the connection with Mesopotamia was due, not to actual identity of culture, but to intimate commercial or other intercourse between the two countries. For this reason the term "Indo-Sumerian" has now been discarded and "Indus" adopted in its place.—(B. H. U. Magazine, 1928.)

† This distinguished ethnologist is frankly of opinion that the Sumerians were the congeners of the pre-Dynastic Egyptians of the Mediterranean (or Brown race), the eastern branch of which reaches to India and the western to British Isles and Ireland.
—P. 7, Myths of Babylonia.

सुमेरियन, प्राग् ऐतिहासिक काल के मिस्र-निवासी, प्रस्तर युग के योरोपीय तथा दक्षिण फारस और भारत के आर्य्य एक ही जाति के मनुष्य थे* ।"

अभी तक सुमेरिया की सभ्यता को सबसे प्राचीन मानने के कारण 'इंडो-सुमेरियन' नाम देना निर्बाध समझा जाता था, किंतु अत्यंत नई खोजों ने ऐतिहासिकों को सिंधु की एक स्वतंत्र सभ्यता मान लेने के लिये विवश किया। इस प्रकार इन शोधों के आधार पर ही अब यह कहा जा सकता है कि अवशिष्ट चिह्नों के द्वारा भी भारत अपनी प्राचीनता प्रमाणित कर सकता है। यद्यपि आर्य्यों की आत्मवाद-प्रणाली अत्यंत प्राचीन काल से ही भौतिक सत्ता के प्रदर्शनों में उतनी श्रद्धा न रखती थी, ऐसा मेरा अनुमान है, ऋषियों की वाणी में माननीय महत्त्व को अमर कर रखने की शक्ति पर ही उनका विश्वास था, फिर भी कौन कह सकता है कि कितने स्मृति-चिह्न अभी दबे पड़े हैं। कितने ही बर्बर आक्रमणों से आर्य्य साहित्य का जितना विनाश हुआ है, उसका अनुमान करना भी कठिन है। इसलिये ऐतिहासिक विवरणों का अभाव होना कुछ असंभव नहीं। यद्यपि 'परजीटर' (Pargeter) आदि ने पुराणों की प्रामाणिकता में अधिक विश्वास प्रकट किया है तथापि सभ्यता के उद्गम को, जहाँ तक हो सके, पश्चिम में स्थापित करने की प्रेरणा ने शोधकों को उनसे सहमत नहीं होने दिया। यद्यपि, भौतिक अवशिष्ट चिह्नों पर ही इन शोधक विद्वानों का अधिक विश्वास है, जैसा हम ऊपर कह आए हैं, तथापि, वे अनुसंधान में पुस्तक-

* The results of modern research tend to establish a remote racial connection between the Sumerians of Babylonia, the prehistoric Egyptians, and the Neolithic (Late Stone Age) inhabitants of Europe, as well as the southern Persians and the "Aryans" of India.

—P. XXX, Myths of Babylonia.

अभिलेख और विवरणों के संबंध में अपनी उस मूल मनोवृत्ति से प्रभावित हुए बिना न रह सके। ईसवी पूर्व तीसरी शताब्दी में होनेवाले मिस्र देश-वासी धर्मयाजक 'मनेथो' (Manetho) ने अपने देश के इतिहास में जिन राजाओं के तीस वंशों का वर्णन किया है, उन्हें प्रामाणिक मान लेने के लिये प्रोफेसर 'फ्लिंडर्स पिट्री' (Flinders Petrie) ने अधिक आग्रह किया है। बाबुल का धर्मयाजक बेरोसस (Berosus) ईसवी पूर्व तीसरी शताब्दी में हुआ, जिसने ग्रीक भाषा में अपने देश का कुछ वृत्तांत लिखा था। अब उसके आधार पर उक्त देश का इतिहास बनाने और धार्मिक सामंजस्य स्थिर करने का प्रयत्न किया जाता है। उसी तरह, ईसवी-पूर्व चौथी शताब्दी के ग्रीक राजदूत 'मेगास्थनीज' ने भारतीय इतिहास का समय तत्कालीन पुराणों के आदिम रूप से निर्धारित किया है और उस पूर्वकाल में भी भारतीयों के प्राचीन इतिहास का विवरण महीनों और वर्षों के साथ राजाओं की संख्या के उल्लेख से पूर्ण है। 'मेगास्थनीज' ने ६४५१ वर्ष और ३ महीने चंद्रगुप्त से पहिले १५४ राजाओं का राज्य करना लिखा है, किंतु भारतीय इतिहास लिखनेवाले पाश्चात्य विद्वान् इस ओर ध्यान भी नहीं देना चाहते।

मिस्र, चैल्डिया, बाबिलोनिया, इलाम आदि देश अपने धार्मिक अनुष्ठान और जातियों के सहित कुछ मिट्टी और पत्थर के चिह्न छोड़कर मिट गए, पर आर्य्यावर्त्त या सिंधु की गोद में अभी आर्य्य-जाति अपने धर्मानुष्ठानों के साथ जीवित है।

तिलक ने ज्योतिष के आधार पर अपने अन्वेषणों से यह प्रमाणित किया है कि बहुत से वेदमंत्र छः हजार वर्ष ईसवी पूर्व से पीछे के नहीं है। मेगास्थनीज़ के भारतीय इतिहास के विवरण से अविरुद्ध होने के कारण भी हमारी सभ्यता उक्त काल से और पहिले की ही मानी जा सकती है।

इसलिये बाइबिल-वर्णित जलप्रलयवाले नूह की संतान—हेम, सेम या यापेत के वंशधरों—का उल्लेख करके संसार के प्राग् ऐति-

हासिक काल के आर्य्यों का इतिहास बनाया जाना अधिक भ्रमात्मक ही सिद्ध होगा। क्योंकि, ऋग्वेद का समय उस जलप्रलय के समय से पहिले का है। ऋग्वेद की ऋचाओं में जलप्रलय का वर्णन नहीं मिलता, जैसा पीछे के अथर्वमंत्रों में उसका उल्लेख है। मेरा विश्वास है कि सुमेरिया के जलप्लावन में 'पीर निपीश्तीम्' का जो वर्णन है, वह एक कल्पना है, जो जलप्लावन से बच जाने के बाद वहाँ के निवासियों ने गढ़ी थी। जलपुत्र वा जल-शक्ति का नाम ऋग्वेद में अपान्नपात् है। अवेस्ता में भी अपान्नपात् जल के देवता माने गए हैं। मंडल २—३५ का सूक्त उन्हीं की प्रार्थना में है। वहाँ वह जलपुत्र हैं। सुमेरियावालों ने जलप्रलय से बचने पर इन्हीं आर्य्य देवता को त्राणकर्त्ता का रूप दिया था। उनके पीर निपीश्तीम् (Pir Nepishtim) भी जल के बीच में द्वीप के रहनेवाले देवता थे। जैसा आगे चलकर दिखलाया गया है, ये सुमेरियावासी भी आदिम आर्य्य-संतान ही थे; उससे इनका ऋग्वैदिक देवता से परिचित होना असंभव नहीं। किंतु अपनी रक्षा का संबंध जो इन्होंने उक्त देवता से जोड़ लिया है, उससे प्रतीत होता है कि यह घटना ऋग्वेद से पीछे की है। अन्यथा, ऋग्वेद में भी जलप्रलय का प्रसंग आता।

अभी तक यही विश्वास था कि ऋग्वेद से पीछे के शतपथ ब्राह्मण में जिस जलप्रलय का वर्णन मिलता है वह सेमेटिक जाति के बैबिलोनियावालों से उधार लिया हुआ है; किंतु, मैकडानल के विचार से यह एक अनावश्यक कल्पना है*। अब मैकडानल के विचार की पुष्टि भूगर्भ शास्त्र के विद्वानों-द्वारा भी होने लगी है। हिमालय की खोज करके लौटे हुए Dr. E. Trinkler का अभि-

* It is generally regarded as borrowed from a Semitic source, but this seems to be an unnecessary hypothesis.

—P. 139, Vedic Mythology.

मत १९ अक्टूबर सन् २८ के 'पायनियर' में प्रकाशित हुआ है। उनका विचार है कि बालू में दबे हुए प्राचीन नगरों के चिह्न इस बात को प्रमाणित करते हैं कि हिमालय और उसके प्रांत में भी जलप्रलय वा ओघ का होना निश्चित सा है।

'सिंधु की सभ्यता' प्राचीन सुमेरियन सभ्यता से संस्कृति की विशेषता के कारण जब विभिन्न मान ली गई है, तब वह 'मेना' (Mena) के मिस्र-विजय ('ब्रिस्टेड' Breasted के मतानुसार) ३४०० बी० सी० से पूर्व की ही प्रमाणित होगी। मिस्र की प्राथमिक सभ्यता से पहिले ही सिंधु की घाटी में नागरिक सभ्यता का विकास हो चुका था, जिसके लिये और भी हजारों वर्ष पहले का समय चाहिए। वह सिंधु की सभ्यता ऋग्वेद के आर्य्यों की सप्तसिंधु वाली सभ्यता से भिन्न नहीं प्रमाणित होगी।

जब हम देखते हैं कि ग्रीकों के हरक्यूलिस की जन्मभूमि मेगास्थनीज के कथनानुसार आर्य्यावर्त है, टाह (Ptah) ने पूर्व से ही जाकर मिस्र में सभ्यता फैलाई, और सुमेरिया के आदि-निवासी और भारत के आर्य्य एक ही वंश के हैं, तब हम उस प्राचीन ऋषि के इस कथन को क्यों न सत्य मान लें—

> एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
> स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

अब सबसे पहिले हमें उस देश को खोजना होगा जहाँ ये अग्रजन्मा उत्पन्न हुए। आर्य्यों के अग्रजन्मा देव थे, ऐसी ही अनेक विद्वानों और आर्य्य शास्त्रों की सम्मति है। देवगण की प्रधान भूमि का पता आर्य्य-साहित्य में 'मेरु' नाम से लगता है।

कहा जाता है कि मेरु पर देवताओं का स्वर्ग है। पांडवों के महाप्रस्थान की यात्रा में उत्तर कुरु के समीप ही मेरु और स्वर्ग का वर्णन मिलता है। आदि पर्व (१२२ अध्याय) के अनुसार पांडव पहले किंपुरुषवर्ष पहुँचे, फिर उत्तर हरिवर्ष गए, और तब उत्तर कुरु के द्वार पर पहुँचे। इस उत्तर कुरु को विजय करने से वे

रोके गए और उनसे कहा गया कि यह देवभूमि है। यहाँ से कुछ उपहार लेकर वे लौट आए।

'बृहत्संहिता' में उत्तर प्रदेश के प्रसंग में कहा गया है—

उत्तरतः कैलासो हिमवान् वसुमान् गिरिर्धनुष्मांश्च।
क्रौंचो मेरुः कुरवो तथोत्तराः क्षुद्रमीनाश्च॥ १४--२४॥

मेरु और उसके पास ही उत्तर कुरु का वर्णन है। कई प्राचीन ग्रंथों में मेरु के समीप ही उत्तर कुरु का नाम आने से प्रतीत होता है कि ये दोनों देश और पर्वत पास पास के हैं। यह उत्तर कुरु प्रदेश भारतीय उपाख्यानों में पवित्र और पूर्वजों का देश माना जाता है। भीष्म पर्व में इसका विशद वर्णन है। यहाँ के लोग शुक्ल (गौरवर्ण) अभिजात, संपन्न, नीरोग और दीर्घजीवी होते हैं। इस प्रदेश का अनुसंधान लग जाने से मेरु का पता भी चल सकता है। सामश्रमी महोदय लिखते हैं—"अस्ति चान्यः कुरुवर्षः स नूनं मेरुसम्बद्धः।" किंतु, वे उत्तर कुरु को तिब्बत मानते हैं। परंतु तिब्बत की प्राचीन सीमा आजकल की शासन-सीमा से निर्दिष्ट नहीं की जा सकती। वर्तमान तिब्बत काश्मीर के द्वारा उसी भूमि से संलग्न है जिसे हम आगे चलकर बतावेंगे।

युधिष्ठिर के राजसूय में तंगण देश के निवासियों ने कुछ उपहार दिए थे। ये लोग मेरु और मंदराचल के बीच बहनेवाली शैलोदा-नदी के तट के रहनेवाले थे (सभापर्व ५२ अध्याय)। इधर 'बृहत्संहिता' में तंगण देश वर्तमान कुल्लू के पास ही निर्दिष्ट किया गया है—

"अभिसारदरदतंगणकुलुतसैरिंध्रवनराष्ट्राः"

—(१४—२९)

ग्रीकों ने अभिसार देश (Abissorian) सिंधु और झेलम के बीच में माना है और काकेशस (हिंदूकुश) पर्वत के पाददेश में बसनेवाली जातियों का उल्लेख करते हुए मेगास्थनीज ने शैलोदा

(Soleadae.) जाति का भी वर्णन किया है। यह शैलोदा नदी-तट की जाति है, जिसका वर्णन सभापर्व ५२ अध्याय में है।

वेंदिदाद फरगर्द १ में पारसियों की पवित्र भूमि का वर्णन है। अहुरमज्द कहते हैं—

तीसरी पवित्र भूमि जो मैंने बनाई वह दृढ़ और पवित्र मौरु है*। चौथी अच्छी भूमि उन्नत पताकावाली बखधी (वाल्हीक) है†। पाँचवीं अच्छी भूमि निशय है, जो मौरु और वाल्हीक के बीच में है‡।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मेरु और वाल्हीक (आधुनिक बलख) के बीच 'निशय' प्रदेश था। ऐतरेय ब्राह्मण में हिमालय के उत्तर के दो विराज् प्रदेशों का साथ ही वर्णन किया गया है, वे हैं—उत्तर कुरु और उत्तर मद्र। (८—३—१४)। उत्तर शब्द का प्रयोग जो इन देशों के नाम के साथ आता है उसका तात्पर्य मैं यही समझता हूँ कि ये हिमालय के उत्तर में हैं, और इसका कारण है—मद्र, कुरु और कोशल का हिमालय के दक्षिण में भी अस्तित्व। स्यालकोट (शाकल) को मद्र की राजधानी और अयोध्या को कोशल की राजधानी कहते हैं। ऐसे ही प्रदेशों का संगठन सिंधु के उस पार भी था। फारस के एक बड़े अंश

* The third of the good lands and countries which I, Ahura Mazda, created, was the strong, holy Mouru.—(Darmesteter Vendidad, P. 5.)

† The fourth of the good lands and countries which I, Ahura Mazda, created, was the beautiful Bakhdhi with high-lifted banners.

(The Avestha Vendidad, P. 5.)

‡ The fifth of the good lands and countries which I, Ahura Mazda, created, was Nisaya that lies between Mouru and Bakhdhi.—(P. 5, Vendidad.)

को प्राचीन काल में 'मीडिया' (Media) कहते थे। यह संभवतः उत्तर मद्र था, और अफगानिस्तान तथा फारस का कुछ अंश आरकोशिया (Archotea) कहलाता था। यह उत्तर कोशल था। इसी उत्तर कोशल में (हरिरूध Harirud) सरयू के तट पर वह अयोध्या रही होगी जिसका संकेत, अथर्व के १०—२—३१ मंत्र में—"अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या"—से किया गया है। अवेस्ता में कहा है कि छठी पवित्र भूमि घर छोड़ानेवाली सरयू है। इसके नीचे टिप्पणी में हरयू का प्राचीन पारसीक रूप हरैवा तथा फिरदौसी के अनुसार हरिरूद माना गया है*। हिंदूकुश के पास बलख से लेकर स्वात और उत्तरी काश्मीर तक के प्रदेश को प्राचीन उत्तर कुरु कहा जा सकता है। क्योंकि जिस निशय प्रदेश का वर्णन पारसियों ने किया है उसी का ठीक ठीक प्रसंग ग्रीकों के ग्रंथ में भी पाया जाता है।

सिकंदर जब हिंदूकुश (Indian Cacaussus) पर्वत पर पहुँचा तो ग्रीक लोगों ने उसे काकेशस का विजेता माना। वाल्हीक के पास ही भरत के ननिहाल केकय का वर्णन वाल्मीकि में भी आया है। वह गिरिव्रज हिंदूकुश के खवक या कोहदामन (कोशन) के समीप रहा होगा। कोहदामन का उल्लेख मुगलों की चढ़ाई में भी मिलता है। भरत की यात्रा में इसी को "सुदामानं च पर्वतं" कहा है। संभवतः केकय देश के समीप होने से सिकंदर के साथियों ने उसे काकेशस कहा है। हिंदूकुश से उतरकर

The tenth of the good lands and countries which I, Ahura Mazda, created, was the beautiful Harahvaiti.

(*Foot note.*)—Harauvati; Apaxwaia; corrupted into Ar-rokleg (name of the country in the Arabic literature) and Arghand (in the modern name of the river Arghand-ab).—(P. 7. Vendidad.)

सिकंदर ने वर्तमान चारिकार के समीप 'अलेग्जेंड्रिया' नाम का नगर बसाया। पर्दिकस को सिंधु की ओर जाने के लिये कहकर स्वयं कुभा की ओर चला और चित्राल की घाटी में पहुँचा, क्टेरस को कुनार की घाटी सर करने की आज्ञा दी और स्वयं बाजौर पहुँचकर मसागा (Messaga) का ध्वंस किया, जो वर्तमान मालकंद गिरिपथ के समीप है। फिर उसने निशा प्रदेश और मेरु विजय करने की इच्छा प्रकट की। वर्तमान स्वात और पंजकोड़ा के ऊपर के इस प्रदेश को (Hyperborrians) उत्तर कुरु के नाम से ग्रीकों ने निर्दिष्ट किया है। 'ऐतरेयालोचन' में आचार्य्य सत्यव्रत सामश्रमी इसी सुवास्तु (Suvat) को आर्य्यों की आदिभूमि मानते हैं। "आर्य्यावासस्तदाप्ययं सुवास्तुप्रदेश एवासीत्"—(ऐतरेयालोचन, २४)। इसकी प्रधान नगरी उक्त काल में भी पारसीकों द्वारा कथित निशय (Nsiaya) नाम से विख्यात थी और इसके समीप के शैल को 'मेरोस' (Meros) कहते थे। इस मेरोस (Meros) या मेरु को अब कोहमोर कहते हैं। ग्रीकों ने इस विराट् शैल को त्रिशृंग कहा है और ऋग्वेद ने भी इसे त्रिककुद माना है। विष्णुपुराण में इसी त्रिककुद को त्रिकूट नाम से अभिहित किया है। मेरु का वर्णन करते हुए विष्णुपुराण में लिखा है—

"त्रिकूटः शिशिरश्चैव पतंगो रुचकस्तथा।
निषधाद्या दक्षिणतस्तस्य केसरपर्वताः"॥

तिलक के कथनानुसार मेरु प्रदेश उत्तरीय ध्रुव में है। परंतु इस सिद्धांत को आचार्य सत्यव्रत सामश्रमी और अविनाशचंद्र दास नहीं मानते। क्योंकि, पारसी लोगों के ही कथनानुसार अवस्ता के आर्य्यानावायजो (आर्य्यनिवास) में हिम प्रलय होने पर नायक यम आर्य्यों को लेकर वार प्रदेश की ओर गए। यह वार प्रदेश उत्तरीय ध्रुव के समीप की साइबीरिया मानी जा सकती है, क्योंकि वहाँ के लिये अवस्ता में लिखा है—"अहुरमज्द ने उत्तर दिया, वहाँ प्राकृत और अप्राकृत प्रकाश है......कभी कभी चंद्र, सूर्य्य और

नक्षत्रों के दर्शन नहीं होते, लंबी उषा में वर्ष भर का एक दिन होता है* ।" और इधर "ऐतरेय" में मिलता है कि कश्यप नाम के आदित्य 'महामेरु' नामक पर्वत पर सदा रहकर उसे प्रकाशित करते हैं । इसलिये मेरुप्रदेश वह नहीं हो सकता, जहाँ छः महीने का दिन और छः महीने की रात होती हो । छः महीने का दिन और छः महीने की रात वाले 'वार' प्रदेश की गणना वह नहीं कर सकता जो उसके पहिले आर्य-निवास वा मेरु प्रदेश के २४ घंटे वाले दिन रात के देशों में नहीं रह चुका है ।

संसार का इतिहास लिखनेवाले (Hearenshaw) का मत है कि अब तक के प्रमाणों से यही कहा जा सकता है कि मध्य एशिया में आदिम मनुष्य की उत्पत्ति हुई† ।

तुलनात्मक शब्दशास्त्र के जन्मदाता (Adelung) एडिलंग, जिनका शरीरांत १८०६ में हुआ, काश्मीर को मानव जाति का पालना बताते थे और उसी को स्वर्ग समझते थे‡ ।

जिस सोम का व्यवहार प्राचीन भारत में होता था, वह काश्मीर के उच्च शिखरों पर उत्पन्न होता था और इन हरी-भरी

---

* There are uncreated lights and created lights. The one thing missed there is the sight of the stars, the moon, and the sun and a year seems only as a day.—(PP. 19 and 20, Vendidad.)

† Regions of Central Asia, and it was there, so far as at present we can tell, that, from among the anthropoids, primitive Man emerged.—(P. 12.)

‡ Adelung, the father of comparative Philology who died in 1806, placed the cradle of Mankind in the valley of the Cashmere which he identified with Paradise.—(The Origins of Aryans.)

गहरी घाटियों तथा उच्च शिखरों की भूमि में आर्य्य लोग ऋग्वेद के मंत्रों के संकलन-काल से भी पहले रहते थे* ।

इसलिये देवों का स्वर्ग तथा पारसीकों का प्रथम आर्य्य-निवास (Ariyana Vaijo) अफगानिस्तान, काश्मीर तथा बलख के बीच की रमणीय भूमि थी। इसी की समीपवर्ती शैलमाला तथा उच्च भूमि मेरु के परिवार रूप से आर्य्य साहित्य में अत्यंत पवित्र मानी गई है। लिंग पुराण में लिखा है—

मानसोपरि माहेंद्री प्राच्यां मेरोः स्थिता पुरी ।
दक्षिणे भानुपुत्रस्य वरुणस्य तु वारुणे ॥
सौम्ये सोमस्य विपुला तासु दिग्देवताः स्थिताः ।
अमरावती संयमिनी सुषा चैव विभा क्रमात् ॥
दक्षिणां प्रक्रमेद्भानुः क्षिप्तेषुरिव धावति ।

मानसरोवर के ऊपर मेरु के पूर्व महेंद्र की नगरी अमरावती, मेरु के दक्षिण यम की नगरी संयमिनी, मेरु के पश्चिम में वरुण की नगरी सुसा (Sussa ?) और मेरु के उत्तर सोम की नगरी विभा है। मेरु की प्रदक्षिणा करते हुए सूर्य क्रम से इन नगरियों के ऊपर से जाते हैं। विष्णुपुराण अध्याय ८ में भी इसी तरह का वर्णन है। छठे श्लोक की टीका में—"सूर्यः प्रत्यहं मेरुं प्रदक्षिणीकुर्वन्नपि—"इत्यादि से मेरु की प्रदक्षिणा का स्पष्ट उल्लेख है। सूर्य के उत्तरायण और दक्षिणायन होने का यही पौराणिक कारण बतलाया गया है।

श्री शंकराचार्य ने—"स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोस्तमेता द्विस्तावदूर्ध्वं उदेतार्वाङस्तमेता साध्यानामेव तावदाधिपत्यम् स्वा-

---

* The Some used in India certainly grew on mountains, probably in the Himalyan high lands of Cashmere. It is certain that Aryan tribes dwelt in this land of tall summits of deep-valleys in very early times. Probably earlier than that when the Rig-hymns were ordered or collected.

Ragozin 170 V. India.

राज्यं पर्येता''। (छांदोग्य ३—१०—४) के भाष्य में इसका यथाकथंचित् समाधान करते हुए लिखा है—''मानसोत्तरमूर्धनि मेरोः प्रदक्षिणा वृत्तितुल्यत्वात्''। फिर आगे चलकर लिखते हैं—''सर्वेषां च मेरुरुत्तरतो भवति।'' मानसरोवर के उत्तर में मेरु की स्थिति मानकर और सूर्य को उसकी प्रदक्षिणा करते हुए समझकर भी मेरु को सबसे उत्तर मानने की कल्पना आचार्य को भूगोल-भ्रमण संबंधी नए आविष्कारों के कारण हुई होगी। किंतु जब सबसे उत्तर में मेरु है तो फिर ऊपर के प्राचीन पौराणिकों के विचारानुसार उक्त मेरु के भी सौम्य अर्थात् उत्तर में सोम की नगरी विभा कहाँ होगी? किंतु आचार्य ने स्वयं इस सिद्धांत में विरोध देखा और इसी के परिहार के लिये उन्होंने स्पष्ट चेष्टा भी की—''अत्रोक्तः परिहार आचार्यैः।'' किंतु इस उपनिषद्, पुराण और ज्योतिष-संबंधी विरोध का स्पष्ट समन्वय नहीं किया जा सका।

ऐसा प्रतीत होता है कि पृथ्वी का अपने अक्षों पर भ्रमण सिद्ध करनेवाले नवीन सिद्धांत के साथ सूर्य की मेरु-प्रदक्षिणावाले प्राचीन विचार का सामंजस्य स्थिर करने के लिये सुमेरु और कुमेरु की कल्पना पीछे से की गई है। क्योंकि, पूर्व-काल में ऐसा माना जाता था कि पृथ्वी अचला है और उसके मध्य में कनक पर्वत मेरु है, तथा सूर्य उस देवभूमि स्वर्ग की प्रदक्षिणा करते हैं। मानस के उत्तर में मेरु का निर्देश करके उसकी चारों दिशाओं में इंद्र, यम, वरुण और चंद्र की चार नगरियाँ मानते थे। सूर्य मेरु के चारों ओर दक्षिणावर्त्त घूमते हुए इन्हीं नगरियों पर से होते हुए परिक्रमा करते हैं। इसी विचार से विष्णु पुराण में लिखा है कि जंबू द्वीप के बीचो-बीच मेरु पर्वत है—

> जंबूद्वीपः समस्तानामेतेषां मध्यसंस्थितः।
> तस्यापि मेरुर्मैत्रेय मध्ये कनकपर्वतः॥
> भारतं प्रथमं वर्षं ततः किंपुरुषं स्मृतम्।
> हरिवर्षं तथैवान्यं मेरोर्दक्षिणतो द्विज॥

रम्यकं चोत्तरे वर्षं तस्यैवानुहिरण्यकम् ।
उत्तराः कुरवश्चैव यथा वै भारते तथा ॥

मेरु के समीप दक्षिण में प्रथम भारतवर्ष है, उसी के पास किंपुरुष है। महाभारत के अनुसार किंपुरुषवर्ष यमुना के उद्गम के पास है। इसी प्रकार पश्चिम और उत्तर के वर्षों का भी वर्णन है। उत्तर कुरु आदि मेरु से संलग्न हैं।

अवगाढा उभयतः समुद्रौ पूर्वपश्चिमौ ।
जंबूद्वीपे महाराज षडिमे कुलपर्वताः ॥
हिमवान्, हेमकूटश्च, निषधो, नील एव च ।
मेरुश्च शृंगवांश्चैव सर्वे रत्नाकराः शुभाः ॥
देवः स्वां नगरीं नित्यं मानसोत्तरमूर्धनि ।
मेरुं तु पश्यति विभुस्ततश्चो मेरुगतां पुरीम् ॥
उदक्शृंगवतोर्धे तु याम्येन कुरुसंज्ञितम् ।
वर्षं तु कथितं दिव्यं सर्वोपद्रववर्जितम् ॥

ऊपर के अवतरणों से प्रमाणित होता है कि मेरु और उत्तर कुरु का ठीक वैसा ही संबंध है जैसा कि ग्रीकों ने मेरु-विजय, निशा प्रदेश और 'हाइपर बोरियन्स' (Hyperborrian) के प्रसंग में लिखा है। इसी मेरु के संबंध में असुरों और देवों के युद्ध का वर्णन है। ग्रीकों ने भी इसी प्रदेश को देखकर कहा था कि पिता दानवेश (Dainesus) ने एक बार स्वर्ग विजय किया था, अब दूसरी बार सिकंदर ने किया। यह कोह मोर वैदिक त्रिककुद और पौराणिक त्रिकूट का एक शृंग है। त्रिकूट के ये तीनों उच्च शृंग पेशावर से ही दिखाई देते हैं। यहीं पर स्वर्ग-सुख का आनंद लेने के लिये सिकंदर ने दस दिन बड़ा भारी महोत्सव मनाया था। उक्त प्रदेश की निसर्ग-रमणीयता का उल्लेख करके ग्रीकों ने बड़े उल्लास से कहा था कि सचमुच यही पृथ्वी का स्वर्ग है।

इस मेरु और स्वर्ग के संबंध में अनेक ग्रंथकारों का उल्लेख करते हुए मेगास्थनीज ने लिखा है कि निशय देश और मेरु भारत-

वर्ष की सीमा के अंतर्गत माने जाते हैं और भारत की यह सीमा सिकंदर के आक्रमण के समय भी मानी जाती थी। यह तो थी मूलभूमि; पर इसके पूर्ण विस्तृत रूप के लिये पिछले काल में और भी दो नाम मिलते हैं—आर्य्यावर्त्त और भारत। यद्यपि इसके संबंध में पुराणों में कितने ही विवरण दिए गए हैं, किंतु अधिक संगत यही मालूम होता है कि वैदिक भरत-जाति की आवास-भूमि होने के कारण ही इसे भारतभूमि कहने लगे थे। समयों का इतना विशेष अंतर है कि इस नाम के साथ काल का निर्देश नहीं किया जा सकता। भृगुप्रोक्त मनुस्मृति में उस काल की आर्य्यावर्त्त की सीमा वर्तमान भारत से संकुचित ही दिखाई देती है। हिमालय और विंध्याचल के बीच की ही भूमि को आर्य्यावर्त्त मानते थे। संभवतः दक्षिण के प्राय-द्वीप से भारत का उस काल में संबंध नहीं था, और उधर निषध पर्वत-माला हिमालय का ही परिवार मानी जाती थी। यहाँ हिमालय साधारण नाम है। स्वर्ग और मेरु का निर्देश करने के अनंतर हमें यह भी देखना पड़ेगा कि आर्य्यावर्त्त का वैदिक विस्तार कितना था। जिन भौगोलिक नदी और पर्वतों का वर्णन वैदिक साहित्य में मिलता है उनसे अधिकृत भूमि को वैदिक काल का आर्य्यावर्त्त मान लेने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

अविनाशचंद्र दास ने वैदिक काल में इस देश को 'सप्तसिंधु' नाम से अभिहित किया है। अधिक ध्यान देने से तो यह मालूम पड़ता है कि उक्त मेरुप्रदेश और तत्संलग्न सप्तसिंधु में आर्य्यों की घनी बस्ती थी। किंतु उतनी ही सीमा में आर्य्य-विस्तार को संकुचित रखने के लिये वैदिक काल के अन्य भौगोलिक प्रमाण वारण करते हैं। दास ने अपने 'ऋग्वेदिक इंडिया' में बड़ी विद्वत्ता से भूगर्भ आदि शास्त्रों के आधार पर सिद्ध किया है कि प्राचीन सप्तसिंधु चारों ओर समुद्रों से घिरा था। उन्होंने उसी प्रदेश को आर्य्यभूमि माना है—जैसा कि आचार्य्य सत्यव्रत साम-श्रमी ने अपने पांडित्यपूर्ण 'ऐतरेयालोचन' में निर्देश किया था।

उक्त दोनों महोदयों ने सिंधु की सहायक नदियों को ही ऋग्वेद के मंत्र ७५—"प्रसप्त सप्त त्रेधारि चक्रमुः प्रसृत्वरीणामतिसिंधुरोजसा"—तथा—"त्रिः सप्त सस्रा नद्यो"—१०—६४—८ मंत्रों में वर्णित नदियाँ मान लिया है। किंतु मेरा अनुमान है कि ये त्रेधा तीन सप्तक मंत्रार्थ के अनुसार ही अलग अलग तीन स्थानों में होने चाहिएँ। और ये तीनों सप्तक अपनी सहायक नदियों के साथ गंगा, सिंधु और सरस्वती के हैं।

"अनुप्रत्नस्यौकसोहुवे"—इत्यादि में प्रत्न ओक = प्राचीन वास-भूमि का जो अर्थ लगाया जाता है, और जिससे यह सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है कि इन लोगों की आदिभूमि कहीं दूसरी है, ठीक नहीं। सामश्रमीजी ने—"पुराणमोकः सख्यं शिवं वां युवोर्नरा द्रविणं जन्हाव्याम्"—३—५८—६ को उद्धृत करके यह दिखलाया है कि समय समय पर व्यक्तिविशेषों की वास-भूमि का इसमें उल्लेख है, न कि आर्य्यों के सामूहिक आवास का। पुराण ओक गंगा-तट पर भी ऋग्वेद के मंत्र से प्रमाणित है। यह गंगा का सप्तक यमुना सदानीरा आदि सहायक नदियों से बनता था। कीकट आदि तक की नदियाँ इसमें गिनी जा सकती हैं। इस सप्तक की पूर्व सीमा सदानीरा थी। सिंधु की सात नदियों का सप्तक प्रसिद्ध है। तीसरा सप्तक सरस्वती का होगा, ऐसा मेरा अनुमान है; क्योंकि ऋग्वेद के छठे मंडल का ६१ वाँ सूक्त सरस्वती की महिमा का गान करता है। उसमें "उतवः प्रिया प्रियासु सप्तस्वसा सुजुष्टा"—कहकर सरस्वती सात बहनोंवाली मानी गई है। सिंधु के सप्तकवाली सरस्वती से ही काम नहीं चल सकता। क्योंकि आगे चलकर उसी सूक्त में—"प्रिया महिम्ना महिनासु चेकिते द्युम्नेभिरन्या अपसामपस्तमा" इस उक्ति से औरों सबों से यह अपस्तमा प्रभूत जलवाली मानी गई है। उधर 'त्रिसप्त सप्त'—वाले मंत्र में—'अति सिंधुरोजसा' है, इसलिये इस सरस्वती को सिंधु के सप्तकवाली सरस्वती से हम भिन्न मानते हैं।

पंजाब की सरस्वती के अतिरिक्त, एक दूसरी सरस्वती भी थी। अवस्ता में जिन पवित्र देशों का वर्णन है, उनमें सप्तसिंधु अलग वर्णित है। जैसे—

पंद्रहवाँ उत्तम देश हप्तहिंदव है*। दसवाँ उत्तम प्रदेश हरह्वैती है। हरह्वैती के दो अपभ्रंश रूप मिलते हैं अररोखाग (अरबी साहित्य में प्रयुक्त देश नाम) और अरगंद (जो आधुनिक 'अरगंद आब' नदी के नाम में पाया जाता है†)।

हप्तहिंदव जिस प्रकार सप्तसिंधु का विकृत रूप है, वैसा ही हरह्वैती सरस्वती का है। अरगंदाब, अफगानिस्तान के कंदहार प्रांत की एक बड़ी नदी है। वर्तमान काल के मानचित्र में हारुत से लेकर कंदहार तक की नदियों का एक सप्तक आप अच्छी तरह से देख सकेंगे, जिसके नीचे जिर्रे (Zirreh) का दलदल और एक रेगिस्तान भी है। अविनाशचंद्र दास ने—"एका चैतत् सरस्वती नदीनाम् शुचिर्यतीगिरिभ्य आसमुद्रात्"—(७-९५-२) के आधार पर पंजाब की सरस्वती का राजपूताना समुद्र में गिरना लिखा है; किंतु और मंत्रों में समुद्र में गिरने का वर्णन नहीं मिलता। अतः जिस प्रकार सामश्रमी ने—"रसाद्वित्वं तु नूनमङ्गीकार्यम्"—से 'रसा' नाम की दो नदियाँ मान लेने की सम्मति प्रकट की है, वैसे ही सरस्वती के लिये भी अवश्य मानना होगा। जैसा हम ऊपर दिखला आए हैं कि सरस्वती अपस्तमा है, वैसे ही और भी प्रमाण उसके अपनी सहायक नदियों में प्रबल होने के मिलते हैं। "प्र क्षोदसा धायसा सस्र एषा सरस्वती धरुणमायसी पूः। प्र बाबधाना रथ्येव याति विश्वा अपो महिना सिंधुरन्याः"—(७—९५—१)—इसमें अपने साथ की

* The fifteenth of the good lands and countries which I, Ahura Mazda, created, was the Seven Rivers.—(P. 9, Vendidad.)

† १६४ पृ० का फुट नोट देखिए।

नदियों से वह प्रबल और एक दूसरी सिंधु के सदृश मानी गई है। इस प्रकार यह सरस्वती का सप्तक दक्षिण-पश्चिमी अफगानिस्तान में ठहरता है।

इसमें दास के मत से भी कोई असंभावना नहीं दिखाई देती। यद्यपि उन्होंने प्राचीन सप्तसिंधु वा आर्यावर्त्त को चतुस्समुद्र से घिरा हुआ माना है, फिर भी वे लिखते हैं कि "सप्तसिंधु उत्तर-पश्चिम की ओर गांधार प्रांत के द्वारा पश्चिमी एशिया या एशिया माइनर से मिला हुआ था।"—पृ० ५६०, ऋग्वेदिक इंडिया। इसलिये चारों समुद्रोंवाली सीमा का सिद्धांत हमारे गांधार के सारस्वत प्रदेश के लिये बाधक नहीं होता।

ऊपर कहे हुए गंगा, सिंधु, और सरस्वती के तीनों सप्तकों की भूमि, वैदिक काल के आर्य्यों का लीला-निकेतन थी। जन्हाव्य अर्थात् गंगा की घाटी, सिंधु और सरस्वती के पवित्र मंगलमय तथा परम प्रिय प्रदेशों के अतिरिक्त अन्य प्रदेशों से भी संहिता-काल के आर्य लोग अपरिचित नहीं थे। अथर्व संहिता के पंचम कांड में परुष, महावृष, मूजवत्, वाल्हीक इत्यादि के नाम तो आए ही हैं, इनके अतिरिक्त तत्कालीन आर्यावर्त्त के अत्यंत पूर्व स्थित मगध का भी उल्लेख मिलता है। परंतु ऋक् संहिता में मगध का भी कीकट नाम से उल्लेख है।—"किं कृण्वंति कीकटेषु गावः। (३-५३-१४)

दास कीकट को ऋक्कालीन प्रदेश नहीं मानना चाहते। वे कहते हैं, पांचाल, कोशल आदि भी उस काल के प्रदेश नहीं थे।—(पृ० ५६१) किंतु विशेष नाम न होने से क्या हुआ जब ऋग्वेद के प्राचीन मंडल (क्योंकि दसवें मंडल को लोग पीछे का मानते हैं)—३-५८-६—में 'जन्हाव्य' गंगा के प्रदेशों का उल्लेख है। सो भी पुराणमोक:—प्राचीन वासभूमि कहकर। अतः गंगा के समीप का वह देश ऋक्-काल का अवश्य है जिसकी पूर्व सीमा में कीकट—(दक्षिणी विहार) देश था। उधर 'आवदिंद्र यमुना तृत्सवश्च'—(७-१८-१९) में यमुना तीरवर्ती देश का भी उल्लेख है; फिर

पांचाल, कोशल, मगध का नाम न होने से कुछ बिगड़ता नहीं। हो सकता है, अत्यंत पूर्व स्थित होने के कारण इनकी बस्ती घनी न रही हो और इन नामों से अलग अलग स्वतंत्र राष्ट्र न स्थापित हुए हों।

ऐतरेय में उत्तर मद्र का भी उल्लेख है। उत्तर मद्र को इसी लेख में पहिले मध्यकालीन मीडिया से अभिन्न माना गया है। उत्तर मद्र पश्चिम और मगध पूर्व में आर्य्यों के प्रभावक्षेत्र से संलग्न थे। पश्चिम में तो—'समुद्रं रसया सहाहुः'—(१०-२२-४) में वर्णित रसा, अर्विस्तान रूम या मेसोपोटामियाँ की, समुद्र में मिलनेवाली, टिगरिस नदी का भी नाम आया है, क्योंकि अवस्ता के अनुसार यह राँघा प्रदेश भी पवित्र माना गया है।

यद्यपि सरमा के उपाख्यान-संबंधी ऋग्वैदिक सूक्तों में रसा के उस पार असुरों की आवास-भूमि का उल्लेख है, परंतु उत्तर मद्र की स्पष्ट सूचना नहीं मिलती। यह प्रदेश ऋक् संहिता-काल में उतना नहीं बसा था; हो सकता है कि इसी कारण ऋक्-काल में इसकी स्वतंत्र आख्या न बनी हो। ऋक्-काल में सरस्वती की घाटी में भी रहनेवाले आर्य्यों से संघर्ष ही चल रहा था। इसी लिये सरस्वती को वृत्रघ्नी कहा है। ऋक् मंत्र १०-२७-१७ में सामश्रमी ने आक्षस नदी का भी उल्लेख माना है। इसलिये उक्त प्रमाणों से गंगा से लेकर वर्तमान हेलमंद की घाटी और वाल्हीक से लेकर दक्षिण के ऋक्-कालिक राजपूताना के समुद्र तक हम आर्य्यों की एक घनी बस्ती मानते हैं, जिसके बीच में मेरु स्थित है। मगध, अंग तथा मीडिया, और मेसोपोटामिया के प्रदेश भी आर्य्य क्षेत्र कहे जा सकते हैं, किंतु इन प्रदेशों में आर्य्यों को अनार्य्यों तथा अपनी ही जाति के भिन्न मतावलंबी अधार्मिकों से बराबर युद्ध और संघर्ष करना पड़ता था।

यहाँ मुझे थोड़ा सा उस बढ़ते हुए विचार पर भी अपनी सम्मति प्रकट कर देनी है, जिसे आजकल बहुत प्रधानता दी जा रही है। वह है आर्य्यों के पहले भारतवर्ष में एक अत्यंत प्राचीन द्रविड़ सभ्यता मानने का सिद्धांत। सो भी ऋग्वेद-काल में। किंतु,

अत्यंत प्राचीन काल में आर्य्य द्रविड़ सभ्यता का संघर्ष असंभव था; क्योंकि द्रविड़ (कृष्ण)जाति की जन्मभूमि दक्षिणी महाद्वीप, राजपूताना समुद्र के द्वारा, प्राचीन आर्य्यावर्त्त से अलग था और वह महाद्वीप वर्तमान अरब दक्षिणी भारत और आफ्रिका को एक में मिलाए था। प्राचीन ऋग्वेद में आप कितने ही समयों के तारतम्य को स्पष्ट देख सकेंगे, किंतु उसके साथ ही—'कृणुध्वं विश्वमार्य्यम्' का सिद्धांत स्पष्ट बतलाता है कि मुख्यत: आर्य्य संस्कृति एक थी, जिसे न माननेवाले उसी प्राचीन जाति के लोग भी अनार्य्य कहलाते थे। ऋग्वेद के आर्य्यावर्त्त में वैदिक सभ्यतावाले आर्य्यों को इन्हीं उच्छृंखल धर्म्म-विहीनों से युद्ध करना पड़ता था जो प्राय: दस्यु-जीवन की ओर अधिक प्रवृत्त रहते थे।

जैसा पहले कहा गया है, दक्षिणी द्रविड़ों से या उनकी सभ्यता से आर्य्यों का संघर्ष होना मानने के लिये कोई विशेष कारण नहीं है, क्योंकि एक तो राजपूताना समुद्र बीच का व्यवधान था दूसरे द्रविड़ों का अधिक आकृति-संबंध भी उन सुमेरियन और सिंधु के अवशिष्ट चिह्नों को छोड़ जानेवाले मनुष्यों से नहीं मिलता। द्रविड़ एक स्पष्ट दक्षिणी महाद्वीप की जाति है जिसका मूल उद्गम दक्षिणी अफ्रिका की कालाहारी अधित्यका (Kalahari Plateau in South Africa) है, जैसा कि Camron Cadle expedition के प्रयास से सिद्ध किया जा रहा है*। यह दक्षिणी द्रविड़ सभ्यता स्वतंत्र रूप से कहीं भी उस प्राथमिक अवस्था से ऊपर न उठी जिसे उन्होंने पहली बार अन्य जाति से ग्रहण किया था। कब कब, कहाँ कहाँ, आर्य्यावर्त्त के इन दिव्य विजेताओं और अफ्रिका के कृष्णों

* I am able definitely to confirm that man emerged in the lap of this mother earth in this strange wild country.—(Dr. Cadle, Pioneer, 17th October, 1928.)

से रक्त-मिश्रण के द्वारा न्यूनाधिक श्वेत-कृष्ण-जातियाँ बनीं, इसका अनुमान करना कठिन है।

इस प्राचीन सप्तसिंधु के अंतर्गत मेरु प्रदेश में ही अग्रजन्मा उत्पन्न हुए। मेरु पर ही स्वर्ग था। पश्चिमी विद्वानों ने हमारे उस प्राचीन इतिहास को 'माइथालोजी' मान रखा है। उनमें इस धारणा का कारण हमारे निरुक्तकार भी हैं। निरुक्त संभवतः उस काल में बना जब कि प्राचीन वैदिक मंत्रों के अर्थ लोगों को विस्मृत हो चले थे। क्योंकि, उसमें कहीं कहीं एक एक शब्द की व्याख्या चार चार प्रकार से की गई है। इसमें निरुक्तकारों का एक और भी उद्देश्य था, वह था वेदों का अपौरुषेयत्व प्रमाणित करना। किंतु स्वयं निरुक्तकार अपने पूर्ववर्ती वेदों के अर्थ-निर्णय में एक ऐतिहासिक मत भी मानते थे। ('तत्को वृत्रः मेघ इति नैरुक्ताः त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः'।) वैदिक मंत्रों के ये अर्थ उपनिषद् और ब्राह्मण-काल की कल्पनाएँ हैं। जब बहुदेववाद और कर्म्मकांड-संबंधी मंत्रों का एकेश्वरवाद के साथ समन्वय होने लगा था और जब 'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः' के सिद्धांत का प्रचार हुआ, प्राचीन ऋग्वेद आदि की मात्राएँ तक गिनी गईं और वे अपौरुषेय बना दिए गए। यद्यपि ऋग्वेद में ही एकेश्वरवाद तो क्या शुद्ध दार्शनिक विचारों तथा आत्मानुभूति की भी झलक दिखाई देती है किंतु देवों का स्वतंत्र अस्तित्व और उनका इतिहास मान लेने के लिये पिछले काल के एकेश्वरवादी और अपौरुषेयवादी प्रस्तुत न हुए।

अब भी सनातनधर्म का बहुदेववाद मूल में प्राचीन ऐतिहासिकों का अनुयायी है और आर्य्यसमाज एकेश्वरवादी निरुक्त का अनुगमन करता है, जिसके अनुसार देवों को वे रूपक-द्वारा मूर्त्तिमान् की गई सर्व शक्तिमान् की शक्तियाँ मानते हैं।

वेदों का अध्ययन करनेवाले पाश्चात्य विद्वानों ने भ्रमवश प्राचीनतर ऐतिहासिक संप्रदाय को न मानकर हमारा इतिहास भ्रामक बना देने के लिये निरुक्त के अर्थ को ही पथप्रदर्शक माना है।

साथ ही माइथालोजी मानते हुए भी उन्हें ऋग्मंत्रों से भूगोल, नदियाँ और ज्योतिष-संबंधी गणनाओं के आधार पर आर्य्य-इतिहास और समय-निर्धारण की सूझी है। तात्पर्य यह कि प्राचीन ऐतिहासिकों का मत सर्वथा निर्मूल न हो सका। रैगोजिन ने वैदिक इंडिया के ३३० पृष्ठ पर लिखा है— 'बहुत से साधारण वैदिक नामों का एक ही सपाटे में अप्राकृतिक शक्तियों और अमर्त्यों से जो संबंध लगाया जाता है, वह ठीक नहीं। वास्तव में कितने ही अंतरिक्ष युद्धों का संबंध प्राकृत मर्त्य वीरों के भयानक संघर्षों से है* ।"

'उस प्राचीन वैदिक काल अथवा वर्तमान संसार के प्राग् ऐतिहासिक काल में आर्यावर्त्त के आर्यों में आकाशी देवताओं की उपासना प्रचलित थी। संभव है वीरपूजा भी उस उपासना का प्रधान अंग रही हो। भौतिक शक्तियों में उनकी प्रबल उपास्य बुद्धि थी और इन सब देवताओं के राजा अथवा एकाधिपति वरुण माने जाते थे। वरुण के राजत्व का वैदिक मंत्रों में कई बार उल्लेख मिलता है। वरुण की उपासना आकाश की सर्वप्रधान शक्ति के रूप में चंद्रमा की उपासना से संबद्ध थी। चंद्रमा में सुधा, ओषधियों की जीवन-सत्ता, माननेवाले लोग थे। असुर शब्द की व्युत्पत्ति (असून् प्राणान् रक्षति) भी इसी का द्योतक है। क्योंकि वेदों में वरुण प्रायः असुर-उपाधि से संबोधित किए गए हैं। इस प्रकार असुरोपासक जन प्राणरक्षक आकाशस्थ वरुण की केवल प्रधानता मानते थे। उस प्राचीन काल में जब विचार-धारा का आकस्मिक

* "And it becomes patent that probably a majority of the common names, which are sweepingly set down as names of feinds and other supernatural agents, really are those of tribes, peoples and men while many an alleged atmospheric battle turns out to have been an honest, sturdy, hand to hand conflict between bona fide mortal champions.—(V. India.)

परिवर्तन हुआ और ज्ञान की विभिन्नता से सामाजिक और धार्मिक संघर्ष चला, तब उन अग्रजन्माओं में दो प्रधान भेद हुए। एक प्राचीन वरुण के अनुयायी असुर और दूसरे इंद्र के अनुयायी सुर। इंद्र के नेतृत्व में देवगण और त्वष्टा के नेतृत्व में असुर लोग रहने लगे। इन्हीं त्वष्टा अर्थात् जरथुष्ट्र, जरत्वष्ट्रि को प्राचीन अहुर्मज्द (Ahurmazd) असुर के उपासक पारसी आर्यों ने अपना आचार्य माना* ।

ऋग्वेद में त्वष्टा और इंद्र के संघर्ष का स्पष्ट विवरण है, जिसके मूल में एक क्षुद्र घटना थी। इस प्रकार प्राचीन आर्यावर्त में ही उन अग्रजन्माओं में पारस्परिक युद्ध होकर उनके दो विभाग हो गए और सरस्वती तट पर वृत्र असुर के मारे जाने से असुरोपासक आर्य धीरे धीरे पश्चिम ईरान की ओर मीडिया तक हटने को बाध्य हुए। ऋग्वेद (२-११-१९) में त्वाष्ट्र दास कहा गया है। यही त्वाष्ट्र वृत्रासुर था, जिसका वध इंद्र ने किया। यों तो इसका नाम वृत्र था पर कहीं कहीं अहि शब्द से भी यह संबोधित किया गया है। "तं दनुश्च दनायुश्च मातेव पितेव च परिजगृहुस्तस्माद् दानव इत्याहुः"—(शतपथ,१-५-२) अर्थात् दनु और दनायु ने माता पिता के समान उसको अपनाया इसलिये उसे दानव भी कहते हैं। दास, असुर और दानव ये सभी विरोधसूचक शब्द हैं।

ऋग्वेद (मंडल १-३२) के—"इंद्रस्यनु वीर्याणि प्रवोचं" इत्यादि मंत्रों में इंद्र के वीर्य और पौरुष का वर्णन है। उसमें वृत्र को मारकर सप्तसिंधु के जलों को मुक्त करने की भी चर्चा है जो उसी सूक्त के १२ वें मंत्र "अजयोगाः अजयः शूर सोममवासृजः सर्तवे सप्तसिंधून्"—में उल्लिखित है। जिस प्रकार त्वाष्ट्र असुर वीर था, उसी प्रकार ऐतिहासिकों के मत से इंद्र का भी एक महावीर

* One of them, Isatvastra, a son of the second wife, subsequently became head of the priestly class. (PP. 15 and 16, Zoroaster by Bernard H. Springell.)

होना असंगत नहीं जान पड़ता। महावीर कहकर इंद्र कई जगह संबोधित किए गए हैं। ऋग्वेद मंडल १०, सूक्त १२० में इंद्र की उत्पत्ति के संबंध में लिखा है—"तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेष नृम्णः।" यह नृम्ण (पौरुष की मूर्ति अथवा मनुष्यों से संपर्क रखनेवाला) भुवन में ज्येष्ठ उच्च स्थान अर्थात् मेरु प्रदेश* में उत्पन्न हुआ। इंद्र का संबंध मनुष्यों से था—"इंद्र क्षितीनामसि मानुषीणां विशां (३-३४)।" दिवोदास इत्यादि आर्यों के युद्ध में इन्होंने बहुत सहायता दी थी। यह सम्राट् भी हुए—"आवदिंद्रं यमुना तृत्सवश्च"—(७-१८-१६) का अर्थ करते हुए सामश्रमी ने लिखा है—यः इंद्रः सम्राट्......इत्यादि। पिछले काल में इसी कारण सम्राटों का ऐंद्र महाभिषेक होने लगा और इंद्र एक पदवी बन गई।

त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को भी सोम के लिये इंद्र ने मारा था। गाथा अहुनावैती और स्पेंतमैन्यु में सोम की निंदा का कारण त्वष्टा के पुत्र का वध हो सकता है। दास ने इस ऐतिहासिक घटना को माईथालोजी से मिला दिया है। वे यह तो मानते हैं कि पुत्रवध से त्वष्टा और उनके अनुयायियों ने इंद्र का विरोध किया, परंतु साथ ही वे कहते हैं कि इंद्र की पूजा भी बंद कर दी गई। पर मैं समझता हूँ कि तब तक इंद्र की पूजा का आरंभ ही नहीं हुआ था। यही घटना तो इंद्र को विशेषता देती है, जो पीछे जाकर उनकी पूजा का कारण बन गई है। वरुण भी तो त्वष्टा के अनुयायियों में एक ही प्रकार से पूजित नहीं हुए; भिन्न भिन्न देशों में उनकी पूजा का प्रकार बदलता रहा।

इसी त्वष्टा और इंद्र के विरोध ने धीरे धीरे देवासुर-संग्राम का रूप धारण कर लिया नहीं तो पहले इनमें मेल ही था। रामायण में तो यहाँ तक लिखा है—

असुरास्तेन दैतेयाः सुरास्तेनादितेः सुताः।
हृष्टाः प्रमुदिता आसन् वारुणीग्रहणात्सुराः॥ (वाल्मीकि)

---

* पृष्ठ १७८ का फुटनोट देखिए।

शतपथ के अनुसार देवता और असुर दोनों ही प्रजापति की संतान थे। किंतु यह सोम-संबंधी झगड़ा बहुत बढ़ा। त्वष्टा की उस समय आर्यों में विशेष प्रतिपत्ति थी। परंतु इंद्र अधिक बलशाली थे। इस झगड़े में एक रहस्य और भी था। इंद्र के कुछ नवीन धार्मिक विचार थे; संभवतः वे सृष्टि के **प्रथम आत्मवादी** थे। उपनिषदों की इंद्र-विरोचन-कथा में इसका दार्शनिक रूप मिलता है, परंतु ऋग्वेद में तो (१०—११९) आत्मस्तुति-परक एक सूक्त ही इंद्र का है। यद्यपि लोगों ने उसे भ्रम से, सोम पिए हुए इंद्र की बहक मान लिया है, परंतु—"अहमस्मि महामहोऽभिनभ्यमुदीषितः"—इत्यादि प्रयोगों को मैं तो ठीक वैसे ही समझता हूँ जैसा पिछले काल में श्रीकृष्ण की आत्मविभूति का वर्णन गीता में है। क्योंकि, ऋग्वेद १०-४८ का सूक्त भी इसी भावना से ओतप्रोत है। देखिए—"अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि शश्वतः। मां हवंते पितरं न जंतवोऽहं दाशुषे विभजामि भोजनम्।" इसके ऋषि भी स्वयं इंद्र हैं।

वरुण भी देव! सो भी कैसे? आकाशस्थ! संसार से बहुत ऊँचे। एक स्वतंत्र महत्ता से इस आत्मवाद का संघर्ष होना अनिवार्य था। ऐसे आत्मवादी प्रत्येक काल के शरियत माननेवालों के कोपभाजन और नास्तिक बने हैं। त्वष्टा (Zarthustra) ने वाह्लीक के पास अपने प्राचीन धर्म का दृढ़ दुर्ग बनाया और धर्म का संस्कार कर असुर-उपासना प्रचलित की।

"वरुत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभि मविं जज्ञानां रजसः परस्तात्।
महीं साहस्रीमसुरस्य मायामग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्॥"

—यजुर्वेद, १३—४४।

में त्वष्टा और वरुण का संबंध और उनकी साहस्री माया का स्पष्ट उल्लेख है। इस संबंध में ऋग्वेद के प्रथम मंडल के स्वराज्यसूक्त (८०) का यह मंत्र भी देखिए—

"अभिष्टनेते अद्रिवो यत्स्था जगच्च रेजते
त्वष्टा चित्तव मन्यव इंद्र वेविज्यते भियार्च्चन्ननु स्वराज्यम्।"—१४
"नहि नु यादधीमसींद्रं को वीर्या परः। तस्मिन्नृम्णमुत-क्रतुं देवा ओजांसि संदधुरर्च्चन्ननु स्वराज्यम्–१५।"

मंत्र-संख्या १४ में साम्राज्य या स्वराज्य स्थापन करनेवाले इंद्र के भय से, त्वष्टा को, काँपते हुए लिखा है। और १५ में देवों का, इंद्र में पूर्ण मनुष्यता (नृम्ण) और ओज के स्थापन की घोषणा है।

'आर्य्यों' की वाणिज्य करनेवाली जाति के पणि लोग उस संघर्ष में असुरों,से मिल गए थे। यही लोग संभवतः प्राग् ऐतिहासिक काल के फिनीशियन लोगों के पूर्वज थे। ऋग्वेद मंडल १०–१०८ के सूक्त में उनका उल्लेख है। इसी संघर्ष के कारण आज भी जरत्वष्ट्र के अनुयायी धर्म्म में दीक्षित होते हुए प्रतिज्ञा करते हैं—"हम देवों को भगाते हैं और अपने को जरथुस्त्रियन् देवविरोधी स्वीकार करते हैं।"*

इस प्रकार प्राचीन काल के पूज्यमान असुर पिछले काल में वेदों में विरोधी माने गए। और, देव लोग ईरानी आर्य्यों के यहाँ शत्रु समझे गए। आज तक ईरानी संस्कृति में देवजादा या कालादेव—सफेद्देव उसी ध्वनि का द्योतक है। एवं अवेस्ता के अनुसार इंद्र शौर्व (शर्व ?) तथा नासत्य दुष्टात्माओं में गिने जाते हैं। 'हाग' (Haug) का भी विचार था कि अहुरमज्द का धर्म, प्राचीन बहु-देववादमूलक वैदिक विचारों से एक धार्मिक विद्रोह रूप था। यद्यपि ऋग्वेद में मंत्रों के संकलन से यह सूचित होता है कि उस काल में वैदिक धर्म, समन्वयवादी हो गया था। उसमें सब प्रकार

---

* I drive away the Daevas, I profess myself a Zarathustrian an expeller of the Daevas, a follower of the teachings of Ahura, a hymn-singer, a praiser of Amshaspands.—(P. 55, Zoroaster.)

की भावनाओं के मंत्र मिलते हैं। फिर भी ईरानी आर्यों ने उसी धर्म के एक प्राचीन समुदाय को विकसित कर स्वतंत्र उपासना का प्रचार किया, जिसमें असुर वरुण की प्रधानता थी और सोमपान इत्यादि के संबंध में कुछ नए सुधार किए गए थे। वैदिक आर्यों में इस तरह दो परस्पर-विरोधी संप्रदाय बन गए। और इसके प्रमाण दोनों के धर्मग्रंथों में मिलते हैं।

यह ईरानी धर्म, वरुण की प्रधानता के कारण, एकेश्वरवादी होने पर भी द्वैत अथवा द्वंद्व का माननेवाला था। अहुर—सब मलिनताओं से परे पवित्रात्मा, और अहरिमान—उसका प्रतिद्वंद्वी दुष्टात्मा। इस प्रकार संसार के भले-बुरे काम बाँट दिए गए। यही सर्पाकृति अहरिमान पिछले काल में अन्य धर्मों के शैतान का रूप धारण करता है, जो स्वर्ग नष्ट करने के लिये उद्यत था। संभवतः इस स्वर्गनाश का संबंध अवेस्ता-वर्णित जल-प्रलय से है।

एक प्रसिद्ध ग्रंथ (Conflict between Religion and Science) में लिखा है कि इस द्वंद्व का समाचार यहूदियों ने पहले-पहल बैबिलोनिया में, जहाँ वे बंदी थे, ७ वीं—८ वीं शताब्दी ई० पूर्व में सुना। प्राचीन बैबिलोनिया, असीरिया और मीडिया के आर्यों की, अहुर वा असुर की उपासना में साम्य देखकर, विशेष कर यहूदियों के मुख से बैबिलोनिया द्वंद्व की गाथा सुनने के आधार पर, यहूदियों की धर्मपुस्तक को सीमा का पत्थर समझनेवाली भूल से यह कहा जाता है कि अपने ध्वंसावशेषों के द्वारा अपनी प्राचीनता का प्रमाण देनेवाले सुमेरिया देश से ही यह धर्म-संस्कार फैला है*।

फिर आगे चलकर पृष्ठ ३३८ में लिखा है कि यह तो हो सकता है कि असुर उपासक संप्रदाय के विकास में उन्नत विचारवाले बैबिलोनिया के धर्माचार्यों की छाप हो और फारस का मित्र धर्म भी

* If the view is accepted that Ashur is Anshar, it can be urged that he was imported from Sumeria.—(P. 327, Myths of Babylonia.)

उसी प्राचीन 'संस्कृतिवाले देश के संदेशवाहकों के प्रचार का परिणाम हो* ।

प्राचीन शिनीर या सुमीर को वर्तमान सभ्यता का जनक मानने के लिये इस प्रकार बहुत से विद्वानों ने अनुरोध किया है, उसके मूल में यही सब कारण हैं। उनके मत से असुर का धर्म पारसियों ने बैबिलोनिया से सीखा।

(Darmistiter)—जैसे अवस्ता के अनुवादक ने तो यहाँ तक कह डाला है—इस धर्म पर ग्रीक-यहूदी और कितने ही धर्मों का प्रभाव है। और Prof. Geldner का मत है कि ये गाथाएँ ही सब से पुरानी हैं जिन्हें कि 'जरथुस्त्र' का संदेश कहा जा सकता है। उनके संबंध में Darmistiter का मत है कि वे अधिक से अधिक ईसवी पूर्व पहली शताब्दी की हैं† ।

किंतु, पक्षपातपूर्ण संकीर्ण विचार में कितना सत्य है, नीचे का अवतरण देखने से उसका पता लग जायगा, और यह जरदुश्त का धर्म वा संप्रदाय कितना प्राचीन है, यह भी आप जान सकेंगे। जैकब ब्रायंट नामी एक सुधी लेखक अपने 'ऐनालेसिस ऑफ ऐंसेंट माईथालोजी' में बहुत से प्रामाणिक लेखकों को उद्धृत करता है, जैसे—'प्लिनी दि एल्डर' प्लुटार्क, प्लेटो, यूडाक्सस इत्यादि,

* It may be, therefore, that the cult of Ashur was influenced in its development by the doctrines of advanced teachers from Babylonia, and that Persian Mithraism was also the product of missionary efforts extended from that great and ancient cultural area.—(P. 338, Myths of Babylonia).

† They can hardly be older than the first century before our era, or even before Philo of Alexandria; for the neo-Platonic ideas and beings are found in them just in the Philonian stage.—(P. LXV, Vendidad.)

और, वह इस सिद्धांत पर पहुँचता है कि 'जरथुस्त्र' नाम एक नहीं अनेक व्यक्तियों का है।

प्लिनी, मूसा से कई हजार वर्ष पहले जरथुस्त्र को मानता है। प्लुटार्क उसे ट्राय युद्ध से ५००० वर्ष पहले का कहता है। 'यूडाक्सस' जरथुस्त्र को प्लेटो की मृत्यु से ६००० वर्ष पूर्व का मानता है। प्लेटो की मृत्यु ३४८ बी० सी० में हुई* ।"

अब आप विचार सकते हैं कि जिस धर्म के आधार पर पवित्र विज्ञान के आकार का निर्माण प्लेटो ने किया और ग्रीस के जिन प्राचीन दार्शनिकों ने जिस जरथुस्त्र धर्म से बहुत कुछ लिया वह पारसी धर्म उनसे भी पीछे का है; ऐसा मानने में पक्षपात है या नहीं। ट्राय का युद्ध १३०० या १४०० ई० पूर्व का माना जाता है। उससे भी ६००० वर्ष पूर्व अर्थात् ७५०० ई० पूर्व में जरत्वष्ट्र प्राचीन

---

* Jacob Bryant, a very careful writer, and as accurate as the knowledge of his day permitted him to be, in his well-known Analysis of Ancient Mythology, published in 1807, in which he deals at some length with the subject of Zoroaster, quotes such fairly reliable writers as Pliny the Elder, Plutarch, Plato, and Eudoxus, amongst many others, and comes to the conclusion that the name of Zarusthra or Zerdusht as given by some, must have been borne by more than one person, and this is possibly correct. It would also account for the tradition that Zarusthra was accorded immortality as a result of his intimate communications with the Creator, Ormuzd. Pliny places him many thousand years before Moses. Plutarch tells us that he lived 5000 years before the war of Troy. Eudoxus considers he lived 6000 years before the death of Plato, which occurred in 348 B. C.—(P. 11, Zoroaster.)

त्वष्टा का होना, ग्रीक दार्शनिकों और इतिहासकारों ने माना है। मेगास्थनीज के दिए हुए राजवंश-संख्या और समय-निरूपण से भी मिलता है। हमारे पुराणों की तालिका जिसका समर्थन करती है, उस समय को क्यों न माना जाय? यदि त्वष्टा का धार्मिक संघर्ष इतना प्राचीन है तो यह बात स्वयं प्रमाणित हो जाती है कि प्राचीन सुमेरिया, इजिप्ट और बैबिलोनिया आदि में प्राचीन असुर-उपासना का धर्म इन्हीं मीडिया में विताड़ित आर्य्यों के धर्म्म का प्रतिबिंब है। इन सब देशों में मित्र वरुण की उपासना ईरानी धर्म-याजकों के प्रचार के द्वारा प्रचलित हुई। और उनकी सभ्यता से ये सब देश आलोकित हुए। अत: यह Indo-Iranian Period इससे सात आठ हजार वर्षों से भी प्राचीन है। इसी काल में सुमेरियन सभ्यता का प्रभात होता है। अब आवश्यक है कि सुमेरिया इत्यादि के संस्कृति-केंद्र होने की परीक्षा की जाय।

त्वष्टा के अनुयायी वृत्र या अहि का निवास ऋग्वेद में निण्य लिखा है—

"वृत्रस्य निण्यं विचरंत्यापो दीर्घतम आशयदिंद्रशत्रु:"

—(१—३२—१०)

यह निण्य प्राचीन सुमेरिया का निन्न नामक स्थान है। अवेस्ता के अनुसार भी Azi Dahak अहि—Bawri बैबिलोन में रहता था। सरमा के उपाख्यान से भी असुर-निवास का रसा के उस पार होना प्रमाणित है। सुमेरु प्रदेश से हटाए जाकर असुर संप्रदायवालों ने वरुण की नगरी सुषा (Sussa), इलाम की राजधानी के पास ही के प्रदेश, को फिर से सुमेर नाम दिया। और Land of Nairi ही आर्य साहित्य में प्रसिद्ध निरय (असीरिया Assyria का ऊपरी प्रदेश) रहा हो तो क्या आश्चर्य है? —"असूर्य्या नाम ते लोका अंधेन तमसा वृता:"—इत्यादि।

अंतत: असीरिया की धार्मिक सभ्यता के संबंध में Myth of Babylonia and Assyria के लेखक को लिखना पड़ा—"संभव

है कि असीरिया के धार्मिक संस्कारों का दूसरा उद्गम फारस हो, क्योंकि असीरिया के असुर भी ठीक फारस के अहुरमज्द के समान पंखदार चक्र में राजा के ऊपर छाया किए हुए दिखाई देते हैं। पवित्र वृक्ष भी पारसियों की माइथालोजी के अनुसार ही असीरिया में सम्मानित था। यहाँ तक कि प्राचीन असीरिया के राजाओं के नाम भी सेमेटिक नहीं थे।"*

असीरिया की सभ्यता सुमेरिया और बैबिलोन की सभ्यता से पीछे की १३००—१४०० बी० सी० की मानी जाती है। इसलिये इन विद्वानों ने उस पर ईरानी सभ्यता की छाप मान लेने में कोई बाधा न देखी। इसके और भी कारण हैं। Dr. Hugo Winkler ने मैत्रायणों Mittanians के एक शिलालेख का उद्धार किया है। उसका समय ईसवी पूर्व १४ वीं शताब्दी अनुमान किया जाता है। वह शिलालेख एशिया माइनर, वर्तमान अंगोरा, के समीप Bagoz Kai में इंद्र, वरुण, नासत्य आदि आर्य्य नामों को अपनी छाती में छिपाए पड़ा था। यहीं तक नहीं, इन मैत्रायणों की ही सहकारी एक और जाति हिटाइट (Hittite) थी जिसने अपनी शूरता से प्राचीन सुमेरिया और बैबिलोनिया के असुर राजाओं को विकंपित कर दिया था। Story of Assyria में Ragozin लिखते हैं कि "चैल्डिया और असीरिया के शिलालेखों में हिटाइट लोगों का नाम 'खत्ती' लिखा है। इसमें संदेह नहीं कि यह उल्लेख मेसोपोटामिया में हिटाइट लोगों के प्राथमिक आक्रमण का प्रमाण है।"†

---

* Another possible source of cultural influence is Persia. The supreme god Ahura-Mazda (Ormuzd) was, as has been indicated, represented, like Ashur, hovering over the King's head, enclosed in a winged disk or wheel, and the sacred tree figured in Persian mythology.—(P. 355. Myths of Babylonia.)

† As "Khatti" is the name invariably given to the Hittites in the Chaldean and Assyrian

इसी का समर्थन Myth of Babylonia के लेख में देखिए—'मेस्पेरो जैसे प्रामाणिक लोगों की भी सम्मति है कि हट्टी या हिटाइट लोगों का जो उल्लेख बैबिलोनिया की 'बुक आव ओमेन' नाम की प्राचीन पुस्तक में है, वह अकाद (Chaldia) के प्रथम सार्गन के भी पहले का है'' ।*

आगे चलकर उसी लेखक ने लिखा है—'विंकलर विश्वास करते हैं कि मित्तानी (मैत्रायण) राज्य हट्टी लोगों की पहली लहर के द्वारा स्थापित किया गया था जो पूर्व से आए थे ।† इन हिटाइट क्षत्रियों के उपास्य देवता थे शतक्रतु (Sutekh) और तार्क्ष्य (Torku)। तार्क्ष्य गरुड़ का वैदिक नाम है'' ।

इन पाश्चात्य विद्वानों के ही विचार से ये मित्रायण और 'खत्ती' एक ही जाति के थे । Old Testament में जाति-विभाग के अनुसार भी ये लोग सेमेटिक नहीं थे । परंतु देखना चाहिए कि उस जाति का असली नाम कितनी चालाकी से छिपाया जाता है । ओल्ड टेस्टामेंट में व्यवहृत विकृत Hittites का प्रचार किया गया है । २८०० ईसवी-पूर्व यानी सार्गन के पहले भी जो उनका नाम क्षत्रिय (Khatti) था, उसका कहीं प्रयोग नहीं । मेरा अनुमान

---

inscriptions, there can be no doubt that this is a record of an early Hittite invasion in Mesopotamia. —(P. 34, The Story of Assyria.)

* Some authorities including Maspero are of opinion that the illusions to the Hatti which is found in the Babylonian Book of omens belong to the earlier age of Sargon of Accad.—(P. 264—Myths of Babylonia.)

† Winkler believes that Mittani kingdom was first established by early waves of Hatti People who migrated from East.—(P. 268, Myths of Babylonia.)

है कि ये आर्य किसी धर्म-संप्रदाय के प्रति उतना आग्रह नहीं रखते थे, जितना अपनी शूरता और विजयों के प्रति। उन्होंने अपना नाम केवल क्षत्रिय ही रखा था।

हीरेनशा (Hearenshaw) अपने संसार के इतिहास पृ० १९ में लिखते हैं—"सबसे पहिले एशिया माइनर की लोहे की खान को खोदनेवाले हिटाइट (खत्ती) लोग ही थे। इस लोहे की सभ्यता के आदि आविष्कारक आर्य्य क्षत्रिय ही थे*"।

Indian Mythical Legend की भूमिका में लिखा है—"साधारणतः यह मानी हुई बात है कि आर्य्य लोगों ने ही घोड़ों को पहले पालतू बनाया जिसके कारण आगे चलकर बहुत से साम्राज्य बने और बिगड़े।"†

मिस्र के इतिहास में भी आर्य्यों के द्वारा ही घोड़े के प्रचार का उल्लेख मिलता है (Egyptian Myth and Legend page 264)। Hyksos ने २२०० ई० पूर्व में मिश्र देश में राज्य किया और इन्हीं आक्रमणकारी इक्ष्वाकुओं ने घोड़े से मिस्र देश को परिचित कराया था। इसके पहिले के पिरामिड बनानेवाले राजाओं में Sonkhkor शंखकार जैसे आर्यध्वनि वाले नाम मिलते हैं। सुमेरिया की जाति के ही ये प्रागैतिहासिक काल के निवासी माने जाते हैं। नीलनद की सभ्यता ने अधिक से अधिक पिरामिड बनानेवालों को ४००० से ३००० बी० सी० के बीच में उत्पन्न किया है। परंतु सिंधु की

* Asia Minor was the region where iron mines were first worked and that the Hittites were the peoples who first conveyed this gift of the gods to men.—(Indian Mythical Legend.)

† It is generally believed that the Aryans were the tamers of the horse which revolutionised warfare in ancient days and caused the great empires to be overthrown and new empires to be formed.—(P. XXX, Indian Mythical Legend.)

सभ्यता ने मार्शल के अनुसार ४००० से ३००० बी० सी० का प्रमाण दे दिया है। इसलिये यह मानने में कोई बाधा नहीं है कि 'ओसेरिस' पूजक मिस्र-निवासियों की प्राग् ऐतिहासिक काल की सभ्यता भी इन्हीं असुर-उपासकों के विराट् द्वंद्व का एक अंश मात्र रही।

H. G. Wells ने जिस Sargon of Accad को विजेताओं में सर्वप्रथम माना है उसके और प्रसिद्ध हम्मूरब्बी के सिंहासनों को कँपानेवाले यही क्षत्रिय थे, जिन्हें Hittite कहकर पाश्चात्य शोधकों ने घपले में डाल रखा है। Khatti जाति की सभ्यता ३००० बी० सी० से भी पहले की है। (देखिए Myth of Babylonia, 263)। Abraham, यहूदियों के सर्वप्रधान व्यक्ति ने Ephron खत्ती से भूमि ली थी। अस्तु।

यह मानी हुई बात है कि प्रसिद्ध सार्गन ने चैल्डिया में सेमेटिक वंश की स्थापना की थी। इसके पहले के शासन करनेवाले सेमेटिक नहीं थे। सार्गन के पहले भी ३००० ई० पूर्व में क्षत्रियों की सभ्यता सुदूर पश्चिमी दक्षिणी एशिया में सूसा से आरमीनिया तक सर्वत्र व्याप्त थी। ये भी आर्य्यों के समान पितृदेवों की ही उपासना करते थे। सेमेटिक लोगों के समान मातृ-उपासक नहीं थे—(Myth of Babylonia, 105)।

आरमीनिया के वान प्रदेश के शिलालेखों की भाषा से Mr. Syce ने प्रमाणित कर दिया है कि पूर्वकालिक आर्मीनियन लोग न तो सेमेटिक थे न तूरानी थे; उनका विचार है, और यह विचार प्रतिदिन पुष्ट होता जा रहा है कि वे क्षत्रिय वंश की एक शाखा थे।*

---

* Mr. Syce has conclusively shown from the language of monuments at Van (वान्न असुर ?) that the Proto Armenians were not Semites neither were they Suranians. He thinks and the conclusion is gaining wider and firmer ground that they were a branch of the great Hittite family.—(P. 205, The Story of the Nation Series—Assyria.)

आर्मीनियन लोग अब तक आर्य जाति के माने जाते हैं, और उस प्रारंभिक काल में भी भाषा के विचार से वे सेमेटिक नहीं थे। आर्य्य भाषा-भाषियों की विजय का संकेत उस प्राचीन प्राग् ऐतिहासिक काल में सुमेरिया और इलाम के लेखों में देखकर पाश्चात्य लोग आश्चर्य तो प्रकट करते हैं, परंतु स्पष्ट आर्यसत्ता स्वीकार करने में उन्हें संकोच होता है। (Myth of Babylonia, 248)।

इन ऊपर के अवतरणों से मुझे यह दिखला देना था कि सुमेरिया और असीरिया इजिप्ट तथा बाबुल में प्रारंभिक काल से ही आर्य्य संस्कृति का प्राधान्य था, और वे उन्हीं आर्यों की संतान थे जिन लोगों ने प्राचीन आर्य्यावर्त्त से देव-असुर-द्वंद्व होने के कारण सुदूर देशों में जाकर अपने लिये घर बनाया और उन देशों में बसनेवाली आदिम जातियों से मिलकर धार्मिक आदान-प्रदान के द्वारा एक नवीन, आर्य्यों से बिलकुल स्वतंत्र, संप्रदाय प्रवर्तित किया। अब यह भी प्रमाणित करना है कि ये असुरोपासक अपने प्राचीन इतिहास को धीरे धीरे भूल चले, कुछ तो धार्मिक मतभेद के कारण और कुछ समय के इतने लंबे अंतर से। इनके धर्मों के मूल में वही असुरोपासना थी; यद्यपि धीरे धीरे उसमें अनार्य्य या सेमेटिक जाति के संसर्ग से अत्यंत प्राचीन समय में ही कुछ नई बातें भी घुस पड़ी थीं। जैसे, स्त्रियों का छाती पीटकर रोना, "ailnu ailnu" कहते हुए चिल्लाना। यह प्रथा असीरिया में प्रचलित थी। संभवतः शतपथ कांड ३, प्रपाठक १ में—'तेऽसुरा आत्तवचसः हेऽलवो हेऽलवो इतिव्वदंतः पराबभूवुः......असुर्य्या हैषा वाग्।" (सायण ने लिखा है—'असुर्य्या असुरेष्वाहिता') इसी का संकेत है। ऐसी ही एक प्रथा बालक-बलि की भी उन लोगों में थी।* यह बालक-

* Considering that human sacrifices and especially of children were a standing institution among other Semetic and Cannanitic races, there can be little doubt that originally in prehistorically remote

बलि पूर्ण रूप से सेमेटिक पूजा थी। पिछले काल के भारतीय उपाख्यानों में क्या ऐतरेय में ही एक ऐसा प्रसंग आया है—रोहिताश्व के बलि का। यह जानकर आश्चर्य होगा कि उस बलि के द्वारा तर्पणीय देवता भी असुर वरुण ही थे, जिनके लिये शुनःशेफ की बलि होती। मालूम पड़ता है, संतानार्थी आज भी जिस प्रकार आसुरी मनौतियाँ करते हैं उसी प्रकार हरिश्चंद्र भी किसी असुर याजक के चक्र में पड़ गए थे। किंतु विश्वामित्र ने यह अनार्य्य और आसुर कर्म्म आर्य्यावर्त्त में न होने दिया और शुनःशेफ की मुक्ति करा दी। बालक प्रह्लाद के वध की किंवदंती भी हिरण्यकश्यप असुर से ही संबंध रखती है।

ऐसे बहुत से अनार्य्य आचार भी उन असुरों के क्रिया-कलाप में थे, किंतु प्रधान असुर आकाशी वरुण की उपासना तब भी सबसे प्रधान थी।

प्राचीन काल के सुमेरियनों का स्वर्ग भी जल में था। इंद्र उस काल के विरोधी देवनायक थे, जब त्वष्टा वरुणसंप्रदाय के आचार्य्य थे और इस इंद्र की रंगभूमि आर्य्यावर्त्त थी। इसका प्रमाण ऋग्वेद और सुमेरियन सभ्यता के पूर्ववर्ती जरथुस्त्र के उदाहरण में विद्यमान है। पिछले काल तक मौर्य्यों के समय में भी सरस्वती-तट आर्य्य-सीमा में था, फिर उसके हटने का कारण आर्य्यों की कोई प्रवृत्ति नहीं जान पड़ती। क्योंकि, सप्तसिंधु या आर्य्यावर्त्त से हटकर ही पश्चिम में असुर उपासकों को अपनी सभ्यता का प्रचार करना पड़ा। आर्य्यावर्त्त तो अपने धर्म के अवांतर भेदों के साथ जहाँ का तहाँ अविचल रहा। यह इंद्र, वृत्र का युद्ध संसार के प्रागैतिहासिक काल का भले ही हो, परंतु आर्य्य जाति का इतिहास है। Indian myth में इंद्र के संबंध में लिखा है कि इंद्र अत्यंत प्राचीन देवता थे, वे प्रस्तर-युग में पूजे जाते थे।*

---

times this decree was understood literally and acted upon.—(P. 124, The Story of Assyria.)

* It is possible that he may have been invoked

सुमेरिया का (ई—ओंस) असुर वरुण का विकृत रूप है।* प्राचीन चैल्डिया में यही ईरानी असुर-उपासना 'अस्सर मश्राज़श' के नाम से प्रचलित थी। Edamues ठीक वैसे ही Arli के God थे जैसे त्वष्टा के वरुण और वे फारस की खाड़ी के देवता थे। वहीं से उन्होंने सुमेरिया में पदार्पण किया। प्राचीन सुमेरिया में वे आदि निवासियों को घर बनाना इत्यादि सिखाने के लिये आए थे। (Indian Myth 12)। वरुण के उपासक त्वष्टा के अनुयायियों ने वहाँ पहुँचकर सभ्यता का प्रचार किया, इस विवरण से तो ऐसा ही प्रतीत होता है। क्योंकि, सर जान मार्शल भी वर्तमान काल की खोजों से इसी सिद्धांत के समीप पहुँच रहे हैं।†

इजिप्ट की प्राचीन गाथाओं में एक अत्यंत प्राचीन देवता 'टाह' की पूजा का उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि इजिप्ट में

---

and propitiated by Neolithic or even by Peleolithic flint knippers.—(P. 2. Indian Myth.)

* Indian Varun was similarly a sky god as well as an ocean god before systematizing Brahmanic teachers relegated him to a permanent abode at the bottom of sea. It may be that Ea-ounes and Varun were of common origin.—(P. 31. Myth of Babylonia.)

† The opinion has lately been gaining ground that the cradle of Sumerian and Egyptian civilization is to be sought somewhere east of Mesopotamia ....Migrations then undoubtedly were and those on a large scale and nothing is more probable than that the teeming populations of Northern India expanded westward through across the Iranian Plateau and northward to the plains of Transcaspia.—(Sir John Marshell, 92—The Benares H. U. Magazine.)

टाह एक आक्रमणकारी जाति के द्वारा ले आए गए और अत्यंत प्राचीन प्राग् ऐतिहासिक काल में वे शिल्पियों के देवता कहकर पूजित हुए।*

यह Ptah शब्द त्वष्टा का स्मारक है। सबसे पहिले मेम्फिस में इन्हीं का मंदिर बना और इजिप्ट के यही प्रधान देवता माने गए। Osiris assor-ah भी मिस्र की असुर-उपासना के अंग थे। उनमें चंद्रमा की वैसी ही शक्ति मानी जाती थी, जैसी वरुण में।—(Eygyptian Myth की भूमिका)।

इस प्रकार आर्य्यावर्त्त से विताड़ित त्वष्टा और वरुण की साहस्री माया के परशिया, मेसोपोटामिया, बेबिलोनिया, सुमेरिया, असीरिया और इजिप्ट में फैलने का प्रमाण ऋग्वेद और अवेस्ता में मिलता है। बैबिलोनिया का Baal भी ऋग्वेद में वर्णित इंद्र शत्रु बल की प्रतिकृति है। बल के जीतने और बलभिद् आदि उपाधि धारण करने का प्रायः उल्लेख है। ऋग्वेद में कहीं कहीं ऐसा ध्वनित होता है कि यह वृत्र का भाई था।

तम्यूज़ की कथा और उसके मारे जाने का प्रसंग भी असीरिया में अधिक प्रचलित था। यह तम्यूज़ दानवों का राजा था। ऋग्वेद (१—५६—४) में वृत्र का एक संकेत 'तमस्' भी है। बैबिलोनिया में भी दुष्टात्माओं का उच्च देवताओं से युद्ध करने के प्रसंग का उल्लेख मिलता है, जिसमें तम्यूज़ के मारे जाने का वर्णन है। यह तम्यूज़ बैबिलोनिया के मृत और पराजित देवता थे, जिनकी पूजा उस संप्रदाय के अनुयायी करते थे। उनके यहाँ उसके लिये शोक भी मनाया जाता था। एक प्रकार से यह 'तृम्पा' इंद्र की विजय की स्वीकृति थी जिसे आसुरी सभ्यता मानती थी।

* It is possible that Ptah was imported into Egypt by an invading tribe in prehistoric times he was an artisan god.. According to tradition Egypt's first temple was erected to Ptah by King Mena.—(Egyptian Myth and Legend Introduction, xli.)

इस लेख का सारांश यह है कि महावीर इंद्र की विजयों ने प्राचीन आर्य्यावर्त्त के 'त्रिसप्तक नद'-प्रदेश से असुर-उपासकों को हटा दिया। ईरान में वह असुर-उपासना, 'अहुरमज्द'-धर्म, फूला फला। यह ऐतिहासिक प्रसंग ७५०० ईसवी पूर्व से भी पहले का है। पिछले काल में भी मित्रायण, इक्ष्वाकु और क्षत्रिय जैसी आर्य धर्मानुयायी जातियाँ कभी कभी उन असुर देशों में भी अपनी विजयवैजयंती उड़ा आती थीं।

वह आर्य्य सभ्यता के इतिहास का प्रारंभिक अध्याय है, जब इंद्र ने आत्मवाद का प्रचार किया, जब असुरों पर विजय प्राप्त की और आर्य्यावर्त्त में साम्राज्य-स्थापन किया।

त्रिसप्तक प्रदेश की बसनेवाली भिन्न भिन्न आर्य्य संस्थाओं का, जो अपना स्वतंत्र शासन करती थीं और आपस में लड़ती थीं, सम्राट् बनकर इंद्र ने एक में व्यूहन किया और वैदिक काल की भरत तृत्सु पुरु आदि वीर मंडलियाँ एक इंद्रध्वज की छाया में अपनी उन्नति करने लगीं। संसार में इंद्र पहले सम्राट् थे। पिछले काल में असुरों ने उन प्राचीन घटनाओं के संस्मरण से अपना पुराण चाहे विकृत रूप में बनाया हो परंतु है वह सत्य इतिहास, आर्य्यों का ही नहीं, अपितु मनुष्यता का; जब मनुष्य में आकाशी देवता पर से आस्था हटाकर आत्मसत्ता का विश्वास उत्पन्न हुआ।

(१०) वर्तमान हिंदी में संस्कृत शब्दों का ग्रहण

[लेखक—महामहोपाध्याय श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी]

सर्व-शक्तिमान् जगदीश्वर की अपार कृपा से आज हमारी मातृ-भाषा हिंदी राष्ट्र-भाषा का समुचित आसन ग्रहण कर रही है। आज हिंदुस्थान मात्र के राष्ट्रीय नेता पुराने भेद-भावों को भूलकर माता की सेवा के लिये उत्सुक दिखाई दे रहे हैं, आज सब विवाद हटकर हिंदी पर संपूर्ण विज्ञ देशवासियों का मातृ-प्रेम प्रकट हो गया है। ऐसी दशा में तेईस कोटि हिंदुओं की मातृ-भाषा हिंदी का सर्वांगपूर्ण और सर्वांश में त्रुटिशून्य होना अत्यंत आवश्यक है। अतएव आज हिंदी-साहित्य-प्रेमी हिंदी के प्रचार की तरह हिंदी के परिष्कार को भी मुख्य लक्ष्य मानते हुए, उसकी ओर पूर्ण दृष्टिपात कर रहे हैं, और हिंदी-भाषा के संबंध में कई प्रकार के विचार उपस्थित होकर उनमें मतभेद और विवाद के भी कई अवसर प्राप्त हो रहे हैं। उनमें से विचार का एक मुख्य विषय यह भी है कि हिंदी-भाषा के भांडार में शब्दों की जो न्यूनता है, उसकी पूर्ति कहाँ से की जाय? जिन विषयों के प्रतिपादन के लिये, वा जिन वस्तुओं और मनोभावों के संकेत के लिये हिंदी-भाषा में शब्द नहीं मिलते, उनका प्रतिपादन वा संकेत किस भाषा के शब्दों द्वारा किया जाय? कहने की आवश्यकता नहीं होगी कि इस विचार में भी विद्वानों का मतभेद है, और इस ही मतभेद के कारण आज हिंदी लिखने की शैली भिन्न भिन्न प्रचलित हो रही है। बहुत से विद्वानों का विचार है कि हिंदी-भाषा में शब्दसमूह संस्कृत से ही लेना चाहिए, संस्कृत के द्वारा ही हिंदी-भाषा का पालन-पोषण पूर्वकाल से होता रहा है, और अब भी उसके ही द्वारा इसकी पुष्टि होना संभव है। दूसरे कई एक विद्वान् इस बात के पक्षपाती हैं कि जिस विषय वा वस्तु के लिये जिस भाषा का शब्द जनसाधारण

के लिये समझने में सुकर हो, उस भाषा से ही उसके लिये शब्द ले लेना चाहिए। अथवा यों कहो कि जिन शब्दों द्वारा हम जन-साधारण को शीघ्र बिना किसी अड़चन के समझा सकें, वे शब्द चाहे किसी भाषा के हों, उन्हें ही हिंदी में स्थान देना चाहिए। इससे फारसी, अरबी, अँगरेजी, संस्कृत आदि सभी भाषाओं के शब्द अपेक्षानुसार हिंदी में लेना प्राप्त होता है। तीसरे कुछ विद्वान् इस विचार के भी हैं कि कम से कम हिंदी भाषा के दो रूप अवश्य बनेंगे—एक संस्कृत-मिश्रित, दूसरा अरबी-फारसी-मिश्रित। लेखक का जिस प्राचीन भाषा से परिचय होगा, उसी प्रकार की हिंदी वह लिखेगा, और ऐसा रूप-भेद होना कोई दोष नहीं, बल्कि भाषा के देशव्यापक होने के लिये आवश्यक है। यों ही और भी कुछ अवांतर मतभेद इस विचार में दिखाई देते हैं, और ये मतभेद हिंदी-लेख की शैली निश्चित करने में बाधक हो रहे हैं। आवश्यक है कि विद्वान् लोग परस्पर विचारकर इस मतभेद का शीघ्र निपटारा कर दें, और एक शैली स्थिर कर लें। इसी लिये विद्वानों की दृष्टि इस विषय पर आकृष्ट करने को हम भी अपने कुछ टूटे फूटे विचार इस विषय पर प्रकट करने का साहस करते हैं।

आज किसी प्रकार की शैली का निश्चय किया जाय—इससे पूर्व यह देखना आवश्यक होगा कि आज तक किस प्रकार का व्यवहार होता रहा है। और इस प्राचीन व्यवहार के प्रश्न का निपटारा करनेवाले का ध्यान यहाँ तक भी अवश्य पहुँचेगा कि हिंदी भाषा निकली कहाँ से है? जितने परोक्ष गंभीर विचार हैं, वे प्रायः मतभेद से खाली नहीं होते। इस विचार में भी स्वाभाविक मत-भेद मौजूद है। यह सिद्धांत तो अब अभ्रांत रूप से प्रायः सर्व-मान्य हो चुका कि हिंदी-भाषा की साक्षात् जननी अपभ्रंश भाषा है, और अपभ्रंश-भाषा प्राकृत-भाषाओं से उत्पन्न, अथवा प्राकृत-भाषा का ही एक रूप है—इसमें भी विवाद प्रायः नहीं है। किंतु प्राकृत-भाषा किस भाषा से उत्पन्न हुई, इस विषय पर प्रबल मतभेद

है। प्राकृत के जितने व्याकरण आजकल उपलब्ध हैं, वे संस्कृत से ही प्राकृत बनाते हैं, 'प्रकृतिः संस्कृतम्, तस्मादागतम्, प्राकृतम्' (संस्कृत-भाषा प्रकृति अर्थात् कारण है, उस प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण यह भाषा प्राकृत कहाती है), यही उन सबका सिद्धांत है। इसके अतिरिक्त नाटक आदि में जो प्राकृत-भाषा आजकल उपलब्ध होती है, उसकी आलोचना करनेवाला कुछ भी बुद्धि से काम ले, तो स्पष्ट यही कहेगा कि प्राकृत संस्कृत से बनी है—इसमें कुछ भी संदेह नहीं। इसी आधार पर संस्कृत के विद्वान् प्रायः अपना यही सिद्धांत रखते हैं कि संस्कृत भाषा भी किसी समय प्रचलित (बोल-चाल की) भाषा थी, उसी से क्रमशः प्राकृत-भाषाओं की और फिर अपभ्रंश-भाषाओं की उत्पत्ति हुई है। किंतु यूरोप के विद्वान्, और उनके अनुयायी भारतीय विद्वान् ऐसा नहीं मानते। उनके विचार में कोई एक मूल-भाषा प्राचीन काल में थी, जिससे संस्कृत और प्राकृत दोनों निकली हैं। वह मूल-भाषा संस्कृत नहीं कही जा सकती। सारांश यह कि संस्कृत भाषा प्राकृत की जननी नहीं, भगिनी है। कुछ एकदेशीय विद्वान् तो यहाँ तक साहस कर बैठे हैं कि प्राकृत ही मूल-भाषा है, संस्कृत उससे उत्पन्न है। प्राकृत को संस्कृत से उत्पन्न न माननेवालों के सिद्धांत की जड़—उनका यह अटल आंतरिक विश्वास है कि संस्कृत-भाषा कभी प्रचलित भाषा नहीं थी, यह सदा पुस्तकों की या विद्वानों की ही भाषा रही है। सर्वसाधारण की बोलचाल की जो भाषा प्राकृत कहलाती थी, उसे ही काट छाँटकर विद्वानों के व्यवहार योग्य संस्कृत-भाषा उत्पन्न की गई है। अस्तु, यह एक स्वतंत्र पृथक् निबंध का विषय है; इस निबंध में इसका विस्तृत विचार अप्रस्तुत सा होगा, इसलिये विशेष रूप से हम इस पर यहाँ विस्तार करना नहीं चाहते। किंतु संक्षेप रूप से इतना कह देना भी आवश्यक है कि हमारी दृष्टि में "संस्कृत भाषा कभी प्रचलित भाषा नहीं थी" यह सिद्धांत भ्रमपूर्ण है। जिसे आज हम संस्कृत

भाषा कहते हैं, वह अवश्य किसी काल में इस देश की सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा रह चुकी है। हाँ, उस समय इसका नाम संस्कृत नहीं था, यह सामान्य "भाषा" ही कही जाती थी। भगवान् पाणिनि, कात्यायन और निरुक्तकार भगवान् यास्क आदि आचार्य्य संस्कृत-भाषा के लिये केवल 'भाषा*' शब्द का ही निर्देश करते हैं, और वैदिक भाषा को इससे पृथक् करने के लिये "छंदसि†" "अन्वध्यायम्" आदि संकेत किया करते हैं। साथ ही निरुक्त और व्याकरण-महाभाष्य में यह भी बतलाया गया है कि किस अर्थ में किन किन धातुओं का प्रयोग किस किस देश में विशेष रूप से होता है‡। भगवान् पाणिनि ने भी "एङ् प्राचां देशे" इत्यादि बहुत से सूत्रों में देश-भेद से प्रयोगभेद बताया है। व्याकरण के महाभाष्यकार पतंजलि ने तो स्पष्ट ही लिखा है कि लोक-व्यवहार के अनुसार शब्द-प्रयोग है, व्याकरण शास्त्र तो केवल अप-शब्दों को हटाकर साधु शब्दों के प्रयोग का नियम करता है, और वह नियम धर्मोत्पत्ति के लिये है। ब्राह्मणों, पुराणों और इतिहासों से भी यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि संस्कृत-भाषा ही प्राचीन काल में प्रचलित भाषा थी। सबसे बड़ी बात यह है कि हमारी आर्य-जाति का जो कुछ विज्ञान-भांडार है, क्या विद्या, क्या कला—वह सब का सब संस्कृत-भाषा में है। कोई बुद्धिमान् समाज ऐसा नहीं कर सकता कि अपना सर्वस्व किसी अप्रचलित भाषा में रखे, या विद्वानों के लिये एक नई भाषा गढ़कर तैयार करे। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि संस्कृत-भाषा ही उस समय प्रचलित भाषा थी, इससे उसी में सब विषयों

---

* 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' (अष्टा० ७।२।८८) 'भाषायां सद्-वसश्रुवः' (अष्टा० ३।२।१०८) 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' (कात्या० वार्तिक) "नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम्" (निरु० १ अ०) इत्यादि सूत्र, वाक्य देखो।

† "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छंदसि" (अष्टा० २।३।६२) "उभयमन्वध्यायम्" (निरु० १ अ०) इत्यादि देखो।

‡ 'शवतिर्गतिकर्मा कंबोजेष्वेव भाष्यते' इत्यादि निरु० २ अ०, और महाभाष्य १ आह्निक देखो।

के ग्रंथ लिखने की शैली चली। इससे हमारा यह अभिप्राय नहीं कि कादंबरी जैसी, या दशकुमारचरित, श्रीहर्ष-चरित जैसी भाषा कभी बोलचाल में आती थी। ग्रंथ-लेख की भाषा और बोलचाल की भाषा में तो सदा ही भेद रहता है। आज देश की प्रचलित भाषा हिंदी अवश्य है, किंतु क्या पुस्तकों या सामयिक पत्रों जैसी हिंदी कहीं बोली जाती है? क्या किताबों की अँगरेजी और अपढ़ गोरों के मुख से निकलनेवाली अँगरेजी एक जैसी है? संस्कृत-भाषा बोलचाल में किस रूप में आती थी, उसका उदाहरण आज हमारी दृष्टि के सामने नहीं। हम केवल ग्रंथों में संस्कृत-भाषा पढ़ते हैं, इससे हमें यह स्वाभाविक संदेह होता है कि यह भाषा बोलचाल में कैसे आ सकती है? किंतु प्रचलित भाषाओं में ग्रंथों की भाषा और बोलचाल की भाषा में जितना भेद है, उससे बुद्धिमान् लोग अनुमान कर सकते हैं कि बोलचाल की संस्कृत-भाषा कैसी होगी। फिर संस्कृत-भाषा के प्रचार का काल भी एक दिन नहीं था, हजारों वर्ष वह इस देश में प्रचलित रही, तब इतने समय में काल-कृत भेद भी उसमें बहुत से होते रहे—इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता। कुछ सदियों में ही पुरानी हिंदी और नई हिंदी का आकाश, पाताल का अंतर आज सबकी दृष्टि के सामने है, तब हजारों वर्षों में संस्कृत में ऐसे भेद होना क्या आश्चर्य की बात है? विचार-दृष्टि से निष्पक्षपात होकर देखनेवाले देख सकते हैं कि पुरानी (चंदबरदाई के समय के आस पास की) हिंदी, और नई हिंदी में जितना अंतर है, उससे अधिक अंतर ऋग्वेद की संस्कृत-भाषा और प्रचलित काव्य, नाटकों की संस्कृत-भाषा में नहीं है। तब चंदबरदाई से आज तक की भाषा यदि "हिंदी" शब्द से कही जाती है, तो ऋग्वेद से लेकर कालिदास तक की भाषा का एक नाम "संस्कृत" रखने में क्या आपत्ति है? वैदिक संस्कृत और प्रचलित संस्कृत में इतनी समानता है कि भगवान् पाणिनि ने एक ही व्याकरण में दोनों भाषाओं के नियम स्पष्ट बता दिए हैं। ३६८३

सूत्रों में से केवल गिनती के प्रायः २६३ सूत्र वेद के लिये पाणिनि को पृथक् लिखने पड़े हैं, और वैदिक संस्कृत में अप्राप्त प्रचलित शब्दों के नियम बताने को केवल छः ही सूत्रों में "भाषायाम्," पद देना पड़ा है। शेष सब व्याकरण के सूत्र दोनों भाषाओं के लिये समान हैं। भला इतनी समानता होने पर भी दोनों भाषाओं को सर्वथा पृथक् कौन कह सकता है? इससे हमारा तात्पर्य यही है कि वैदिक संस्कृत से लेकर प्रचलित काव्य-नाटकों की भाषा तक—इतने काल की व्यापक भाषा का एक ही नाम "संस्कृत-भाषा" हमें लेना चाहिए। पूर्वोक्त काल-व्याप्ति के साथ देश-व्याप्ति का भी विचार करना अत्यावश्यक है। आज ही प्रत्यक्ष लीजिए—नगरों की पढ़े लिखे पुरुषों की भाषा, और ग्रामों की भाषा में बहुत बड़ा भेद है। देशभेद हो जाने पर तो वह भेद इतना प्रबल हो गया है कि भाषा के नाम ही जुदे जुदे रखने पड़े हैं, 'ब्रजभाषा', 'अवधी', 'तिरहुती', 'पंजाबी' आदि आदि, किंतु फिर भी 'हिंदी' इस व्यापक शब्द में उन सबका ही ग्रहण इष्ट है। इसी प्रकार भारत के नगरों और ग्रामों में, एवं भिन्न भिन्न देशों में जो संस्कृत भाषा बोली जाती थी, उसमें भी ऐसा देश-कृत भेद अवश्य ही रहा होगा। भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न धातुओं का प्रधान व्यवहार तो निरुक्त और महाभाष्य में स्पष्ट ही बताया गया है। किंतु इस अवांतर सूक्ष्म भेद के रहते भी "संस्कृत" इस व्यापक नाम से सबका ही ग्रहण होना चाहिए। बस, इस प्रकार का संस्कृत-भाषा का व्यापक रूप मानने पर प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं की उससे उत्पत्ति मानने में किसी को संदेह नहीं रह सकता।

प्राकृत का अर्थ है प्रकृतिसिद्ध—अकृत्रिम, जो किसी मनुष्य की बनावट न हो। और संस्कृत का अर्थ है—संस्कार से सिद्ध—कृत्रिम—बनावटी, जो पुरुषव्यापार से साध्य है। जैसा कि मिट्टी एक प्राकृत पदार्थ है, घड़ा उसका संस्कृत-रूप है। लोहा प्राकृत है, चाकू या छुरा आदि उसके संस्कृत-रूप हैं। रुई प्राकृत है,

भिन्न भिन्न प्रकार के वस्त्र उसके संस्कृत-रूप हैं। भाषा के संबंध में भी यों समझ सकते हैं कि बिना किसी शिक्षा के बालक, ग्राम्य पुरुष, स्त्री आदि जिस प्रकार की भाषा बोलते हैं, वह उनकी प्रकृति-सिद्ध होने के कारण प्राकृत है, और शिक्षा प्राप्त कर लेने पर जो सुधारी हुई भाषा बोली जाती है—वह उसका संस्कृत रूप है। यद्यपि ऊपरी दृष्टि से इस शब्दार्थ पर विचार करने से यूरोपीय विद्वानों के ये दोनों सिद्धांत निश्चित मालूम होते हैं कि 'प्राकृत से ही संस्कृत की उत्पत्ति है' और 'संस्कृत सर्व-साधारण की नहीं, केवल शिक्षितों की भाषा रही है' किंतु विचार-पूर्ण गंभीर दृष्टि डालने पर यह भ्रम मिट जायगा। हम कह चुके हैं कि जिसे हम आज 'संस्कृत' कहते हैं, उस भाषा का पुराना नाम संस्कृत नहीं था। निरुक्तकार और पाणिनि की साक्षी भी इस विषय में दी जा चुकी है कि वे 'भाषा' शब्द से ही इसका व्यवहार करते हैं। यदि 'संस्कृत' और 'प्राकृत' पुराने नाम होते, तो उक्त सिद्धांतों को ठीक माना जा सकता था। किंतु ये नाम आधुनिक* हैं। देश, कालानुसार भाषा में परिवर्तन होना स्वभाव-सिद्ध है। शब्दों के शुद्ध

* यद्यपि वाल्मीकिरामायण सुंदरकांड में श्रीहनुमान् के विचार में वाणी का 'संस्कृताम्' विशेषण मिलता है, किंतु वह वानरादि की भाषा की अपेक्षा मनुष्य-भाषा का भेद बताने के लिये है। वानर आदि की भाषा की अपेक्षा मनुष्य-भाषा 'संस्कृत' है—यही उसका अभिप्राय पूर्वापरविचार से निकलता है। इसी लिये वहाँ "वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्" और "अवश्यमेव वक्तव्यं मानुषं वाक्यमर्थवत्" दो जगह वाणी का 'मानुषीम्' और "मानुषम्" विशेषण दिया है। इससे यही सिद्ध होता है कि मनुष्य-भाषा को वहाँ संस्कृत कहा है—न कि वर्तमान 'प्राकृत' 'संस्कृत' का वहाँ कोई जिक्र है। ब्राह्मणों में एक पुरानी आख्यायिका है कि पहले वाणी में पद-विभाग नहीं था, देवताओं की प्रार्थना से इंद्र ने वाणी में पद-विभाग किया। इसी से इंद्र व्याकरणकर्ता कहलाते हैं। 'इंद्र' यहाँ ज्ञान के अधिष्ठाता का नाम है। पदविभाग ज्ञानकृत होता है—यही संक्षेप में उस आख्यायिका का तात्पर्य्य है। अस्तु, इसी कारण मानुषी वाक् को पश्वादिकों की अपेक्षा संस्कृत कहा गया है कि इसमें अर्थानुकूल पदविभाग होता है।

रूप का यथोचित उच्चारण सब लोग नहीं कर सकते, तब वे अपनी अशक्ति के कारण अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार कुछ बिगाड़कर उच्चारण किया करते हैं—ये ही अपभ्रंश-रूप कहे जाते हैं। इसी कारण महाभाष्यकार भगवान् पतंजलि ने अपभ्रंश को 'अशक्तिज' बताया है, और यह भी कहा है कि 'शुद्ध शब्द एक है, और उसके अपभ्रंश बहुत हैं।' किसी ने किसी प्रकार बिगाड़ कर बोला, किसी ने किसी प्रकार, इससे अपभ्रंश बहुत हो गए। उदाहरण के लिये—स्त्री-शब्द का स्पष्ट उच्चारण जो नहीं कर सकते, उनमें से कोई 'इस्त्री', कोई 'इसतरी', 'कोई असतरी' और कोई 'सितिरी' बोलता है। पहले इन अपभ्रंशों की हँसी उड़ाई जाती है, किंतु कालांतर में ये ही भाषा की प्रकृति के अनुसार अपना एक रूप बनाकर भाषा में प्रविष्ट हो जाते हैं, जैसे 'सितिरी' रूप ही 'तिरिया' बनकर विशुद्ध हिंदी में आ गया। वाक्य-पदीयकार महाविद्वान् हरि ने भाषा-परिवर्तन का यह नियम स्पष्ट शब्दों में लिखा है—"दैवी वाग् व्यवकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभिः"। अर्थात् देववाणी संस्कृत को अशक्त उच्चारण करनेवालों ने भिन्न भिन्न रूपों में इधर उधर कर डाला। यही भाषा-परिवर्तन का सूत्र है, और इसी कारण से एक से अनेक भाषाएँ हो जाती हैं। प्रचलित भाषाओं के ऐसे बिगड़े हुए रूप भी कुछ काल तक उस भाषा की सीमा में प्रविष्ट होते रहते हैं, विद्वान् लोग बार बार उनके सुधारने का यत्न करते रहते हैं, किंतु सर्व-साधारण में प्रकृतिवश उनका प्रचार बढ़ता जाता है। एक शब्द के अनेक रूपों द्वारा भाषा की विशृंखलता बढ़ती देख अंततः भाषा के व्याकरण-नियमों को दृढ़ करना पड़ता है, और प्रचलित भाषा में से निकलकर एक नियमबद्ध अर्थात् 'संस्कृत' भाषा पृथक् हो जाती है। किंतु परि-वर्तन का प्राकृतिक प्रवाह बंद नहीं होता, सर्वसाधारण में वह प्रवाह चलता ही रहता है, और वही प्रवाह क्रमशः उस नियत भाषा की अपेक्षा एक भिन्न भाषा को खड़ी कर देता है। यह क्रम संसार

में सर्वत्र चल रहा है। इसी क्रम के अनुसार जिन दिनों हमारी देव-वाणी सब देश में प्रचलित थी, उन दिनों भी प्रकृति के नियमानुसार अशक्ति आदि के कारण उसमें देश-कृत और काल-कृत शब्दों का परिवर्तन होता रहा; बहुत काल तक वे परिवर्तित रूप भी उसी देव-वाणी में प्रविष्ट होते रहे, किंतु आखिर भाषा का कायाकल्प न हो जाय, इस भय से व्याकरण के नियम दृढ़ किए गए। अंततः भगवान् पाणिनि ने दृढ़ नियमों को बड़ी उत्तमता और स्वच्छता से सूत्र-बद्ध किया, जिस व्याकरण की समता आज संसार की किसी भाषा का कोई व्याकरण नहीं कर सकता। उन्होंने जिन भिन्न भिन्न रूपों को विशेष प्रचलित देखा, उन्हें विकल्प-रूप से भाषा में ले लिया, और जिनका विरल प्रचार देखा, उन्हें भाषा की सीमा के बाहर छोड़ दिया। यों वह देव-वाणी जब नियमबद्ध हो गई, तब प्रकृति-नियमानुसार होनेवाले परिवर्तनों को उसमें प्रविष्ट होने का अवकाश न रहा। बस, उन परिवर्तनों द्वारा जो क्रमशः अशिक्षित सर्व-साधारण की एक पृथक् भाषा बनी, वही प्रकृति-सिद्ध वा प्राकृत* मनुष्यों की होने के कारण 'प्राकृत' कहलाने लगी, तब उससे पृथक् करने के लिये व्याकरण-नियमबद्ध विशुद्ध देव-वाणी का 'संस्कृत' नाम पड़ा। यों 'प्राकृत' और 'संस्कृत' नामों की कल्पना बहुत पीछे की है, ऐसा स्फुट अनुमान होता है। और इस क्रम में एक समय ऐसा भी अवश्य आता है, जब कि यूरोपीय अन्वेषक विद्वानों के मतानुसार संस्कृत केवल शिक्षितों की भाषा थी, सर्व-साधारण प्राकृत बोलने लगे थे; किंतु वह बहुत अर्वाचीन समय है, जब कि संस्कृत-भाषा पूर्णतया व्याकरण-नियम-बद्ध, परिवर्तन-शून्य होकर पृथक् हो चुकी थी। उससे भी बहुत पूर्व के समय पर दृष्टि डालने से अवश्य सिद्ध होगा कि उस समय यही भाषा, जिसे आज

* अशिक्षित मनुष्यों को 'प्राकृत जन' वा 'यथा-जात' कहने का संस्कृत भाषा में मुहाविरा है। उसका मतलब यही है कि इन्हें प्रकृति ने जैसा बनाया, वैसे ही रहे। कोई विशेषता इन्होंने प्राप्त नहीं की।

संस्कृत कहा जाता है, प्रचलित भाषा थी। वा यों कहें कि उस समय यही प्राकृत थी। उसके बाद क्रमशः यह शिक्षितों की भाषा बनी, और आज केवल पुस्तकों की भाषा रह गई। जन साधारण में बोली जानेवाली अनेक-भेद-गर्भित भाषा व्याकरण-नियमों से विशुद्ध होकर संस्कृत-भाषा रूप में नियत हुई, इस विचार से यदि कोई विद्वान् प्राकृत से संस्कृत की उत्पत्ति बतावे, तो इसमें किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। किंतु जिस भाषा का प्राकृत नाम से आज परिचय है, उसका उस संस्कृतजननी प्राकृत से साक्षात् कोई संबंध नहीं। वह प्राकृत, जिससे कि संस्कृत की उत्पत्ति का अनुमान किया जाता है, आज संस्कृत-भाषा ही कहलाने की अधिकारिणी है। क्योंकि जिसे आज हम संस्कृत-भाषा कहते हैं, उससे उस प्राकृत का बहुत बड़ा भेद नहीं था, यह स्पष्ट अनुमान होता है। 'संस्कृत' को उससे उत्पन्न कहना भी एक प्रकार की अत्युक्ति होगी, उसका व्यवस्थित रूप ही संस्कृत है—बस, इतना ही कहना पर्य्याप्त होगा। अस्तु, आज जिन भाषाओं को प्राकृत कहा या माना जाता है, उनसे संस्कृत की उत्पत्ति यदि कोई कहे, या समझे, तो यही कहना होगा कि इस महाशय को किसी अच्छे डाक्टर से अपने मस्तिष्क की चिकित्सा करानी चाहिए। दोनों भाषाओं का जिसने विवेक-पूर्वक कुछ भी अनुशीलन किया है, वह स्पष्ट कह उठेगा कि यह प्राकृत संस्कृत से ही उत्पन्न है, और प्राकृत-व्याकरणाचार्यों का "प्रकृतिः संस्कृतम्, तस्मादागतं प्राकृतम्" कहना बिलकुल ठीक है। प्रकृत निबंध में इस विचार से यही उपयोग लेना है कि हमारी हिंदी-भाषा परंपरा-संबंध से संस्कृत-भाषा से ही उत्पन्न है, और जिन शब्दों को आज हम 'हिंदी-भाषा की निजी संपत्ति' समझते हैं, वे भी संस्कृत से ही आए हैं, तब हिंदी-भाषा में संस्कृत शब्दों का ग्रहण कोई नई बात नहीं।

अब मुझे यह दिखाना है कि संस्कृत-भाषा पूर्वोक्त परंपरा-रूप से ही हिंदी-भाषा की जननी नहीं, किंतु साक्षात् जननी भी है। हिंदी-भाषा का संस्कृत-भाषा से घनिष्ठ संबंध है। हिंदी-भाषा की अधिकांश

क्रियाओं के संबंध में यह सिद्धांत ठीक है कि संस्कृत से प्राकृत, और प्राकृत से अपभ्रंश होते होते हिंदी-भाषा की उत्पत्ति हुई, किंतु नाम (संज्ञाशब्द) सब ऐसे नहीं। बहुत से नाम संस्कृत से प्राकृत बनकर क्रमश: हिंदी में आए हैं, और बहुत से साक्षात् संस्कृत से ही अपभ्रंश-रूप द्वारा हिंदी में आए हैं। उन नामों का रूप देखने से प्राकृत से उनका संबंध प्रतीत नहीं होता, किंतु साक्षात् संस्कृत से ही स्पष्ट संबंध दिखाई देता है। इसके समर्थन के लिये कुछ उदाहरणों की आवश्यकता होगी, इससे संक्षेप में कुछ उदाहरण दिखाए जाते हैं। पहले उन शब्दों पर दृष्टिपात कीजिए, जो संस्कृत से प्राकृत होकर हिंदी में आए हुए स्पष्ट मालूम होते हैं—

(क्रियाशब्द, जो संस्कृत से प्राकृत द्वारा हिंदी में आए)

संस्कृत		हिंदी (प्राचीन और नवीन)
भवति	भोदि,* होदि अथवा होइ,	होइ, होत, होता।
भविष्यति	होहिइ	होइहि, होगा।
भवतु	होज्जउ	होजाउ, होजाहु, होजावो।
अभवत्	हुवीअ	हुआ।
शोभते	सोहदि (अथवा) सोहइ	सोहइ, सोहत, सोहता है।
उत्तिष्ठ	उट्ठेहि	उठ।
आतिष्ठत	ठाढो	ठाढा, ठाढो, ठहरो।
वर्द्धताम्	वड्ढदु	बढहु, बढो।
स्मृत्वा	सुमरिअ	सुमिरि।
कारयति	करावेइ, करावेदि	कराइ, करात, कराता है।
कार्यते	कराविज्जइ	कराइयत, कराया जाता है।
कारितम्	कराविअ	कराया।

(सब प्रकार की क्रियाओं का निदर्शन कर दिया है, इसके उदाहरण बहुत हैं।)

* इन क्रियाओं के भिन्न भिन्न प्राकृतों में ही कई प्रकार के रूप मिलते हैं, उनके अनुसार हिंदी में भी भिन्न भिन्न रूप हुए हैं।

(नाम, विशेषण वा सर्वनाम जो संस्कृत से
प्राकृत द्वारा हिंदी में आए)

संस्कृत	प्राकृत	हिंदी (प्राचीन या नवीन)
शुष्क	सुक्ख	सूखा, सूका
बुभुक्षा	बुभुक्खा	भूख, भूक
दधि	दहि	दही
घृत	घिअ	घी
सुष्ठु	सुठि	सुठि (पुरानी हिंदी)
शय्या	सेज्जा	सेज
बदरम्	बोरम्	बोर या बेर
गृहम्	घरम्	घर
तस्मात्	ता	तो
यद्	जो	जो
तद्	सो	सो
त्वम्	तुमम्	तुम
द्वौ, द्वे	दुवे	दो
त्रयः—त्रीणि	तिण्णि	तीन
चत्वारः	चउरो	चार
अधः	हेट्ठम्	हेठां (पंजाबी हिंदी)
आर्द्रम	अल्लम्	आला
ईदृशः	एरिसो	ऐसो, ऐसा
ऋतु	रितु	रितु
एतावत्	इत्तिअम्	इतना (इत्यादि)

इस प्रकार के हजारों शब्दों पर दृष्टिपात करने से और भाषा-नियम के अनुसार विचारने से स्पष्ट मानना पड़ेगा कि संस्कृत से प्राकृत और उससे क्रमशः हिंदी यह उत्पत्ति-क्रम बिलकुल ठीक है। किंतु अब जरा उन शब्दों को भी देखिए जो प्राकृत से न आकर सीधे संस्कृत से आए प्रतीत होते हैं—

(प्राकृत से न आकर सीधे संस्कृत से हिंदी में आनेवाले शब्द)

संस्कृत	प्राकृत	हिंदी (पुरानी वा नई)
लोक	लोअ	लोग
स्नेह	सिणेह	सनेह
स्वप्न	सिविण	सपन, सुपन, सपना
भर्ता	भत्ता	भरता, भरतार
आचार्य्य	आरिओ, आअरिओ	आचारज
तीर्थम्	तेहं, तूहं, तिरथं	तीरथ
धैर्यम्	धिज्जम्	धीरज
पंथाः	पहो	पंथ
समर्थः	समत्थो	समरथ
कीर्त्ति	कित्ता	कीरति
सूर्यः	सूरिओ, सूरो, सूज्जो	सूरज
पक्व	पिक्क	पका
तृण	तण	तिन, तिनका
ऋषि	इसी	रिषि
नयन	णअण	नैन
यमुना	जउणा	जमना
नग्न	णग्ग	नगन, नंगा
सर्वज्ञ	सव्वज्ज	सरवज्ञ
वैद्य	वेज्ज	बैद
मक्षिका	मच्छिआ	माखी, मक्खी
प्रत्यक्ष	पच्चक्ख	परतच्छ, प्रतच्छ
धर्म	धम्म	धरम

इत्यादि, इत्यादि ।

इन शब्दों पर विचार करने से स्पष्ट अनुमान होगा कि हिंदी का "लोग" शब्द प्राकृत के "लोअ" की अपेक्षा संस्कृत के "लोक" से अधिक संबंध रखता है। "स्नेह" से ही "सनेह" बना हो, यह अधिक युक्तियुक्त मालूम होता है। "तीरथ" का संबंध "तित्थ" की अपेक्षा "तीर्थ" से ही अधिक प्रतीत होता है। यों ही सर्वत्र देखना चाहिए। इससे ये हिंदी-शब्द प्राकृत-शब्दों से न बनकर संस्कृत-शब्दों से ही बने हैं, ऐसा मानना पड़ता है। रेफवाले संस्कृत शब्दों में इस प्रसंग के उदाहरण बहुत प्राप्त होंगे। संस्कृत में बिना स्वर का र आगे के व्यंजन से जो मिला रहता है, वह प्राकृत में लुप्त हो जाता है और आगे के व्यंजन को द्वित्व हो जाता है। किंतु हिंदी में वह रेफ लुप्त न होकर सस्वर बन जाता है। इसी प्रकार यह भी प्राकृत और हिंदी की प्रकृति में एक भेद है कि प्राकृत में कई एक स्वर साथ साथ (बिना व्यंजन बीच में आए) बहुधा आते हैं, किंतु हिंदी में ऐसा बहुत कम होता है। तीसरी बात एक यह भी है कि व्यक्ति-विशेष के नामों का भी बहुधा प्राकृत में परिवर्तन देखा जाता है, किंतु हिंदी में ऐसा बहुत कम हुआ है। उदाहरण के लिये—'राधा' संस्कृत, 'राहा' प्राकृत और 'राधा' हिंदी देखिए। कृष्ण, युधिष्ठिर आदि कुछ कठिन नाम प्राचीन हिंदी में भी बदले हुए मिलते हैं, किंतु ऐसे उदाहरण कम हैं, प्राकृत की तरह सभी नाम नहीं बदलते। चौथी विशेषता यह है कि यद्यपि प्राकृत को कई एक प्राचीन धुरंधर विद्वानों ने सुकुमार भाषा कहा है, किंतु उसमें णकार आदि कठोर-वर्ण तथा संयुक्ताक्षरों (विशेषकर एक ही वर्ण का द्वित्व, जो विशेष कठोर माना जाता है) की बहुतायत है। संभव है, उस समय इनमें ऐसी कठोरता न समझी जाती हो। अस्तु, हिंदी में यह बात नहीं। प्राचीन हिंदी कविता में—वीर, रौद्र रसों को छोड़कर—ऐसे वर्णों को यथासंभव बचाया गया है। ऐसी और भी कई एक विशेषताएँ हैं, जिनका उल्लेख यहाँ अनावश्यक सा होगा। यहाँ हमारा

अभिप्राय इतना ही है कि ये विशेषताएँ, और इनके कारण बने हुए पूर्वोक्त बहुत से शब्द, यह बता रहे हैं कि हिंदी-भाषा का सर्वांग प्राकृत वा अपभ्रंश-भाषाओं से ही नहीं बना, किंतु संस्कृत-भाषा से भी शब्दों का सीधा ग्रहण उसमें होता रहा है। इसके हजारों उदाहरण हैं, इस मोटी बात को कोई छिपा नहीं सकता।

यद्यपि ऐतिहासिक रीति से विचार करने पर यह क्रम (संस्कृत से शब्दों का सीधा प्राकृत में आना) युक्ति-विरुद्ध सा प्रतीत होता है; क्योंकि जब संस्कृत-भाषा के प्रचार के बाद प्राकृत-भाषा का प्रचार हो गया, उसके बाद अपभ्रंश भाषाएँ और फिर हिंदी आदि भाषाओं की उत्पत्ति हुई, तो हिंदी-भाषा की उत्पत्ति के समय प्राकृत वा अपभ्रंश भाषाएँ ही प्रचलित भाषा थीं, प्रचलित भाषाओं से ही नवीन भाषा जन्म-ग्रहण करती है, संस्कृत-भाषा तो उस समय बहुत दूर पड़ चुकी थी, फिर संस्कृत-भाषा का शब्द-समूह सीधा हिंदी में कैसे आया ? यह विचार उठता है। किंतु इसका कारण स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि मध्यकाल में संस्कृत चाहे प्रचलित भाषा नहीं थी, तथापि उससे भारतवासियों का संबंध बहुत अधिक था। शिक्षा की भाषा संस्कृत ही थी, अध्ययन के उपयोगी साहित्य संस्कृत का ही माना जाता था। शिक्षा-ग्रहण के प्रारंभ में ही संस्कृत-भाषा से संबंध हो जाता था, शिक्षित मनुष्य अवश्य पूर्ण संस्कृतज्ञ होते थे, जो कि समाज के नेता बनते थे। साथ ही भारतवर्ष के प्रधान-सर्वस्व धर्म का संबंध संस्कृत-भाषा से ही था, इसलिये सर्व-साधारण के कान में भी बार बार संस्कृत शब्द पड़ते थे। शिक्षित मनुष्यों का यह भी स्वभाव होता है कि वे अप-भ्रंशों को शुद्ध रूप में बोलने और बुलवाने का यत्न किया करते हैं। यों शिक्षितों के मुख से और धर्म-कर्म में संस्कृत शब्द बार बार जन-साधारण सुनते थे, और उन्हें बोलने का भी यत्न करना उनके लिये स्वाभाविक था। जब वे शब्द इनसे शुद्ध रूप में न बोले जाते, तब उनका एक दूसरा अपभ्रंश तैयार होकर भाषा में प्रविष्ट हो जाता था। यही कारण है कि सीधे संस्कृत से भी शब्द हिंदी

आदि भाषाओं में आते रहे। उन शब्दों के आने के भी दोनों प्रकार रहे, शुद्ध रूप में भी बहुत से शब्द हिंदी में आते रहे, और प्राकृतादि के अतिरिक्त स्वतंत्र अपभ्रंश-रूप में भी आए। इन्हीं को आजकल तत्सम और तद्भव कहा जाता है। अस्तु।

पूर्वोक्त अनुमान तब विशेष दृढ़ हो जाता है, जब हम देखते हैं कि कई संस्कृत-शब्दों के दो दो प्रकार के अपभ्रंश-रूप हिंदी-भाषा में प्राप्त होते हैं; उनमें से एक प्राकृत आदि के द्वारा क्रम से बना हुआ है, और एक सीधा संस्कृत से ही बना है। उदाहरण देखिए—

संस्कृत	हिंदी (पुराना और नई)
चक्र	चक, चका। चकरा, चक्कर।
व्याघ्र	बाघ। बघेरा।
हृदय	हिय, हियरा। हिरदा।
स्त्री	तिय। तिरिया।
प्रिय	पिय, पिया। पियारा, प्यारा।
कर्म	काम। करम।
घर्म	घाम। गरम।
अग्नि	आगि। अगनि।
कार्य	काज। कारज।
नृत्य	नाच। निरत।
अग्रे	आगे। आगर, आगरे, अगले।
मार्ग	मग। मारग।
नक्षत्र	नखत। नक्षत्र।
दीर्घ	दीहा। दीरघ।
दर्प	दाप। दरप।
कर्ण	कान। करन।
तीक्ष्ण	तीखा। तीच्छन।
सर्व	सब। सरब (सर्वस्व = सरबस)
	इत्यादि इत्यादि।

इन शब्दों में हिंदी के जो दो दो प्रकार के रूप दिखाए हैं, वे सभी प्रायः प्राचीन कविताओं में प्राप्त होते हैं। उदाहरण देने से निबंध बहुत बढ़ जायगा, और हिंदी-साहित्य से संबंध रखनेवाले विद्वान् स्वयं जानते हैं, इससे उदाहरणों की विशेष आवश्यकता भी नहीं। अस्तु, अब यहाँ विचार करना चाहिए कि "चक्र" का प्राकृत में "चक्क" होता है, हिंदी के "चक" "चका" तो उससे बने हैं, किंतु "चकरा" "चकर" सीधे "चक्र" शब्द से ही बने हैं। हृदय का प्राकृत "हिअअ" है, हिंदी का "हिय" उससे बना है, किंतु 'हिरदे में से जाहुगे' इत्यादि में प्रयुक्त 'हिरदा' सीधा हृदय का अपभ्रंश है। स्त्री का 'इत्थी' या 'थी' प्राकृत रूप है, 'ती' 'तियां' उसका ही विकास है, किंतु 'तिरिया तेल हमीर हठ' का 'तिरिया' सीधा स्त्री का ही अपभ्रंश मालूम होता है। 'प्रिय' का 'पिअ' प्राकृत हुआ, उससे 'पिय' 'पिया' हिंदी के बने, किंतु 'पियारे' 'पियारा*' सीधे प्रिय के अपभ्रंश हैं। 'कर्म' का 'कम्म' प्राकृत, और उससे 'काम' हिंदी स्पष्ट है, किंतु 'करम' 'कम्म' से न बनकर सीधा 'कर्म' से ही बना है, इसमें किसी को संदेह हो ही नहीं सकता। 'मार्ग' का 'मग्ग' प्राकृत और 'मग' हिंदी, किंतु 'मारग' सीधा 'मार्ग' से ही आया। यों ही 'सर्व' का प्राकृत 'सव्व' किंतु 'सरब' (सर्वस्व का सरबस सभी कवियों ने लिखा है) सीधा सर्व का ही अपभ्रंश है। यों ही सब उदाहरणों में देख लीजिए। इससे वही पूर्वोक्त बात सिद्ध होती है कि 'हिअ', 'मग्ग' आदि प्राकृत रूपों के रहते भी शिक्षित लोग

---

* यद्यपि 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' की 'पुरानी हिंदी' लेख-माला में श्रद्धेय स्वर्गीय श्रीचंद्रधर गुलेरीजी ने 'प्रियकर' से 'पियारा' बनना लिखा है, किंतु यह ठीक नहीं मालूम होता। 'प्रियकर' शब्द संस्कृत में विशेष प्रयुक्त नहीं। और 'प्यार' गुणवाचक शब्द का 'प्रियकर' से कोई संबंध हो ही नहीं सकता। जैसे, दुर्ललित से दुलारा, दुलार की उत्पत्ति है, वैसे प्रिय से प्यारा और प्यार बने मालूम होते हैं। पिय, और पियारा में जो भेद मालूम होता है, उसका कारण निबंधोक्त ही है।

'हृदय' 'मार्ग' आदि का ही प्रयोग करते थे, और जन-साधारण में वैसे रूप बोलने का प्रयत्न होने से उन संस्कृत-रूपों का देश, काल की प्रकृति के अनुसार एक नया अपभ्रंश तैयार हो जाता था।

बहुत से शब्द ऐसे पाए जाते हैं कि जिनका संस्कृत से प्राकृत में रूपांतर हुआ है, किंतु हिंदी में (प्राचीन कवियों की हिंदी में भी) संस्कृत का ही रूप व्यवहार में आता है, प्राकृत रूप या उसका अपभ्रंश हिंदी में नहीं आया। इससे भी वही अनुमान दृढ़ होता है कि शिक्षित समुदाय बोलचाल में भी अपनी प्रकृति के अनुसार प्राकृत के स्थान में संस्कृत रूप का ही व्यवहार करते थे, और उसी व्यवहार के कारण बहुत से सीधे शब्द जन-साधारण की भाषा में भी अपने ही रूप में रह गए। इसके भी कुछ उदाहरण देखिए—

संस्कृत	प्राकृत	हिंदी
प्राकृत	पाउअ	प्राकृत
अधिक	अहिअ	अधिक
उदक	उदअ	उदक
भोजन	भोअण	भोजन
विद्या	विज्जा	विद्या
राज	राअ	राज
धेनु	धेणु	धेनु
नदी	नई	नदी
अंगार	इंगाल, अंगाल	अंगार
औषध	ओसढ	औषध
कदंब	कलंब, कअंब	कदंब
कृश	कस, किस	कृश
गद्गद	गग्गर	गद्गद

संस्कृत	प्राकृत	हिंदी
चिकुर	चिहुर	चिकुर
निद्रा	णिद्दा	निद्रा
चिह्न	चेधं	चिह्न
मुकुट	मउड	मुकुट
वृंदावन	वुंदावण	वृंदावन
राधा	राहा	राधा
देवर	देअर	देवर
पीयूष	पेउस	पीयूष
भ्रुकुटि	भिउडी	भ्रुकुटि
सिंह	सीह	सिंह, इत्यादि इत्यादि

यही क्यों, बहुत से ऐसे भी स्पष्ट उदाहरण हैं कि संस्कृत के शब्द प्राकृत-अपभ्रंश द्वारा रूपांतर प्राप्त कर हिंदी-भाषा में आ गए, किंतु सभी प्राचीन हिंदी कवियों ने उनके स्थान में भी शुद्ध संस्कृत शब्दों का भी प्रयोग कर रखा है। एक ही कवि अपभ्रंश-रूप हिंदी शब्द का भी बहुधा प्रयोग करता है, किंतु वही उसके स्थान में शुद्ध संस्कृत-रूप भी स्थान स्थान में देता है। विज्ञ पुरुषों की दृष्टि में ऐसे उदाहरण बहुत से होंगे, किंतु श्री गोस्वामी तुलसी-दासजी के रामचरितमानस से कुछ ऐसे उदाहरण परिचयार्थ हम भी लिख देते हैं—

अपभ्रंश-प्रयोग	शुद्ध-प्रयोग
घर तुम्हार तिनकर मन नीका।	तजहु आस निज निज **गृह** जाहू।
आनेहु फेरि वेगि दोउ **भाई**।	तब हनुमंत कहा सुनि **भ्राता**।
सरग नरक जहँ लगि व्यवहारू।	तात **स्वर्ग** अपवर्ग सुख धरिय तुला।
कहि प्रिय बचन राम **पगु** धारे।	गुरु-**पद**-पदुम हरषि सिर नावा।
रिस अति बड़ि लघु चूक हमारी।	राग **रोष** इरिखा मन माहीं।
सकहुँ **पूत** पति त्यागीं।	मैं पुनि **पुत्र**वधू प्रिय पाई।

अपभ्रंश-प्रयोग	शुद्ध-प्रयोग
कहेउ **भुआल** सुनिय मुनिनायक।	पिता जनक **भूपाल**-मनि।
गावहिं मंगल कोकिल **बयनी**।	**वचन** न आव नैन भरि बारी।
धरेउ मोर घर-फोरी **नाऊँ**।	**नाम** पहरुआ दिवस निसि।
करहु हरषि **हिय** रामहिं टीका।	अंडनि कमठ-**हृदय** जिहिं भाँती।
तात पितुहिं तुम प्रान-**पियारे**।	प्रान-**प्रिया** किहिं हेतु रिसानी।
मुदित भए लहि लोचन **लाहू**।	हानि **लाभ** जीवन मरन।
तुमहि विदित सब ही कर **करमू**।	रहै **कर्म**बस परिहरि नाहू।

कहाँ तक गिनावें, ऐसे उदाहरण सब भाषा-कविताओं में अनंत भरे पड़े हैं। 'बुड्ढा' हिंदी रहने पर भी 'वृद्ध' का प्रयोग सभी कवि करते हैं, 'हाथ' रहते भी 'हस्त' को कोई नहीं भूला, 'मुँह' है, किंतु 'मुख' के बिना काम नहीं चलता, 'साँच' रहते भी 'सत्य' को सभी कवि आश्रय देते हैं। 'वृक्ष' से ही 'रूख' बना था, किंतु 'वृक्ष' ने सभ्य भाषा में से आसन नहीं उठाया। 'छाँह' मिली, किंतु 'छाया' की आवश्यकता बनी रही। 'सात' प्रसिद्ध हुआ, किंतु सप्त (**सप्त** प्रबंध सुभग सोपाना) से मुख नहीं मोड़ा जा सका। 'नूपुर' से 'नूडर' 'निउर' 'नेवर' हो गए, किंतु 'नूपुर' की ध्वनि बिना आनंद नहीं आता। यहाँ तक मिलता है कि एक ही पद्य में अपभ्रंश और उसके शुद्ध रूप दोनों उपस्थित हैं—

'**सब** के संमत **सर्व** हित, करिय प्रेम पहिचान।'

यह एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी की बात जाने दीजिए, उनकी भाषा ठेठ भाषा होती हुई भी पूर्ण संस्कृत-मिश्रित है। वे तो संस्कृत के समासवाले लंबे पदों का भी प्रयोग करते हैं; संस्कृत के ऐसे शब्द भी उनकी कविता में मिलते हैं, जिनकी प्रकृति के शब्द भाषा में आए ही नहीं। वे विभक्त्यंत संस्कृत पदों को और कहीं कहीं संस्कृत के पूरे वाक्यों को भाषा के बीच में लिख जाते हैं—

'को **विवेकनिधिवल्लभहिं** तुमहिं सकत उपदेस ।'

'जासु **ज्ञानरबि भवनिसि** नासा ।
वचनकिरन मुनिकमल विकासा ॥'

'भववारण-दारण-सिंह प्रभो ।'

'मन-संभव-दारुण-दोष-हरम् ।'

'ससुर **एतादृसं** अवध निवासू ।'

'सोइ रघुवरहिं तुमहिं **करनीया** ।'

'अबला बिलोकहिं पुरुषमय जग पुरुष सब **अबलामयम्** ।
दोइ दंड भरि ब्रह्मांड भीतर **कामकृत कौतुक अयम्** ॥'

'करि बिलाप **रोदिति वदति** सुता सनेह सँभारि ।'

'जीति कामं **अहमिति** मन माहीं ।'

'लरहिं **सुखेन** काल किन होऊ ।'

'**अज-व्यापकमेकमनादि सदा ।
करुणाकर राम नमामि मुदा** ॥'

'**मामभिरक्षय रघुकुल-नायक ।
धृतवरचाप रुचिरकरसायक** ॥'

'**भववारिधि-मंदर परमं दर ।
वारय तारय संसृतिदुस्तर** ॥'

इत्यादि उनकी कविता के उदाहरणों को कौन नहीं जानता। श्रीसूरदासजी का भी क्या कहना है। वे संस्कृत-वाणी के सुरम्य चित्र लिखने में सिद्ध-हस्त हैं। श्रीकेशवदासजी तो इस काम में प्रसिद्ध, बल्कि बदनाम भी हो चुके हैं कि वे अपनी कविता में संस्कृत पद बहुत देते हैं; किंतु टकसाली ब्रज-भाषा के कवि बिहारी भी—'**नभ** लाली चाली **निशा चटकाली** धुनि कीन', 'आए **वनमाली** न', '**कर** मुरली **उर** माल', 'सघन कुंज **छाया सुखद**, सीतल **मंद समीर**', '**दावानल** की **ज्वाल**', '**मकराकृति** गोपाल के', 'मनो नीलमनि सैल पर **आतप** पर्‌यो **प्रभात**', '**इंद्र-धनुष**' रँग होति', '**स्वेद सलिल रोमांच** कुस', '**स्तन** मन नयन नितंब को', '**प्रौढ विलास**

अप्रौढ', 'सुरपतिगर्व', 'नंदित करी' 'को घटिये वृषभानुजा' ऐसे ऐसे शतशः प्रयोगों से बाज नहीं आते। भूषण महाराज भी 'नभ सरित के प्रफुल्लित कुमुद मुकुलित कमलकुल होत हैं', 'मंजुल महरि मयूर चटुल चातक चकोर गन', 'दिनकर सोहै तेरे तेज के निकर सो' इत्यादि लिखने में नहीं चूकते। इन ऐसे महाकवियों पर यह कलंक लगाना बड़ी भारी धृष्टता है कि इन्होंने छंदों के अनुप्रास के लिये, छंदों के गणों की पूर्ति के अनुरोध से, वा शोभामात्र के लिये संस्कृत शुद्ध रूप लिख दिए। वाणी जिनके वश में है, वे पचासों तरह अनुप्रास मिला सकते हैं, सैकड़ों तरह गण-पूर्त्ति कर सकते हैं, शोभा उनके चरणों में लोटती है, जहाँ चाहें तहाँ पहुँच जायँ। संस्कृत-शब्दों के प्रयोग का इनका कारण वही पूर्वोक्त है कि ये सब संस्कृत-भाषा के परम विद्वान् थे, संस्कृत में ही इन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी, इस कारण प्रकृतिवश इनके मुख से संस्कृत-शब्द निकलते थे। पद्य ही क्यों, प्राचीन टीका आदि का जो गद्य-लेख मिलता है, उसमें भी तो संस्कृत-शब्दों की कमी नहीं। तब प्रकृति ही इसका कारण है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। ये सब भाषा के जन्म-दाता हैं, इसलिये इनकी प्रकृति के अनुसार ही भाषा का स्वरूप बना, और यों शुद्ध संस्कृत-रूपों को हिंदी आदि भाषाओं में पर्याप्त स्थान मिलता गया।

यह प्रकृति (आदत) बहुत पुरानी है, क्योंकि अति प्राचीन काल की भाषा में भी (जिसे अपभ्रंश-भाषा नाम से भी पुकारा जाता है) प्राकृत आदि की उपेक्षा कर शुद्ध संस्कृत-रूपों को उस काल के कवि-महानुभावों ने स्थान दिया है। चंदबरदाई तो अपनी कविता में संस्कृत-भाषा का होना स्वयं ही उद्घोषित करते हैं, 'षड्भाषा कुरानं च पुरानं कथितं मया' किंतु औरों की कविता में भी ऐसा पाया जाता है। श्रीगुलेरीजी ने नागरीप्रचारिणी पत्रिका की लेख-माला में जो 'पुरानी हिंदी' शीर्षक प्राचीनतम गाथाएँ उद्धृत की हैं उनमें से एक उत्तम उदाहरण देखिए—

काणंण सिरि सोहइ अरुण नव-पल्लव-परिणद्ध।
नं रत्तंसुय पावरिय बहु पियमय संबद्ध॥

इसके 'अरुणनवपल्लवपरिणद्ध' और 'संबद्ध' क्या प्राचीन कवियों की प्रकृति का अनुमान कराने को यथेष्ट पर्य्याप्त नहीं हैं? प्राचीन गाथाओं में बहुत से शब्द ऐसे मिलते हैं कि जिनका प्राकृत-भाषा में भिन्न रूप है, किंतु हिंदी में संस्कृत के तत्सम या तद्भव-रूप व्यवहार में लिए गए हैं। जैसे, 'नाग', 'मृग', 'सखी', 'आभरण', 'रूप' आदि। साथ ही ऐसे भी उदाहरण बहुत हैं कि प्राकृत-भाषा से उत्पन्न शब्द उस काल की हिंदी में आते रहे, किंतु पीछे की हिंदी में फिर संस्कृत-रूप आ गए। जैसे श्रद्धेय श्री गोविंदनारायण मिश्रजी ने अपने 'विभक्ति-विचार' में जो पद्य उद्धृत किया है—

ढोला मइँ तुहुँ वारिआ मा कुरु दीहा माणु।
णिद्दए गमिही रत्तड़ी दड़बड़ होइ विहाणु॥

इसमें दीर्घ का 'दीहा' और 'मान' का 'माणु' मिलता है, किंतु आगे की हिंदी में फिर 'दीरघ' और 'मान' का ही प्रयोग है। साथ ही इस अपभ्रंश-मय दोहे में 'मा कुरु' शुद्ध संस्कृत क्रिया का रूप भी इस विषय में कम चमत्कारक नहीं है। अस्तु, 'नरवई', 'भुवणि', 'भट्ठ', 'दुहु', 'पहु' आदि प्राकृत वा प्राकृत से बने रूप प्राचीन गाथाओं में आए हैं, किंतु आगे के कवियों की हिंदी में 'नरपति', 'भुवन', 'भट', 'दुःख', 'प्रभु' आदि शुद्ध संस्कृत-रूप ही व्यवहृत हुए हैं। इन सब बातों से यह पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि समय समय पर बार बार संस्कृत शब्दों का ग्रहण हिंदी भाषा में सदा से होता रहा, और आज जो कई एक महानुभाव संस्कृत-भाषा को हिंदी की जननी वा नानी नहीं मानते, किंतु मौसी या बड़ी बहन सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं, वे गलती पर हैं। संस्कृत-भाषा जहाँ हिंदी-भाषा की नानी, परनानी है, वहाँ साक्षात् जननी भी है। तब फिर मा के दूध के सिवा पोषण के लिये अधिक उपयोगी सामग्री और भला कहाँ मिल सकती है? इस-लिये हिंदी-भाषा की पुष्टि के लिये संस्कृत शब्द ही पूर्ण-रूप से उपयुक्त

हो सकते हैं, इसमें कोई संदेह का स्थान नहीं रहता। दूसरी बात यह भी है कि जिन अपभ्रंश वा प्राकृत-भाषाओं से हिंदी के कलेवर के बहुत बड़े अंश की उत्पत्ति मानी जाती है, वे भाषाएँ तो आज बहुत ही दूर पड़ गईं। उनसे शब्द लेना तो कहाँ की बात, उनके शब्दों का उच्चारण और समझना ही आज दुर्लभ है। उनकी अपेक्षा संस्कृत के शब्द आज भी सौगुने सुबोध हैं। पहले लिखा जा चुका है कि संस्कृत के साथ इस देश का घनिष्ठ संबंध है। पीछे जो भाषाएँ उत्पन्न हुईं, उनका परिचय सर्वथा जाता रहा, किंतु अति प्राचीन संस्कृत-भाषा से आज भी देश का परिचय बना हुआ है। संस्कृत के शब्द आज भी बोले और समझे जाते हैं, किंतु प्राकृत आदि भाषाओं के नए शब्दों को ठीक बोलने और समझनेवाले देश भर में अँगुलियों पर गिने जाने योग्य मनुष्य होंगे। इससे आज यदि हम हिंदी की आवश्यकता की पूर्ति कर सकते हैं तो संस्कृत शब्दों के द्वारा ही कर सकते हैं। और उपाय नहीं है।

प्राकृत और अपभ्रंश ही क्यों, पुरानी हिंदी में खूब व्यवहार में आते हुए शब्दों का भी आज की हिंदी में पता नहीं। वर्तमान हिंदी का संगठन तो बिलकुल संस्कृत के आधार पर है। आज प्राकृत आदि भाषाओं के क्रम से बने हुए शब्द बहुत कम बोले जाते हैं, उनकी अपेक्षा शुद्ध संस्कृत रूप बहुत अधिक प्रचलित हो गए हैं। वर्तमान हिंदी में 'दीठ' कोई नहीं कहता, न कोई समझता है, 'दृष्टि' ही सब बोलते और समझते हैं। और भी कुछ उदाहरण हम नीचे ऐसे शब्दों के देते हैं, जिनमें पुराने हिंदी-रूपों को छोड़कर शुद्ध संस्कृत-रूप ही वर्तमान हिंदी में व्यवहार में आ रहे हैं।

प्राकृत द्वारा बने पुराने हिंदी रूप।	आजकल व्यवहार में आते हुए शुद्ध संस्कृत रूप
रूँख	वृक्ष
छाँह	छाया
अप्पा	आत्मा

प्राकृत द्वारा बने पुराने हिंदी रूप।	आजकल व्यवहार में आते हुए शुद्ध संस्कृत
लच्छी	लक्ष्मी
अचरज	आश्चर्य
पोथी	पुस्तक
छमा, खमा	क्षमा
छुहा, छुधा	क्षुधा
बाम्हन	ब्राह्मण
अखय, अखै*	अक्षय
चक्कवइ†	चक्रवर्ती
आरज‡	आर्य
वसह	वृषभ
पैज	प्रतिज्ञा
ठाउँ	स्थान
जोन्ह	ज्योत्स्ना
चख	चक्षु
संक्रोन	संक्रमण
माहप्प	माहात्म्य
मुरुक्खु	मूर्ख
कान्ह	कृष्ण
अमिअ	अमृत
दैयत	दैत्य
तिय	स्त्री
महु, मुहाल	मधु

* 'छेत्र अखयबट मुनि मन माहीं'।

† 'ससुर चक्कवइ कोसलराऊ'।

‡ 'आरजसुत-पद-कमल बिनु बादि जहाँ लगि बात'

ये उदाहरण बस, केवल उदाहरणमात्र ही हैं। प्राचीन हिंदी-भाषा के काव्यों को देखने से पाठकों को पता लगेगा कि हजारों शब्द ऐसे हैं, जिनके वे अपभ्रंश-रूप अब काम में नहीं लिए जाते, जो कि उन काव्यों में आए हैं। अब उनके स्थान में शुद्ध संस्कृतरूप ही आजकल की हिंदी में चल रहे हैं। ऊपर के उदाहरणों पर दृष्टिपात करने से विदित होगा कि इनमें बहुत से अपभ्रंश-रूप तो ऐसे हैं, जो आज भी साधारण जनता की बोलचाल में आते हैं, किंतु लेखक उन्हें 'ग्राम्य', 'असभ्य' समझकर विशुद्ध लेख-भाषा में नहीं लेते, और बहुत से ऐसे हैं, जिनका व्यवहार अब इतना लुप्त हो गया कि अर्थ समझना भी आजकल की जनता में कठिन है। ऐसे ही शब्दों ने प्राचीन हिंदी-भाषा के काव्यों को आज परम कठिन बना दिया है; और प्राचीन काव्यों के पढ़ने-पढ़ाने का यथेष्ट प्रयत्न न हुआ, तो थोड़े ही समय में उनके लुप्त हो जाने का डर है, जैसे कि प्राकृत के और अपभ्रंश के ग्रंथ लुप्त अथवा लुप्तप्राय हो चुके। इसी दृष्टांत से पाठक समझ सकते हैं कि 'संस्कृत-भाषा' एक 'अमर-भाषा' है, उसकी मृत्यु नहीं हो सकती। उससे आगे जो भाषाएँ बनीं, वे क्रमशः लुप्त हो गईं, और हो रही हैं; उनके शब्दों में काल-क्रम से 'ग्राम्यता' आ जाती है, उनका व्यवहार छूट जाता है किंतु संस्कृत के शब्द कभी इस दोष से दूषित नहीं होते। वे बार बार अपने असली रूप में, क्रमशः उत्पन्न होती हुई भाषाओं में प्रविष्ट होकर, उन भाषाओं में जीवन डालते हैं, उनका सौंदर्य्य और महत्त्व बढ़ाते हैं। संस्कृत-भाषा के विषय और शब्द दोनों सामग्रियाँ ऐसी ही हैं कि ये सदा 'नव' ही रहती हैं, इनमें पुराना-पन आता ही नहीं। इसी से वह मृत्युभयरहित अमर-भाषा कही जाती है, और जितने शब्द उसके जिस भाषा में अधिक होंगे, उतनी ही उस भाषा की स्थिरता होगी। इससे भाषा के श्रेय की दृष्टि से भी संस्कृत-शब्दों का ग्रहण आवश्यक और उपयोगी है। अस्तु, इससे सिद्ध यही किया गया है कि हिंदी का वर्तमान

स्वरूप अधिकांश में संस्कृत-शब्दों से ही संगठित है, और आवश्यकतानुसार संस्कृत-शब्दों का ही ग्रहण इस भाषा में अनिवार्य है।

यह तो ठीक है कि प्रचलित भाषा में समय समय पर दूसरी उस समय की प्रचलित भाषाओं से भी कुछ शब्द अवश्य आते हैं, उन्हें रोकने की किसी की शक्ति नहीं, और उन्हें रोकने की चेष्टा करना मानों भाषा के स्वरूप-नाश का उपक्रम करना है। यह प्रकृति-सिद्ध नियम है; प्रकृति-सिद्ध नियम को बदल देना मनुष्य-शक्ति के बाहर है। इसी नियम से बहुत से फारसी और अँगरेजी आदि के शब्द आज हिंदी-भाषा के स्वरूप में लीन हो चुके हैं, अब उन्हें निकालने की चेष्टा करना भाषा के अंगों के काटने के समान है, और वे किसी के निकाले निकल भी नहीं सकते। और भी कुछ ऐसे शब्द समयानुसार और आवश्यकतानुसार हिंदी-भाषा में अवश्य आते रहेंगे, विशेष कर उन चीजों के लिये जो इस देश के लिये नई हैं। वे चीज़ें जिस देश से आई हैं, उस देश की भाषा के शब्द ही अधिकतर व्यवहार में आवेंगे। और भी कुछ सरल-शब्द प्रकृतिवश आते रहेंगे। हिंदी ही में क्यों, अँगरेजी तो आज सर्वोन्नत-भाषा है, किंतु वह भी समयानुसार हिंदी, उर्दू, फारसी से कुछ शब्द ले ही लेती है। बहुतों का अनुमान है कि अतिप्राचीन काल में भी संस्कृत में ऐसे देश-भाषा के शब्द प्रविष्ट होते रहे हैं, और मध्यकाल में तो कई ऐसे शब्द संस्कृत में स्पष्ट ही पाए जाते हैं। यों सभी भाषाएँ एक दूसरी से कुछ शब्द लेती देती हैं, तो उस नियम से हिंदी ही कैसे पृथक् होगी! किंतु यह ध्यान रहे कि ऐसे, विदेशीय भाषाओं के, शब्द आटे में नमक के समान ही खप सकते हैं, इतनी मात्रा में रहते हुए ही वे भाषा की शोभा बढ़ाते हैं। यदि उन्हीं की भरमार हो जाय, तो भाषा की शोभा कौन कहे, उसका स्वरूप-नाश ही उपस्थित हो जाता है। प्रकृतिवश जितने शब्द अनिवार्य रूप से बोलचाल में आते हैं, वे आते रहें, किंतु उनको दृष्टांत बनाकर लेखक सज्जन अपने इच्छानुसार दूसरी भाषाओं

से शब्दसमूह लेने लगें, तो भाषा खतरे में पड़ जायगी। दुर्भाग्य-वश (अब ईश्वर की कृपा से वह बात बहुत कम हो गई है) कुछ दिन पहले हिंदी के कुछ लेखकों में ऐसी प्रवृत्ति थी। उसी प्रवृत्ति ने बहुत से सज्जनों के मुख से यह कहलवाया कि 'अजी हिंदी कोई एक ज़बान थोड़े ही है, उसकी तो शकल जुदा जुदा है'। कहिए, हिंदी के स्वरूप-नाश का उपक्रम हुआ था या नहीं? उसी प्रवृत्ति के कारण आज तक यह घोर क्षति हमें सहनी पड़ती है कि बहुत से हिंदी-प्रेमी नरेशों ने अपने अपने राज्य में हिंदी-प्रचार की घोषणा की है, किंतु वहाँ नागरी अक्षरमात्र प्रचलित हुए हैं, हिंदी-भाषा का कुछ भी प्रवेश नहीं हुआ। यदि उन राज्यों की अदालती हिंदी का नमूना कभी कान में पड़ जाय, तब हिंदी-प्रेमी सज्जनों को यह विचारना पड़े कि 'हा! क्या यह वही हिंदी है, जिसे हम माता कहकर पूजते हैं'? क्या इस हिंदी से वे उद्देश्य पूरे होंगे, जिनके लिये देश-भक्त सज्जन हिंदी प्रचार का आंदोलन कर रहे हैं?' नाममात्र हिंदी रखकर विदेशीय संपत्ति से उसका सर्वांग सजाना मातृ-भाषा का अपमान ही नहीं, उसे मारने की सामग्री इकट्ठी करना है, उस पर अत्याचार करना है। इस अत्या-चार से अपनी मातृ-भाषा की रक्षा करने की ओर प्रत्येक मातृ-भाषा-प्रेमी को ध्यान देना चाहिए; जान बूझकर विदेशीय भाषा के प्रयोगों की भरमार को रोकना चाहिए। जो सज्जन हिंदी के दो* रूप बनाने के पक्षपाती हैं, उन्हें भी सोचना चाहिए कि फिर देश की एक भाषा कैसे बनेगी? क्या एक तरफ अरबी 'सुथन' और एक तरफ 'टटकी धोई धोती' पहने हुए हिंदी एक कहलावेगी? कदापि नहीं। भारत के भिन्न भिन्न प्रांतों की एक भाषा बनाने के लिये तो यह अत्यावश्यक है कि संस्कृत शब्दों का ही अधिक मात्रा में प्रयोग कर हिंदी का स्वरूप बनाया जाय। ऐसी हिंदी 'बंगाल', 'मद्रास' आदि में शीघ्र चल सकती है, क्योंकि संस्कृत-

* एक संस्कृत-मिश्रित और एक अरबी-फारसी-मिश्रित।

भाषा से सभी प्रांतों का संबंध है। किंतु विदेशीय शब्दों से खचाखच भरी हिंदी को वहाँ चलाना अति कठिन है। इस बात पर भी हिंदी-प्रांत के लेखकों को दृष्टि रखनी चाहिए। पंजाब को हिंदी-प्रचार में पिछड़ा हुआ देश बताया जाता है, किंतु हिंदी-भाषा के प्रचार में पंजाब उन्नति कर रहा है। उर्दू अक्षरों का वहाँ साम्राज्य है सही, किंतु हिंदू लेखक शब्द बहुत से संस्कृत के ही काम में लाते हैं। यह प्रवृत्ति पंजाब में बढ़ती जा रही है। इससे आशा है कि कुछ काल में भाषा-प्रचार वहाँ एकदम हो जायगा। फिर लिपि-प्रचार में देर ही क्या लगेगी! हिंदी-साहित्य के जन्म-दाता संयुक्त-प्रांत के लेखकों को भी भाषा की एक शैली पर अधिक ध्यान देने की कृपा करनी चाहिए।

यहाँ तक मैंने पूर्वकाल के इतिहास, आवश्यकता और उपयोगिता के विचार से हिंदी-भाषा में संस्कृत शब्दों के ग्रहण का पक्ष-समर्थन किया है। अब उस शब्द ग्रहण में जो अत्याचार हो रहा है, उसके विपरीत थोड़े से शब्द कहकर इस निबंध को समाप्त किए देता हूँ। आवश्यकतानुसार हिंदी-भाषा में संस्कृत-शब्दों का ग्रहण उपयोगी और लाभदायक है, किंतु हिंदी-भाषा को सर्वथा संस्कृत ही बना देना लाभदायक नहीं है। संस्कृत में एक नीति वाक्य है, 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'-अति कहीं नहीं करनी चाहिए, अति से अत्याचार होता है। लेखकों को सदा मध्य-मार्ग का अवलंबन करना चाहिए। दूसरे प्रांतों में हिंदी-प्रचार का जैसे ध्यान रखना है, सब श्रेणी के लोगों को एक भाषा समझाने का भी उससे कम ध्यान नहीं रखना है। संस्कृतमय बनाकर आपने बंगाल, महा-राष्ट्र आदि में हिंदी का प्रचार शीघ्र कर लिया, किंतु वह केवल शिक्षितों की भाषा बन गई, सर्व-साधारण उसे बिलकुल न समझ सके, तो क्या लाभ हुआ? लाभ क्या, बड़ी हानि हो गई। देश की एक भाषा बनाने का उद्देश्य ही नष्ट हो गया। इससे भाषा ऐसी होनी चाहिए, जिसे साधारण-जनता भी समझ सके। साधारण

बोलचाल की भाषा से चाहे प्रकृति के अनुसार उसमें भेद हो, किंतु साधारण लोगों के समझने के योग्य तो रहे। तात्पर्य यह कि आजकल कुछ लेखक सज्जन जो 'बँगला' का आदर्श लेकर हिंदी में प्रति शतक ८०—९० शब्द संस्कृत के ठूँसकर उसे एकदम संस्कृत बना रहे हैं, यह प्रवृत्ति मेरी समझ में अच्छी नहीं। इससे हिंदी का अपना भांडार लुप्त हो जायगा और लेख की भाषा साधारण भाषा से बहुत दूर चली जायगी। हिंदी-भाषा में हिंदी-भाषा के शब्द ही प्रथम लेने चाहिएँ, फिर जब उनसे आवश्यकता पूरी न हो, तब संस्कृत-भाषा से सरल शब्द लेने चाहिएँ। किंतु कई एक लेखक सज्जन तो आजकल हिंदी में ऐसे अप्रसिद्ध शब्द और ऐसे विकट समासों का प्रयोग करते हैं जो आजकल संस्कृत-भाषा में भी 'भयंकर' माने जाते हैं। 'विकच मल्लिका चढ़ाकर', 'स्वलदयशैलशृंग पै', 'अनल्पकल्पकल्पना', 'जलप्रशांतरेणुकामय मार्ग', 'सहानुभूतिजनित हृदयममता', 'शुभ्रांगिनी सुपवना सुजला सुकूला', 'सत्पुष्पसौरभवती', 'गिरिशृंगस्पर्द्धिनी', 'इंद्रियों की उद्दाम प्रवृत्ति की सजीव क्रिया', 'संकुचित परिधि में आबद्ध' इत्यादि अप्रसिद्ध शब्द और जटिल समासों से लदे हुए वाक्यखंड जो हिंदी के प्रसिद्ध लेखकों की लेखनी से निकल रहे हैं, इनका समझना साधारण-संस्कृतज्ञ के लिये भी कठिन है। इस प्रकार हिंदी की प्रकृति की रक्षा कैसे होगी? हिंदी की प्रकृति तो सुरक्षित रखना है। इस समय तो संस्कृत को भी सरल बनाने का आंदोलन है, वहाँ भी समासों पर आक्षेप होते हैं, फिर संस्कृत सरल बने, और हिंदी कठिन बनती जाय! यह विचित्र मार्ग है!! इसके अतिरिक्त इस प्रकार के जटिल शब्दों और वाक्यों को हठात् हिंदी में खींचनेवाले सज्जन बहुधा संस्कृत-व्याकरण के नियमों का भी कायाकल्प करने पर उतारू हो रहे हैं; वे संस्कृत के अगाध समुद्र में तल तक डुबकी लगाकर नए नए शब्द खोजकर लाते हैं, किंतु उनसे अपने मनमाने मुहाविरों का काम लेते हैं, और संस्कृत-व्याकरण के नियमों

की भी बिलकुल पर्वाह नहीं करते। जब संस्कृत से शब्द लेना है, तब उन शब्दों की दो ही प्रक्रियाएँ हो सकती हैं—या तो हिंदी की प्रकृति के अनुकूल—वैसे प्रत्यय लगाकर उन्हें बनाया जाय, जैसा कि प्राचीन कवि बहुधा करते रहे हैं, जैसे, 'सुंदरता' संस्कृत का शब्द है, इसे हिंदी में लेते समय 'सुंदरताई' बना लिया, तो यह हिंदी की प्रकृति के अनुकूल हुआ। या फिर संस्कृत-शब्दों को अपने ही शुद्ध-रूप में लिया जाय, जैसी कि आजकल चाल है। इस दशा में वे संस्कृत में जैसे अर्थ में हैं, या उनके संबंध में संस्कृत-व्याकरण के जैसे नियम हैं, एवं वाक्य-रचना की संस्कृत और हिंदी की जैसी पद्धति है, उस सबकी रक्षा आवश्यक होगी। यदि ये सब बातें न हुईं, तो हिंदी एक विलक्षण भाषा बन जायगी। बंगाली लेखकों ने कुछ संस्कृत शब्दों को मनमाने मुहाविरों में बाँधा था, 'आप यह उपकार कर हमें चिर बाधित करेंगे' इत्यादि, उनकी तो हँसी होती ही थी, इधर हिंदी के लेखक सज्जन उनसे भी बहुत आगे बढ़ गए। उदाहरण—'मीलित वर्ण', 'कविता के माध्यम शब्द हैं', इत्यादि मुहाविरे संस्कृत में कहीं प्राप्त नहीं होते, न इन संस्कृत-शब्दों का इससे मिलते जुलते अर्थ में ही प्रयोग प्राप्त है। हिंदी में तो ऐसे शब्दों की गंध भी क्यों आने लगी, किंतु हिंदी के 'भाग्य-विधाता' इनका प्रयोग करते हैं, फिर यह मनमानी नई भाषा गढ़ना नहीं तो क्या है? 'इसके अतिरिक्त उसकी क्रिया भी कठोर होती है' के स्थान में कई सज्जन लेखक 'इसके व्यतीत उसकी क्रिया भी' लिखने लगे हैं, यह 'व्यतीत' शब्द सर्वथा मुहाविरे और व्याकरण दोनों से विरुद्ध है। 'मनस्कामना' जब हिंदी और संस्कृत दोनों के नियमों से संगत नहीं (हिंदी में मनकामना होनी चाहिए, और संस्कृत में मन:कामना) तब फिर उसे क्यों हिंदी के सिर पर लादा जाय? 'अनुपमा तरुराजिहरीतिमा', 'अरुणिमा जगतीतलरंजिनी' आदि के 'हरीतिमा', 'अरुणिमा' शब्द हिंदी की प्रकृति के अनुकूल तो हैं ही नहीं, वहाँ तो 'हरियाली', 'अरुनाई' होने चाहिएँ; हिंदीवाले तो इन

शब्दों का अर्थ सीखने को कुछ दिन पढ़ें, तब उनका काम चले, किंतु इन्हें शुद्ध संस्कृत मान लेने पर भी यह आपत्ति रहती है कि संस्कृत में ये शब्द पुँल्लिंग हैं, फिर यहाँ स्त्रीलिंग क्यों बनाए गए! इनकी जाति का 'महिमा' शब्द अवश्य हिंदी में स्त्रीलिंग होकर आया है, किंतु इससे क्या ऐसे सब शब्दों को हिंदी भाषा में लेने का और सबको 'स्त्रीलिंग' बना लेने का अधिकार हमें प्राप्त हो गया? अच्छा इसे क्षम्य भी मान लें, तो और देखिए 'प्रति घड़ी-पल संशय प्राण हैं' इस वाक्य में 'प्राण के संशय' के लिये 'संशय प्राण' को किस भाषा के अनुकूल मानें? संस्कृत के अनुसार हिंदी में या तो 'प्राण का संशय' कहना चाहिए, या 'प्राण-संशय' कहना चाहिए। यदि जिसके प्राणों का संशय है, उस व्यक्ति का विशेषण इस शब्द को बना देना हो, तो 'संशयगतप्राण' कहना पड़ेगा, 'संशयप्राण' तो किसी भाँति हिंदी में नहीं जमता। हाँ 'बहारे चमन' और 'गुलदस्ते गुलाब' आदि की तरह 'संशये प्राण' बनाया जाय तो चल सकेगा! किंतु भारतीय रसाल में यह अरब के खजूर का पैबंद कहाँ तक उचित होगा, यह पाठक ही सोचें। इसी तरह 'इस सओज सुभाषण श्याम से' इस वाक्य में भी 'श्याम के सुभाषण से' या 'श्याम-सुभाषण से' होना चाहिए—वाक्य के शब्द सब विकट संस्कृत के और नियम विदेशीय!! यह कैसे उचित हो सकता है? 'अगम्य-कांतार-दरी-गिरींद्र में' यहाँ भी 'दरी' शब्द का पूर्वनिपात संस्कृत व्याकरण की रीति से शुद्ध नहीं हो सकता। 'गिरींद्र-दरी में' या 'गिरींद्र की दरी में' होना चाहिए। इस प्रकार के संस्कृत की तह के तो शब्द हों, और संस्कृत-व्याकरण के नियम के विरुद्ध हों, तो उनकी उचितता विचारणीय होगी। 'ज्योति-विकीर्णकारी उज्ज्वल चक्षुओं के सम्मुख है' इस वाक्य में 'ज्योतिविकीर्णकारी' शब्द जैसा विकट है, वैसा ही अशुद्ध भी है। 'विकीर्ण' शब्द स्वतंत्र भाव-वाचक नहीं, विशेषण है। उसे ज्योति का विशेषण बनाने से वह ज्योति से पूर्व प्रयुक्त होगा, और स्वतंत्र भाववाचक शब्द बनाने से 'ज्योतिर्विकिरण-

कारी' कहना उचित होगा। 'श्रुतिकंठ-विदीर्णकारी अक्षरों से' का भी यही हाल है, 'श्रुतिकंठविदारणकारी' हो सकता है।

'बहु भयावह गाढ़-मसी-समा
सकल-लोक-प्रकंपित-कारिणी।'
'विषाक्तश्वासा दलदग्ध-कारिणी।'

इत्यादि वाक्यों की जटिलता और हिंदी में लिए जाने की योग्यता पाठक देखें, और साथ ही 'प्रकंपित-कारिणी' और 'दल-दग्धकारिणी' की पूर्वोक्त अशुद्धि पर भी ध्यान दें। यहाँ 'प्रकंपन-कारिणी' और 'दलदाह-कारिणी' ही व्याकरण के अनुकूल हो सकता है। 'अपनी अल्पविषया मति-साहाय्य से' इस वाक्यखंड में भी समास के नियमों का पालन नहीं है। यहाँ 'साहाय्य' शब्द को यदि समास से पृथक् रखें, तो मति के साहाय्य से कहना चाहिए। और 'साहाय्य' को भी समास के भीतर डालें, तो 'अपनी' यह स्त्रीलिंग विशेषण किसके सिर मढ़ा जाय? साहाय्य तक समास हो, और विशेषण मति के साथ लगे, यह संस्कृत व्याकरण और हिंदी की प्रकृति के भी प्रतिकूल है। इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि संस्कृत के जटिल-समासवाले शब्द लेखक-महोदय हिंदी में लेते हैं, किंतु संस्कृत नियमों की पर्वाह करना नहीं चाहते। तद्धित की और भी दुर्दशा है। व्याकरण के महाभाष्यकार भग-वान् पतंजलि ने एक जगह वार्तिककार वररुचि का मजाक करते हुए लिखा है कि 'प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः' अर्थात् दक्षिण-देश के लोगों का तद्धित से बड़ा प्रेम है, जहाँ बिना तद्धित काम चल सकता हो, वहाँ भी वे तद्धित लगाते हैं। इसका उदाहरण भी उन्होंने दिया है कि 'यथा लोके वेदे च' इस सीधे वाक्य से जहाँ काम चल सकता है, वहाँ भी दक्षिणी लोग 'यथा लौकिकवैदिकेषु' ऐसा तद्धित-प्रत्यय लगाकर प्रयोग किया करते हैं। अस्तु, यह उस समय की बात होगी, आजकल तो 'प्रियतद्धिता हिंदीकर्णधाराः' कहना चाहिए। हिंदी के लेखक-प्रवरों का तद्धित से इतना प्रेम

बढ़ गया है कि हो न हो, प्रयोजन से या बिना प्रयोजन, तद्धित जरूर लाते हैं। फिर आनंद यह है कि संस्कृत के शुद्ध शब्द हों, उनमें संस्कृत के ही तद्धित लगाए जायँ, किंतु संस्कृत-व्याकरण की कोई पर्वाह नहीं। संस्कृत-व्याकरण की रीति से चाहे और ही तद्धित प्राप्त हो, और उस तद्धित का चाहे और ही रूप बनता हो, किंतु हमारे लेखक-महोदय एक नया तद्धितरूप गढ़ नई भाषा की निर्माण-शक्ति का परिचय दे ही देते हैं। इन बातों के उदाहरण लीजिए 'यह कार्य्य आवश्यक है' लिखने से पूरा निर्वाह होता है, किंतु प्रिय-तद्धित यहाँ 'यह कार्य्य आवश्यकीय है' लिखते हैं, 'समूहरूप से आंदोलन' लिखना पर्याप्त है, किंतु 'सामूहिक-रूप से आंदोलन' लिखने में उन्हें विशेष आनंद आता है। 'वैयाकरण' रूप स्वयं तद्धितांत है, किंतु लेखक महोदय डबल तद्धित लगाकर 'वैयाकरणी पंडित' लिखने में शान समझते हैं। हिंदी की प्रकृति के अनुकूल 'व्याकरणी पंडित' कहना चाहिए, संस्कृत से 'वैयाकरण पंडित' शुद्ध है, किंतु 'वैयाकरणी' कहाँ से निकल पड़ता है, भगवान् जाने!! 'वास्तव में' लिखना पर्याप्त है, किंतु 'वास्तविक में' लिखना महत्त्व का माना जाता है। एक विकट लेखक महोदय ने एक जगह "शार्ङ्गारिक कविता" लिखा है, मतलब है आपका 'शृंगार रस की कविता' से! हम सत्य कहते हैं, यह भीषण तद्धित-प्रयोग हमने संस्कृत में भी नहीं देखा। और एक वाक्य लीजिए 'आपके द्वारा हम साभापत्य आसन को सुशोभित होते देखना चाहते हैं' भला यह महानुभाव 'सभापति के आसन को' लिख देते तो भाषा की क्या नाक कटी जाती थी? संस्कृतवाले भी जहाँ 'वर्णच्छंद', 'मात्राछंद' लिखकर काम चलाते हैं, वहाँ हमारी हिंदी के आचार्य्य 'वार्णिक छंद' और 'मात्रिक छंद' लिखना ही आवश्यक समझते हैं। ये रूप ठीक भी हैं या नहीं, सो कौन सोचे। अशुद्ध और अनुपयुक्त तद्धितांतों का तो ठिकाना ही नहीं है। बस एक 'इक' को सबने प्रधान तद्धित मान रखा है, कोई व्याकरण के ग्रंथकार बनकर भी 'सार्वनामिक' लिखते

हैं, तो कोई अलंकार के आचार्य्य 'अलंकारिक' काव्य और 'शाब्दिक चमत्कार' लिख डालते हैं। कोई 'सार्वदेशिक ज्ञान' कहता है, तो कोई 'सार्व-भौमिक' रूप दे डालता है। लिखते हँसी आती है, कई सज्जन तो 'व्यात्क्तिक' लिखकर अपनी वैयक्तिक योग्यता का साफ परदा उघार देते हैं। 'साम्राज्यिक', 'साहित्यिक', 'आत्मिक' 'मानसिक', 'बौद्धिक', 'व्याख्यानिक', 'वैद्युतिक', 'पाशविक' कहाँ तक गिनावें, ऐसे ऐसे विचित्र रूप हिंदी में चल रहे हैं, कि देखते ही बनता है। इस 'इक' 'इक' की टिक टिक में भले ही कुछ सज्जन सौंदर्य सम-झते हों, किंतु व्याकरण का गला घोटा जा रहा है, इसमें संदेह नहीं। 'इक' की तरह 'इत' का भी प्रेम बढ़ता जाता है। 'क्षेत्र सीमित है' (सीमाबद्ध है, इत्यर्थः), 'वे निरुत्साहित हो गए' (निरुत्साह से काम नहीं चलता क्या ?), 'निर्माणित हुआ है' आदि आदि प्रयोगों की बानगी अब मिलने लगी है। हमारा विनय यह है कि प्रथम तो तद्धित के इतने जंजाल में जान बूझकर घुसने की आवश्यकता क्या है ? और यदि तद्धितांत-रूप लेना ही है, तो ऐसे ही रूप लिए जायँ, जिनका प्रयोग हम जानते हों। अशुद्ध तद्धित लेकर भाषा की मिट्टी पलीद करने के साथ साथ अपना भी उपहास क्यों कराया जाय ? ऐसे तद्धितांतों से भाषा की कठिनता भी बहुत बढ़ रही है, सीधा 'षष्ठी-विभक्ति' या 'संबंधी' शब्द लगाने से (साम्राज्य-संबंधी, साहित्य संबंधी आदि) जब काम अच्छी तरह चल सकता है, तो इस तद्धित-प्रेम के व्यसन में क्यों उलझना।

तद्धितांतों की तरह कृदंत-रूप भी कुछ कुछ विलक्षण बनाए जा रहे हैं, 'प्रकंपायमान वृक्ष', 'नियमित-रूप', 'इच्छित-अर्थ' आदि शब्द धुरंधर लेखकों के लेखों में भी देखे जाते हैं, जहाँ कि व्याकरण से 'प्रकंपित', 'नियत', 'इष्ट' होने चाहिएँ। 'हमने अमुक बात को प्रमाण किया', 'यह मार्ग मैंने निश्चय किया' इत्यादि मुहा-विरे भी बढ़ रहे हैं, जिनमें कि विशेषण बनाकर भी भाव-वाचक शब्द ही रख दिए जाते हैं। या तो 'बात का निश्चय' चाहिए,

या 'बात निश्चित'। इसी तरह स्त्री-प्रत्यय के प्रयोग में भी हिंदी की प्रकृति के प्रतिकूल व्यवहार हो रहा है। हिंदी में विशेषणों के आगे स्त्री-प्रत्यय बहुधा नहीं आता, खासकर विधेय विशेषण के आगे तो स्त्री-प्रत्यय प्रायः इस भाषा की प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ता। 'प्रधान सहायिका होने के कारण आदरणीया हैं' और 'विविधा सहायता, अशंक की थी' आदि प्रयोग हिंदी में कहाँ तक प्रकृति के अनुकूल माने जा सकते हैं, इस पर पाठक सज्जन ही विचार करें।

जहाँ कुछ सज्जन संस्कृत के इतने भीतर जाकर भाषा-निर्माण कर रहे हैं, वहाँ कुछ महानुभाव यही सम्मति देते हैं कि संस्कृत के शब्दों को तोड़ मरोड़कर या बिगाड़कर ही भाषा में लिया जाय। 'अस्थिरता' की अपेक्षा 'अनस्थिरता' ही कहना वे ठीक बताते हैं। किंतु मेरी तुच्छ सम्मति में यह प्रवृत्ति भी अनुचित है। आप अपेक्षानुसार संस्कृत के शुद्ध-रूप ही हिंदी भाषा में लीजिए, और भाषा-परिवर्तन के क्रम से ही उनमें हिंदी की प्रकृति के अनुकूल स्वाभाविक परिवर्तन होने दीजिए। वही स्वाभाविक परिवर्तन भाषा के लिये उपयोगी होगा। प्रकृति-नियमानुसार बना हुआ ही सोना काम का होता है, बनावटी सोना लाभ के बदले हानि करेगा। और जब भाषा-सिद्धांत के अनुसार यह आवश्यक है कि आप चाहे कैसे भी शब्द लें, काल-क्रम से उनमें परिवर्तन अवश्य होगा, तो फिर क्यों न हम शुद्ध शब्द ही लेकर उनमें यथोचित परिवर्तन होने दें। फटे दूध का खोया बनाकर क्यों उसमें अस्वाभाविकता पैदा करें।

एक छोटी सी बात और भी इस संबंध में ध्यान देने की है, वह है वाक्यरचना की गड़बड़। कई वाक्य ऐसे देखे जाते हैं कि जिनमें संस्कृत-शब्दों की तो भरमार है, किंतु बीच में अद्भुत-रूप से फारसी या अरबी के शब्द जमाए हुए रहते हैं, यह 'पंक्ति-भेद' भाषा का विचित्र रूप बना देता है। "नवयुवक संचालकों के प्रति सुर्खरू हो जायँगे" इस वाक्य को देखिए। सब शब्द संस्कृत के हैं, बीच में एक 'सुर्खरू' साहब तशरीफ रखते हैं। कहीं कहीं तो दो भिन्न भाषा

के शब्दों का परस्पर गठजोड़ा भी किया जाता है। एक जगह लिखा है—'पहिचान-कुशलता'। कहाँ पहिचान और कहाँ कुशलता ? रेशमी पीतांबर और डबल जीन आपस में सी दिए गए हैं। कई लेखक महोदय मजाक के लेखों में ऐसा विशेष-रूप से जान बूझकर करते हैं। वहाँ ऐसे वाक्य यद्यपि चमत्कारक भी होते हैं, किंतु लेखकों की इस प्रकृति से भाषा 'वर्णसंकर' होती जा रही है, इसका भी विचार करना चाहिए।

निबंध बहुत विस्तृत हो गया। इसलिये इसे समाप्त करते हुए सब निबंध का सारांश संक्षेप में लिख दिया जाता है कि हिंदी भाषा संस्कृत से ही बनी है, संस्कृत के शब्दों का ग्रहण उसमें सदा से होता रहा है, माता के दुग्ध के समान वही प्रकृति-नियमानुसार इसका पोषक है। इसलिये शब्दों की आवश्यकता होने पर संस्कृत-शब्दों का ग्रहण यथेच्छ हिंदी-भाषा में होना चाहिए। किंतु इसका व्यसन न बढ़े कि संस्कृत के ही शब्दों की भरमार से भाषा का रूप ही बदल जाय। जहाँ तक हो, हिंदी में हिंदी के प्रचलित शब्द ही रहें, काम न चलने पर संस्कृत के प्रसिद्ध और सरल शब्द लिए जायँ, जो कि हिंदी की प्रकृति के अनुकूल हों। जटिल समास और विकट तद्धित हिंदी में लेने की प्रवृत्ति उचित नहीं मालूम होती। साथ ही संस्कृत के जो शब्द लिए जायँ, वे या तो शुद्ध रूप में हों, या हिंदी की प्रकृति के अनुसार बनाए हुए हों। अपनी ओर से शब्दों में तोड़ मरोड़ कर नई भाषा गढ़ने का यत्न न किया जाय। यों सब लेखक महोदय एक मत से कोई मार्ग निश्चित कर लेंगे तो ईश्वर की कृपा से भाषा का श्रेय होगा। शुभमस्तु।

(११) मरहठा शिविर

[लेखक—श्री शिवदत्त शर्मा]

भारतवर्ष में वीरता के नाते सिक्ख, राजपूत और मरहठा जाति के नाम अति प्रसिद्ध हैं। इन तीनों ने विशेष रूप से मुसलमानों से अनेक बार रोमांचकारी युद्ध किए और अंत में उनकी स्थापित राज्य-श्री को समूल नष्ट कर दिया। तदनंतर सिक्खों और मरहठों को अँगरेजों से भी युद्ध करने के अवसर प्राप्त हुए और जिस वीरता का परिचय उन्होंने दिया उसकी भूरि भूरि प्रशंसा स्वयं निष्पक्ष गुण-ग्राहक विदेशियों ने की है*। संसार की आधुनिक सर्वश्रेष्ठ नीतिज्ञ जातियों में प्रमुख अँगरेज जाति का इस देश से संबंध हो जाने के पश्चात् हिंदुओं के निज बल-विन्यास-कौशल तथा सांग्रामिक व्यापार और व्यवहारों के प्रदर्शन का, पश्चिम में सूर्य के सदृश, सर्वथा लोप हो चुका है। लगभग एक शताब्दी के भीतर भीतर जो इस जाति की जीवनशैली में परिवर्तन हो चुका है वह आश्चर्यजनक है। अब तो जैसे मेघ विद्युत् रूपी दीपक को ले व्योम में दिवाकर को ढूँढ़ते हों वैसे पुरातत्त्व-रसिक मेधावी यत्किंचित् साधनों के सहारे उस भूतकालीन जीवन के दर्शन की चेष्टा करते हैं। ऐसी अवस्था में महाराज दौलतराव सिंधिया के शिविर का कुछ वृत्तांत, जो ऐतिहासिक बातों से भी संश्लिष्ट है, हिंदी भाषा के प्रेमियों को भेंट करना असंगत न होगा।

दौलतराव सिंधिया भारतवर्ष के इतिहास में एक प्रसिद्ध व्यक्ति हो चुके हैं अतः उनके विषय में, प्रस्तुत प्रसंग में, विशेष लिखने की कोई आवश्यकता नहीं। उन्होंने अँगरेजों से युद्ध किए और परस्पर

* Gordon—The Sikhs—None have fought more stoutly and stubbornly against us, none more loyally and gallantly for us, than the Sikhs.

संधि हो जाने पर अँगरेजी रेजिडेंट उनके साथ रहने लगा, जिसके साथ की अँगरेजी सेना का अध्यक्ष ई० स० १८०९ से कप्तान ब्राटन* था। इसने सिंधिया महाराज के शिविर के साथ साथ रहते हुए अपने भाई को, जो इँगलैंड में था, ३२ पत्र लिखे थे। पहला पत्र करौली से २६ दिसंबर सन् १८०८ को और अंतिम अजमेर से २७ फर्वरी सन् १८०९ को लिखा था। इसके पत्रों से कुछ अंशों में मरहठा शिविर के एक वर्ष के चरित की झाँकी हो जाती है।

प्रारंभ में महाराज दौलतराव सिंधिया का लश्कर कब और कहाँ से चला तथा उसने किस तिथि को यात्रा समाप्त की, यह सूचना अनुपलब्ध है और जो कुछ वृत्तांत उपर्युक्त पत्रों से प्राप्त है उससे छावनी का सर्वांग-परिपूर्ण परिचय नहीं दिया जा सकता। जो शिविर की व्यवस्था ज्ञात हो सकी है वह इस प्रकार है कि प्रस्थान के समय सर्वप्रथम बनीवाला (Quarter-Master-General) आगे जाता था और वह जिस भूमि पर सेना को पड़ाव डालना होता वहाँ पहुँच छोटा सफेद झंडा गाड़ देता। उस पताका से निर्दिष्ट स्थल पर महाराज के तंबू लगते जो ड्योढ़ी कहलाते थे। वे खास तंबू एक कनात के भीतर, जो करीब १५० फुट लंबी और उससे ड्योढ़ी चौड़ी थी, लगाए जाते थे और उसमें जनाने तंबुओं तथा बैठक आदि के भिन्न भिन्न विभाग होते थे। ग्रीष्म ऋतु में गर्मी से रक्षा के लिये खस का तंबू बनाया जाता था जिसे जल से छिड़क छिड़ककर तर रखते थे। उपर्युक्त कनात के

* यह एक पादरी का पुत्र था और इसने ईटन में विद्याध्ययन किया था। ई० स० १७९५ में जब इसकी अवस्था १७ या १८ वर्ष की थी, यह इँगलैंड से भारतवर्ष में आया और बंगाल की सेना में नियुक्त किया गया। चार वर्ष पीछे जब अँगरेजों ने दक्षिण में सरिंगापट्टन पर घेरा डाला उस अवसर पर यह भी वहीं था। डच लोगों को दिए जाने के पूर्व जावा द्वीप का यह कुछ समय के लिये शासक रहा था। ई० स० १८२९ में यह कर्नल बना और ६ वर्ष पश्चात् राजस्थान के सुप्रसिद्ध इतिहासलेखक कर्नल टाड के, जो इसका मित्र था, स्वर्गवासी होने के दो दिन पश्चात् यह भी दिवंगत हो गया।

चारों ओर खास पायगा अर्थात् महाराज के अंगरक्षक (Body-Guard) एवं अन्य सेवक रहते थे।

तदनंतर बनीवाला नियत रूप से बाजारों के झंडे सीधी सीधी पंक्तियों में लगाता था। दुकानें दो समांतर पंक्तियों में आमने सामने लगाई जाती थीं और इस प्रकार खूब लंबे चौड़े बाजार कभी कभी तीन चार मील लंबे तक बन जाया करते थे। बाजार में जो दुकानें लगाई जाती थीं वे कंबल या मोटा कपड़ा ऊँचे लंबे बाँस या बल्लों पर फैलाकर तथा उसके किनारों को खूँटों से बाँधकर बनाई जाती थीं। इन्हें पाल कहते थे और ये १ गज से ३ गज तक ऊँचे और उसी परिमाण से लंबे चौड़े होते थे। इन्हीं आवरणों में बेचने के लिये सामान रखा जाता था और दुकानदारों के बाल-बच्चे सारे साल अथवा सालों तक अपना कालक्षेप कर देते थे। अच्छे अच्छे धनाढ्य वैश्य भी ऐसे ही पालों को काम में लाते थे।

छावनी के बाजारों का व्यवस्थापन इस प्रकार था। वहाँ पर मुख्य रूप से पाँच बाजार थे जिनके नाम माधोगंज, दौलतगंज, दानावली, सराफा और चौरी थे। ये ऐसे धनाढ्य और प्रतिष्ठित पुरुषों के अधीन किए जाते थे जो सरकार को ठेके का रुपया दे सकें। प्रत्येक बाजार सरकार को वर्ष में पचास हजार रुपया देता था और उसका ठेकेदार उस रुपए को निम्नलिखित करों द्वारा वसूल कर लेता था—

(१) तह बजारी अर्थात् ठेकेदार प्रत्येक दुकान से एक पैसा रोज और दसवें दिन एक अठन्नी लेता था।

(२) भेट अर्थात् प्रत्येक दुकान से होली और दशहरे पर ठेकेदार को एक रुपया दिया जाता था।

(३) चुंगी—यह कोतवाल का सिपाही वसूल किया करता था। वह प्रत्येक गल्लेवाले की दुकान पर जाता और ३$\frac{1}{5}$ मुट्ठी नाज एक थैले में जमा कर लेता जिसमें से २ मुट्ठी तो ठेकेदार की और शेष बाजार के अफसरों की होती थी।

(४—५) झरी और महसूल–ये कर इस प्रकार थे कि यदि नाज का एक बैल कोई व्यापारी लाता तो बिकने पर उससे ३½ सेर नाज झरी में और २ आने महसूल में लिए जाते थे। यदि यह सामान रेजीडेंट के लिये आता तो क्रमशः १ सेर और १ आना झरी और महसूल का लगता था। ऐसे ही आटा, दाल, चावल कपड़े आदि पर महसूल लगता था।

(६) पालपट्टी–यह कर डंडिया (constable) और बाजार के छोटे छोटे अफसरों के लिये तँबू के खर्च का लगता था परंतु ठेकेदार को दिया जाता था। इसकी रकम दौलतगंज, दानावली, चौरी और सराफा-बाजार में क्रमशः तीन, तीन, दो और छः हजार रुपए कूती जाती थी। माधोगंज में यह कर नहीं लगता था।

(७) गुदड़ी—यह सप्ताह में शुक्रवार को छोड़कर प्रत्येक दिन लगती थी जिसमें पशु, अस्त्र, शस्त्र आदि बेचे जाते थे और खरीदनेवाले ६¼ रुपया सैकड़ा कर देते थे।

चमार लोग दुकान का एक रुपया माहवारी देते और सरकारी काम मुफ्त करते थे।

सैनिकों के रहने के लिये रावटी होती थीं, जो आज-कल के तंबुओं के समान थीं। ये दोहरे या तिहरे कपड़े की मोटी बनाई जाती थीं। वे तीन ओर बंद होती थीं और उनके एक ओर द्वार पर लटकता हुआ कपड़ा रहता था जिसके ढक लेने से हवा और वर्षा से भली भाँति रक्षा हो जाती थी। ये रावटियाँ विविध आकार और परिमाण की होती थीं और बहुत से सरदार भी उनमें निवास करते थे। सरदारों के डेरे मुख्य बाजार के दाएँ बाएँ होते थे। उनके सेवक, ऊँट और बैल भी वहीं साथ के साथ रखे जाते थे। इन तंबुओं के समीप लीद, गोबर और घास को जला तथा कंबल और रजाई ओढ़कर सरदी में डेरे के लोग एकत्र हो जाते और हुक्का पीते हुए कई घंटे बिता देते। जब वे तंबाकू और बातचीत से उकता जाते तो डेरों में सन्नाटे की नींद लेते। दारू पीनेवालों

की दुकानों में महुए की दारू भी मिल जाती थी। पशुओं को मक्खी मच्छरों से बचाने के लिये तंबुओं के निकट आवश्यकतानुसार धुआँ किया जाता था। जब यह ज्ञात हो जाता कि सेना को एक ही स्थान पर अधिक समय तक रहना है तब यदि घास और वृक्ष समीपवर्ती भूमि में होते तो लोग वहाँ छोटे छोटे झोपड़े भी बना लेते थे। सिंधिया महाराज की सेना ई० स० १८०७ में राहतगढ़ के दुर्ग के सामने ७ मास तक पड़ी रही। उस अवसर पर वहाँ बहुत से झोपड़े बना लिए गए थे और शिविर का दृश्य ऐसा प्रतीत होता था कि मानों वह एक लंबा चौड़ा ग्राम हो।

प्रस्थान के समय महाराज के सामान को ले चलने में पल्लादार का काम देनेवाली एक सेना थी जो शोहदे नाम से प्रसिद्ध थी। वह फजलखाँ नाम के अफसर के अधीन थी। घेरा डालने के समय वही सेना खाई खोदती, तोपें जमाती और किले पर चढ़ने के रस्से, सीढ़ियाँ आदि ले जाया करती थी। साथ के सेवकों तथा अन्य गरीब लोगों की स्त्रियाँ सारी छावनी के लिये चक्की द्वारा आटा पीसकर देती थीं और इस काम के लिये उन्हें वेतन मिलता था। साथ में चारेवाले होते थे जो बैलों और खच्चरों पर घास लाते थे। इन लोगों की खेतवालों से बहुधा लड़ाइयाँ हो जाया करती थीं और रुष्ट हुए खेतवाले अवसर पाकर सेना के पशुओं को चुरा ले जाया करते थे।

इस शिविर के साथ कई रिसाले थे जिनमें से एक बारह भाईवाला कहलाता था। प्रारंभ में इस रिसाले के १२ भाई नायक थे इसलिये उसका नाम बारह भाई पड़ गया था। उसमें केवल मरहठे ही नियुक्त थे। उस रिसाले में नियुक्त पुरुष पिंडारों के समान बड़े दुराचारी और फसादी थे। एक बार वेतन मिलने में विलंब हो जाने से रुष्ट होकर ये लोग भाग गए और कई मास पश्चात् वापस आए। इस समय में ये लूट मार से अपना निर्वाह करते रहे। लौटने पर जब फिर नियम से नहीं रह सके तब महा-

राज ने एक अन्य रिसाले द्वारा उनको घिरवाकर खूब पिटवाया और उनको मार डालने तक की धमकी दी। इतना हो चुकने पर भी कुछ दिन बाद इन्होंने रेजिडेंट साहब के एक सिपाही तथा डाक के कई हरकारों को लूट लिया। हरकारों को लूटना विशेष निंदनीय था क्योंकि उन लोगों को बिना सताए चले जाने देना उस समय का सार्वभौमिक स्वीकृत धर्म था।

तोपखाने के तंबू अलग लगते थे। वे समचतुर्भुज रूप से स्थापित किए जाते थे जिसे किला कहते थे। सिंधिया महाराज के साथ ६६ तोपें थीं। २७ तोपखाने के साथ, जिनमें १० बड़े मुँह की और शेष कई तरह की थीं। १७ जेकब की पलटन के साथ और १४ बपटिस्टा की पलटन के साथ थीं। ८ सवारी की तोपें थीं जो दो बैलों द्वारा घसीटी जा सकती थीं।

जिंसी (तोपखाने) के साथ ५०० अलीगोल*, १०० नागे या अतीत, ४००० बैल हाँकनेवाले, कुली, बेलदार, खलासी और ३ दारोगा होते थे। एक दारोगा के अधिकार में बारूद-खाना, युद्ध की सामग्री, बैल और गाड़ियाँ और दूसरे के अधिकार में गोलंदाज रहते थे। तीसरा दारोगा चीज वस्तु खरीदता तथा तनख्वाह बाँटा करता था।

रेजिडेंट साहब का डेरा मरहठा सैन्य से एक दो मील दूर रहा करता था परंतु उनकी तरफ से महाराज के साथ एक सेवक अथवा दूत रहता था जो खबरदार कहलाता था। ऐसे ही महाराज की तरफ से एक खबरदार रेजिडेंट के यहाँ रहा करता था।

* यह एक अनियमित पैदल सेना थी। इस दल में मुख्य रूप से मुसलमान नियुक्त थे जो गोल बनाकर शत्रु पर धावा करते और अली को सहायतार्थ याद करते थे। ये अपनी तीन रंगों की झंडियों को एक कतार में लगा, उनके समीप छोटे-छोटे दीपक जला पास ही नक्कारा और तुरी लेकर बैठ जाते और पताका पूजन करते। अन्य लोग भी अवसर अवसर पर ऐसी पूजा किया करते थे।

पयान के समय महाराज के पधारने के पहले जरीपट्टा, जो राष्ट्र-चिह्न था, आगे भेजा जाता था। शिविर के साथ जो वैश्य तथा सरदार आदि की स्त्रियाँ होती थीं वे निःसंकोच घोड़ों पर चढ़कर प्रस्थान करतीं। उस समय वे घूँघट आदि की कुछ परवाह नहीं करतीं। वे अपना घोड़ा पुरुषों से आगे निकाल ले जाया करती थीं। मरहठा स्त्रियों को कुत्तों का भी बहुत शौक था, यहाँ तक कि कोई ऊँट, टट्टू अथवा बैल ऐसा नहीं होता जिस पर एक न एक कुत्ता दिखाई न पड़े। शिविर के मारवाड़ी बनिए एक एक ऊँट पर दो दो बैठकर पयान करते। रथों को बैल खींचते और उनमें बाई, नाचनेवाली और धनाढ्य वैश्य बैठा करते थे। सेना के पयान के संबंध में कुछ ऐसी असुविधाएँ उत्पन्न हो जाती थीं जिनका निवारण करना कठिन था। बहुत मनुष्यों और पशुओं के चलने से मार्ग में खेती को हानि पहुँचना और परिणाम में किसानों का अप्रसन्न होना अनिवार्य था। चंबल नदी के किनारे चलते हुए एक स्थान पर सिंधिया महाराज के दल का झगड़ा इसी प्रकार से गूजरों से हो गया। कई लोग घायल हुए और गूजरों ने अवसर पा सेना के कई बैल, घोड़े और ऊँट हर लिए। अपचट नामक एक भारी तोप को घसीटने के लिये कुछ लोग पीछे रह गए थे। गूजरों ने रोष में आ उन्हें मार डाला। सेना के प्रस्थान से होनेवाली हानि को निवारण करने के विचार से बहुत से ग्रामवाले बनीवाले को रिशवत दे दिया करते थे जिसके प्रभाव से वह सेना को दूसरे मार्ग से ले जाया करता था।

समय समय पर रेजिडेंट साहब सिंधिया महाराज से मिला करते थे। जनवरी सन् १८०९ का जिक्र है कि रेजिडेंट साहब महाराज से छावनी में मुलाकात करने आए। महाराज की आयु उस समय ३० वर्ष की थी। वे एक तंबू में, जो बहुत अच्छा सजा हुआ था, जरी की गद्दी पर बैठे हुए थे। उनकी पीठ के सहारे के लिये गोल मोटा तकिया था और हाथों के सहारे के लिये गोल चपटी गद्दियाँ। महाराज बहुत सादे वस्त्र पहने हुए थे।

उनके शरीर पर एक पीला रेशमी चोगा था जो अलकलीक कहलाता था और कंधों पर दुशाला था। गले में बहुमूल्य हीरे पन्ने और मोतियों की लड़ियाँ थीं। इन महाराज के पास कीमती मोती बहुत थे यहाँ तक कि इनका नाम ही मोतीवाला पड़ चुका था। गद्दी के दाएँ बाएँ सरदार लोग विद्यमान थे। महाराज स्वयं बार बार नहीं बोलते थे। कुछ बड़े सरदार, जो समीप में बैठे थे, उनसे निवेदन कर देते और महाराज की आज्ञा प्राप्त कर लेते थे। रेजिडेंट को बैठने का स्थान महाराज की बाईं ओर मिला और सामने ही पंडित आत्माराम, जो महाराज की तरफ से रेजिडेंट के यहाँ रहता था, बैठा। चलते समय अतर और पान दिए गए और गोपालराव, जो पहले रेजिडेंट साहब के स्वागत के लिये द्वार पर आया था, उन्हें वापस वहीं पहुँचाकर लौट आया।

जब महाराज किसी से मिलने जाया करते तो अपनी मसनद (गद्दी) वहाँ पहले से भेज दिया करते थे और वहाँ पर प्रायः सब बातें वैसी ही होतीं जैसे अपने दर्बार में हुआ करती थीं। हाँ, पान इतर देने का काम उस निमंत्रक का होता था। विशेष अवसरों पर खिलअत दी जाती थी। खिलअत देने में "मरनेवाली बछिया बामन के सिर" वाली कहावत खूब चरितार्थ हुआ करती थी। अंधे हाथी, लँगड़े घोड़े आदि को भेट में दे उनसे पीछा छुड़ाने की यह अच्छी रीति थी, परंतु लेनेवाले लेते समय हुज्जत करने से भी नहीं चूकते थे। एक बार रेजिडेंट साहब को महाराज की तरफ से जियाफत दी गई। सायंकाल का समय था। डेरों में मेवा मिष्टान्न, पकान्न आदि का अच्छा ठाठ बाट लगाया गया। महाराज की तरफ से एक थैली, जिसमें एक हजार रुपए थे, भेट कीगई और रेजिडेंट साहब ने उस सरदार को, जो थैली लाया था, खिलअत दी। फिर रेजिडेंट ने गवर्नर-जनरल की ओर से चार सुंदर अरबी घोड़ों सहित एक सुंदर बग्गी, जिसमें सोने का काम हो रहा था, महाराज के भेंट की।

शेर के शिकार और हाथियों की लड़ाई का महाराज को बहुत शौक था। वे विशेष रूप से सर्दी में मृगया के लिये पधारा करते थे। छावनी में रहते हुए भी वे इन दोनों कामों में बहुत आसक्त रहते थे। ऐसे अवसरों पर उनके साथ बड़े अच्छे अच्छे दखनी घोड़ों पर सवार साथ रहा करते थे। अच्छे दखनी घोड़े की कीमत तीन चार हजार रुपए तक होती थी और मरहठा लोगों को इन सुंदर बहुमूल्य जानवरों पर इतना स्नेह था कि वे इनको गेहूँ की रोटी, चावल, शर्करा, घृत आदि खाने को देते। शिकार के समय महाराज हरिण के चमड़े की पोशाक पहनते और तोड़ेदार बंदूक से शिकार करते थे। शिकार के अवसर पर वे एक बैल, जो इस विषय में शिक्षा दिया हुआ होता था, साथ रखते और उसके पीछे बैठकर वे निश्चयपूर्वक हरिणों के झुंडों पर निशाना लगा सकते थे।

उस समय शिविर में रहनेवाले हिंदू और मुसलमान अपने जीवन को उसी आराम के साथ बिताते थे जैसे घर में रहनेवाले। महाराज की ओर से सब त्योहार यथाविधि मनाए जाते थे। संक्रांति के अवसर पर महाराज ने मुख्य मुख्य सरदारों को तथा रेजिडेंट को तिल भेंट किए। उसी अवसर पर छावनी के एक धनाढ्य वैश्य ने बहुत से ब्राह्मणों को भोजन का निमंत्रण दिया और खान-पान का प्रशंसनीय प्रबंध किया। जिमाने के पश्चात् प्रत्येक को एक धोती, कंबल और रूई की सदरी भेंट की। तदनंतर वसंत महोत्सव पर परस्पर पुष्प भेंट किए जो बसंती रंग की पगड़ियों में लगाए गए। छावनी में स्थान स्थान पर नाच गान हुआ। मुसलमानों के मोहर्रम के अवसर पर महाराज दौलतराव ने दरबार के समय हरे वस्त्र पहने और वे छावनी के ताजियों को, जिनकी संख्या सौ से अधिक थी, देखने गए। ठंडे होने के पूर्व रात्रि को सब ताजिए जुलूस के साथ महाराज के तंबू के सामने लाए गए और महारानी ने भी चिक में होकर उन्हें तथा पटेबाजी आदि को देखा। ब्राटन साहब भी हिंदुस्थानी पोशाक पहनकर रेजिडेंट के

मुसलमान सेवकों के बनाए हुए ताजिए के साथ साथ हाथी पर चढ़कर जुलूस के साथ आए। स्थान स्थान पर शर्बत का प्रबंध था।

होली के अवसर पर प्रचलित प्रथानुसार रेजिडेंट साहब सिंधिया महाराज के दर्शन करने आए। महाराज ने चाँदी के गुलाबदान से गुलाबजल छिड़का। उपस्थित मंडली में खूब अबीर और गुलाल-गोटे फेंके गए। महाराज के पास एक दमगिरा था जिससे वे इतने वेग से जल फेंकते थे कि मनुष्य का समीप बैठा रहना कठिन हो जाता था। थोड़ी देर में वहाँ का सारा भूतल गुलाबी नारंगी रंग के कीचड़ से आवृत हो गया। होली पर नर्तकियों के नृत्य के अतिरिक्त कथकों के नाच भी सारी रात होते और सिपाही उनसे इतने मुग्ध हो जाते कि गानेवाले एक ही पलटन से पाँच पाँच सौ रुपए एकत्र कर ले जाते थे।

जन्माष्टमी महोत्सव के लिये विशेष रूप से एक विस्तीर्ण तंबू ताना गया और फूलडोल मंडप आदि बनाए गए। इस काम के लिये आवश्यक वस्तुएँ छावनी के बाजार से मोल ली जातीं और उत्सव की समाप्ति पर वापस वैश्यों को बेच दी जाती थीं। उस अवसर पर ब्राह्मणों को एक सहस्र रुपया दान दिया गया। सायं-काल को मथुरा से आए हुए प्रवीण रासधारियों का व्रज-भाषा में मनोहर रास हुआ। मथुरा में उस समय ये लोग बहुत थे और वहाँ से दूर दूर अभिनय प्रदर्शनार्थ जाया करते थे।

दशहरे के त्योहार पर एक दिन पूर्व ही घोड़ों को स्नान, मालिश आदि द्वारा तैयार और अस्त्र शस्त्रों को साफ किया गया। प्रातः-काल कवायद हुई। महाराज करीब तीन बजे पधारे। उनके पहले हाथियों पर झंडे निकाले गए। सरदार और अफसर आदि जुलूस के साथ थे। पंडितों ने एक वृक्ष की टहनी की—जो एक स्थल पर लगाई गई थी—दूध, चावल आदि से पूजा की। तदनंतर महाराज ने उसमें से एक भाग अपनी तलवार से तोड़ा और तोड़ते ही कई नीलकंठ छोड़ दिए गए जिन्हें उड़ते हुए देख बाजों का

बजना तथा बंदूकों का चलना प्रारंभ हुआ और सब लोग एक खेत की ओर दौड़े जहाँ से बालें ले आए। सलामी के पश्चात् महाराज सजे हुए हाथी पर सवार हो अपने निवासस्थान को पधारे। मार्ग में स्थान स्थान पर आतिशबाजियाँ चलाई गईं, प्रथानुसार सरदारों ने नजरें दिखलाईं और निछावर की तथा महाराज ने खिलअत बाँटी।

प्रतिष्ठित त्योहारों का संक्षिप्त वर्णन हम ऊपर लिख चुके। वस्तुतः सारे के सारे ही त्योहार छावनी में यथोचित मनाए जाते थे यहाँ तक कि जेठ का दशहरा, तुलसी का विवाह, गणेश-चौथ आदि पर्व-तिथियों का मनाना भी नहीं भुलाया जाता था।

सैन्य-निवासों में त्योहारों के अतिरिक्त उल्लास, विनोद और प्रमोद उत्पन्न करने का साधन कुश्तियाँ थीं। शिविरों के साथ साथ अखाड़े भी होते थे। जो कुश्ती में चतुर होता वह खलीफा बनाया जाता और सीखनेवाले पट्ठे कहलाते थे। दंड और बैठक के अतिरिक्त मुगदर और लेजम के खेल होते थे। जिसका शरीर अच्छा होता और जिसे कुश्ती के दाँव पेंच आ जाते वह पहलवान कहलाता था। महाराज दौलतराव को कुश्ती का बहुत शौक था। वे एक पहलवान को एक भेड़ और दस सेर दूध प्रतिदिन दिया करते थे। एक बार मथुरा से एक पहलवान छावनी में महाराज के पहलवान से लड़ने के लिये आया। दोनों की बहुत अच्छी कुश्ती हुई परंतु सरकारी पहलवान ने आगंतुक को पछाड़ दिया जिससे प्रसन्न हो महाराज ने विजेता को ५००) रुपए पुरस्कार दिए। उस समय भारतवर्ष में बड़े बड़े आदमियों को पहलवान रखने का बहुत चाव था। वे पहलवानों का इतना सत्कार करते थे कि उन्हें अपने हाथी घोड़ों पर चढ़ने देते। पुरुष ही नहीं किंतु स्त्रियाँ भी कुश्तियाँ करतीं और भिन्न भिन्न नगरों में पहलवानों को कुश्ती के लिये आह्वान करती थीं। बहुत सी तो इस विषय में इतनी निपुण हो जाया करती थीं कि पुरुषों के लिये उन्हें

पराजित कर देना कठिन काम होता था और इसलिये गौरवारूढ़ मल्ल उनसे भिड़ने में आनाकानी किया करते थे। उन दिनों में स्त्रियाँ तलवार के प्रयोग सीखने में भी संकोच नहीं किया करती थीं। बाजीगरों की एक जाति भानमती कहलाती है। उस जाति के कुछ लोग एक बार मरहठा शिविर में आए और उनमें से एक स्त्री ने तलवार के आश्चर्यजनक खेल दिखलाए।

स्त्रियों का जीवन उस समय ऐसा व्यायामपरायण और साहस-मय होने का ही प्रभाव था कि सिंधिया महाराज के शिविर में एक स्त्री, पुरुष के भेष में, नौकरी करती हुई पाई गई। इसने अपना नाम "जोरावरसिंह" रखा और करीब तीन वर्ष तक बराबर सिपाही का काम करती रही। उसके अफसर तथा साथी सिपाही उसके कर्तव्यपालन और व्यवहार से परम प्रसन्न थे। वह और सब बातों में तो सबके साथ ही रहा करती थी, परंतु अपना भोजन अलग बनाती और खाती तथा स्नान अलग किया करती, तो भी किसी को उसके विषय में किंचित् मात्र भी संदेह नहीं हुआ। दैवयोग से एक दिन एक सिपाही ने उसको स्नान के अवसर पर देख लिया जिससे इस रहस्य का उद्घाटन हो गया। यह चर्चा चलने पर भी वह बिना किसी संकोच के अपना काम करती रही। ब्राटन साहब को भी उस युवती के देखने की बड़ी उत्कंठा हुई और उनका एक सिपाही, जो उससे मिलनेवाला था, उसे अपने साथ ले आया। उसने उनसे राजकीय कार्य्य के संबंध में निःसंकोच वार्त्तालाप किया। यह स्त्री रूपवती थी और उस समय २२ वर्ष की आयुवाली प्रतीत होती थी। पलटन में यह मालूम होने पर भी कि यह सिपाही स्त्री है, कोई भी उससे किसी प्रकार की हँसी दिल्लगी नहीं करता, बल्कि सब उसे विशेष सम्मान की दृष्टि से देखते थे। महारानी ने उसे बुलाया और अपने पास रखना चाहा परंतु उसने यह बात स्वीकार नहीं की। विशेष पूछ-ताछ करने पर इस युवती के मुख से ज्ञात हुआ कि इसके माता-पिता का स्वर्गवास हो चुका था और इसके

केवल एक भाई था जो, ऋण के कारण, भूपाल में कैद हो गया था। इस भ्रातृ-वत्सला ने सिपाही बन द्रव्य कमा ऋण चुकाकर अपने भाई को कैद से छुड़ाने का निश्चय किया था। महाराज दौलतराव इस युवती के सद्विचार और साहस से बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उसे पुष्कल द्रव्य तथा एक पत्र नवाब भूपाल के नाम लिखकर दिया जिसमें नवाब साहब को इन बहन भाइयों को सत्कार-पूर्वक रखने की सिफारिश की। सुनने में आया है कि इस युवती का नाम पद्मा था।

जिस लश्कर का हम वृत्तांत लिख रहे हैं उसे, कई एक विचारों को ध्यान में रखकर, महाराज दौलतराव ने राजपूताने की ओर बढ़ाया था। इसके प्रस्थान कराने का एक उद्देश जयपुर रियासत से छेड़छाड़ करना भी था। यह लश्कर जब ईसरदा पहुँचा तब वहाँ के स्वामी ने चालीस हजार रुपए देकर अपना पीछा छुड़ाया। तदनंतर सेना कुरेडा पहुँची जहाँ से दस हजार रुपए प्राप्त हुए। सेना का एक विभाग आबाजी के भाई बालाराव के अधिकार में होकर दूणी के किले की ओर पहुँचा। वहाँ के किलेदार के पास जयपुर से यह आज्ञा आई कि मरहठों को पचास हजार रुपए देकर वहाँ से रवाना कर दिया जाय परंतु सिंधिया ने पहले पाँच लाख और फिर कहने सुनने पर तीन लाख रुपए इस शर्त पर माँगे कि रकम तुरंत दे दी जाय। जयपुर वालों ने यह स्वीकार नहीं किया जिस पर मरहठा नरेश ने धावा बोल देने की ठान ली। तुरंत ऐसा ही किया गया परंतु सफलता प्राप्त नहीं हुई। मरहठों की तरफ से एक संधि का झंडा इस विचार से भेजा गया कि जयपुरवाले दाँव पेंच में आ जावें परंतु वे डटे रहे। इस पर मरहठों ने सारी रात गोले चलाए जिसके प्रभाव से जयपुर वालों को विवश होकर संधि का झंडा भेजना पड़ा परंतु परस्पर समझौता न हो सका। जयपुर से खासा मदद भी रवाना हुई परंतु वह इस स्थान तक नहीं पहुँच सकी। किले को घेरे २५ दिन बीत चुके थे परंतु जब सफ-

लता प्राप्त नहीं हुई तब सिंधिया नरेश अपने अफसरों से बहुत अप्रसन्न हुए। इस समय मरहठा सैन्य को घास और जल का भी संकट प्राप्त होने लगा और उनके सिपाहियों की मीणों से बहुधा तकरारें होने लगीं। बाज़ार वाले भी उस घेरे से उकता गए थे। उस समय शिविर की प्रत्येक दुकान को चार टके प्रतिदिन अथवा दिन भर के लिये एक मजदूर सरकार को देना पड़ता था। यदि वे दोनों बातों में से एक भी न करते तो स्वयं आकर श्रम करते। जब खाई बनाने के लिये लकड़ी की आवश्यकता होती तो प्रत्येक बनिए को एक ऊँट भेजना पड़ता था। फिर १६ अप्रैल १८०८ को जयपुर का वकील वयोवृद्ध बोहरा कौसलराम नसरदा ग्राम में, जो इस छावनी से १२ मील परे था, आया और मरहठा सरदार आबाजी से मिला। उसने सिंधिया महाराज को बहुत सी भेंट दी जिसमें ४ घोड़े, २ हाथी और २ जयपुर की परम सुंदरी नर्तकियाँ थीं। दस दिन बाद जयपुर के वकील की भेंट स्वयं सिंधिया महाराज से हुई। इसे जयपुर दरबार की ओर से पायमाली काटकर १२ लाख रुपए तक दे देने का अधिकार प्राप्त था परंतु मरहठा नरेश की माँग इतनी अधिक थी कि वह अपने अधिकार से उन्हें संतुष्ट करने में नितांत असमर्थ था; अत: उसने अपने नरेश के पास सब समाचार भेजे और उनकी आज्ञा माँगी और मरहठों से पायमाली के, अर्थात् उस हरजाने के जो उनकी सेना ने जयपुर राज्य में पिछले दो सालों में किया, ४० लाख रुपए माँगे। दो वर्ष पूर्व जयपुर-नरेश ने जोधपुर पर चढ़ाई की थी और उस अवसर पर मरहठों से सहायता ली थी, जिसके एवज में १७ लाख रुपए देना स्वीकार किया था। परस्पर वाद विवाद के पश्चात् अंत में ८ मई सन् १८०८ को जयपुर से संधि हो गई। जयपुर ने १७ लाख रुपए ३ किश्त में देना और सिंधिया महाराज ने जयपुर की भूमि से अपनी सेना, जो कानूण और नारनौल तक पहुँची हुई थी, वापस बुलवा लेना स्वीकार किया और यह भी वचन

दिया कि १ वर्ष तक कोई सेना उनकी भूमि पर नहीं आवेगी। इस समय जयपुर के महाराज जगत्‌सिंह सदाचारी नरेश नहीं थे। उनका प्रेम एक साधारण वेश्या से, जिसका नाम "रसकपूर" रख दिया गया था, इतना बढ़ गया था कि उन्होंने उसके नाम एक जागीर निकाल दी, बहुत सजा हुआ महल बनवाकर उसे दिया और हाथी पर उसे अपने पीछे चौरी करते हुए निकाला। इस निंदनीय कर्म से भाई बेटे उनसे बहुत अप्रसन्न हो गए थे। इसी का दुष्परिणाम था कि सामर्थ्य रखते हुए भी जयपुर रियासत को अपकर्ष प्राप्त हुआ। मरहठों ने जयपुर के वकील को बहुत दिनों तक अपने पास रखा और जयपुर से रुपया आ चुकने पर उसे जाने दिया।

महाराज सिंधिया के शिविर का प्रबंध अन्य सब बातों में अच्छा होने पर भी सिपाहियों को वेतन बहुधा समय पर नहीं मिलता था यहाँ तक कि अफसर लोगों को, अपनी सेना को संतुष्ट करने के लिये, ड्योढ़ी पर धरना देना पड़ता था। इस त्रुटि से सैनिक व्यवस्था कभी कभी शिथिल हो जाया करती थी।

---

(१२) उच्चारण

[लेखक—श्री केशवप्रसाद मिश्र]

यदि मनुष्य में विवक्षित शब्दों के उच्चारण की शक्ति न होती तो वह निरा पशु ही रहता। न उसका ज्ञान ही बढ़ता और न उसकी मनुष्यता ही किसी काम की होती। न कोई भाषा रहती न कोई साहित्य। न छंदों का अवतार होता न गानविद्या की सृष्टि। सभी की "अंतर्गुडगुडायते बहिर्न निःसरति" वाली दशा हो जाती। संकेतों और इंगितों से, अक्षिनिकोच अथवा पाणिविहार* से, कुछ साधारण प्राकृत भाव भले ही व्यक्त कर लिए जाते, पर प्रतिभा में प्रतिबिंबित, हृदय में जागरित असाधारण भाव जहाँ के तहाँ विलीन हो जाते। विधाता की सारी कारीगरी मिट्टी हो जाती। अतः अभिलपनशक्ति को ईश्वर-दत्त एक वर समझना चाहिए।

सबका उच्चारण एक सा नहीं होता। बोली भी एक सी नहीं होती। उसके देशाश्रित, जात्याश्रित भेद तो होते ही हैं, ग्रामाश्रित और व्यक्त्याश्रित भी होते हैं। सब अवधवासियों की बोली अवधी है सही पर वहाँ के ठाकुरों की बोली में जो ठसक होगी उसका उनके परिजनों की बोली में सर्वथा अभाव पाया जायगा। किसी के आने पर अयोध्या प्रांत का निवासी जहाँ "के है?" पूछेगा, वहाँ हमारे बैसवाड़ी भाई गरजकर बोलेंगे—"को आय?" हमारे देखते देखते 'वाजपेयी जी' को मजूरों ने 'बाँस बेइल, महराज' बना डाला। संस्कृत **नवक** बहुत दिनों तक तो **नोखा** था और 'नोखे की नाइन बाँस की नहरन' में अब तक दिखाई पड़ जाता है; पर

* अंतरेण खल्वपि शब्दप्रयोगं बहवोऽर्था गम्यंते अक्षिनिकोचैः पाणिविहारैश्च। महाभाष्य—२। १। १। अर्थात् आँख मटकाने और हाथ हिलाने से, बिना शब्दप्रयोग के ही, बहुत से भाव प्रगट किए जा सकते हैं।

आजकल उसने 'अ' की अगाड़ी लगाकर **अनोखा** रूप रचा है। भोजपुरी के 'एहिजाँ **चहुँपलीं**' और पंजाबी के 'थ्वाडा **मतबल** की ?' पर चाहे कोई छिछोड़ हँसोड़ खीसें काढ़े, किंतु **हिंस** ने हजारों वर्ष से **सिंह** बनकर जो अपनी करतूत छिपाने की चेष्टा की है उसे कौन रोकता है ! जिसे कानों से सुनने और आँखों से देखने की प्रार्थना हम देवों से किया करते थे*, उस **भद्र** के दो बेटे हुए एक **भला** और दूसरा **भद्दा**। बेचारे बुद्धू के सत्तू को फत्तू कहने पर सब हँसते हैं; पर सारा जापान फ़िफ्टी (Fifty) को सिफ्टी कहता है तो कोई नहीं हँसता। **उपाध्याय** घिसते घिसते **झा** रह गए; पर उसी ऋग्वेद के राजा राजा ही बने हैं। अस्तु।

मनुष्यों के अतिरिक्त पशु पक्षियों में भी बोली के भेदक कारण अपना काम करते हैं। पहाड़ी मैना सुन सुनकर टपाटप हमारी बोली बोलने लगती है; पर यहाँ की सिरोही मौत के दिन तक सिवा टें टें करने के और कुछ जानती ही नहीं। हिमालय के कौवों की बोली इतनी टर्रो नहीं होती जितनी यहाँवालों की। यहाँ का देशी लाल लाहौरी लाल की शहनाई का सुर भर सकता है, पर स्वयं नहीं बजा सकता। और तो और एक ही कंपनी के बनाए हार्मोनियमों और एक ही कारीगर के साजे सितारों की बोल भी एक सी नहीं होती।

बोली ही नहीं, सबके पढ़ने का ढंग भी निराला होता है। इसके उदाहरणों की आवश्यकता तो नहीं थी; पर कुतूहलवश आज से हजार वर्ष पहले किस प्रांत के वास्तव्य किस ढंग से पढ़ा करते थे इसका उल्लेख राजशेखर के शब्दों में किया जाता है—

बनारस से पूर्व के मगध आदि संस्कृत तो अच्छा पढ़ लेते हैं; पर प्राकृत उनके मुँह से नहीं निकलती, प्राकृत बोलने में उनकी वाणी कुंठित सी हो जाती है। कहते हैं, सरस्वती एक दिन ब्रह्मदेव

---

* भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः...यजुर्वेद २५।२१।

से फ़रियाद करने लगीं—ब्रह्मन् मैं आपको इत्तला देती हूँ, आप मेरा इस्तीफ़ा ले लीजिए। या तो बंगाली गाथा (प्राकृत कविता) पढ़ना छोड़ दें या कोई दूसरी सरस्वती बनाई जाय ?* बंगाली ब्राह्मणों का पढ़ना न अतिस्पष्ट होता है न श्लिष्ट। न उसे रूक्ष कह सकते हैं न अतिकोमल। न गंभीर ही न अतितीव्र ही। न गुड़ मीठा न गुड़ तीता। चाहे कोई रस, रीति वा गुण हो कर्णाटक जब पढ़ेंगे तब गर्व से अंत में टंकारा अवश्य देंगे। गद्य, पद्य मिश्र कैसा ही काव्य हो द्रविड़ कवि गाकर ही पढ़ेगा। संस्कृत के शत्रु लाट (गुजराती) प्राकृत बड़ी लटक से पढ़ते हैं क्योंकि ललित आलाप करते करते उनकी जिह्वा पर सौंदर्य की मुहर सी लगी होती है। सुराष्ट्र (सोरठ—गुजरात काठियावाड़) और त्रवण (पश्चिमी राजपुताना) आदि के लोग बहुत ही अच्छी तरह संस्कृत में भी अपभ्रंश का पुट दे देकर पढ़ते हैं। शारदा के प्रसाद से काश्मीरी सुकवि तो होते हैं, पर उनका पढ़ना कानों में गुर्च की पिचकारी देना है। उत्तरापथ के कवि, चाहे कैसे ही सुसंस्कृत क्यों न हों, जब पढ़ेंगे तब नाकी देकर। जिसमें प्रत्येक ध्वनि ठिकाने की होती है, वर्ण स्पष्ट सुनाई पड़ते हैं, यतियों का विभाग रहता है, वह पांचाल (रुहेलखंड) के कवियों का गुणनिधि तथा सुंदर पाठ कानों में मानों शहद बरसाता है। उसका कहना ही क्या ! लकारों की लड़ी और रेफों की फर्राहट के साथ ऐंठ ऐंठकर बोलना शोहदों का अच्छा लगता है, भव्य काव्यज्ञों का नहीं†।

इस प्रकार दो बातें विदित होती हैं। एक यह कि कंठ तालु आदि उच्चारण-स्थानों की समानता होते हुए भी सबके उच्चारण अथवा पाठक्रम एक से नहीं होते और दूसरी यह कि भाषा में परि-

---

* × × × × × × × × × । ब्रह्मन् विज्ञापयामि त्वां स्वाधिकार-जिहासया। गौडस्त्यजतु वा गाथामन्या वास्तु सरस्वती ॥ × × × ....

† ललल्लकारया जिह्व' जर्जरस्फाररेफया। गिरा भुजंगाः पूज्यन्ते काव्य-भव्यधियो न तु ॥ काव्यमीमांसा। ७।

वर्त्तन उत्पन्न करनेवाला सबसे बड़ा कारण यही अशक्ति अथवा प्रमाद-जन्य उच्चारण है।

इस देश में उच्चारण को व्यवस्थित रखने का उद्योग बहुत दिनों से होता आया है। वेद के छः अंगों में शिक्षा प्रधान अंग है। पाणिनि आदि मुनियों ने उच्चारणविषयक अपने अपने अनुभवों की पृथक् पृथक् शिक्षा दी है। शिक्षा वेद की नाक है*। उच्चारण ठीक नहीं हुआ तो समझना चाहिए कि वेद की नाक कट गई।

एक दिन पाणिनि भगवान् अपने आश्रम में विराजमान थे। उनके आसपास सभी जीव-जंतु सहज वैर भूलकर सुख से विचरते थे। अकस्मात् उनकी दृष्टि एक शेरनी पर पड़ी। वह अपनी दाढ़ों में पकड़कर अपना बच्चा ले जा रही थी। बच्चा खूब प्रसन्न था। न वह गिरता था और न उसे दाँत ही चुभते थे। ऋषि निरीक्षण कर रहे थे, बोल उठे—वाह! क्या सफाई से बच्चे को उठाया है! क्या ही अच्छा हो यदि उच्चारण करनेवाले भी इसी शेरनी की तरह वर्णों को न तो काट खायँ और न मुँह से बिखर जाने दें†।

अनुनासिक या गुन्ना को संस्कृत में रंग भी कहते हैं। स्वर के उच्चारण में रंगत लाने के लिये इसका उपयोग होता है। मुनि ने सूरत की किसी महिला को अपने ढंग से 'तक्रँ' कहते सुना था, अतः अपनी शिक्षा में यह भी लिख गए कि रंग बोलना तो बस सौराष्ट्रिका नारी से सीखना चाहिए‡।

आजकल जिस प्रकार अँगरेजी के उच्चारण और स्वर-संचार (Accentuation) पर विशेष ध्यान दिया जाता है वेदपाठ में उससे किसी प्रकार कम ध्यान नहीं दिया जाता था। किसी प्रकार

* शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य × × × ×। पा० शि०। ४२।

† व्याघ्री यथा हरेत् पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्। भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद् वर्णान् प्रयोजयेत्॥ पाणिनिशिक्षा २५।

‡ यथा सौराष्ट्रिका नारी तक्रँ इत्यभिभाषते। एवं रङ्गाः प्रयोक्तव्याः... वही २६।

का अपपाठ उपेक्षणीय नहीं माना जाता था। हजारों वर्ष पहले एक बड़े ब्रह्मज्ञानी थे। धर्म तो माना उन्हें प्रत्यक्ष था। वे परा और अपरा दोनों विद्याओं के पारगामी विद्वान् थे। कोई ऐसा वेदितव्य विषय नहीं जो उन्हें विदित न हो, कोई ऐसा तत्त्व नहीं जिसकी उपलब्धि उन्हें न हुई हो। किंतु एक बात थी। वे यद्वा नः तद्वा नः के स्थान पर यर्वाणः तर्वाणः बोला करते थे। इस तकिया कलाम के वे ऐसे आदी थे कि लोगों ने उनका नाम यर्वाणः तर्वाणः रख छोड़ा था। बेचारे इसके लिये बदनाम थे*। हमारे कींस कालेज के परलोकगत प्रोफेसर हरिचरण नर्मा (Prof. H. C. Norman) calculation को विचित्र ढंग से 'कालकुलेशन' कहा करते थे। अतः विद्यार्थि-मंडली में वे भी उसी नाम से प्रख्यात थे। उच्चारण में एक अशुद्धि करनेवाले को 'एकान्यिक', दो अशुद्धिवाले को द्व्यन्यिक एवं एकादशान्यिक द्वादशान्यिक आदि कहते थे। पाणिनि ने इस प्रयोग (मुहावरे) के लिये दो सूत्र पृथक् ही रचे हैं†। अँगरेजी में स्वरसंचार की भूल केवल वक्ता को हीन और कवि को निश्क्रिय बनाती है, पर प्राचीन काल में यहाँ तो वह प्राणों पर आ पड़ती थी। बेचारा इंद्रशत्रु वृत्र पुरोहितजी की इसी भूल से निर्मूल हो गया था। हमारी बोली में भी स्वरसंचार का महत्त्व कुछ कम नहीं है। 'चलें' कहने पर हमारा मित्र चलने लगता है, पर 'चलें' कहते ही उसकी त्योरी बदल जाती है। आज से प्रायः बाईस सौ वर्ष पहले, पतंजलि देव के समय, यदि कोई विद्यार्थी उदात्त का अनुदात्त कर बैठता तो

* एवं हि श्रूयते—'यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवुः प्रत्यक्षधर्माणः परापरज्ञाः विदितवेदितव्या अधिगतयाथातथ्याः।' ते तत्रभवन्तो यद्वा नस्तद्वा न इति प्रयोक्तव्ये यर्वाणस्तर्वाण इति प्रयुञ्जते।.....................महाभाष्य। प्रथम पस्पशाह्निक।

† कर्माध्ययने वृत्तम्। अष्टाध्या० ४।४।६३। और बह्वच्पूर्वपदाट्ठच्, वही। ४।४।६४।

चपत खाता था* । हाँ, प्रसंगात् एक बात याद आ गई । काश्मीर के राजा जयापीड के महामंत्री दामोदर गुप्त (सं० ८११–८४२ वै०) ने काशी के तत्कालीन वेदाध्यापकों की एक अच्छी मीठी चुटकी ली है । उन्होंने लिखा है कि काशी में नूपुरों की ऐसी झंकार होती है कि वेदाध्यापक शिष्यों की अशुद्धियाँ सुन नहीं पाते† । चलिए बेचारे विद्यार्थी चपत खाने से बचे !

उच्चारण में अशक्ति और प्रमाद के कारण ही परम पावन वैदिक भाषा बिगड़ते बिगड़ते आज क्या की क्या हो गई ! भर्तृहरि ने निर्गुण वक्ताओं को कोसते हुए देववाणी की इस दुर्दशा पर गरम आँसू बहाए हैं‡ । शल्क का छिलका या छिकला वल्मीक का बाँबी या बिमौट, मनीषा का मंशा, विद्युत् का बैजा, अविधवात्व का अहिवात, तोक का खोका (बं०), दुर्या (वै०) का डेरा, सपर्य (वै० पूजा करना) का सपरना (बुंदेल० नहाना), पराके (वै० दूर) का फरके (पूर्वी० अलग), प्रष्ठ का बिड़िया और संज्ञा का सान आदि किसने किया ? वैदिक भाषा अति प्राचीन है । बहुत से परिवर्तन भुगत चुकी है । उसे छोड़िए । अभी कल की आई अँगरेजी इस प्रकार बदल चली है कि बड़े बड़े विद्वान मूलान्वेषण में गोते खा जाते हैं । 'लिबड़ी बरताना' लेकर भागे, सब बोलते हैं; पर यह नहीं जानते कि यह लिबड़ी बरताना Livery Baton का बेटा है ।

यदि उच्चारण की भ्रष्टता रोकने के उपाय न होते रहें तो कोई भाषा अपनी पूर्ण आयु न भोग सके । बीच ही में लोग उसका अंगभंग कर डालें । जिस भाषा में असवर्ण-संयोग अधिक होगा

* एवं हि दृश्यते लोके—य उदात्ते कर्त्तव्येऽनुदात्तं करोति खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति अन्यत्वं करोषीति । वृद्धिरादैच् १।१।१ का भाष्य ।

† यत्र च रमणीभूषणरवबधिरितसकलदिङ्नभोभागे ।
शिष्याणामाचार्यैर्नावद्यं वार्यते पठताम् ॥ कुट्टनीमत । ८ ।

‡ पारम्पर्यादपभ्रंशा निर्गुणेष्वभिधातृषु ।
प्रसिद्धिमागताः × × × × वाक्यपदीय । १ । १५५
दैवी वाग् व्यवकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभिः × × × × × वही । १५६ ।

उसके विकृत होने की अधिक आशंका रहेगी और उसकी विकृति रोकने का प्रयत्न भी अधिक करना पड़ेगा। किसी वर्ण के उच्चारण करने में कितना प्रयत्न करना पड़ता है इसका बोध निरंतर अभ्यास के आवरण में छिपा रहता है। पाणिनि मुनि का मत है कि वर्णोच्चारण के पूर्व अंतःकरण, संस्कार रूप से अपने में वर्त्तमान अर्थों में से कुछ को अपनी वृत्ति बुद्धि के द्वारा किसी प्रासंगिक विषय के अनुकूल बनाकर उन्हें अभिव्यक्त करने की इच्छा मन में उत्पन्न करता है। उस इच्छा को लेकर मन शरीर की अग्नि को छेड़ता है। कायाग्नि भभककर वायु को प्रेरित करती है। ताप से स्फीत होकर वायु मूर्धा की ओर बढ़ती और उससे टकराकर लौटने के समय मुख के कंठ तालु जिह्वामूल आदि स्थानों पर आघात करती है। तब कहीं वर्ण मुँह से बाहर आते हैं*। यदि कहीं वे वर्ण भिन्न भिन्न स्थानों से उच्चार्य होने पर संयुक्त हुए तो और आफत है। ऐतरेयारण्यक में वाणी और प्राण का बड़ा घनिष्ठ संबंध बतलाया गया है। लिखा है—अध्ययन तथा भाषण के समय प्राण वाणी में रहता है। वाणी उस समय प्राण को चाटती रहती है। चुप रहने और सोने के समय वाणी प्राण में लीन रहती है। प्राण उस समय वाणी को चाटता रहता है।† भला सोचिए तो ऐसे क्लेशसाध्य काम में कौन यथाशक्य सौकर्य न चाहेगा। इसी लिये तो हरिश्चंद्र ने लिखा है—"सिर भारी चीज है इसे तकलीफ हो तो हो, पर जीभ बिचारी को सताना नहीं अच्छा।"

इस उच्चारण-सौकर्य, मुखसुख अथवा Euphony के आधार पर ही संधि-नियमों की सृष्टि हुई है। भाष्यकार पतंजलि को मुख-सुख

---

* आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युंक्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्। पा० शि० ६।

सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः। वर्णाञ्जनयते × × × × वही।९। एवं नागेशभट्टकृत उसकी व्याख्या (शब्देन्दुशेखर, संज्ञा प्रकरण)

† तद् यत्रैतदधीते वा भाषते वा वाचि तदा प्राणो भवति। वाक् तदा प्राणं रेळ्हि। अथ यत्र तूष्णीं वा भवति स्वपिति वा प्राणे तदा वाग् भवति। प्राणस्तदा वाचं रेळ्हि। ऐ० आ० २।१।६।१४

का बड़ा ख्याल रहता है। जब किसी वर्ण की सार्थकता प्रकारांतर से नहीं दिखलाते तो यही कह दिया करते हैं कि अमुक वर्ण मुख-सुख के लिये है। मुख-सुख ही के लिये प्रसिद्ध निषेधार्थक In, pure के पहले Im हो जाता है और Cup+board कबर्ड उच्चारित होता है। अँगरेजी व्याकरण में चाहे इसके लिये नियम न हों; पर प्रधानतः वैज्ञानिक तुरी (करघे) में बुने गए हमारे पाणिनि बाबा के सूत्र यहाँ भी आ बँधेंगे।*

स्वर और व्यंजन के उच्चारण में कितने और कैसे दोष होते हैं उनका विवेचन प्रातिशाख्यों में भली भाँति किया गया है। कुछ स्वर-दोषों का उल्लेख पतंजलि देव ने अपने महाभाष्य के प्रथम पस्पशाह्निक में भी किया है। जैसे—

संवृत, कल (उचित से अधिक मृदु), ध्मात (अधिक श्वास लेने के कारण ह्रस्व भी दीर्घवत् लक्ष्यमाण), एणीकृत (संदिग्ध, जैसे 'ओ है अथवा औ'), अंबूकृत (व्यक्त होने पर भी ऐसा जान पड़े मानों मुँह में ही है), अर्धक (दीर्घ ह्रस्ववत्), ग्रस्त (जिह्वा-मूल में ही अवरुद्ध), निरस्त (निष्ठुर), प्रगीत (गाया हुआ सा), उपगीत (गाए हुए-से समीपवर्ती वर्ण से अभिभूत), क्ष्विण्ण (काँपता-सा), रोमश (गंभीर), अविलंबित (वर्णांतर मिश्रित), निर्हत (रूक्ष), संदष्ट (बढ़ाया सा), विकीर्ण (वर्णांतर पर फैला हुआ सा)। शौनक ने अपने ऋक् प्रातिशाख्य में वर्णों के स्थान, प्रयत्न, गुण आदि का वर्णन करके उक्त ग्रंथ के चतुर्दश पटल में स्वर और व्यंजन दोषों का विस्तृत विवेचन किया है। उनमें से प्रत्येक दोष का यहाँ निर्देश कर इस लेख को अधिक एकदेशी बनाना मुझे अभीष्ट नहीं। अतः कुछ ही का उल्लेख कर इस प्रसंग को समाप्त कर देने का विचार है। प्रायः लोग उत्स को उस्त, स्नान

* नश्चापदान्तस्य झलि। ८।३।२४ अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः। ८।४।५८ और झलां जशोऽन्ते। ८।२।३९।

को अस्नान, ऋषि को रुषि जैसा, ऐयेः और वैयश्वस्य को अय्येः, वय्यश्वस्य (जैसे 'है' के हिमायती उर्दू वाले वैर को वयर और चौर को चवर), शुनःशेप को शुनःश्येप (जैसे अपढ़ कभी कभी निद्रा को निद्या), ज्येष्ठ को जेष्ठ, दीर्घायु को दीरिघायु, स्वस्तये को स्वस्तए, भुवना को भुअना, सिंह को सिंघ बोला करते हैं। शौनक के मत मे ये सब महादोष हैं अतएव वर्जनीय हैं।

इस प्रकार शुद्ध उच्चारण की उपादेयता और अशुद्ध उच्चारण की हेयता का निदर्शन हो चुका। जिस प्रकार लेख में अक्षरों की सुंदरता वाचक पर तत्काल अपना प्रभाव डालती है उसी प्रकार भाषण में उच्चारण की शुद्धता श्रोता को अनुकूल बना लेती है। अतः चाहे किसी भाषा का हो, उच्चारण यथाशक्य शुद्ध होना चाहिए।

यस्तु प्रयुंक्ते कुशलो विशेषे
शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनंतमाप्नोति जयं परत्र
वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥

—महाभाष्य।

(१३) कविराज धोयी और उनका पवनदूत

[लेखक—श्री बलदेव उपाध्याय एम० ए०]

कौन ऐसा संस्कृतज्ञ होगा जिसने कालिदास के मेघदूत का नाम न सुना हो। शब्दों की सुंदर योजना, अर्थों की मनोरम कल्पना तथा मानवीय भावों का सरस चित्रण, इन सब दृष्टियों से महाकवि कालिदास की अमर कृतियों में यह खंडकाव्य अत्यंत मधुर तथा रमणीय समझा जाता है। प्राचीन काल में इस काव्य की बड़ी प्रसिद्धि थी। बहुत से लोग संस्कृत साहित्य भर में इसे ही अपनी रुचि के अनुसार प्रधान स्थान दिया करते थे, जैसा कि 'मेघे माघे गतं वयः' इस प्रसिद्ध आलोचनात्मक वाक्य से स्पष्टतया ज्ञात होता है। कालिदास के अनंतर होनेवाले कवियों को यह काव्य इतना भाया, इसने उनके हृदय में ऐसा घर कर लिया कि उसके विषय तथा शैली का अनुसरण अनेक प्रसिद्ध परवर्ती कवियों ने किया है। इन काव्यों को 'दूत-काव्य' अथवा 'संदेश-काव्य' नाम दिया गया है, क्योंकि कालिदास की इस अमर कृति के अनुरूप इन सब लोगों ने इन काव्यों में वायु, हंस, चातक, कोकिल आदि निर्जीव तथा सजीव वस्तुओं के द्वारा किसी प्रियतम के पास सँदेसा भिजवाया है। सँदेसा भेजवाने के कारण इस काव्यसमूह का नाम 'संदेश-काव्य' पड़ गया है। संस्कृत साहित्य का यह काव्यसमूह अपना एक विशेष आदरणीय स्थान रखता है। इन 'संदेश-काव्य' में, जहाँ तक इतिहास से अब तक पता चलता है, सबसे पहला स्थान 'पवनदूत' को दिया जाता है। आज हम इसी सुंदर 'पवनदूत' तथा इसके रचयिता कविराज धोयी के विषय में संक्षेप में कुछ निवेदन करना चाहते हैं।

उपक्रम

सबसे पहले महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री ने अपनी संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकों की रिपोर्ट की पहली जिल्द में 'पवनदूत'

की स्थिति के विषय में सूचना दी। अनंतर १६०५ में श्रीमनोमोहन चक्रवर्ती ने बंगाल की एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका में 'पवनदूत' का सर्वप्रथम संस्करण निकाला। परंतु केवल एक ही हस्तलिखित प्रति के आधार पर होने से इस संस्करण में बहुत कुछ संदिग्ध अंश विद्यमान थे जिनके संशोधन का उपाय न होने से ये अगत्या स्वीकृत कर लिए गए थे। हाल में ही कलकत्ते की संस्कृत साहित्य परिषद् ने इस खंड काव्य का एक शुद्ध तथा सुंदर संस्करण निकालकर संस्कृत साहित्य के प्रेमियों का बड़ा उपकार किया है। तीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर यह संस्करण तैयार किया गया है; अतएव पहले संस्करण की अपेक्षा यह संस्करण अनेक अंशों में विशुद्ध तथा उपादेय है। मनोमोहन चक्रवर्ती के संस्करण का, सोसायटी की पत्रिका में प्रकाशित होने के कारण, सुलभ प्रचार नहीं था। केवल जानकारों को छोड़कर सर्वसाधारण को इसे देखने का अवसर बहुत ही कम प्राप्त था। इस अभाव की पूर्ति कर संस्कृत-परिषद् ने काव्य-प्रेमियों पर बड़ा भारी अनुग्रह किया है और उसके लिये वह हमारे सादर धन्यवाद का पात्र है। इसी परिषद्वाले संस्करण से इस लेख में आगे चलकर श्लोक उद्धृत किए जायँगे तथा यथावकाश इसी संस्करण का स्थान स्थान पर निर्देश मिलेगा।

पवनदूत के संस्करण

'पवनदूत' के रचयिता का नाम सूक्ति ग्रंथों तथा इस काव्य की प्रतियों में भिन्न भिन्न रूपों में उपलब्ध होता है। कहीं उनका नाम 'धूयी' है, तो कहीं 'धोयी'। कहीं 'धोई' पाया जाता है तो कहीं 'धोयीक'। इन सब में इन्हीं के समसामयिक महाकवि जयदेव के गीतगोविंद के अनुसार 'धोयी' नाम ही प्रायः चुन लिया गया है और इसी नाम से इस कवि की प्रसिद्धि भी है। अन्य नाम इसी के संस्कृत अथवा विकृत रूप माने जा सकते हैं। इस महाकवि के समय का निरूपण आभ्यंतर तथा बाह्य साधनों की सहायता से बड़ी सरलता के

रचयिता का समय

साथ किया जा सकता है। आंतरिक साधनों से निश्चित किए गए सिद्धांत की ही, बाह्य सामग्री की सहायता से, यथेष्ट पुष्टि होती है। दोनों में किसी प्रकार की विषमता लक्षित नहीं होती।

'पवनदूत' के अंत के श्लोकों में कवि ने अपना कुछ व्यक्तिगत परिचय दिया है। कवि अपने विषय में कहता है—

> दंतिव्यूहं कनकलतिकां चामरं हैमदंडम्
> 　　यो गौडेंद्रादलभत कविक्ष्माभृतां चक्रवर्ती।
> श्रीधोयीक: सकलरसिकप्रीतिहेतोर्मनस्वी
> 　　काव्यं सारस्वतमिव महामंत्रमेतज्जगाद॥
>
> (पवनदूत, श्लो० १०१.)

इस पद्य से स्पष्ट प्रतीत होता है कि धोयी कवियों में चक्रवर्ती के समान उन्नत स्थान रखते थे तथा गौड देश (बंगाल) के किसी राजा से इन्होंने अनेक हाथी, चामर आदि बहुमूल्य वस्तुएँ पारितोषिक के रूप में पाई थीं। इस 'गौडेंद्र' का वर्णन तथा नाम-निर्देश भी इस काव्य के प्रारंभ में ही किया गया है। पवनदूत के दूसरे श्लोक में 'क्षोणिपाल लक्ष्मण' का नाम दिया गया है, जिससे स्पष्ट विदित होता है कि धोयी कवि बंगाल के अंतिम विद्या-प्रेमी नरेश श्रीलक्ष्मण सेन के आश्रय में थे।

इस सिद्धांत की पुष्टि बाह्य परीक्षा से भी उचित मात्रा में की जा सकती है। लक्ष्मण सेन की सभा में पाँच प्रसिद्ध पंडित थे जो उनकी समिति के पंचरत्न थे। इनके नाम ये हैं—

> गोवर्धनश्च शरणो जयदेव उमापति:।
> कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य तु॥

इस पद्य में 'कविराज' से अभिप्राय हमारे चरितनायक धोयी से ही है। पवनदूत की पुष्पिका—श्रीधोयीकविराजविरचितं पवनदूताख्यं काव्यं समाप्तम्—में कवि ने अपने को 'कविराज' कहा है। ऊपर उद्धृत श्लोक के 'कविक्ष्माभृतां चक्रवर्ती' के द्वारा भी इसी नाम की ओर निस्संदिग्ध संकेत है। धोयी के समसामयिक जयदेव

ने अपने गीतगोविंद में 'श्रुतिधरो धोयी कविक्ष्मापतिः' लिखा है जिसमें इनकी 'कविराज' उपाधि की सूचना स्पष्टाक्षरों में उपलब्ध होती है। सारांश यह है कि जयदेव के उल्लेख तथा ऊपरवाले श्लोक के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ये लक्ष्मण सेन की समिति के पंचरत्नों में से एक उज्ज्वल रत्न थे। लक्ष्मण सेन का राज्यकाल बारहवीं सदी का अंतिम भाग था। अतः धोयी कवि का काल द्वादश शताब्दी का उत्तरार्ध था, यह निश्चित सिद्धांत समझा जाना चाहिए। जान पड़ता है कि धोयी की कीर्ति शीघ्र ही चारों ओर व्याप्त हो गई थी; क्योंकि ११२७ संवत् (१२०५ ईस्वी) में लिखे गए 'सदुक्तिकर्णामृत' नामक प्रसिद्ध सूक्ति ग्रंथ में इनके बहुत से सुंदर पद्य उद्धृत किए गए हैं। अतः इससे भी पूर्व सिद्धांत की ही पुष्टि होती है। सारांश यह है कि कविराज* धोयी बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन की सभा के पंडित थे और बारहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में विद्यमान थे।

धोयी की समग्र रचनाओं का पता नहीं चलता। 'पवनदूत' ही इनकी अमर कीर्ति का एक मात्र स्तंभ है। कवि ने इस काव्य को अपनी वृद्धावस्था में लिखा था, ऐसा प्रतीत होता है; क्योंकि ग्रंथ

* 'राघवपांडवीय' नामक काव्य के रचयिता का भी नाम 'कविराज' था। इनका हमारे चरितनायक के साथ कोई संबंध नहीं है। दोनों भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं; विभिन्न प्रांतों में दूसरे राजाओं की संरक्षकता में रहनेवाले थे। राघवपांडवीय के कर्ता दक्षिण के कादंब वंशी नरेश कामदेव की सभा में थे। ग्रंथ (१. १३) में कवि ने अपने आश्रयदाता राजा कामदेव की प्रशंसा की है तथा पुष्पिका में अपने ग्रंथ को राजा के द्वारा प्रोत्साहित किए जाने पर लिखे जाने की बात कही है। डाक्टर फ्लीट के कथनानुसार राजा कामदेव १२ वीं शताब्दी के अंतिम भाग तथा १३ वीं के आरंभ में विद्यमान थे। अतः राघवपांडवीय भी लगभग १२०० ईस्वी के आसपास लिखा गया था। डाक्टर मैक्डानल ने लिखा है (देखिए History of Sanskrit Literature पृ० ३३१) कि कविराज ने ८०० ईस्वी में अपना राघवपांडवीय बनाया। यह नितांत अशुद्ध है। अतः राघवपांडवीय वाले कविराज पवनदूत के कर्ता कविराज धोयी से भिन्न तथा कुछ पीछे के ठहरते हैं।

के अंतिम श्लोक* में कवि ने ब्रह्माभ्यास में दिन बिताने की अपनी उत्कट अभिलाषा प्रकट की है। 'वाक्संदर्भाः कतिचिदमृतस्य दिनो निर्मिताश्च' इससे अन्य सरस रचना की ओर कवि का संकेत जान पड़ता है। परंतु अभी तक पवनदूत को छोड़कर, धोयी का कोई अन्य ग्रंथ उपलब्ध नहीं हुआ है। केवल पीछे के सूक्ति-ग्रंथों में इनकी अनेक सूक्तियाँ संरक्षित हैं। ये किसी काव्य-ग्रंथ से चुनी गई हो सकती हैं, परंतु इस विषय में सिद्धांत रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

ग्रंथ

जिस समय में धोयी ने अपना काव्य बनाया, वह काल संस्कृत साहित्य के लिये—विशेषतः बंगाल के संस्कृत साहित्य के लिये—अत्यंत महत्त्व का था। राजा लक्ष्मणसेन उस समय राज्य कर रहे थे। सेनवंशी राजाओं में ऐसा विद्याप्रेमी नरेश शायद ही कोई हुआ हो। राजा स्वयं सरस्वती के उपासक थे। इनकी अनेक सूक्तियाँ 'सदुक्तिकर्णामृत' में संगृहीत की गई हैं। इनकी सभा में पंडितों तथा कवियों का खासा जमघट था। इनकी समिति के पंचरत्नों का नाम ऊपर दिया गया है। जयदेव ने भी अपने गीतगोविंद† में इन पाँचों कवियों के नाम तथा उनके काव्य की विशेष-

समसामयिक कवि और पंडित

* कीर्तिर्लब्धा सदसि विदुषां शीतलक्षौणिपाला
वाक्संदर्भाः कतिचिदमृतस्यंदिनो निर्मिताश्च।
तीरे संप्रत्यमरसरितः क्वापि शैलोपकंठे
ब्रह्माभ्यासे प्रयतमनसा नेतुमीहे दिनानि॥
(पवनदूत, १०४)

† वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः संदर्भशुद्धिं गिरां
जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुतेः।
शृंगारोत्तरसत्प्रमेयवचनैराचार्यगोवर्धन-
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरो धोयी कविक्ष्मापतिः॥
(गीतगो० १. ४.)

ताओं का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। इनमें उमापतिधर*
उतने प्रसिद्ध नहीं हैं, जितने वे होने चाहिएँ। इनके बहुत से श्लोक
'सदुक्तिकर्णामृत' में चुनकर रखे गए हैं जिनसे वाक्य को पल्लवित
करने की इनकी कला का पूरा आभास मिलता है। कहा जाता है
कि इन्होंने 'चंद्रचूडचरित' नामक काव्य लिखा था जिसके पुरस्कार
में चाणक्यचंद्र नामक राजा ने सैकड़ों गाँव तथा लाखों रुपए इन्हें
दिए थे। एक श्लोक† में ग्रंथ का नाम-निर्देश मिला है; परंतु
ग्रंथकार का नाम न होने से इसके विषय में ठीक नहीं कहा जा
सकता। उमापतिधर की केवल उपलब्ध रचना विजयसेन राजा का
देवपारावाला शिलालेख है। इसमें विजयसेन की प्रशस्त प्रशस्ति है।
जयदेव के अलौकिक गीतिकाव्य को कौन नहीं जानता। वह तो संस्कृत
भाषा की मधुरिमा का चूड़ांत निदर्शन है—संस्कृत साहित्य का एक
चमकीला स्वर्गीय हीरा है। शरण ने कविता लिखने के अतिरिक्त
व्याकरण का एक अनुपम ग्रंथ बनाया है जिसमें समस्त अपाणिनीय
प्रयोगों की सिद्धि पाणिनीय सूत्रों से ही यथाविधि की गई है। इस
ग्रंथ का नाम 'दुर्घटवृत्ति' है। आचार्य गोवर्धन की सरस शृंगार-
मयी कविता का उत्कृष्ट नमूना इनकी 'आर्यासप्तशती' है जिसमें सात
सौ आर्याओं में भिन्न भिन्न विषयों पर मनोहर कविता की गई
है। कवि-क्ष्मापति धोयी तो इस प्रबंध के नायक ही हैं। जयदेव
ने इन्हें 'श्रुतिधर' कहा है जिससे इनकी अलौकिक स्मरण शक्ति का
आभास मिलता है।

---

* 'पारिजातहरण' के रचयिता उमापति कवि मैथिल थे तथा १४वीं शताब्दी के रहनेवाले थे। 'उमापतिधर' से वे सर्वथा भिन्न थे। देखिए 'पारिजातहरण' पर मेरा लेख; माधुरी पूर्ण संख्या २४।

† निष्पन्ने सति चंद्रचूडचरिते तत्तन्नृपप्रक्रिया-
जातैः सार्धमरातिराजकशिरोरत्नांजलीनां त्रयम्।
तप्तस्वर्णशतानि विंशति शतीरूप्यस्य लक्षत्रयं
ग्रामाणां शतमंतरंगकवये चाणक्यचंद्रो ददौ ॥

जयदेव के पूर्वोक्त श्लोक की व्याख्या करते समय राणा कुंभ ने 'श्रुतिधर' को एक नवीन कवि बतलाया है*। परंतु यह बात ठीक नहीं जँचती। जयदेव ने धोयी कविराज ही के लिये 'श्रुतिधर' शब्द का प्रयोग किया है। शंकर मिश्र ने गीतगोविंद की अपनी रसमंजरी नामक टीका में पूर्वोक्त पद्य की व्याख्या करते समय धोयी के लिये ही श्रुतिधर शब्द के प्रयुक्त होने की बात लिखी है।† सदुक्तिकर्णामृत में धोयी कवि का 'दंतिव्यूहं कनकलतिकां' वाला श्लोक उद्धृत किया गया है जिसका उत्तरार्द्ध पवनदूत में दिए गए पाठ से सर्वथा भिन्न है। पद्य का उत्तरार्ध इस प्रकार है—

ख्यातो यश्च श्रुतिधरतया विक्रमादित्यगोष्ठी-
　　विद्याभर्त्तुः खलु वररुचेरासमाद प्रतिष्ठाम्।

इस पद्यांश में कवि ने अपनी ओर संकेत करते हुए अपने को श्रुतिधर होने से ख्याति प्राप्त करनेवाला कहा है। इसे जयदेव के 'श्रुतिधरः' शब्द की मानो व्याख्या ही समझना चाहिए। सारांश यह है कि 'श्रुतिधर' को धोयी का ही विशेषण समझना चाहिए। केवल राणा कुंभ के कथन पर लक्ष्मण सेन की सभा में एक नवीन कवि की कल्पना करना, कम से कम अब तक उपलब्ध साधनों के आधार पर, सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है‡।

इस कविपंचक के अतिरिक्त ईशान, पशुपति तथा हलायुध—इन तीनों प्रसिद्ध भाइयों ने लक्ष्मणसेन की सभा की शोभा बढ़ाई थी। इन लोगों ने कर्मकांड विषयक अनेक ग्रंथों की रचना की है।

---

* इति पट् पंडितास्तस्य राज्ञो लक्ष्मणसेनस्य प्रसिद्धा इति रूढ़िः। श्रुतिधरनामा कविर्विश्रुतो विख्यातः स तु तस्य गुणैरेव प्रसिद्धः।

† धोयीनामा कविराजः श्रुतिधरः श्रुतिः श्रवणं तन्मात्रादेव ग्रंथग्राही।
　　—गी० गो० पृ० ६।

‡ 'श्रुतधर' नाम के कवि की कुछ सूक्तियाँ सुभाषितावलि तथा शार्ङ्गधरपद्धति में मिलती हैं। श्रुतधर और श्रुतिधर धोयी एक थे या भिन्न, यह ठीक नहीं कहा जा सकता।

इनकी रचनाओं को आज भी बंगाल में महत्त्व प्राप्त है तथा ये प्रामाणिक मानी जाती हैं।

पुरुषोत्तमदेव का भी यही समय है। इन्होंने पाणिनीय अष्टाध्यायी के वैदिक सूत्रों को छोड़कर अन्य सूत्रों पर एक सुंदर वृत्ति लिखी है जो 'भाषावृत्ति' कहलाती है। यह वृत्ति भी राजा लक्ष्मण सेन की आज्ञा से ही संस्कृत व्याकरण सिखाने के लिये बनाई गई थी।*

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि बंगाल के सेनवंशी राजाओं में लक्ष्मण सेन का राज्यकाल संस्कृतसाहित्य के लिये अत्यंत महत्त्वपूर्ण था। इसी काल में हमारे चरितनायक धोयी हुए थे। लक्ष्मण सेन की अभिजनभूयिष्ठा परिषद् में भी इनके सम्मानित होने से इनके गौरव तथा महत्ता का अनुमान सहज ही में किया जा सकता है।

कथा तथा महत्त्व

पवनदूत की कथा बहुत ही सीधी सादी है। लिखा है कि 'भुवन-विजय' करते करते राजा लक्ष्मण सेन मलयाचल तक जा पहुँचे। वहाँ 'कुवलयवती' नामक गंधर्वकन्या उनके अलौकिक रूप को देखकर मुग्ध हो गई। राजा के अपने देश लौट आने पर वह बहुत दुःखित हुई और राजा के पास अपना संदेशा भेजने के लिये उसने पवन को भेजा। इसी कारण इसे 'पवनदूत' नाम दिया गया है। पवन के जाने के लिये कुवलयवती ने मार्ग का वर्णन किया है। पांड्य (देश), उरगपुर, ताम्रपर्णी (नदी), सेतु, कांची (पुरी), सुवला (नदी), कावेरी (नदी), माल्यवान् (पर्वत), पंचासर (तालाब), कलिंग (देश) इन सबों को पारकर पवन को 'विजयपुर' नामक राजधानी के पास जाने को लिये कहा जाता है। अनंतर लक्ष्मण सेन के लिये मनोरम संदेश दिया गया है। ग्रंथ में सब मिलाकर १०४ श्लोक हैं।

इस काव्य के भौगोलिक वर्णन के आधार पर १२ वीं सदी के भारतवर्ष की भौगोलिक स्थिति का पता चलता है परंतु इस विषय

---

* वैदिकप्रयोगानर्थिनो लक्ष्मणसेनस्य राज्ञ आज्ञया प्रकृते कर्मणि प्रसजन् वृत्तेर्लघुतायां हेतुमाह।—भाषावृत्ति।

में ग्रंथ का विशेष महत्त्व नहीं है। विशेष महत्त्व इसका है लक्ष्मण सेन के 'भुवनविजय' की ऐतिहासिक घटना पर। लक्ष्मण सेन के अब तक उपलब्ध शिलालेखों से यह नहीं पता चलता कि इन्होंने दक्षिण देश पर भी विजय प्राप्त की थी। परंतु इस काव्य से उनके दिग्विजय-प्रसंग में दक्षिण जाने की घटना जानी जाती है। समकालीन कवि के द्वारा वर्णन की गई इस घटना में कुछ तथ्य अवश्य होगा।

कालिदास के मेघदूत की भाँति पवनदूत की रचना मंदाक्रांता छंद में की गई है। धोयी को कविराज की उपाधि मिली थी।

आलोचना

इस उपाधि के औचित्य या अनौचित्य पर बिना विचार किए ही हम कह सकते हैं कि इनकी उपलब्ध रचनाओं से किसी विशेष कवि-प्रतिभा की व्यंजना नहीं होती। पवनदूत के श्लोकों में प्रसादगुण यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध होता है। कविता सरल है—कविता का प्रवाह स्वाभाविक ढंग से बह रहा है। शब्द साफ सुथरे हैं। वाक्यविन्यास मनोरम है। भाव भी यत्र तत्र सुंदर हैं—नवीनता से भरे हैं। इन सब बातों पर विचार करने से यही परिणाम निकलता है कि धोयी का काव्य कालिदास के मेघ के समान सर्वांग रमणीय न होने पर भी कविता के गुणों से खाली नहीं है। कुछ उदाहरणों से पवनदूत की विशेषता सहज में ही जानी जा सकेगी।

कवि कुवलयवती की विरहजन्य कृशता का वर्णन कर रहा है—

मुष्टिग्राह्यं किमपि विधिना कुर्वता मध्यभागं
　　मन्ये बाला कुसुमधनुषो निर्मिता कार्मुकाय।
राजन्नुच्चैर्विरहजनितक्षामभावं वहंती
　　जाता संप्रत्यहह सुतनुः सा च मौर्वीलतेव॥

—(६६)

भावार्थ—हे राजन्, ब्रह्मा ने तो स्वयं उसकी कमर को बहुत पतली बनाया है। उसका मध्यभाग इतना पतला है कि मुट्ठी में पकड़ा

जा सकता है—वह मुष्टिमेय है। जान पड़ता है कि पुष्पधन्वा कामदेव के धनुष के लिये यह नायिका बनाई गई थी परंतु आज वह विरह-दुःख के कारण बहुत ही कृश हो गई है—इतनी पतली हो गई है कि अब धनुष के अनुरूप न रह गई। हाँ उसकी डोरी का कुछ कुछ काम कर सकती है।

वियोग-वर्णन का एक दूसरा उदाहरण लीजिए—

सारंगाक्ष्या जनयति न यद् भस्मसादंगकानि
त्वद्विश्लेषे स्मरहुतवहः श्वाससंधुक्षितोऽपि।
जाने तस्याः स खलु नयनद्रोणिवारां प्रभावो
यद्वा शश्वन्नृप तव मनोवर्तिनः शीतलस्य ॥
—(७५)

भावार्थ—हे राजन्, तुम्हारे वियोग में कामरूपी अग्नि श्वास के पवन से संधुक्षित होने पर भी—साँस की हवा से धौंके जाने पर भी—उस मृगनयनी के कोमल अंगों को जलाकर राख नहीं बना रहा है। इसमें केवल दो ही कारण दिखाई पड़ते हैं। वह लगातार रो रही है। उसकी आँखों से अनवरत आँसू की धारा बह रही है। उसकी आँखें भी बड़ी सुंदर द्रोणि (पानी उलीचने के लिये पात्र-विशेष) की भाँति हैं। बस, लगातार आँखों की इस अश्रुधारा के कारण ही उसका शरीर जलता नहीं*। अथवा तुम्हारी शीतल मूर्ति उसके हृदय में बैठी हुई है। काम कितना भी जलाना चाहे वह जला नहीं सकता। उसके हृदय में वास करनेवाली तुम्हारी मूर्ति सदा उसे शीतल बनाए हुए है। इन्हीं कारणों से वह अब तक बची

* धोयी का इसी भाव से मिलता जुलता एक अन्य पद्य 'सदुक्तिकर्णामृत' में दिया गया है—

दरविगलितदूर्वांदुर्बलान्यंगकानि
ग्लपयति न यदस्याः श्वासजन्मा हुताशः।
स खलु सुभग मन्ये लोचनद्वंद्वधारा-
मविरलपटुधाराव्राहिनीनां प्रभावः ॥

चली आ रही है। इस श्लोक में वियोगावस्था की ज्वाला तथा अश्रु के अनवरत प्रवाह की बहुत ही अच्छी व्यंजना की गई है। कवि ने एक साधारण बात को विलक्षण ढंग से लिखा है।

पवनदूत में मेघदूत की समानार्थक अनेक उक्तियाँ मिलती हैं—बहुत से श्लोकों में भाव-साम्य मिलता है। मेघदूत में कविकुलगुरु कालिदास की लोकोत्तरशायिनी प्रतिभा का सुंदर विकास मिलता है। इतने सुंदर और कोमल भाव हैं कि उसी विषय पर लिखनेवाले परवर्ती कवियों के काव्यों पर उनका प्रभाव बिना पड़े रही नहीं सकता। हुआ भी है बहुत कुछ ऐसा ही। धोयी के ऊपर कालिदास का खूब प्रभाव पड़ा था। पवनदूत को सरसरी तौर पर पढ़नेवाले पाठकों के भी यह बात ध्यान में आए बिना नहीं रह सकती। मेघदूत के मनोरम भावों तक ही यह समानता परिमित नहीं है बल्कि शब्दों तक भी पहुँची हुई है। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्टत: दिखाई जा सकती है—

धोयी और कालिदास

(१) हित्वा कांचीमविनयवती भुक्तरोधोनिकुंजाम्।

(प० दू० १५)

स्थित्वा तस्मिन् वनचरवधूभुक्तकुंजे मुहूर्तम्।

(मे० दू० १.१९)

(२) संसर्पन्तीं प्रकृतिकुटिलां दर्शितावर्तचक्राम्।

(प० दू० ३४)

संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः।

(मे० दू० १.२९)

(३) आसाद्यात: कमपि समयं सौम्य वक्तुं विविक्ते,
देवं नीचैर्विनयचतुर: कामिनं प्रक्रमेथा:।

(प० दू० ६१)

विद्युद्गर्भः स्तिमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे
वक्तुं धीरस्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथा:।

(मे० दू० २.३७)

कविराज धोयी के काव्य का यही संक्षिप्त परिचय है। इस संक्षिप्त वर्णन से ही पाठक धोयी की मनोरम काव्य-कला का परिचय पा चुके होंगे। अंत में इस सरस दूत-काव्य के सर्वत्र प्रचार तथा मंगलमय दीर्घ जीवन के लिये धोयी के ही शब्दों में आशा रखते हुए यह लेख समाप्त किया जाता है—

यावच्छंभुर्वहति गिरिजासंविभक्तं शरीरं
　　यावज्जैत्रं कलयति धनुः कौसुमं पुष्पकेतुः।
यावद्राधारमणतरुणीकेलिसाक्षी कदंब-
　　स्तावज्जीयात् कविनरपतेरेष वाचां विलासः॥

(१४) करहिया कौ रायसौ

[लेखक—श्री उपेंद्रशरण शर्म्मा]

इस "करहिया रायसौ" में करहिया के परमार और इतिहास-प्रसिद्ध महाराज सूरजमल जाट के पुत्र महाराज जवाहरसिंह भरतपुर-नरेश के युद्ध का वर्णन है। इतिहास और लेखों तथा पुरानी कविता और सच्ची किंवदंतियों से—जो कुछ उपलब्ध हैं उनके आधार पर—दोनों राजवंशों का परिचय और इस युद्ध का कारण वर्णन करूँगा। भरतपुर के राजवंश का इतिहास महाराज बदनसिंह से मिलता है और उन्हीं ने स्वयं राजपद प्राप्त किया था। इनके पुत्र सूरजमल बड़े प्रतापी हुए जो संवत् १८१८ में पानीपत के प्रसिद्ध युद्ध में सम्मिलित थे, जिन्होंने दिल्ली में शाही खजाने की लूट की थी और जो पुष्कर क्षेत्र में राजपूतों से लड़े थे। किंतु पुष्कर में उनके पुत्र जवाहरसिंह की पराजय हुई थी, जिसके प्रमाण में राजपूताने की यह किंवदंती विख्यात है कि "बल घट गयो पुष्कर नहाए से।" जवाहरसिंह के वंश में आज तक भरतपुर का राज चला आता है। महाराज जवाहरसिंह की प्रशंसा "जाटवीर" साप्ताहिक पत्र में, जिसका प्रकाशन आगरे से होता है, निकल चुकी है। परमारों के इतिहास की खोज से दो स्थान परमारों के मुख्य मिलते हैं—आबू और मालवा। इस प्रमाण में भी यह दोहा विख्यात है—"पिरथी बड़ा पमार पिरथी परमारा तणी। एक उजीणी धार दूजो आबू बैसणों"। करहिया के परमार मालवा राजवंश के परमार हैं। इसी से गुलाब कवि चतुर्वेदी ने इस रायसे में इनकी उपाधि "धारा-धनी" लिखी है। यह बात तो निर्विवाद सिद्ध है कि महाराज जवाहरसिंह के समय में जाट वंश मध्याह्न काल के मार्तंड के समान था और परमार वंश अनेक घरेलू युद्ध लड़ते लड़ते, अंत में यवनों द्वारा, अस्त हो चुका था। किंतु राज्य के साथ क्षात्र धर्म का अस्त नहीं हुआ था। यों तो

वर्तमान समय में जितने क्षत्रिय वंश हैं उन सभी के पूर्वज वीर, उदार, विद्वान और गुणग्राही थे। किंतु भारत के प्राचीन राजवंश—राजपूताने का इतिहास—नवसाहसांक प्रभृति कतिपय संस्कृत ग्रंथ, शिलालेख और ताम्रपत्रादि से यह निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि मालवा की परमार शाखा के अधिकांश महाराजा वीरता और उदारता के साथ साथ सरस्वती के भी पूर्ण कृपाभाजन रहे हैं। कदाचित् ही कोई ऐसा विद्वान् हो जो मुंज, भोज और जगदेव की कीर्ति से परिचित न हो। इन्हीं प्रसिद्ध महाराजा भोज से आठवीं पीढ़ी में महाकुमार हरिश्चंद्र वर्मा के पुत्र महाराजा देवपालदेव, विक्रमी तेरहवीं शताब्दी के अंत में, धार के सिंहासन पर बैठे। महाराज देवपालदेव के समय ग्वालियर का किला मालवा राज्य के अंतर्गत आ गया था। महाराज देवपालदेव ने अपने लघु भ्राता महाकुमार पुण्यपालदेव को पद्मावती (वर्तमान पवाँय) का प्रांत जागीर में दिया था। यह ग्वालियर से ३६ मील के लगभग सिंध और पारवती (सिंधु व पारा) नदियों के संगम पर इस समय भी ग्वालियर राज्य के अंतर्गत है। वहाँ महाकुमार पुण्यपालदेव के बनवाए हुए किले और नदियों के घाटों का भग्नावशेष इस समय भी विद्यमान है। महाकुमार पुण्यपालदेव के तीन पुत्र हुए—ज्येष्ठ शंकरसहाय, मध्यम रत्नसहाय और कनिष्ठ जैत्रसिंह। रत्न-सहाय को बेरछा की जागीर दी गई थी। यह बेरछा संप्रति दतिया राज्य की सेवढ़ा तहसील में सिंध नदी के दक्षिण किनारे पर है। जैत्रसिंह (जयत) को कैरूवा जागीर मिली। यह कैरूवा पवाँय से ६ मील पश्चिम ग्वालियर राज्य में है। वर्तमान महाराजा छतरपुर कैरूवा की ही शाख के परमार हैं। महाकुमार शंकरसहाय पवाँय की गद्दी पर रहे। पुण्यपाल के एक पुत्र और थे जिनको मयापुर की जागीर मिली। यह मयापुर तहसील पिछोर जिला नरवर में विंध्या की घाटी में ग्वालियर राज्य के अंतर्गत है। इस शाख के परमार मयापुर के परमार कहलाते हैं। शंकरसहाय के पुत्र पूर्णमल्ल और उनके

डवरसिंह (डूँगरराय) हुए और उनके पुत्र कर्ण हुए। कर्ण ने करैरा नाम का कसबा पवाँय से २८ मील के लगभग दक्षिण में 'महुवर' (मधुमती) नदी के किनारे बसाया और उसी को राजधानी का रूप दिया। अब करैरा झाँसी-शिवपुरी रोड पर ग्वालियर राज्य की एक तहसील है। यहाँ परमारों का बनवाया हुआ किला भी टूटी फूटी दशा में मौजूद है। कर्ण के तीन पुत्र हुए—ज्येष्ठ जगमाल (जगमल्ल), द्वितीय मलसाव (मल्लसहाय) और तृतीय भानु। जगमाल करैरा की गद्दी पर रहे। मलसाव को करैरा से दस मील दक्षिण में ठकुरई का इलाका जागीर में मिला। संप्रति यह ठकुरई ग्वालियर राज्य की करैरा तहसील में है और उस पर मल्लसहाय के वंशजों का अधिकार है। इस घराने के परमार तिहैया (तीसरे हिस्सावाले) नाम से विख्यात हैं। छोटे भान (भानु) को पाली पलींदा जागीर में दी गई। यह स्थान झाँसी से ६ मील के करीब पश्चिम, करैरा से १६ मील के लगभग पूर्व, झाँसी जिले में है। इस शाखा के परमार पलहा (पाली के घर के) परमार कहे जाते हैं। जगमल्ल के पुत्र दूल्हा राय हुए। शमसुद्दीन अलतमश के समय से मालवा राज्य पर यवनों के आक्रमण प्रारंभ हो गए थे। इन आक्रमणों से महाराजा देवपालदेव के पश्चात् क्रमशः परमारों का बल क्षीण होता गया और सुलतान अलाउद्दीन खिलजी के समय में मालवा के परमार पीढ़ियों से यवनों से लड़ते लड़ते अत्यंत जीर्ण हो चुके थे, तथापि कुछ अंशों में मालवा पर परमारों का राज्य बना रहा। परंतु मुहम्मद तुगलक के समय में परमारों का राज्य मालवा से जाता रहा। मुहम्मद तुगलक ने संपूर्ण मालवा प्रदेश दिल्ली राज्य में मिला लिया और अजीज हिमार को वहाँ का सूबेदार नियुक्त किया। मालवे के अंतिम स्वतंत्र परमार महाराजा जयसिंह (चतुर्थ) थे। उस समय पद्मावती और करैरा प्रांत पर, करैरा गढ़ में रहकर, महाकुमार पुण्यपालदेव के वंशज ऊपर लिखित दूल्हाराय मालव साम्राज्य के सामंत की हैसियत से शासन करते थे। विक्रमीय संवत १४०० के

लगभग उन पर मुसलमानी फौज ने आक्रमण किया। दूल्हाराय ने वीरतापूर्वक यवनों से युद्ध किया और उनकी प्रबलता देख वे जौहर व्रत धारण कर सकुटुंब वीर गति को प्राप्त हुए। इस युद्ध से करैरा राज्य भी यवनों के अधिकार में आ गया। दूल्हाराय के अत्यल्प-वयस्क राजकुमार शक्तिसिंह उस जौहर से बचे। इन्हें उनके सहायक मुड़िया कर्रा नामक ग्राम में ले गए। शक्तिसिंह के वंशज परमार बुंदेलखंड में जौहरया नाम से प्रसिद्ध हैं। इन जौहरया परमारों के कतिपय ठिकाने अब भी करैरा तहसील में मुड़िया कर्रा ग्राम के आस पास ग्वालियर राज्य में हैं। शक्तिसिंह के पुत्र जुझारसिंह, उनके साहबराय और साहबराय के नंदसहाय, नंदसहाय के तीन पुत्र हुए—थानसिंह, कनकसिंह और केशरीसिंह। इनमें थानसिंह के वंशज उदगमा के जागीरदार हैं और केशरीसिंह के वंश में बिलारी, नौनेर, जिघनौ इत्यादि के जागीरदार हैं। मध्यम कनकसिंह के हम्मीरसिंह हुए। हम्मीरसिंह के दो पुत्र हुए—ज्येष्ठ खरगराय, कनिष्ठ कुंदनसिंह। कुंदनसिंह के वंशज हथलईवाले हैं। इन प्रतापी महाकुमार खरगराय ने विक्रम सं० १६३२ आश्विन शुक्ल ४ को कछवाहे वंश के महाराजा गजसिंह से ४७ हजार की आय का इलाका प्राप्त करके करहिया नाम का कसबा नरवर से १६ मील उत्तर विंध्या की घाटी में बसाया, जो अब भी उनके वंशजों के अधिकार में है। किंतु जब से नरवर राज्य महाराजा सेंधिया के अधिकार में आया है तब से करहिया के परमारों से ग्वालियर सरकार ठीके के रूप में कुछ रुपया लेने लगी है। करहिया के परमारों ने ग्वालियर सरकार के अतिरिक्त बुंदेलखंड के महाराज, दतिया, चरखारी, बिजावर, खनियाधाना आदि से भी जागीर और सम्मान पाया है। करहिया के पुराने शहरपनाह (कोट) का भग्नावशेष अब भी विद्यमान है। पहाड़ पर किले का भग्नावशेष और नगरकोट की अवशिष्ट जीर्ण बुर्जें (गुल्म) प्राचीन वैभव की स्मृति दिला रही हैं। ईसवी सन् १८६१, वि० सं० १६४८ में, यहाँ

की जनसंख्या ७१३२ थी। अपने पूर्वजों के सदृश इस ठिकाने के अधीश्वर भी ब्रह्मण्य (ब्राह्मण-भक्त), वीर और कवि-आश्रयदाता रहे हैं और यथाशक्ति अब भी हैं।

खरगराय से छठी पीढ़ी के वंशजों से विक्रम सं० १८२४ भादों बदी ६ शनैश्चर के दिन यह युद्ध भरतपुर के जाट महाराजा जवाहरसिंह से हुआ। करहिया का संबंध उस समय नरवर राज्य से था और नरवर के सिंहासन पर कछवाहे महाराजा रामसिंह थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि महाराजा जवाहरसिंह बड़े वीर, साहसी और प्रतापी थे। उस समय उन्होंने बुंदेलखंड और नरवर को विजय करने के निमित्त प्रयान किया और गोपाचल (ग्वालियर) के उत्तर पूर्व दक्षिण के ठिकानों और प्रदेश को जीतते हुए मगरौनी में आकर शिविर किया। कसबा मगरौनी नरवर से ४ मील उत्तर, करहिया से १२ मील दक्षिण जिला नरवर राज्य ग्वालियर में है। इस युद्ध के उपक्रम का कारण यह सुना जाता है कि पिछोर के राव हंमीर जाट और करहिया के परमारों से, सिंध नदी के धूम घाट पर, विक्रमीय अठारहवीं शताब्दी की समाप्ति के लगभग युद्ध हुआ था और उस युद्ध में परमारों की विजय और राव हंमीर की पराजय हुई थी। उस घटना की कविता करहिया और आस-पास के राव (चारण) कवियों द्वारा अब भी कही जाती है, जिसमें का एक छंद निम्नलिखित है—

"धूम के घाट पै माची धमाधम लोथ पै लोथ गिरै घमसानी।
घायल कैऊ परे रन खेत में आरत नाद पुकारत पानी॥
जीव लै राव हंमीर भगे तजि पालकी पाग निशान निशानी।
मारि कें जट्ट करें दहवट्ट रहौ मुख मुच्छ पमारन पानी॥"

पिछोर जी० आई० पी० रेलवे के डबरा स्टेशन से ७ मील के करीब जिला गिर्द राज्य ग्वालियर में एक तहसील है और वहाँ राव हंमीर का किला और उनके वंशजों की जागीर अब भी है। धूम घाट के युद्ध से आस-पास के जाट जागीरदार करहिया पर पूर्ण

क्रोधित थे। जब जवाहरसिंह का शिविर मगरौनी में हुआ तब उन सब ने जवाहरसिंह से करहिया की शिकायत की। जवाहरसिंह ने सवार द्वारा करहिया के परमारों को लिखा कि तुम बिला किसी बहाने के मगरौनी हाजिर आओ। परमारों ने उत्तर में पाँच चोट की बारूद और पाँच गोली भेजते हुए लिखा कि "आप जैसे वीर को यह उचित नहीं था कि यहाँ से मुख छिपाकर नरवर जा पहुँचे। करहिया नरवर राज्य का उत्तरीय मोरचा है। अतः प्रथम यहाँ का वीरोचित सत्कार स्वीकृत करते जाइए।" इस पत्र से क्षुभित हो करहिया को ही जवाहरसिंह चल पड़े और जो करहिया पर युद्ध हुआ उसी का इस रायसौ में वर्णन है। लड़ाई का ऐसा प्रभाव पड़ा कि महाराजा जवाहरसिंह बुंदेलखंड और नरवर से न लड़ते हुए आगरे को ही लौट गए।

इस रायसौ के रचयिता गुलाब कवि माथुर, चतुर्वेदी आँतरी-निवासी थे। यह युद्ध उनके समक्ष हुआ था, और युद्ध के दस मास पश्चात् की स्वयं उनकी हस्तलिखित प्रति से यह प्रति लिखी गई है। यह प्रति कविजी के वंशज श्रीमान् कवीश्वर पं० चतुर्भुजजी वैद्य आँतरी के यहाँ सुरक्षित है। गुलाब कवि की कवित्व-शक्ति उनके रायसौ से स्वयं विद्वान् समझ सकते हैं। यह वही आँतरी है, जहाँ महाराज वीरसिंह ओरछाधीश ने अब्बुल फजल का वध किया था। ग्वालियर से झाँसी जाते हुए जी० आई० पी० रेलवे का यह तीसरा स्टेशन है और यहाँ से १७ मील के करीब दक्षिण पश्चिम में करहिया है। इन परमारों का गोत्र वशिष्ठ है और इनके पुरोहित भी वशिष्ठ गोत्रीय भार्गव ब्राह्मण हैं, जो पवांय के मिश्र कहलाते हैं। ये वंशपरंपरा से स्मार्त शैव यजुर्वेदी हैं।

करहिया कौ रायसौ

दोहा

कमल चरन असुभनि हरन, बंदौ सारद माय।
कृपा करौ जन दीन पै, कीजे सुमति सहाय ॥ १ ॥

कवित्त

जाको वेद विदित विरंचि पुरहूत सुर
सेस सनकादि आदि बाधैं चित्त चाउ रे।
सोई निज सुमति विचार कै गुलाब कवि
आठ याम आनँद विमल यश गाउ रे ॥
ह्वै है शुभ कारज कृपा की कोर हेरत ही
बिघन बिलात होत पूरन प्रभाउ रे।
ध्याउ तू सदा ही सुभ करन सदा के ताके
देवी जू के चरन सरोज उर ल्याउ रे ॥ २ ॥
पूजे सेस सुमति सुवासर रजनि विधि
पूरन प्रमान ते न आदि अंत पावही।
होत उदय कारज जगत जग जोगिन के
संकट हरन इस भांति भाँति ध्यावही ॥
बंदि जन पुन्य ते प्रवीन होत अवनी पै
सुमन गुलाब चेति चर्न उर ल्यावही।
सुर नर नाग मुनि विदित जहान माने
देवनि के देव श्री गणेश जू को गावही ॥ ३ ॥

दोहा

सुमिरि उमासुत के चरन सारद कौं शिर नाय।
कर जोरें विन्ती करों दीजे उक्ति बनाय ॥ ४ ॥
जंग जोर जालिम जबर प्रगट करहियाँ-वार।
तिनकौ यश बरननं करों दीजे बुद्धि उदार ॥ ५ ॥

दान खड्ग सन्मान को समरथ ही की रीति।
तिनको यश बरनन करै कवि गुलाब की प्रीति ॥ ६ ॥
किरिन कीर्ति इस दिश बड़ी किधों चंद की जोति।
अरि मारे पाले हितू रसना अमृत सोति ॥ ७ ॥

कवित्त

दान तेग सूरे बल विक्रम से रूरे पुण्य-
पूरे पुरषारथ को सुकृती उदार है।
गावे कविराज यश पावे मन भायो तहाँ
वर्ण धर्म चार चारु सुंदर सुढार है ॥
राजत करहिया में नीत के सदन सदा
पोषक प्रजा के प्रभुताई हुसयार है।
जंग अरबीले दल भंजन अरिंदन के
विदित जहान जग उदित पमार है ॥ ८ ॥

दोहा

साखिन ते शरना भए गंजे अरि बरजोर।
दुनियां में यश विस्तरयौ नऊ खंड छित छोर ॥ ९ ॥
सूनौ देश विचार के कर कर मन में चौज।
चले सामुहै जुथ्थ सजि उतरी चामिल फौज ॥ १० ॥
जाट जौम धारें बड़ौ आयौ देश मझाय।
मिले अगमने जाय के राना कैऊ राय ॥ ११ ॥
गूजर गौर हँसेलिया गुजरौरा कौ राउ।
हाथ जोरि दादिक मिले तज तेगन कौ चाउ ॥ १२ ॥
गोपाचल की बाउनी गंज कालपी थान।
नरवर गढ़ की तरहटी लूटी रिद्धि निदान ॥ १३ ॥
जासो सार न गहि सकौ कोऊ सुभट नरेश।
दक्खिन दल तासो मुरयौ लियो भदावर देश ॥ १४ ॥
अष्टादश द्वै चार कौ संवत् भादो मास।
असित पक्ष तिथ षष्टमी शौरी बार प्रकाश ॥ १५ ॥

सोरठा

उपटी सब ही सेन मगरौनी से कूच करि।
सरिता मानो ऐन चली सिंधु के मिलन को ॥ १६ ॥

चौपाई

जाट जवाहिर कर बल ऐनम्। चढ़ौ करहिया को लै सैनम् ॥
साठ सहस असवार पयादे। ढाडो पाखर गैयर लादे ॥१७॥

कवित्त

जीती कैऊ अनी घनी प्रबल पठानन की
धाए जहाँ आप ल्याए पेशगी निदान के।
कहत 'गुलाब जंग रोरे को पमारन से
मोरे कौन बद्दल प्रचंड मघवान के ॥
धारा धनी धीर सो अधीर करे बैरिन को
जद्दब कितीक दल दंगली रसान के।
वीर रस माते इतै तेगे गह ताते सो
विरझाने छत्री वर जोधा रतिभान के ॥ १८ ॥

दोहा

पैज करें धारा-धनी सुनो सुभट हो बैन।
पय निर्मल कुल शुद्ध भू रहै जगत यश ऐन ॥ १९ ॥
मसलत कर एकंत हुव निवटे सुभट समूह।
आज वरें सुर अच्छरी कर संग्राम सकूह ॥ २० ॥

छप्पय

बोल केहरीसिंह बोल दुर्जनसिंह रावह।
नर मकुंद नरनाह सिंघ सिरदार सुचावह ॥
पंचमसिंह प्रचंड बोल धुरमंगद वीरह।
केसव राय उदारसिंह साँवत रनधीरह ॥
ता अनुज सिंह उद्दोत वर श्री रघुनाथ सुबोलियव।
परगह्द बुलाइ इत्तफाक सो तत्त मत्त सब खोलियव ॥२१॥

छंद पद्धरी

बुल्लाय बड़ं खड्डुर सुवीर । सांडल प्रचंड रन सुभट धार ॥
पम्मार बोलि परगह उदार । विरदैत वीर बाहन पगार ॥
कीरत कुमार घनसिंघ तत्त्व । जितबार जंग सुभ करन वत्त ॥
मुहुकम कुमार सुज्जान रूप । सिरदार सिंह त्रर समर भूप ॥
पंचम प्रचंड वीराधिवीर । नर नाह रुद्र रस पग गँभीर ॥
माथुर मरद्द वाके जुवान । छत्तीस खोम खड्डुन अमान ॥
जोगी प्रचंड वृजभान तथ्थ । सूरमा तेग वाहन समथ्थ ॥
दीमान बोल मंत्री हजूर । सफुजंग वीर करवो जरूर ॥२२॥

दोहा

परगह इकठी होय के करौ मतौ मत युद्ध ।
डटे सहस भट सुभट सो जुरन जाट सो जुद्ध ॥ २३ ॥

चौपाई

उमड़े दल बद्दल से ऐनम् । इतै सुभट साजे सब सैनम् ॥
घेरौ नगर सबै चहुँ ओरनि । हाँके सुभट करे बहु सोरनि ॥२४॥

दोहा

दिखी फौज धारा-धनी क्रोध होय सब सैन ।
सुनौ सुभट सामंत हौ सबै सुनायौ बैन ॥ २५ ॥

कुंडलिया

साँई अनी न चुकिए बोलै प्रबल पमार ।
धीर धरै सन्मुख लरै गहै कोपि तरवार ॥
गहै कोपि तरवार हने अरि जुद्ध अकारे ।
आयुध प्रबल प्रताप खंडि खल दल बल भारे ॥
पैज परम पन धारि नीति सबही के तांई ।
जाट ठाट कौ गर्व हरै छिन में यो साँई ॥ २६ ॥

छप्पय

बोल्यो सामँत सिंह सुनौ सब संग निदानह ।
सूर मरत अति सुःख दुःख कायर तन जानह ॥

कटै खेत अरि धिंग हने द्वै सहस्र सुद्धह ।
सदा इष्ट जे रटत नटत कबहूँ नहिं जुद्धह ॥
दिग्मान केहरी बोल वर चार जुगन द्वै आवई ।
न निघटै बात यह मानियै रची विधाता भावई ॥ २७ ॥

दोहा

होनी होय सो होत है सुनौ सुभट हौ बात ।
उखटो तरवर गिरि परै करै पवन विख्यात ॥ २८ ॥
यह कहके साम्हे पिले सुभट संग परिवार ।
इक इक लक्खन सों भिरन करन जाट सों रार ॥ २९ ॥
गला मेंह गाजन लगे बाजन लगे निशान ।
सुभट सैन साजन लगे कों ताजन अगवान ॥ ३० ॥

सवैया

कौरव से दल जाट पिले हित भीम ज्यो पंच सहा क्रतु वैसे ।
नंद बली किसनेस कौ माखन रोप रह्यो पग अंगद जैसे ॥
काढि कृवान दिमान युधिष्ठर त्रासतु है अरि को दल ऐसे ।
वीर पमार पहार की ओर रुपे रन भारत पारथ जैसे ॥ ३१ ॥

छंद पद्धरी

कर पसर असुर जद्दव निदान । हज्जार साठ धाए जुवान ॥
इत धाय सरोतर सहस जुआन । सब सुभट वीर कर गहि कृवान॥
भय गला शोर दुहुं सेन मद्ध । बड़ धरे शूर पग समर क्रुद्ध ॥
मचि उठौ जुद्ध हिंदुवान ज्वान । गज पेल जाट आए निदान ॥
बहु दगे जैाम जम्मूर जोर । सुनिए न शब्द मच रह्यौ शोर ॥
गज्जैं गरज्ज जंजाल जाल । हथनाल चले बहु सुतरनाल ॥
बहु चले तक्क तीखी तुपक्क । तह फुटे शूर नहि धरे शक्क ॥
बहु बहे बान जिमि मेघ धार । चिकार पील कुंभन विदार ॥

कहुँ चले करखि कम्मान ज्वान। सन्नाह फोर घरै पगत आन ।।
किरवान कडो गहे ढाल हथ्थ। बहु जट्ट ठट्ट भए लथ्थ पथ्थ।।३२।।

दोहा

सिमट शूर इकठे भए, सबै सम्हारयो सथ्थ।
वाह वाह जोधा कहें, भले चलाए हथ्थ ।। ३३ ।।

छंद मोतीदाम

इहि भाँति करी सफजंग विचार। पिले भट जुथ्थ सुजुथ्थन फार ।।
गही कर ढाल करी मन रीस। जड़ो किरवान अरीन के शीस ।।
रुपौ रन पंचम सिंह कुमार। झरै झुमझार अरीन प्रहार ।।
पिलो रन में हरिसिंह दिमान। गहौ कर सेल तजी किरवान ।।
रहो भर झेल कुमार सुजान। दिलो मजबूत प्रताप निदान ।।
बली किसुनेस कौ सावँत सिंघ। लहौ भुज भार करी सफजंग ।।
जहाँ रघुनाथ उदोत गयो। अर भार सबै भुज तानि लयो ।।
बिचल्यौ इत केसव राय बली। जिहि जाय हरौल की सेन दली ।।
धुर मंगद धीरज धर्म धरे। इहि भाँति जवाने से जुद्ध करे ।।
रन माखन सिंघ कुमार पिल्यो। जिहि तेगन सों अरि जुथ्थ भिर्यो ।।
लछनेस छतालहि लाखन को। जिहि नाम कियो यश साखिन को ।।
मौहकम्म पिलौ जहाँ पायन सो। भर झेल कुमार सो रायन सो ।।
दिल दारुन देविय सिंघ बली। बहु भाँति अरीन की सैन दली ।
भुव भारत दुर्जन राव करयो। असुरान कौ तेगन गर्व हरयौ ।।
गहि कोपि क्रिवान कुमार खुमान। लही कर सक्ति प्रसिद्ध गुमान ।।
धरे पग पारथ लो घनसिंग। करी अरि सों सुथरी सफजंग ।।
गही कर कीरत सिंग क्रिवान। ढहे जहँ कीचक से बहु ज्वान ।।
पिलौ इत भीम कौ नामी मुकुंद। करौ अरि सो बहु भाँतिन दुंद ।।
थके जहँ कायर देखि विरुद्ध। करे इम प्रान कुमासी युद्ध ।।
भल्यौ अँग यौ भुज भार कराल। पिलौ जहाँ मोहन सिंघ कौ लाल ।।
बहु धीरज धौकल सिंघ धरौ। जिहि दूध के दाँत न जुद्ध करौ ।।

सुभ सुक्क गही कर लै डमराव । धरी बहु सौने सिंघ सुचाउ ।।
सबै कुँवरा वर कोप नृपम् । अरि को उपजावन देह दुपम् ।।
पिलें कर चौजन नग्र के वीर । भिली बहु भाँतिन जाट की भीर । ३४ ।

छंद नागसरूपी

करकं कर जोर कंधान वहै तिन टूट के दंतन पील ढहै ।।
कर मुंड गिरे रुप रुंड जहाँ । खन के सिरसार अवाज तहाँ ।।
कट ही जनु भील निकंदर से । इम तेग बहे रन तंवर से ।।
गज छोड़ के अश्व सवार भयौ । ललकार जवाहिर आय गयौ ।।
विरच्यौ इत केहरि सिद्ध नरम् । कर इष्ट उचारन शुद्ध भरम् ।।
पहुँच्यौ रन पंचम सिंघ मरद्द । करै भुक भार अरीन गरद्द ।।
रुप्यौ इत जाट निराट बली । मुख ते रटना सुचितान भली ।।
इत जाय रुप्यौ घुर मंगदयम् । सँग साँवत सी बल अंगदयम् ।।
गहि सिंघिन रोस ह्वै जट्ट रने । बहु कैवर छाँड़ तम्म भरने ।।
गह तेग हथं लछनेस बली । कर रोस अरीन की सेन दली ।।
किरवान दई जटरान मथं । ढए कीचक जिमि गिरवे पथं ।।
कटि मूँडनि शूरन श्रोन मचे । तहाँ वेगि सदाशिव माल सचे ।।
कर जुग्गिन चौसठ नच्च पगम् । इम देखि के कायर देह डगम ।।
रन केहरि सिंघ दिवान परयौ । जिन तेगन सों अरि गर्व हरयौ ।।
घुर मंगद पंचम सिंघ नरम् । भट साँवत सिंघ परयो समरम् ।।
रन लच्छिन केसव छत्त बली । बहु भाँति जटान की सेन दली ।।
उद्दोत परो भुव पारथ सौ । जिहि युद्ध करौ रन भारत सौ ।।
बर बीर बुँदेल सो माखनयम् । सुरलोक गयौ इमि लाखनयम ।।
जहाँ जोगी प्रचंड पवैया परे । वर साडिल धीर जहाँ जकरे ।।
इहि भाँति भयौ रन संमरयम् । रवि खेच रह्यौ रथ अंबरयम् ।। ३५ ।।

दोहा

असिवर वाही कोप करि करे खूब घमसान ।
तिल तिल टूटे टूक ह्वै अहुटे नहीं जुवान ।। ३६ ।।

सहस एक अरि जुथ्थ हनि पौडे सुभट सुमार।
गए वीर वैकुंठ को पुत्रन दै भुज भार॥ ३७॥

छंद भुजंगी

करि क्रोध सब सेन वृज भूप धाए। मनौं उत्तरं गज्जिनं श्याम आए॥
हँका हंक माची दुहूँ सेन माहीं उरज्झे दुहूँ ओर जोधा सुमाहीं॥
रुपै पारथं रूप कीरत्त आगे। बढ़ाए हयं तेज सब सूर वागे॥
चले जूह जंजाल सुत्तरं प्रमानम्। फटे पक्खरं अश्व नरदेह ज्वानम्॥
वहैं वे प्रमानं तुपक्कै तरारी। लगे शूर छाती मनो कुंभ ढारी॥
बहै तग कंधं कटे शीस सूरम्। रुपे आय रुंढं वरे जाय हूरम्॥
भिरे मल्ल भेषं दुहूँ ओर वारे। लथा पथ्थ ह्वै के गिरें भूमि भारे॥
चले सक्क तीरं कमानं करारे। लगें शूर छाती मनो सर्प कारे॥
मची मार अदभुत्त ह्वै जाम बीते। तहाँ स्रोन खारं बहै समर भीते॥
नचै जुग्गनी चौसटैं वीर रूपम्। सुनै जं समर त्रास मानंत भूपम्॥
गुहे मुंडमाला कपाली-निहारी। महा शब्द सुनके खुली रुद्र तारी॥
कटे खेत वीरं सुसहसं प्रमानम्। फिरे सर्व भय मान जटरा अमानम्॥
पिलौ सामुहे शूर सिरदार सिंघम्। गह्यो कोप किरवान वर्मेष्ट रिंघम्॥
हलाई जटा की घटा सेन सारी। हने सत्रु सामंत मयमंत भारी॥
वहै स्रोन खारं अपारं अघोरम्। लहै कौन पारं मचौ जुद्ध जोरम्॥
तनय भीम जू को जवरजंग योधा। पिलौ सी मकुंदं किए चित्त क्रोधा॥
चलावै बर्छी बाहु सक्को करारी। फुटै पक्खरं अश्व नरदेह भारी॥
इसी भाँति धारा-धनी सर्व धाए। वनी सेज जाटं सुधरनी मिलाए॥
भए लथ्थ पथ्थं दुहूँ सेन वारे। गिरे घुक्क धरनी सो घायल्ल भारे॥
भई मार माता घने शूर कट्टे। तवै लोह मानो सु असुरान जट्टे॥
हटी फौज सारी मिलो आय भेदी। रहौ पर्वतं यों अनी शूर छेदी॥३८॥

दोहा

तब अकुलाने वीर सव गिरवर छूट्यौ जान।
कहा करौं मसलत यहै लरिए फेर निदान॥ ३९॥

चौपाई

पति हित समभे राजकुँवारी । अपने अपने चित्त विचारी ॥
मरन जानि हुलसी कुल पतिनी । पारवती के अंसहि जितनी ॥
पति वीरन सो बोले गाथा । सुनिए राजकुँअर निज बाता ॥
हनिए शीस गिरीश चढ़ावे । अपने पति हित धर्म बढ़ावे ॥
शर्म काज मरहै जे नारी । ते अंबा के अंश निहारी ॥
पुन पति जाते ते नहिं मरिहै । निहचे नर्क बास ते करिहै ॥
या बिधि बचन सकल समभ्हाए । ते सुम्रत मुनि कहत अठाए ॥
मरीं कुमरि औ राजकुँवारी । अपने कुल की लाज सम्हारी ॥
गई विहँस • •वैकुँठहि धन्या । निज पति के अनुरागह मन्या ॥
जौहर कर जौहरिहा बीरह । निकसे बहुरि बिहँसि रनधीरह ॥४०॥

सवैया

आनँद सों पति के हित बालन मंगल चारु सबै सरसाए ।
पूजन देव महेश्वर को छाँठि साध सबै हठ दूर बहाए ॥
या विधि सो नृप राज कुमारिन सोहर के बर अद्भुत पाए ।
ताते निराट सुथान बिलोक गिरीश को लेकर शीश चढ़ाए ॥ ४१ ॥

दोहा

गई विहँसि वैकुंठ को राजसुता सुख पाय ।
पति हित साध्यौ सबन मिलि अवनी यशु सरसाय ॥ ४२ ॥
फिर धाए धारा-धनी हाँकी सुभटन भीर ।
रुधिर लपेटे चटपटे जकरे लाज जँजीर ॥४३॥
छट व्रत साध्यौ सबन मिल करि गौरीपति सेव ।
शीस चढ़ाए आपने पूजे पति हित देव ॥४४॥

छंद हनूफाल

अमरेश मोहै रनपूर । भ्फलमलित तिंह मुहू नूर ॥
जग जंग मुहुकम ˙सिंघ । जिहि कियौ अरिवर धिंग ॥

सुज्जन खड्ग निवाहि । तिहि दियौ अरिदल ढाहि ॥
मजबूत मान कुमार । अरि हने करि करि वार ॥
करि पैज कर पग रोपि । धायौ सो अरि पै कोपि ॥
बल विग्य सिंघ सुप्रान । धायौ सुकाढ़ क्रिवान ॥
धुर मंगदं चित चाहि । ता पुत्र देवी साहि ॥
कर ढाल गहि किरवान । धायौ सुकुंवर खुमान ॥
धुम्र धवल धौकल सिंघ । अरि हने करि सफुजंग ॥
मजबूत सोने साह । कर जंग रंग सुभाय ॥
हथवाय मुहुरन ठेल । इहि भाँति कर खग खेल ॥
कर रोस छाड़ि पहार । अरि जुथ्थ वृंद विदार ॥
इहि भाँति कर घमसान । पृथराज कैसे ज्वान ॥
उत आल उद्दल जाट । सब सेन धाय विराट ॥
कर रोस सामे धाय । इत पिले वीर सुभाय ॥
कर रोपि सिंघिनवान । बहु ढहे पील जुआन ॥
इहि भाँति माची रारि । तज ध्यान हँसत पुरारि ॥
मसहार गिद्धन कीन । नच जुग्गनी परवीन ॥
कहुँ भूत भैरो प्रेत । चुनि मुंड मालनि हेत ॥
तहाँ हुलस काली आय । पल चरन मंगल गाय ॥
कर स्रोन पान नवीन । बहु भाँत आशिख दीन ॥
चिर होहु भूमि पमार । जब लागि ईस उदार ॥४५।

दोहा

जीत लही धारा-धनी छूटौ प्रबल पहार ।
कीने भट जटरान के सिर बिन एक हजार ॥ ४६ ॥

छंद अमृतध्वनि

असिवर कोपि कराल गहि नृप पमार बलिबंड ।
हने घने जटरान के भुंड डुरिग प्रचंड ॥

झुंडझुरिंग प्रचंड झिढ करि मुंड झुरिपिय ।
भुस्सुं झिढ करि तुंड्ड डुभ कि चमुंड्ड डुगरिय ॥
रुंडद्धरिन अरिंद डुरिय अरंभभ्भुज पुर ।
रंभागन किय मग्गग्गति चल कद्दसिवर ॥ ४७ ॥

दोहा

मुरकी अनी हरौल की गयौ जाट तजि देस ।
वाह वाह धारा-धनी मुख ते कहै नरेस ॥ ४८ ॥

सवैया

साँचौ कियौ यश भूपन में जिह जाटन के दल दंगल टारे ।
मार हरौल अनी मुरकाय अघाय गए अरि जुथ्थ अकारे ।
डेढ़ हजार परे रनभूमि मनो जलग्राह खरे खग मारे ।
धारा-धनी बल-बीर पमार दुहूं कर सार अरीन पै झारे ॥ ४९ ॥
तेगन को घन बीच परयो उबरौ जट वीरन प्रात कौ डाढ्यौ ।
शूर भिरे सनमुख्ख गिरे जहाँ स्रोनित खार प्रवाहनि बाढ्यौ॥
ऐस समय बलवीर पमार हनौ अरि को दलदंगल गाढ्यौ ।
जौहरी धारा-धनी परवीन जिहान में खोटौ जवाहिर काढ्यो ॥५०॥

कवित्त

मेंड़ राखी हिंद की उमड़ि दल जाटन के
ऐडि करि कीनौ छित सुयश सपूती कौ ।
प्रबल पमारौ यारौ धरा राखी धीरज सो,
कीनौ घमसान खग्गमग्ग मजबूती कौ ॥
राख्यौ नाम निपुन नरिंदन के सेरिन कौ,
कहत गुलाब त्याग आलस कपूती कौ ।
सत्य राख्यौ शर्म राख्यौ साहिबी सयान राख्यौ,
राख्यौ पैज पानी इन मूँछौ रजपूती कौ ॥ ५१ ॥

दोहा

फते पाय धारा-धनी भए इकट्ठे वीर।
देश जगायौ जुगत सों कर मसलत रन धीर ॥ ५२ ॥

नृपत बड़ाई बहुत किय तुम अर्जुन के रूप।
शत्रुन को दाहन दहन धारे पहुमि सरूप ॥ ५३ ॥

रामसिंह सिरोपाव दे कीनौ हुकुम समाज।
बसौ करहिया नगर में करौ निकंटक राज ॥ ५४ ॥

श्याम राव आदर कियौ कीनी कृपा अपार।
नगर बसायौ जुगति करि सबै देश सम्हार ॥ ५५ ॥

चार वरण निज धर्म सों शोभा लही अपार।
सुबस बसायौ नगर को करि इकठौ परवार ॥ ५६ ॥

सवैया

जौ लगि मेरु महेश दिनेश धनेसुर लों धन धाम भरौ।
रवि नीर समीर सुधा सुविनायक पारथ लों अरि वृंद हरौ ॥
शशि सुम्रत सक्ति षडानन गंग गुलाब कहै प्रभुता सो करौ।
चिरजीजौ करहिया में धारा-धनी निज धू लगि भूप अनंद करौ ॥५७॥

दोहा

सुख संपति साहस सुयश पुत्र मित्र परिवार।
धू लगि करहु अनंद भू अति बल प्रबल पमार ॥ ५८ ॥

केहरि सिंह दिवान के भए राजा छितपाल।
धर्म कर्म धीरज धवल गो विप्रन प्रतिपाल ॥ ५९ ॥

मझले मुहुकम सिंघ जू तिन ते लघु नवलेश।
ता लघु कुमर सुजानि सिंह दारन अरि वर देश ॥ ६० ॥

सावँत सावँत सिंघ कौ राजत श्री रघुनाथ।
दान सत्य सन्मान सों छित कीनौ यश गाथ ॥ ६१ ॥

सोरठा

धुर मंगद के वीर देवी सिंघ सुभट्ट वर।
तिहि के धौकल धीर धन्य सत्य सनमान दृढ़ ॥ ६२ ॥

सवैया

दूर कियौ अरि कौ दल दंगल दिग्गज जैम जहान कौ मातौ ।
कीनौ घनौ यश देशन में कविराज भनै अनुराग समातौ ॥
सो हर के वर सो रवि वंशिन अंश प्रताप सुवेद कौ नातौ ।
धीरज धर्म धुरंधर लों नित नीतिहि सों मिल राजत सातौ ॥ ६३ ॥

दोहा

नंद करन कवि को कहै नाम गुलाव विचारि ।
भूल चूक होवै जहाँ लीजौ चतुर सुधारि ॥ ६४ ॥
गन अगन समझौ नहीं नहिं पिंगल कौ भेव ।
बरनत भूल परी जहाँ छिमा कीजियौ देव ॥ ६५ ॥

इति श्री कवि गुलावविरचितायां समयौ जाट कौ संपूर्ण शुभं भवतु श्रीरस्तु । मिती जेठ सुदी १० गुरऊ संवत् १८२५ मुकाम वसोवास कसवा आँतरी ।

(१५) पुराणों के महत्त्व का विवेचन

[लेखक—रायबहादुर श्री पंड्या बैजनाथ बी० ए०]

हिंदू जनता में पुराणों के विषय में दो प्रकार के मत पाए जाते हैं। एक तो अंध-परंपरा के माननेवाले लोग हैं जो पुराणों की सब बातों को अक्षरशः सत्य मानते हैं। दूसरा शिक्षित-विभाग है जो उनके किसी विशेष महत्त्व को नहीं मानता। इन शिक्षित जनों की समझ में पुराण केवल बालकवत् बुद्धिवालों को धार्मिक तत्त्व और धार्मिक किस्से समझाने के लिये रचे गए थे। वास्तव में सत्य इन दोनों मतों से भिन्न है। यदि हम कटाक्ष की दृष्टि से पुराणों पर निष्पक्ष भाव से विचार करें तो हमको पुराणों का बड़ा महत्त्व देख पड़ेगा। इसके लिये यह जानना आवश्यक है कि पुराणों का विकास किस प्रकार हुआ है।

पुराण शब्द का अर्थ क्या है? वायुपुराण और पद्मपुराण में लिखा है कि जिसमें पूर्व काल की परंपरा कही हो, वह पुराण है। शुक्रनीति, अमर-कोष तथा पुराणों में पुराण के पाँच लक्षण कहे हैं— सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वंतर और वंशानुचरित्र। ये पाँच बातें प्रत्येक पुराण में होनी चाहिएँ। भारतवर्ष में बहुत प्राचीन काल से भाट लोगों की प्रथा चली आती है। इन लोगों का कार्यक्षेत्र बढ़ते बढ़ते इनके तीन विभाग हो गए। इनका प्रधान कार्य राजाओं का कीर्ति-गान करना था। आरंभ में ये लोग यह कीर्तिगान अपनी स्मृति के आधार पर ही करते थे। इस प्रकार आख्यान (स्वयं देखी हुई घटना का वर्णन), उपाख्यान (सुनी हुई), गाथा (पुराने पितरों के गीत) और कल्पशुद्धि (श्राद्ध, कल्पादि के विषय में जिसमें निर्णय होवे) से इन पौराणिक

विषयों की सामग्री बढ़ती गई। इस कारण भाट लोगों में भी उनके कार्यानुसार भेद होते गए।

सूतों का काम पुराणों में वर्णित बहुत पुराने नृपों का वर्णन करना था। **मागध** लोग थोड़े काल पूर्व के मरे हुए शूर राजाओं का गुणगान करते थे। युद्ध में विजयी जीवित राजाओं और वीर पुरुषों की कीर्ति का वर्णन **वंदियों** द्वारा होता था। इस कारण पुराणों का वर्णन विशेषतः सूतों द्वारा ही हुआ है।

पुराणों की प्राचीनता—इस प्रकार हम कल्पना कर सकते हैं कि आर्य जाति के आरंभ काल से ही पुराणों की सामग्री तैयार हो चली होगी और सत्य भी यही है। इसका उल्लेख कई पुराणों में है। जैसे—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतं।
अनंतरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः ॥ ३ ॥
पुराणमेकमेवासीत्तदा कल्पांतरेऽनघ।
त्रिवर्गसाधनं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरं ॥ ४ ॥
चतुर्लक्षमिदं प्रोक्तं व्यासेनाद्भुतकर्मणा।
अष्टादश पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः।
भारताख्यानमखिलं चक्रे तदुपबृंहितं ॥ २६ ॥

—मत्स्य पुराण अ० ५३

अर्थात्—ब्रह्मा ने सब शास्त्रों के पूर्व पुराण (एकवचन पर ध्यान दीजिए) कहा; फिर उनके मुख से वेद निकले। आदि-कल्प में पुराण एक ही था; पर वह धीरे धीरे बढ़ते बढ़ते सौ करोड़ श्लोकों का हो चुका था। उस सामग्री में से चुनकर सत्यवती-सुत व्यासजी ने चार लाख श्लोकों के १८ पुराण रचे। उनके पीछे महाभारत बनाया। यही बात ब्रह्मांड पुराण में भी लिखी है—

"प्रथमं सर्वशास्त्राणां पुराणं ब्रह्मणा स्मृतं।
अनंतरंश्च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः ॥"

—१—५८

अर्थ—"सभी शास्त्रों के पहले ब्रह्मा से पुराण की उत्पत्ति हुई है। पीछे उनके मुख से सभी वेद निकले।" फिर दूसरी जगह (अ० ६५ में) लिखा है कि वेदव्यास ने ही एकमात्र पुराण संहिता का प्रचार किया।

शिव-पुराणीय रेवामाहात्म्य (१—२३) में लिखा है—

पुराणमेकमेवासीदस्मिन्कल्पांतरे नृप।
त्रिवर्गसाधनं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरं॥
स्मृत्वा जगाद च मुनीन् प्रति देवश्चतुर्मुखः।
प्रवृत्तिः सर्वशास्त्राणां पुराणस्याभवत्ततः॥

पद्मपुराण के सृष्टिखंड में लिखा है—

प्रवृत्तिः सर्वशास्त्राणां पुराणस्याऽभवत्तदा।

मत्स्य और ब्रह्मांड पुराण पुराने हैं। इनसे स्पष्ट जान पड़ता है कि पुराणों का आरंभ वेदों से भी पूर्व का है। रेवामाहात्म्य और पद्मपुराण में भी पुराण को सर्व शास्त्रों के पूर्व का बताया है। इन सब उद्धृत श्लोकों को देखने से यह निश्चय हो जायगा कि अति पूर्व काल में ऐसी जनश्रुति थी कि आदि महापुराण वेदों से भी पूर्व का था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आदि काल में जैसे एक अविभक्त वेद था, वैसे ही एक अविभक्त परंतु समय समय परिवर्धित पुराण भी था। इसी लिये श्रुति ग्रंथों में पुराण शब्द एकवचन में आया है, जैसे—अथर्ववेद (११-७-२४) में कहा है—"ऋचः सामानि छंदांसि **पुराणं** यजुषा सह"। एकवचन का व्यवहार इस प्रकार श्रुतियों में कई जगह है। इसी महापुराण संग्रह का उपयोग व्यास ने महाभारत लिखने में किया है; क्योंकि भारत, आदि पर्व, अध्याय १ के २३०—४० श्लोकों में लिखा है कि इन (वर्णित) सब तथा सैकड़ों हजारों दूसरे राजाओं के दिव्य कर्म, विक्रम, त्याग, सत्य, शौच, दयादि गुणों का वर्णन **पुराण** में है। जिन राजाओं के नाम इन श्लोकों में लिखे हैं, वे हाल के भारत तथा पुराणों में नहीं पाए

जाते। इससे स्पष्ट है कि व्यास के समय में इन सब लोगों का इतिहास प्राप्य था। यहाँ भी पुराण शब्द का प्रयोग एकवचन में ही हुआ है। २४० वें श्लोक की दूसरी पंक्ति में "विद्भिः कथ्यते लोके पुराणे कविसत्तमैः" लिखा है। इससे स्पष्ट होता है कि उस महापुराण संग्रह में उस पूर्व काल के अनेक विद्वान् कवियों ने उन सब राजाओं के इतिहास बनाकर जोड़ दिए थे। इसलिये उस महापुराण संग्रह का बहुत बड़ा हो जाना आवश्यक परिणाम है। व्यास ने उस महापुराण संग्रह को संक्षिप्त करके अपने ग्रंथ रचे। विष्णुपुराण में "पुराणसंहिता बनाई" ऐसा लिखा है, पर आगे "अठारह पुराण" ऐसा भी लिखा है।

व्यास के पश्चात् के ग्रंथों में पुराण शब्द का उपयोग एकवचन में न होकर बहुवचन में हुआ है। **कात्यायनस्मृति** का समय कम से कम ईसा के चार पाँच सौ वर्ष पूर्व का है। उसमें पुराण शब्द बहुवचन में आया है। भृगूक्त मानवसंहिता पतंजलि भाष्य से पुरानी है और ईसा के ३००-४०० वर्ष पूर्व की है। इसमें भी "पुराणानि" लिखा है (३—२३२)। **मेधातिथि** टीकाकार इस शब्द की टीका में लिखते हैं—"पुराणानि व्यासादिप्रणीतानि सृष्ट्यादिवर्णनरूपाणि"। इससे स्पष्ट है कि इस टीकाकार के समय में भी पुराण अनेक थे और व्यासप्रणीत माने जाते थे। **सुत्तनिपात्त** बौद्ध ग्रंथ का समय लगभग ३५० ई० पूर्व का है; इसमें भी पुराण शब्द बहुवचन में है। इन बातों से स्पष्ट है कि व्यासजी का पुराण रचने का समय इनके पूर्व का है।

महाभारत अपने मूल रूप में नहीं रहा। उसका आधुनिक रूप ईसा के लगभग १००—२०० वर्ष पूर्व का माना जाता है। भारत के इस आधुनिक रूप के लेखक को अठारह पुराणों का हाल मालूम था, क्योंकि उसमें लिखा है—

"अष्टादशपुराणानां श्रवणात् यत् फलं लभेत्।"

—वैशंपायनीय महाभारत, १८-६-९५।

इस महाभारत में श्रीमद्भागवत, मत्स्य और वायुप्रोक्त पुराण के भी नाम लिखे हैं।

मेगास्थनीज का समय ३०० वर्ष ईसवी पूर्व का है। पश्चिमीय विद्वानों का मत है कि इसे पौराणिक राजवंशावलियों का ज्ञान था और इस कारण उसके समय में पुराण होना चाहिए। शौनक के **ऋग्विधान** का काल ई० पू० ५०० के लगभग माना जाता है। यह भी व्यासोक्त पुराणों का या इतिहास (भारत) का वर्णन करता है। आपस्तंब धर्मसूत्र का समय कम से कम ४००-५०० ई० पू० है। इसमें पुराणों का वर्णन है और भविष्य पुराण से इसमें कुछ श्लोक उद्धृत किए गए हैं। इसमें जैनों या बौद्धों का वर्णन न होने के कारण कोई कोई इसका काल ई० पू० पाँचवीं या छठी शताब्दी का अनुमान करते हैं। **व्याडि** का समय इससे भी पुराना है। कोई कोई उसे १००० ई० पू० का समझते हैं। इसने अपने ग्रंथ विकृतिवल्ली में आदि पुराण से एक श्लोक उद्धृत किया है। ऐसा जान पड़ता है कि इस आदि पुराण से ब्रह्म पुराण का अर्थ है।

पुराणों का हेतु

आदि काल में दो परंपराएँ थीं—ब्राह्मणपरंपरा या श्रुति और क्षत्रियपरंपरा। ब्राह्मणों ने अपनी परंपरा को बहुत सँभालकर रखा और उसमें किसी प्रकार विकार नहीं होने दिया। क्षत्रिय ऐसा न कर सके। ब्राह्मणों की श्रुति थोड़ी थी। क्षत्रियों की अनुश्रुति बहुत बड़ी थी और दिन पर दिन बढ़ती जाती थी। आदि में उसका प्रधान उद्देश्य राजाओं के और शूर वीर पुरुषों के गुण गान करना था। उस अनुश्रुति के संरक्षक सूत, मागध, वंदी आदि भाट लोग थे। पर पीछे से यह अनुश्रुति ब्राह्मणों की संरक्षा में आई और तब उसका उद्देश्य भी धीरे धीरे बदलकर गूढ़ वेदार्थ प्रकटकर लोगों को धर्म का निश्चय बताना या धर्म में लगाना हो गया। भारत में लिखा है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रतरिष्यति ॥—भारत ।

यज्ञों में जो मंत्र कहे जाते थे, उनके प्रसंग की कथाएँ पुराणों में रहती थीं और यज्ञ के समय में कही जाती थीं। इसलिये ऊपर कहा है कि इतिहास पुराणों की सहायता से वेद का विस्तार अर्थात् टीका करें। यह बात बढ़ते बढ़ते अंत में पद्मपुराणानुसार—पुराणे धर्म निश्चयः—पुराणों में धर्म का निश्चय करना होने लगा। साधारण जनता को धर्म का सरल रूप चाहिए। वेदों में वह पुराना हो चला था। इसलिये देश, काल के आवश्यकतानुसार जनता के लिये धर्म का निश्चय पुराणों में होने लगा।

व्यास के पश्चात्

व्यास ने अपनी पुराण संहिता अपने शिष्य सूत रोमहर्षण को सिखाई और उन्होंने उसे अपने सुमति आदि छः शिष्यों को सिखाई। इनमें से काश्यप, अकृतव्रण, सावर्णि और शांशपायन इन चार शिष्यों ने अपनी अलग अलग संहिताएँ रचीं। इस प्रकार चार मूल संहिताएँ हुईं। इनमें चार चार पाद थे। विषय सब में एक ही था, पर साहित्य-रचना भिन्न भिन्न थी। पारगिटर साहब का मत है कि ये संहिताएँ चार चार हजार श्लोकों की थीं। केवल शांशपायन की संहिता इससे भिन्न श्लोक-संख्या की थी। इन संहिताओं का अब लोप हो गया है; पर हाल के पुराणों में इन लोगों के नाम प्रश्नकर्त्ताओं के रूप में निकलते हैं; जैसे, वायु और ब्रह्मांड पुराण में। इन दो पुराणों में अब भी पुराना चार पाद का विभाग मौजूद है। रोमहर्षण के ५ शिष्य ब्राह्मण थे; और ऐसा जान पड़ता है कि उसके पीछे धीरे धीरे पुराण ब्राह्मणों की संरक्षा में पहुँच गए, पृथक् पृथक् अठारह पुराण बन गए और उनमें धर्म-निश्चय का भाग बढ़ता गया। पर यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि व्यास ने स्वयं भिन्न भिन्न अठारह

पुराण नहीं बनाए। भागवत की भक्तरंजनी टीका में "पुराणसमुच्चय" ग्रंथ से उग्रश्रवा का पुराण-अध्ययन-क्रम इस प्रकार बताया है—त्रय्यारुणि, कश्यप, सावर्णि, अकृतव्रण, वैशंपायन, हारीत। इन छः ऋषियों से छः पुराण, रोमहर्षण से चार, व्यास से सात, इस प्रकार व्यासआश्रम में १७ पुराण पढ़कर अठारहवाँ पुराण भागवत शुक-मुख से सुना। फिर वह नैमिषारण्य गया। यह उग्रश्रवा रोमहर्षण का पुत्र था और नैमिषारण्य में उसने अपने पिता के स्थान पर पुराण सुनाए।

ये पुराण **आदि पुराण** थे और आधुनिक पुराणों से भिन्न थे। इन आदि पुराणों के कई संस्करण हुए। कई बार उनमें नई सामग्री भरती की गई और पुरानी में आवश्यक परिवर्तन किया गया, जैसा आगे देख पड़ेगा। पर यदि आदि पुराण थे तो उनका कहीं वर्णन भी होना चाहिए। हरिवंश के भविष्य पर्व के प्रारंभ में लिखा है—

> शृणुष्वादिपुराणेषु वेदेभ्यश्च यथा श्रुतं।
> ब्राह्मणानां च वदतां श्रुत्वा वै महात्मनाम् ॥ इत्यादि।

अर्थात् इस भविष्य पर्व में असल या आदि पुराणों की बहुत सी कथाएँ कही गई हैं। भविष्य पुराण में लिखा है कि व्यास ने अठारह पुराण जानकर महाभारत बनाया। इससे जान पड़ता है कि महाभारत के अभी के संस्करण बनने के समय व्यास के अठारह आदि पुराण उपलब्ध थे। पद्मपुराण में लिखा है, "**शृणुष्वादिपुराणेषु** वेदेभ्यश्च यथाश्रुतम् (१-३९-११)। वामनपुराण में भी "प्रोक्तां ह्यादिपुराणेपु" लिखा है। इसी तरह और भी कई पुराणों में आदि पुराणों का वर्णन है। यह आदि पुराण व्यासोक्त होना चाहिए; क्योंकि हम पूर्व में देख आए हैं कि व्यास के पूर्व एक समुच्चय महापुराण ही था। इससे यह सिद्ध होता है कि अब के प्रचलित पुराण व्यासोक्त आदि पुराणों से ही बनाए गए हैं। इस सिद्धांत के लिये प्रमाण भी हैं; जैसे, भारत के वन पर्व में प्रलय की कथा मत्स्यपुराण से ली गई है; पर वह सरल रूप में है। आधुनिक मत्स्यपुराण में

उस वर्णन में विशेष चमत्कार का समावेश है। इससे मालूम पड़ता है कि भारत ने अपना वर्णन मत्स्य के आदि रूप से लिया होगा।

पुराणों का आधुनिक रूप

अब यह देखना चाहिए कि इन पुराणों का आधुनिक रूप कब और कैसे हुआ। विक्रमादित्य (ई० पू० ५७) के मरने पर शौनकादि ऋषि सूत के पास जाकर धर्मविषयक प्रश्न करने लगे, ऐसी कथा भविष्यपुराण में लिखी है।

तेभ्यः सूत पुराणानि श्रावयामास वै पुनः ॥ १७ ॥
शतवर्षं पंचलक्षश्लोकमध्यापयन्मुदा।

—प्रतिसर्ग पर्व, खंड २ अध्याय २३।

इससे प्रकट होता है कि विक्रमादित्य के मरने के पीछे सौ वर्ष के भीतर अठारह पुराण चार लक्ष के व भारत एक लक्ष श्लोक का था इस प्रकार इतिहास पुराण पाँच लक्ष श्लोकों के थे इसी भविष्य पुराण के प्रतिसर्ग पर्व अ० ५ में लिखा है कि अवंति में इस समय शंख नामक राजा राज्य करता है और उसके पीछे विक्रम राजा होगा। इसी पुराण के प्रतिसर्ग पर्व के चौथे खंड के आरंभ में लिखा है कि विक्रमादित्य भूप के बुलाने पर फिर नैमिषारण्य में १८ पुराण पुनरुक्त होंगे, अर्थात् फिर कहे जायँगे। इस प्रकार स्पष्ट है कि विक्रम के समय में या उसके शीघ्र ही पीछे व्यासोक्त आदि पुराण पुनरुक्त हुए। आजकल की भाषा में "पुनरुक्त" का अर्थ नया संस्करण समझा जायगा जिसमें आवश्यक परिवर्तन और परिवर्धन हुए हों। पुनरुक्त पुराणों के प्रचलित होने पर आदि पुराणों का प्रायः लोप हो गया।

आपस्तंब धर्मसूत्र का समय ४००-५०० वर्ष ई० पूर्व का माना जाता है। इसमें भविष्यत् पुराण से तथा और पुराणों से श्लोक उद्धृत किए गए हैं। ये श्लोक वर्तमान पुराणों में उन शब्दों में नहीं पाए जाते। इससे सिद्ध है कि ये श्लोक आदि पुराणों के हैं और उस समय ये पुराण प्रचलित थे। इन श्लोकों की भाषा

पुराने ढँग की है। इसमें संदेह नहीं कि आजकल के पुराणों में बहुत सा भाग आदि पुराणों से लिया गया है, पर बहुत सा भाग अर्वाचीन भी है, निदान अर्वाचीन भाषा में है। इसके साथ ही यह प्रश्न भी उठता है कि क्या कभी कोई पुराण प्राकृत भाषा में भाषांतरित किए गए थे। इसका विचार आगे चलकर करेंगे।

श्रीमद्भागवत शुक ने अर्जुन के पौत्र परिक्षित से कहा। उसके पुत्र जनमेजय को वैशंपायन या जैमिनि ने भारत के अपने अपने संस्करण सुनाए। जनमेजय के पुत्र शतानीक को सुमंतु ने भविष्य पुराण सुनाया। शतानीक का पुत्र अधिसोम कृष्ण था। उसके समय में सूत ने मूल मत्स्यपुराण या मूल वायुपुराण ऋषियों को सुनाए। इससे भी जान पड़ता है कि व्यास ने ही अठारह पुराण बनाए। व्यास के समय से विक्रम के समय तक ये पुराण अपने मूल रूप में ही बने रहे या बीच बीच में इनमें परिवर्तन होता गया, इसका इस समय कोई प्रमाण नहीं मिलता। पर इतने दीर्घ काल में कुछ परिवर्तन और परिवर्धन अवश्य हुआ होगा। आधुनिक पुराणों की श्लोक-संख्या लगभग चार लक्ष है। पूर्व में ये ग्रंथ इतने बड़े नहीं थे, इसका प्रमाण भविष्यपुराण में मिलता है। इसके ब्रह्म पर्व के प्रथम अध्याय में लिखा है—"पहले सब पुराण बारह बारह हजार श्लोकों के थे; परंतु उपाख्यानों और आख्यानों के कारण वे बढ़ते गए। जैसे स्कंद एक लक्ष का हो गया और भविष्य पचास हजार का बन गया"। इससे ऐसा अनुमान होता है कि आदि पुराण बारह बारह हजार श्लोकों के या उससे कम के थे। बढ़ते बढ़ते विक्रम के समय में वे चार लाख के हुए। पीछे से कोई कोई और भी बढ़ गए।

ईसवी सन् की पाँचवीं शताब्दी में या उसके कुछ पूर्व आर्य लोगों ने जावा (यवद्वीप) या बाली द्वीपों में अपना अधिकार जमाया और अपनी बस्ती बसाई। ये लोग अपने साथ रामायण, महाभारत, ब्रह्मांडपुराणादि ग्रंथ लेते गए जो आज भी वहाँ की कवि भाषा में मिलते हैं। वह ब्रह्मांडपुराण यहाँ के ब्रह्मांडपुराण से

मिलता है, पर उसमें भविष्यराजवर्णन का भाग नहीं है। इसमें केवल अधिसोम कृष्ण तक ही है। इससे सिद्ध होता है कि ४०० ई० के लगभग ब्रह्मांड उर्फ वायु पुराण में भविष्य का भाग न था। पीछे से दूसरे संस्करण में जोड़ा गया। इसके पश्चात् समय समय पर पुराणों में मत मतांतर की बातें घुसेड़ दी गईं।

सारांश यह है कि व्यास के पूर्व एक महापुराण था जिसमें से सामग्री चुनकर व्यास ने पुराणसंहिता या मूल पुराण रचे। विक्रम के पूर्व ये प्रायः बारह बारह हजार श्लोकों के थे। विक्रम के समय में इनकी 'पुनरुक्ति' होकर अर्थात् इनका नया संस्करण होकर ये चार लक्ष के बने। उसके पीछे ५००-६०० ई० स० के लगभग इनमें अभी का भविष्य-भाग जोड़ा गया। इसके पीछे कई पुराणों में मत मतांतरों की बातें भी जोड़ दी गईं।

उपपुराण भी विशेष कर विक्रम के पीछे हुए हैं; पर किसी किसी में बहुत पुरानी सामग्री अपने आदि रूप में वर्तमान है।

पश्चिमीय विद्वानों का मत

संस्कृत साहित्य की अभी पूरी पूरी खोज और परीक्षा नहीं हुई है। पचास साठ वर्ष पूर्व इसका प्रायः पूर्ण अभाव था। इसलिये पचास वर्ष पूर्व के मतों का अब इतना महत्त्व नहीं है। इतने पर भी उनसे पुराणों का महत्त्व प्रकट होता है। मेक्डानेल साहब अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में लिखते हैं—

"Nevertheless they contain much that is old and it is not always possible to assume that the passages they have in common with the Mahabharat and Manu have been borrowed from these works."
अर्थात् पुराणों में बहुत सी सामग्री पुरानी है और जो बातें पुराणों में और महाभारत अथवा मनु में समान रूप से हैं, वे महाभारत या मनु से उद्धृत हों, ऐसा सदैव आवश्यक नहीं है।

विलसन साहब अपने विष्णु पुराण में लिखते हैं—

A very great portion of the contents of many, and some portions of the contents of all, is genuine and old (other portions being later are pious frauds for temporary purposes). अर्थात् बहुत से पुराणों का बहुत विशेष भाग और सब पुराणों कुछ मात्र असल और पुराना है। (दूसरे भाग पीछे से सामयिक अर्थसाधन के लिये धर्म की दृष्टि से दूसरे लोगों ने जोड़ दिए हैं।)

उनका यह भी कथन है—

It is possible however that there may have been an earlier class of Puranas of which those, we now have, are but the partial and adulterated representatives. The identity of the words (for in several of them long passages are literally the same) is a sufficient proof that in all such cases they must have copied from some other similar work or from a common or prior original. अर्थात् यह संभव है कि कोई आदि पुराण रहे हों जिनकी असमग्र और बिगड़ी और मिश्रित की हुई नकलें आजकल के पुराण हों। कई पुराणों में कुछ कुछ अंश अक्षरशः समान हैं। इस प्रमाण से सिद्ध होता है कि इन सब ने किसी ऐसे ही पूर्व ग्रंथ से या एक असल पूर्व ग्रंथ से नकल की हो।

विष्णु, मत्स्य, ब्रह्मांड और पद्म की सृष्टि प्रक्रिया पढ़ने से जान पड़ेगा कि इन सब में एक ही कथा, एक ही विषय है और विशेष भागों में श्लोक श्लोक का मेल खाता है। किसी पुराण में दो चार श्लोक अधिक हैं, किसी में कम। इस प्रकार के सादृश्य से विल्सन साहब का उपर्युक्त अनुमान सत्य जान पड़ता है। विंसेंट स्मिथ साहब अपने पूर्व के लेखकों का दोष इस प्रकार निकालते हैं—
Modern European writers have been inclined to

disparage unduly the authority of the Puranic lists but closer study finds in them much genuine and valuable historical tradition. अर्थात् आधुनिक यूरोपीय लेखक लोग पौराणिक राजवंशावलियों का महत्त्व अयोग्य प्रकार से घटाते हैं। उनका पूरा अध्ययन करने पर उनमें बहुत सी सच्ची और मूल्यवान् ऐतिहासिक अनुश्रुति मिलती है।

इनके मत से वायु का प्रचलित संस्करण ईसा की चौथी शताब्दी में हुआ था।

पारगिटर साहब ने पुराणों का योग्य अध्ययन किया है और पुराणों का ऐतिहासिक मूल्य समझने के लिये इनके दो ग्रंथ, Dynasties of the Kali Age और Ancient Indian Historical Tradition बड़े महत्त्व के हैं। इनका मत है कि मत्स्य, वायु और ब्रह्मांड पुराणों ने कलिराजवंशावली भविष्य पुराण से ली है और इन पुराणों का इन वंशों का संस्कृत वर्णन आगे प्राकृत में था अर्थात् प्राकृत श्लोकों से संस्कृत श्लोक बनाए गए हैं। इसके प्रमाण उनके अनुसार ये हैं—

(१) कई श्लोकों में मात्राएँ न्यूनाधिक हैं। पर यदि उन्हीं श्लोकों को प्राकृत रूप में रख दें तो मात्राएँ बराबर हो जाती हैं।

(२) इन संस्कृत श्लोकों में कहीं कहीं प्राकृत शब्दों का उपयोग हुआ है।

(३) संस्कृत शब्दों के उपयोग से कहीं कहीं वाक्यविन्यास के नियमों का विरोध होता है; पर उनके पर्याय-वाची प्राकृत शब्दों के उपयोग से वह विरोध मिट जाता है।

(४) कहीं कहीं नामों के संस्कृत रूप बनाने में भूल हुई है।

(५) ह, च, वा, आदि अनर्थक अव्यय शब्दों का अधिक उपयोग हुआ है।

(६) संधि नियमविरुद्ध बनाई गई है।

(७) भागवत में एक पंक्ति पाली भाषा की आ गई है—"अथ-मागध राजानो भवितारो वदामि ते।"

ये दोष मत्स्य, वायु, ब्रह्मांड पुराणों में और विष्णु और भागवत पुराणों के विभागों में पाए जाते हैं। मत्स्य, वायु और विष्णु पुराणों में जो नकल करने की अशुद्धियाँ घुस गई हैं, उनसे जान पड़ता है कि उस समय पुराण खरोष्ठी लिपि में लिखे हुए थे।

इन साहब का मत है कि ऐतिहासिक परंपरा या अनुश्रुति को सत्य मानना चाहिए, जब तक कि इसका विरोधी इसे असत्य साबित न कर दे। इनके अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय अनुश्रुतियों का प्रवाह दो समान धाराओं में चला आता था। ये महाशय प्रथम संस्करणों को विशेष प्रमाण योग्य मानते हैं; क्योंकि ब्राह्मणों का जितना अधिक हस्तक्षेप हुआ, उतनी ही अप्रामाणिकता बढ़ती गई। जैसे ब्राह्मणों ने श्रुतियों में क्षेपक नहीं डाला, वैसे ही सूत लोगों ने पुराणों को नहीं बदला। इन महाशय ने पुराणों और महाभारत की सहायता से भारत के सारे राज्यों की समकालीन सूची बनाई है जो विशेष महत्त्व की है।

यूरोपीय विद्वानों ने पुराणों का विचार केवल ऐतिहासिक दृष्टि से और पौराणिक कथाओं के विकास की दृष्टि से किया है। यह विचार पुराणों के एक भाग पर ही हुआ। परंतु वास्तव में पुराणों में कई प्रकार के सत्य भरे हुए हैं। इनके कुछ उदाहरण देखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी। किसी किसी कथा से आर्य जाति के सामाजिक विकास पर प्रकाश पड़ता है; जैसे दीर्घतमस् और उनके पीछे श्वेतकेतु ने ब्राह्मण स्त्रियों के लिये एक काल में एक पति का और जीवित पति को त्यागकर दूसरे पति को न ग्रहण कर सकने का नियम चलाया।

महाभारत में एक जगह अगस्त्य और नहुष का संवाद है। अगस्त्य नहुष से पूछते हैं कि तुम वैदिक मंत्रों को मानते हो जिनके द्वारा वृषभ बलिदान होता है? 'नहुष ने कहा, नहीं। ऋषि ने कहा,

तो फिर तुम अधर्मी हो जो पुराना धर्म नहीं मानते। एक जगह राजा रंतिदेव के एक हजार बैल प्रति दिन बलिदान देने की भी कथा है। इन दोनों कथाओं से जान पड़ता है कि आर्य लोग एक समय अतिमांसाहारी थे। नहुष के समय यह चाल मिट चली थी, परंतु धर्माभिमानी लोग उस चाल को छोड़ना नहीं चाहते थे।

लिंग पुराण में अतिथि-सत्कार का माहात्म्य गाया है और यह भी दर्शाया है कि उस सत्कार में किसी प्रकार की त्रुटि न होने पावे। यहाँ तक कि यदि आवश्यकता हो तो अपनी स्त्री भी समर्पण कर दी जाय

अब अतिथि-सत्कार की दूसरी कथा दूसरे काल की सुनिए। सुदर्शन नाम के एक ऋषि थे। अपनी स्त्री को अतिथि-सत्कार का उपदेश देते हुए उन्होंने कहा कि अतिथि-सत्कार में आवश्यकतानुसार आत्मोत्सर्ग भी करना चाहिए। इस देवी के अतिथि-सत्कार की महिमा फैल गई। उसकी परीक्षा के लिये धर्मराज ब्राह्मण का रूप धर कर उसके घर गए। जब भोजन के विषय में पूछा गया, तब ब्राह्मण देवता कहने लगे कि अन्नादि की आवश्यकता नहीं; क्या तुम अपने शरीर का दान मुझे दे सकती हो? स्त्री लज्जावनतवदना हो वहाँ से चली गई। ब्राह्मण देवता ने फिर पूछा कि तुम्हारी क्या इच्छा है? स्त्री ने कहा कि पति के आज्ञानुसार मैं आपको आत्मनिवेदन कर सकती हूँ। इतने में सुदर्शन स्वयं आ गए। उनसे भी पूछा गया। वे भी राजी थे। दोनों ही परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। धर्मराज ने अपना रूप धारण कर आशीर्वाद दिया

यह कथा उस समय की मालूम पड़ती है जब यह चाल निंदनीय मानी जाने लगी थी; परंतु अगस्त्य नहुष की कथा के समान पुरानी चाल के हिमायती ब्राह्मण देवता उसे पालने का प्रयत्न करते थे।

यह तो सामाजिक विकास की दृष्टि से विचार हुआ। पर कई पुराणों में तत्कालीन शास्त्रज्ञान भी भरा है। जैसे अग्निपुराण में पूजा और दीक्षादि विधानों से तत्कालीन धार्मिक जीवन का पूरा पूरा

हाल ज्ञात पड़ता है। इसके सिवा स्वप्नाध्याय, शकुननिरूपण, रणदीक्षाविधि, रत्नों के लक्षण, धनुर्विद्या, आयुर्वेदनिरूपण, गजादिकों की चिकित्सा, साहित्य, योगशास्त्र, ब्रह्मज्ञान, इत्यादि बातों का पूरा पूरा वर्णन है। अर्थात् उस समय के समाज को जितना ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था और जितना ज्ञान उसे प्राप्य था, उस सबका वर्णन इस पुराण में है।

गरुड़ पुराण में भी इसी प्रकार उस समय का संपूर्ण ज्ञान भरा हुआ है; जैसे पूजाविधि, दीक्षाविधि, योगाध्याय, सब देवों का पूजा-विधान, संध्याविधि, ज्योतिष, सामुद्रिक, स्वरज्ञान, नवरत्नपरीक्षा, रोग-नाशक कवच का बनाना, भूलोक-वर्णन, आयुर्वेद-निदान, चिकित्सा या द्रव्यगुण, हयायुर्वेद, व्याकरण, छंदःशास्त्र, सदाचार, संध्यादि नित्यकर्म, विष्णुभक्ति, ब्रह्मज्ञान इत्यादि विषयों का तत्कालीन पूर्ण ज्ञान भरा हुआ है। इस प्रकार इस पुराण से उस समाज का तथा उसके ज्ञान का पूरा पूरा चित्र खींचा जा सकता है।

इतना ही नहीं। इन पुराणों में कहीं कहीं विज्ञान की बड़ी बड़ी बातें लिखी हैं; जैसे—

संख्या चेत् रजसां अस्ति विश्वानां न कदाचन।
ब्रह्माविष्णुशिवादीनां तथा संख्या न विद्यते॥
प्रति विश्वेषु संत्येव ब्रह्माविष्णुशिवादयः ॥ दे० भा०

इसका अर्थ यह है कि रेता के कण गिन लेना संभव होने पर विश्वों की गिनती नहीं हो सकती, न ब्रह्मा, विष्णु, शिवों की; क्योंकि प्रत्येक विश्व में ब्रह्मा, विष्णु, शिव अलग अलग होते हैं। यही बात लिंग पुराण में और अथर्वण महानारायण उपनिषद् में लिखी है। पाश्चात्य ज्योतिष को पिछले दो तीन सौ वर्षों में ही ज्ञान हुआ कि जितने तारे हैं, उतने ही सूर्य और उतने ही विश्व हैं। यहाँ सन् ईसवी के आरंभ के पूर्व से ही ज्ञात था कि विश्व इतने अनंत हैं और प्रत्येक में अलग अलग त्रिमूर्ति रूप ईश्वर है। यह बात बड़े महत्त्व की है।

इन पुराणों में बहुत सा गुप्त ज्ञान भी भरा है जिसको आजकल समझना कठिन हो गया है। वर्हिषद और अग्निष्वात्ता पितरों की कथा को कोई नहीं समझता। इसी प्रकार पंचप्राण का नाम सब लेते हैं, पर किसी को उनका ठीक ठीक ज्ञान नहीं है। ब्रह्मा की मानसी सृष्टि क्या है, मारिषा के स्वेद से पुत्रोत्पत्ति की कथा का सत्य अर्थ क्या है, साधारण पाठक को इन बातों से कुछ भी समझ नहीं पड़ता और वह इनको अनुपयोगी कल्पनाएँ समझता है। परंतु मैडेम ब्लेवेट्स्की और बिशप लेडबीटर इन कथाओं को इस जगत के विकास-क्रम का सच्चा इतिहास मानते हैं। वे लोग इनके सत्य होने के विषय में अपनी दिव्य दृष्टि के आधारवाली साक्षी देते हैं।

एक दूसरी पौराणिक कथा लीजिए। बृहस्पति की स्त्री तारा थी। चंद्र ने इसे हरण कर अपनी स्त्री बना लिया और उससे बुध पुत्र उत्पन्न हुआ। बृहस्पति अपनी स्त्री बहुत माँगते रहे, पर चंद्र न देते थे। अंत में चंद्र से लड़ने को शिव उद्यत हुए, तब चंद्र ने तारा बृहस्पति को दे दी। इस कथा के कम से कम दो अर्थ हैं। प्रथम यह है कि बृहस्पति ग्रह के आस पास चार उपग्रह (Moons) हैं जिनमें से एक को चंद्र ने अपनी ओर खींच लिया और दोनों के संघात से दोनों का शरीर अति गर्मी के कारण कण रूप हो गया जिससे नया ग्रह बुध उत्पन्न हुआ। पीछे से शेष तारा बृहस्पति के पास पहुँच गई। यह बात आधुनिक ज्योतिष शास्त्र को नहीं मालूम, पर इसे मिथ्या कहना भी इस समय संभव नहीं है। सूर्यमंडल के भीतर ऐसी क्रिया का होना संभव है; क्योंकि एक ग्रह कभी किसी ऐसी ही लड़ाई में टूट गया है और उसके चार टुकड़े 'पैलास', 'जूनो' इत्यादि ग्रह-खंडों या अवांतर ग्रहों (Asteroids) के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार पुराणों से कई प्रकार का ज्ञान मिल सकता है। जैसे जैसे इनका अध्ययन बढ़ता जायगा, वैसे वैसे इनका माहात्म्य

भी प्रकट होता जायगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि पुराणों में बेकाम बातें नहीं हैं। उनमें बहुत सी भूल-भरी और हलकी बातें भी अवश्य हैं जो पीछे जोड़ दी गई हैं। परंतु यदि पुराने भागों का समझदारी के साथ अध्ययन किया जाय तो उनसे बहुत सी अत्युपयोगी सामग्री मिल सकती है। यह कार्य हमारे नव-शिक्षित तरुण पुरुष ही कर सकते हैं। कार्य बहुत है। बहुत से काम करनेवाले चाहिएँ। और यह आशा करना अनुचित न होगा कि कुछ लोग इसी विषय को अपनावेंगे।

इसमें संदेह नहीं कि जब पुराणों की पूरी खोज हो जायगी, तब भारत इतिहास की बहुत सी बातें स्पष्ट हो जायँगी। जैसे ययाति के विषय में जान पड़ता है कि ये अफगानिस्तान प्रदेश के राजा थे। देवयानी ईरान के राजगुरु की कन्या मालूम पड़ती है और शर्मिष्ठा ईरान के राजा की कन्या थी। ययाति के तीन लड़कों से जो संतान हुई, वह भारतवर्ष में आई और यादव, भोज तथा पौर्व जाति के क्षत्रियों की उत्पत्ति का कारण हुई। दूसरे दो लड़कों की संतान पश्चिम तरफ बढ़ी और यवन या म्लेच्छ जातियों की उत्पत्ति का कारण हुई।

पारगिटर साहब का विचार है कि कुछ आर्य जातियाँ भारत-वर्ष से निकलकर पश्चिम की ओर फैलीं। उनमें से एक जाति काकेशस पर्वत के दक्षिण में बसी थी। इसका प्रमाण यह है कि एशिया माईनर के **बोगोज़कोई** ग्राम में एक शिलालेख मिला है जिसमें वहाँ के दो राज्यों में जो संधि हुई थी, वह लिखी है। इसका समय १४०० वर्ष ईसा से पूर्व माना जाता है। इसमें वैदिक देव मित्र, वरुण, अश्विन और इंद्र की साक्षी है। इससे प्रकट होता है कि वैदिक धर्म उस काल में वहाँ तक फैला हुआ था।

पुराण कौन हैं

अठारह पुराणों की श्लोकसंख्या चार लक्ष की है। वह इस प्रकार है—ब्राह्म १०,०००, पद्म ५५,०००, विष्णु २३,०००, वायु उर्फ शैव

२४,०००, भागवत १८,०००, नारद २५,०००, मार्कंडेय ९,०००, अग्नि १५,४००, भविष्य १४,५००, ब्रह्मवैवर्त १८,०००, लिंग ११,०००, वराह २४,०००, स्कंद ८१,१००, वामन १०,०००, कूर्म १७,०००, मत्स्य १४,०००, गरुड़ १९,०००, ब्रह्मांड १२,०००। ये संख्याएँ विशेष पुराण-सूचियों के आधार पर लिखी गई हैं। आधुनिक पुराण इतने बड़े हैं या नहीं, यह आगे देख पड़ेगा।

इनमें से दस शैव, चार वैष्णव, दो ब्रह्मा के, एक अग्नि का और एक सूर्य का है। इनका विभाग दूसरी रीति से भी किया जाता है। विष्णु, नारद, भागवत, गरुड़, पद्म, वाराह ये सात्विक या वैष्णव हैं। मत्स्य, कूर्म, लिंग, शिव, स्कंद, अग्नि ये तामस या शैव पुराण हैं। बाकी के छः ब्रह्मांड, ब्रह्मवैवर्त, मार्कंडेय, भविष्य, वामन, ब्रह्म, राजस या शाक्त पुराण हैं।

पुराणों में लोग समय समय पर क्षेपक भाग मिलाते रहे। इसको रोकने के लिये पुराणों की सूची तथा श्लोक-संख्या कई पुराणों में लिख दी गई। जैसे रेवामाहात्म्य (शिवपुराण का), देवीभागवत, श्रीमद्भागवत, नारद, ब्रह्मवैवर्त वा मत्स्य में। पर इससे भी कोई रुकावट नहीं हुई। आजकल जो पुराण मिलते हैं, उनमें न तो वह श्लोक-संख्या रही है, न उनके विषय पूर्ण रीति से उन सूचियों के अनुसार हैं। इस प्रकार पुराणों की बहुत दुर्दशा हो गई है। बहुत से पुराणों के भाग खो गए हैं। इन सब का वर्णन आगे होगा।

अब प्रत्येक प्रचलित पुराण के विषय में अलग विचार कर देखें।

१ ब्रह्मपुराण—मत्स्यपुराण में इसे दस हजार श्लोकों का और किसी पाठांतर में तेरह हजार श्लोकों का कहा है। ब्रह्मा ने इसे मरीचि से कहा था। नारद पुराण की सूची के अनुसार आधुनिक ब्रह्मपुराण है। मत्स्यपुराण की सूची से भी इसका कुछ भाग मिलता है। विल्सन साहब ने इसे १३-१४ वीं सदी का बताया है; पर यह भूल है। ग्यारहवीं सदी में **दानसागर** वा हलायुध-कृत **ब्राह्मणसर्वस्व** में इस पुराण से श्लोक लिए गए हैं। इस

पुराण के १७६ वें अध्याय में अनंतवासुदेव का माहात्म्य वर्णित है। यह मंदिर उड़ीसा के भुवनेश्वर में अभी तक विद्यमान है। इस मंदिर का जीर्णोद्धार ११ वीं सदी में भवदेव भट्ट द्वारा हुआ था। पुराण में वासुदेव की मूर्ति, उसकी उत्पत्ति वा माहात्म्य है, परंतु मंदिर का संकेत नहीं है। ब्रह्मपुराण से कृष्णचरित्र विष्णुपुराण में कुछ बढ़ाकर लिया गया है और विष्णुपुराण बहुत पुराना माना जाता है। इसी प्रकार इससे पुरुषोत्तम-माहात्म्य नारद पुराण में परिवर्द्धित रूप में गया है। इसका कुछ भाग महाभारत के अनुशासन पर्व में उद्धृत हुआ है। अनुशासन पर्व में यह श्लोक मिलता है—

इदं चैवापरं देवि ब्रह्मण्यं समुदाहृतं। १४३–१६ वा
पितामहमुखोत्सृष्टं प्रमाणं इति मेमतिः। १४३–१८।

हरिवंश के ४१५ श्लोक ब्रह्मपुराण से बिलकुल मिलते हैं। वेदों का विस्तार करने के लिये इस पुराण में बहुत सी सामग्री है। गौडपादाचार्य ने उत्तर गीता की टीका में इसका वर्णन किया है। हरिश्चंद्र की कथा जैसी ऐतरेय ब्राह्मण में है, वैसी ही इस पुराण में भी है। इसका मूल आदि ब्रह्मपुराण आपस्तंब धर्मसूत्र के पूर्व था। प्रचलित पुराण का माहात्म्य और तीर्थवर्णन नया मालूम होता है। आजकल के प्रचलित पुराण में १३,७०० से कुछ अधिक श्लोक मिलते हैं। एक आदि ब्रह्म पुराण मिलता है जिसमें केवल ८,००० श्लोक हैं। यह प्रचलित ब्रह्मपुराण से बहुत कुछ मिलता जुलता है और ऐसा जान पड़ता है कि आदि ब्रह्मपुराण प्रचलित पुराण का पूर्व रूप है। प्रथम होने के कारण ब्रह्मपुराण को कभी कभी आदि पुराण भी कहते हैं।

२ पद्मपुराण—मत्स्य पुराण की सूची के अनुसार इसकी श्लोक-संख्या ५५,००० है। इसमें हिरण्यमय पद्म से जगदुत्पत्ति-वृत्तांत वर्णित है; इसी से इसका नाम पद्म हुआ। इसी पुराण के सृष्टिखंड में लिखा है कि यह पुराण ५५,००० श्लोकों का पाँच खंडों में विभक्त है—१ पुष्करपर्व, २ तीर्थपर्व, ३ दानी राजाओं का पर्व,

४ वंशानुचरित पर्व, ५ मोक्षतत्त्व और ज्ञान। परंतु प्रचलित पद्म पुराण में इस प्रकार का विभाग देखने में नहीं आता। उसमें पुष्करखंड का बिलकुल अभाव है। प्रचलित बंगाल के और दक्षिण के पद्म पुराण नहीं मिलते। दोनों में भेद है। गौड़ीय पद्मपुराण के उत्तर खंड में जिस प्रकार पाँच खंडविभागों का वर्णन है, वह नारद-पुराण की सूची से मिलता है। गौड़ीय पद्म के स्वर्गखंड में दूसरे प्रकार का विभाग लिखा है। ये सब नीचे के नक्शों से स्पष्ट हो जायँगे।

दक्षिण पद्म के उत्तरखंड में	गौड़देशीय पद्मपुराण के		
विभाग	भूमिखंड में वा नारद पुराण में	स्वर्गखंड में विभाग	उत्तरखंड में विभाग
सृष्टिखंड	सृष्टिखंड	आदिखंड	सृष्टिखंड
भूमिखंड	भूमिखंड	भूमिखंड	भूमिखंड
पातालखंड	स्वर्गखंड	ब्रह्मखंड	स्वर्गखंड
पुष्करखंड	पातालखंड	पातालखंड	पातालखंड
उत्तरखंड	उत्तरखंड	क्रियाखंड	उत्तरखंड
		उत्तरखंड	क्रियायोगसार

यह ब्रह्मखंड मूल पुराण में न था, फिर यह आया कहाँ से? इसमें २६ अध्याय या १०६८ श्लोक हैं और वैष्णव मत का प्रतिपादन है। इसे स्वर्गोत्तरखंड भी कहा है। इसे पीछे से किसी ने वैष्णव मत के प्रचार के समय जोड़ दिया है। नारदपुराण और मत्स्यपुराण के लक्षणों के अनुसार प्रचलित पुराण में लक्षण तो मिलते हैं, परंतु पूर्व का खंडविभाग बदल गया है। प्रचलित पुराण तीन चार संस्करणों का परिणाम जान पड़ता है; और उसमें वैष्णव संप्रदायों की बहुत सी नई बातें भर दी गई हैं; जैसे मायावाद-निंदा, ऊर्ध्व पुंड्रादि धारण का माहात्म्य इत्यादि। इसके २३५ वें अध्याय में मत्स्य, कूर्म, लिंग, शिव, या स्कंदपुराणों को, और गौतम,

बृहस्पति, संवर्त, यम, सांख्य या उशना स्मृतियों को तामस या नरकप्रद कहा है। पाखंड की परिभाषा में कहा है कि जो ब्राह्मण शंख, चक्र, ऊर्ध्व पुंड्रादि धारण नहीं करते, वे पाखंडी हैं। ये सब प्रक्षिप्त भाग १२ वीं से १४ वीं शताब्दी में शामिल हुए मालूम होते हैं। स्वर्गोत्तर यानी ब्रह्मखंड, उत्तरखंड का कुछ भाग या क्रिया-योगसार ये मूलपुराण के अंग नहीं जान पड़ते। भूमिखंड के अंत में एक विचित्र बात लिखी है कि सत्ययुग में यह पुराण सवा लक्ष था, त्रेता में ५२,००० का हुआ, द्वापर में २२,००० का हुआ और कलि में फिर १२,००० का रह जायगा। इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है; पर इससे यह सिद्ध होता है कि कम से कम ४ संस्करण तो इसके हो चुके हैं। दक्षिण के पुराण में जितने श्लोक प्रक्षिप्त हुए हैं, उतने बंगालवाले में नहीं हुए; जैसे—

बंगाल में		दक्षिण में
सृष्टिखंड में	४६ अध्याय	८२ अध्याय
भूमिखंड में	१०३ ,,	२१५ ,,
पातालखंड में	११२ ,,	११३ ,,
उत्तरखंड में	१७४ ,,	२८२ ,,

आजकल के किसी पद्मपुराण में ५५,००० श्लोक नहीं मिलते। बंबईवाली प्रति में ४८,४५२ श्लोक हैं, पर इसमें स्वर्गखंड या क्रिया-योगसार मिला देने से ५५,००० हो सकते हैं।

पद्मपुराण की रामकथा रामायणानुसार न होकर रघुवंश की कथा से मिलती है। पद्मपुराण के पातालखंड में रामाश्वमेध पर्व है। इसमें वाल्मीकि रामायण का कांडशः सार है। उसमें अयोध्याकांड अलग न होकर उसका बालकांड ही में समावेश है। बालकांड के पश्चात् आरण्यकांड आता है। इसके अनुसार भरत या राम की वन में भेंट नहीं हुई। केवल छः कांडों का रामायण में होना लिखा गया है। भवभूति के समय (सातवीं शताब्दी) में रामायण आज के समान ही था; इससे यह पद्मपुराण की रामायण-

सूची भवभूति के पूर्व की जान पड़ती है।' इसलिये रामाश्वमेध पर्व या पातालखंड भी भवभूति के बहुत पूर्व का होना चाहिए।

३ **विष्णुपुराण**—मत्स्यपुराण में इसे २३,००० श्लोक का ग्रंथ कहा है। इसके अनुसार वाराह कल्प का वृत्तांत आरंभ कर पराशर ने इसमें सब धर्मकथा प्रकाशित की है। नारदपुराण के वर्णन से जान पड़ता है कि इसमें दो भाग थे; आदि भाग में ६ अंश थे और उत्तर भाग का नाम विष्णु धर्मोत्तर कहा है। दोनों को मिलाकर २३,००० श्लोक का कहा है।

प्रचलित विष्णुपुराण में प्रथम भाग के छः अंश और लगभग ७,००० श्लोक हैं। विलसन साहब ने इस पुराण की सात नकलें भारत के जुदा जुदा भागों से मँगवाई थीं, पर उन सबमें इतनी ही श्लोकसंख्या थी। आजकल विष्णुपुराण या विष्णुधर्मोत्तर दो जुदा जुदा ग्रंथ समझे जाते हैं; परंतु नारदपुराण की सूची के समय ये दोनों एक ही ग्रंथ के भाग थे। शंकराचार्य के समय में ६ अंश का विष्णुपुराण था, क्योंकि विष्णुसहस्रनाम के भाष्य में एक जगह उन्होंने "यस्मिन्न्यस्तमतिः" श्लोक को विष्णुपुराण के अंत में कहा है। यह श्लोक छठे अंश के आठवें अध्याय में ५५ वाँ है। उन्होंने विष्णुधर्मोत्तर से भी श्लोक उद्धृत किए हैं और उसे स्वतंत्र ग्रंथ माना है। इसलिये नारदपुराण की सूची शंकराचार्य के पूर्व की है, ऐसा बोध होता है। विष्णुधर्मोत्तर या विष्णुपुराण दोनों को मिलाने से श्लोकसंख्या १६,००० होती है। ऐसा जान पड़ता है कि विष्णुधर्मोत्तर पर लोगों की विशेष श्रद्धा न रहने से उसके ७,००० श्लोक खो गए। ब्रह्मगुप्त ने अपनी ज्योतिषपद्धति सन् ई० ६२८ में विष्णुधर्मोत्तर पुराण से ली थी। नारदपुराण के अनुसार भी इसमें ज्योतिष का अंश था; पर वह अब लुप्त हो गया। अष्टादशपुराणदर्पणकार का मत है कि काशमीर में प्रचलित विष्णु-धर्मोत्तर में ज्योतिष अंश अब भी है। नारदपुराण की सूची में भविष्य राज्यवंश का स्पष्ट वर्णन नहीं है। पुराण में गुप्त और तत्सामयिक

राजाओं का वर्णन रहने से इस आधुनिक पुराण को छठी शताब्दी के पहले की रचना नहीं कह सकते।

हेमाद्रि ने और स्मृतिरत्नावलीकार ने बृहद् विष्णुपुराण से श्लोक उद्धृत किए हैं, किंतु यह पुराण अब नहीं मिलता।

४ वायु अथवा शैवपुराण—कोई इन दोनों को एक पुराण बताते हैं और कोई कोई इनको भिन्न भिन्न पुराण कहते हैं। कुछ पुराणों ने इसे शैव कहा है और कुछ ने वायु। एक मुद्गल-पुराणकार ने दोनों नाम कहे हैं। वायुपुराण के रेवामाहात्म्य में लिखा है—

यथा शिवस्तथा शैवं पुराणं वायुनोदितम्।
शिवभक्तिसमायोगान्नामद्वयविभूषितम्॥

शिवपुराण वायु ने कहा इसलिये इसके दोनों नाम पड़े। रेवा-माहात्म्य के आरंभ में भी ऐसा ही कथन है और इसके चार पर्व कहे हैं। नारदपुराण की सूची के अनुसार इस पुराण के पूर्व भाग में गयामाहात्म्य होना चाहिए। आजकल गयामाहात्म्य और रेवा-माहात्म्य स्वतंत्र मिलते हैं। इन दोनों के सहित चार पर्व का वायु-पुराण कहीं नहीं मिलता। कलकत्ते के एशियाटिक सोसायटी के छपे वायुपुराण में न तो गयामाहात्म्य है और न चार पर्व। उसमें और भी त्रुटियाँ हैं। बंबई के शिवपुराण में पूर्वोत्तर भाग या चार पर्व नहीं मिलते। इस शिवपुराण के वायुसंहिता भाग में इसे एक लक्ष का कहा है; पर शैव उर्फ वायु को कहीं २४,००० से अधिक का नहीं कहा है। इसलिये बंबईवाला एक लक्ष का ग्रंथ दूसरा है। कदाचित् वह कोई उपपुराण हो। उस ग्रंथ की आधुनिक सूची वायु-संहिता में दी हुई सूची से नहीं मिलती और उसमें एक लक्ष के बदले २४,००० श्लोक और १२ संहिताओं के बदले ७ संहिताएँ हैं। यह एक स्वतंत्र शिवपुराण है। वेंकटेश्वर प्रेस का छपा वायुपुराण नारदोक्त वायु का पूर्व भाग मालूम पड़ता है। आनंद आश्रमवाला भी ऐसा पूर्वार्द्ध समझा जा सकता है।

वायु पुराने पुराणों में से है। बाण ने वायु का वर्णन किया है। कालिदास ने प्रचलित वायु के आधार पर कुमारसंभव की रचना की है। बाण का समय ६०० ई० के लगभग है। इसलिये यह पुराण उसके १५०-२०० वर्ष पूर्व का होना चाहिए और इसे ई० सन् ४०० के लगभग आधुनिक स्वरूप मिला होगा। इसमें गुप्त राजाओं का वर्णन है; पर वह उनके चक्रवर्ती बनने के पूर्व की स्थिति का है और वह समुद्रगुप्त के पूर्व का समय होना चाहिए।

महाभारत ने आधुनिक स्वरूप सन् ई० के पूर्व में धारण कर लिया था। उसमें वायुपुराण से अतीत तथा अनागत भाग उद्धृत किए हैं; "एतत्ते सर्वमाख्यातमतीतानागतं तथा। वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणं ऋषिसंस्तुतम्।" (महाभारत ३-१९१-१६) इससे सिद्ध होता है कि वायुपुराण में तब भी कुछ भविष्य भाग था। इस पुराण ने अपना आधुनिक रूप सन् ई० ६०० के लगभग धारण किया है।

५ श्रीमद्भागवत—देवी भागवत या श्रीमद्भागवत दोनों में से कौन पुराण है और कौन उपपुराण है, इस विषय में प्राचीन लेखकों में बहुत मतभेद रहा है। मत्स्य और नारद में भागवत पुराण को १२ स्कंधों और २४,००० श्लोकों का कहा है। दोनों में ये १२ स्कंध और २४,००० श्लोक हैं विद्यारण्य और मध्वाचार्य ने १४ वीं शताब्दी में श्रीमद्भागवत से श्लोक उद्धृत किए हैं। नारदीय पुराणानुसार प्रचलित श्रीमद्भागवत ही महापुराण माना जा सकता है; किंतु मत्स्यवर्णित लक्षणों में सारस्वतकल्प प्रसंग इसमें नहीं पाया जाता और न गायत्री को अवलंबन करके धर्मतत्त्व का वर्णन ही हुआ है। इस प्रकार नारद और पद्म के मत से विष्णुभागवत और मत्स्यादि ग्रंथों के मत से देवी भागवत ही महापुराण माना जाता है। उपपुराणों की तालिका में भी एक भागवत है। देवीभागवत में राधा का माहात्म्य है। श्रीमद्भागवत में राधा का नाम नहीं है। इसलिये देवी भागवत का वह भाग श्रीमद्भागवत के पीछे का होगा। इन सब कारणों का विचार कर कुछ लोग यह कल्पना करते

हैं कि असल भागवत का बौद्ध धर्म काल में लोप हो गया। फिर पीछे हिंदू धर्म के उत्थान काल में वैष्णव और शाक्त लेखकों ने भागवत के लक्षण या श्लोकसंख्या लेकर इन दो ग्रंथों को रचा। देवीभागवत दूसरे भागवत को उपपुराण बताता है; पर श्रीमद्भागवत में न तो दूसरे भागवत पुराण का वर्णन है और न उस नाम के उपपुराण का। श्रीमद्भागवत के टीकाकारों में हनुमत् (६०० से ७०० सन् ई०) और चित्सुख (८५० सन् ई०) के नाम हैं। हेमाद्रि ने व्रतखंड में दानखंड इससे उद्धृत किया है। बोपदेव ने स्वयं भागवत पर तीन ग्रंथ लिखे हैं। ये दोनों भागवत को पुराना आर्य ग्रंथ समझते हैं। इनका समय १२ वीं शताब्दी है। चाणक्य नीति में एक श्लोक में भारत, रामायण या भागवत ("चौरप्रसंगेन") का संकेत है। इसका काल ई० पू० ३५० के लगभग है। इन सब बातों से श्रीमद्भागवत ही पुराना असल पुराण मालूम होता है।

६ नारदपुराण—यह २३,००० श्लोकों का ग्रंथ है। प्रचलित पुराण में नारद पुराण के सब लक्षण या श्लोकसंख्या मिलती है। विलसन साहब को पूरा ग्रंथ देखने को नहीं मिला। अलबेरूनी ने ११ वीं शताब्दी में इसका उल्लेख किया है। १२ वीं शताब्दी में इसे दानसागर में उद्धृत किया गया है। नारदपुराण में जो पद्मपुराण की सूची है, उसमें मायावाद-निंदा, पाखंडलक्षण इत्यादिक मत-द्वेष की बातों का वर्णन नहीं है। इससे नारदपुराण उस मतद्वेष समय के पूर्व का है; अर्थात् उसने अपना आधुनिक रूप ११वीं शताब्दी के पूर्व धारण कर लिया था। हम पहले लिख आए हैं कि इसकी पुराणसूची शंकराचार्य के पूर्व अर्थात् ५००—६०० ई० सन् के लगभग की होनी चाहिए। ऐसा जान पड़ता है इस पुराण का मूल प्राचीन अंश बहुत सा खो गया है। अब भी पूर्व भाग पुराना मालूम पड़ता है।

७ मार्कंडेयपुराण—प्रचलित मार्कंडेयपुराण में नारद या मत्स्य के सब लक्षण हैं। इसमें अभी ६९०० श्लोक पाए जाते हैं।

बाकी के २१०० कहाँ गए? प्रचलित पुराण में से नरिष्यंतचरित खो गया है। और पुराणों के समान इसमें बनावटी बातें या सांप्रदायिक भाव नहीं हैं। कथाएँ पुराने ढँग की हैं। इसमें वेद-व्यास का नाम तक नहीं आया। मालूम होता है कि यह मूल पुराण बहुत प्राचीन है। इसमें चंडीमाहात्म्य है। मयूरभट्ट, शंकराचार्य या बाण ने इस पुराण का उल्लेख किया है। इससे यह बहुत पुराना माना जा सकता है।

८ **अग्निपुराण**—प्रचलित पुराण में नारदपुराण की सूची में लिखे सब अंश मिलते हैं। केवल अग्नि-वशिष्ठ-संवाद या ईशान-कल्प-वृत्तांत इन दो का अभाव है। नारद १५,००० या मत्स्य १६,००० संख्या बताता है। प्रचलित पुराण में प्राय: १२,००० श्लोकसंख्या है। इसलिये आजकल का अग्निपुराण असल से छोटा है। वल्लालसेन ने जो श्लोक इस पुराण से उद्धृत किए हैं, वे आधुनिक पुराण में नहीं मिलते। स्कंदपुराण में लिखा है कि अग्निपुराण में अग्नि के माहात्म्य का ही मुख्य वर्णन है। पर यह प्रचलित पुराण में नहीं पाया जाता; इसलिये प्रचलित पुराण नूतन है। पर यह नूतन स्वरूप भी नारदपुराण-सूची के समय था। उसमें उस समय ईशान-कल्प-वृत्तांत या वशिष्ठाग्नि-संवाद भी थे जो आगे चलकर लुप्त हो गए। वृद्ध शातातप (५००–६०० ई० सन) स्मृति में "इति प्रोक्तं पुरा वह्निधर्मशास्त्रानुसारत: ॥ ४३ ॥" ऐसा लिखा है। शंकराचार्य ने इस स्मृति से उद्धृत किया है। इस हिसाब से यह स्मृति शंकर से १००–१५० वर्ष पूर्व की होनी चाहिए और अग्निपुराण ५००–५१० सन् ई० के लगभग का होना चाहिए।

९ **भविष्यपुराण**—इसके चार संस्करण पाए जाते हैं और सबमें भविष्य के थोड़े थोड़े लक्षण मिलते हैं। पूरे लक्षण किसी में नहीं मिलते। इसके सिवा भविष्योत्तरपुराण भी एक स्वतंत्र ग्रंथ मिलता है जिसे बंबई की पुस्तक में भविष्यपुराण का अंश मान लिया है। इस पुराण की श्लोक-संख्या सब पुराणों

में १४,५०० कही है। इसमें ५ पर्व कहे हैं—ब्राह्म, विष्णु, शैव, सौर और प्रतिसर्ग पर्व। बंबईवाली प्रति में चार पर्वों में २६,९७० श्लोक हैं। यदि भविष्योत्तर के ८५९२ श्लोक निकाल दिए जायँ तो १८,३७८ बाकी रहते हैं। भविष्य में बहुत सा नया भाग मिल जाने के कारण उसकी इतनी वृद्धि होना साधारण बात है। पारगिटर साहब भविष्यपुराण को विशेष महत्त्व का मानते हैं; क्योंकि उनकी गणना में भविष्य राज्यवंश प्रथम इसी पुराण में था; फिर और पुराणों ने उससे लिया। यह भविष्य कथा अंत पर्व में है। भविष्यपुराण है तो बहुत पुराना, पर उसका बहुत सा मूल रूप नष्ट हो गया है। आपस्तंब धर्मसूत्र (ई० पू० ४००-५००) में भविष्यपुराण का उल्लेख है, पर उद्धृत भाग अब के पुराण में नहीं मिलता।

इस पुराण के अनुसार सांब ने सूर्य की प्रतिष्ठा शाकद्वीप के मग ब्राह्मणों को लाकर उनसे कराई और उनका विवाह यादव कन्याओं से कराया। भोजक क्षत्रिय इसी विवाह की संतान हुए। प्रचलित वेंकटेश्वर प्रेस के पुराण में एक स्थान पर कार्तिक कृष्ण प्रतिपदा को वर्षारंभ लिखा है। इससे यह ब्राह्म पर्व का भाग पुराने मूल पुराण का जान पड़ता है। इसी भाग का एक श्लोक बारहवीं शताब्दी में अपरार्क ने याज्ञवल्क्य टीका में लिया है। आधुनिक मध्य पर्व नई रचना है। इस ब्राह्मपर्व में एक जगह लिखा है कि सब पुराण १२-१२,००० श्लोकों के थे; पीछे से बढ़कर स्कंद एक लक्ष का और भविष्य ५०,००० का हो गया। भागवत या मत्स्य के समय स्कंद ८१,००० श्लोकों का था और भविष्य १४,५०० का। प्रचलित भविष्य २७,००० श्लोकों का है।

१० ब्रह्मवैवर्त पुराण—मत्स्य और नारदोक्त लक्षणों से प्रचलित पुराण नहीं मिलता। उसमें इतने नए विषयों का समावेश है कि पुराना विषय निकालना कठिन है। बंगाल में जुलाहों को 'जोला' कहते हैं। इस पुराण में लिखा है कि म्लेच्छ और कुविंद कन्या के मेल से 'जोला' जाति हुई। यह भाग बहुत नूतन समझना चाहिए। इसमें राधा-कृष्ण की उपासना को विशेष महत्त्व दिया

गया है। पर नए शोध से जान पड़ता है कि राधा की उपासना भी बहुत पुराने काल से है। इस ग्रंथ में से विष्णुसहस्रनाम की टीका में शंकराचार्य ने उद्धृत किया है। एक जगह लघु ब्रह्मवैवर्त का उल्लेख है, पर वह अब नहीं मिलता।

११ लिंगपुराण—प्रचलित पुराण की श्लोक-संख्या भी मत्स्य में कहे अनुसार अभी ११,००० ही है। मत्स्य और नारद में उक्त सब लक्षण आधुनिक पुराण में मिलते हैं, पर अग्निकल्प की जगह ईशानकल्प है। इसमें सांप्रदायिक द्वेष के कुछ श्लोक घुस गए हैं। उन्हें दूर कर देने से पुराना पुराण रह जाता है। केवल कल्प का भेद बना रहता है।

१२ वाराहपुराण—इसकी श्लोकसंख्या २४,००० कही है। कलकत्ते में छपे प्रचलित पुराण में १०,५०० श्लोक पूर्व भाग में हैं। उत्तर भाग इस छपे पुराण में नहीं है। पूर्व भाग में भी कुछ अंश की कमी है। इस पुस्तक से १२ वीं या १३ वीं शताब्दी में श्लोक उद्धृत किए गए हैं। प्रचलित वाराह बहुत पुराना नहीं जान पड़ता। ग्यारहवीं शताब्दी में इसने यह रूप धारण किया है, ऐसा अनुमान किया जाता है।

१३ स्कंदपुराण—आज कल स्कंद पुराण नाम का कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं मिलता। नाना प्रचलित संहिताएँ, नाना खंड, और माहात्म्य इसके अंतर्गत कहे जाते हैं। कहीं इसे छः संहिता का और कहीं सात खंड का ८१,००० श्लोकों का ग्रंथ कहा है। आज-कल इसके अंतर्गत खंडों को इकट्ठा करने से एक लक्ष से अधिक हो जाते हैं। (१) सनत्कुमार संहिता के कुछ खंड नहीं मिलते। (२) सूत संहिता के चार खंड मिलते हैं। (३) शंकर संहिता के ३०,००० में से १३,००० के खंड मिलते हैं। (४) वैष्णव संहिता और (५) ब्राह्म संहिता नहीं मिलतीं। (६) सौर संहिता १००० की मिलती है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री को नेपाल राज्य के राजपुस्तकालय में छठी शताब्दी के अक्षरों में लिखी स्कंद पुराण की पुस्तक

देखने को मिली थी। यह पुस्तक पूर्ण पुराण का कुछ खंड ही मालूम पड़ती है। नारदपुराण की सूची जिस समय बनी थी, उस समय सप्त खंड युक्त स्कंदपुराण प्रचलित था। कांजीवरम् के कश्यप स्वामिगल् ने लगभग ई० सन् ७८० के स्कंदपुराण को तामिल भाषा में लिखा था, ऐसा कहा जाता है।

१४ वामनपुराण—१०,००० श्लोकों का दो भागों में विभक्त है। पूर्व भाग मिलता है, उत्तर भाग नहीं मिलता। नारदपुराण की सूची के अनुसार प्रचलित भाग है। बंबई के छपे वामनपुराण में भी १०,००० श्लोक नहीं हैं। मत्स्य के कुछ लक्षण प्रचलित में नहीं मिलते। इसलिये यह आदि पुराण तो नहीं है, पर इसका आधुनिक रूप नारदपुराण की सूची के पूर्व का है।

१५ कूर्मपुराण—१८,००० का मत्स्य में कहा है और नारद में १७,००० का। प्रचलित कूर्मपुराण केवल ६००० का मिलता है। वह केवल इसकी ४ संहिताओं में से प्रथम ब्राह्मी संहिता है। परंतु इसमें क्षेपक भाग नहीं है। इसमें तांत्रिक विषय हैं, पर शंकराचार्य के समय में भी ६४ तंत्र प्रसिद्ध थे। नागार्जुन ने भी ई० पू० दूसरी शताब्दी में बहुत से तांत्रिक ग्रंथों के नाम लिखे हैं। शंकराचार्य ने विष्णुसहस्रनाम की टीका में इस पुराण से उद्धृत किया है। ई० सन् ५०० के समय के पुराण का अमिश्रित भाग इस ब्राह्मी संहिता सरीखा दूसरा नहीं है।

१६ मत्स्यपुराण—मत्स्य और नारद के अनुसार यह १४,००० श्लोकों का है। नारद-सूची के समय भी इस पुराण में पुराण अनुक्रम और भविष्य राजाओं का वर्णन ये दोनों थे। कुमार-संभव की कथा कालिदास ने इसी पुराण से ली मालूम होती है। अग्निपुराण ने पुराणों का माहात्म्य इसी पुराण से लिया है, ऐसा विल्सन साहब का मत है। अग्निपुराण का समय ३००-४०० ई० सन् है और इस आधार पर इस पुराण का समय ई० सन् २००-३०० हो सकता है। मत्स्यपुराण के अ० २५ से ४२ तक ५०६

श्लोक जैसे के तैसे महाभारत आदिपर्व में अध्याय ७६ से ९३ में उद्धृत किए गए हैं।

१७ गरुड़पुराण—मत्स्य के समय में यह १८,००० का और नारद के समय में यह १६,००० का कहा है। प्रचलित पुराण में विषय इन दोनों सूचियों के समान ही हैं, पर श्लोक-संख्या ७००० से भी कम रह गई है। इस पुराण में भविष्य राज्य-वंश राजा शूद्रक तक ही है। विष्णु, मत्स्य में आगे के आंध्र-गुप्त राजाओं का भी वर्णन है। इससे प्रचलित गरुड़पुराण इन पुराणों से प्राचीनतर है। माहात्म्य भाग अर्वाचीन है। बाकी का भाग मूल पुराण का ही जान पड़ता है। इस पुराण में बुद्ध को २१ वाँ अवतार बताया है।

१८ ब्रह्मांडपुराण—मत्स्यपुराण में इसे १२,२०० का और नारद में १२,००० का कहा है। नारदपुराण की सूची के अनुसार चार पादवाला यह पुराण प्रचलित वायुपुराण ही है। इसमें ब्रह्मांड का भूगोल या भविष्य कल्पवृत्त बहुत विस्तार से दिया है। इस ब्रह्मांड पुराण की पुस्तक में कहीं कहीं 'वायुप्रोक्तसंहितायां' लिखा होने से नाम में भेद हो गया है। इस हिसाब से शिवपुराण की वायुसंहिता को वायुपुराण कहना पड़ेगा।

ब्रह्मांड पुराण ईसवी पाँचवीं शताब्दी में जावा द्वीप में गया था। वहाँ अब भी वह कवि भाषा में मिलता है। **भविष्य-राज्यवर्णन** उसमें नहीं है। बाकी का भाग प्रचलित ब्रह्मांड से मिलता है। इससे सिद्ध है कि हिंदुस्थान में भविष्यराज्यवर्णन इस पुराण में पाँचवीं शताब्दी के पीछे शामिल हुआ।

शंकराचार्य ने ब्रह्मांडपुराण की कश्यपेय गीता से श्लोक उद्धृत किए हैं। वह गीता प्रचलित ब्रह्मांड पुराण में नहीं पाई जाती।

उपपुराण—ये प्रायः विक्रम के पीछे बने। सूतसंहिता में सनत्कुमार, नरसिंह, नंदी, शिवधर्म, दुर्वास, नारद, कपिल, वामन(मानव), उशनस्, ब्रह्मांड, वरुण, काली, वशिष्ठ, माहेश्वर, सांब, सूर्य, पाराशर,

मारीच, भार्गव इन १८ उपपुराणों का उल्लेख है। ये नाम मधुसूदन सरस्वती ने १४ वीं शताब्दी में अपने ग्रंथ में दिए हैं। मत्स्य पुराण के ५३ वें अध्याय में केवल नरसिंह (पद्मपुराणांतर्गत), नंदी, सांब और आदित्य का ही उल्लेख है। इनके सिवा और भी बहुत से उपपुराण प्रचलित हैं। शंकराचार्य ने नृसिंह उपपुराण से उद्धृत किया है। यह उपपुराण पुराना है। विष्णुपुराण और आदि ब्रह्मपुराण में कृष्ण अवतार के विषय में एक सी ही कथा है कि विष्णु ने अपना एक काला या एक श्वेत बाल देकर कहा कि ये मेरे केश अवतार लेंगे, अर्थात् मेरी इतनी छोटी शक्ति अवतार लेकर आवश्यक कार्य साधेगी। नृसिंह उपपुराण में भी अध्याय ५३ में ऐसी ही कथा है कि देवताओं के प्रार्थना करने पर विष्णु भगवान् ने कहा कि "देवकी में वसुदेव से, अवतार लेकर, शुक्ल और कृष्ण ये दो हमारी शक्तियाँ कंसादि को मारेंगी"।

(१६) बिहारी-सतसई की प्रतापचंद्रिका टीका

[लेखक—पुरोहित श्री हरिनारायण शर्म्मा बी० ए०]

(प्रारंभ से कुछ अंश)

श्रीगणेशाय नमः

श्रीमहाराजाधिराज महाराजा श्रीसवाई प्रतापसिंह-चंद्रिका लिख्यते

छप्पय

श्री गनपति तुव चरन सरन द्रिज वरुन करुन करि।
देवन कै दुष दरन करन सुष भरन भाव धरि॥
अमरन पददानरन परन धारत बहु भागह।
ररत नाम सुभ धरन तरन भवसागर लागह॥
भगवंत हरन जड़ता टरन मेधा करन बषान वर।
भनि **मनीराम** कर जोरि कै जयति जयति सुत गवरि कर॥१॥

अथ राजवंश वर्णन

छप्पय

सूरज कुल दसरत्थ सत्य देवन सहाय हुव।
तिन रघुबर वर गत्थ पत्थ पालक समत्थ भुव॥
लंका कत्थ अकत्थ रत्थ सज्जै सब अंगह।
लत्थ वत्थ हुव आय जत्थ जच्छन सौ जंगह॥
नैरत्थ नत्थ दस मत्थ के सत्थ कट्टि सत्थह सरनि।
भनि '**मनीराम**' नर नाग सुर को सकै तिह कुल बरनि॥२॥

प्रथीराज तिन तनय भारमल तिन भगवत हुव।
मानसिंह जगतेस तनय पुनि महासिंह भुव॥
जय साहसु नृप राम कुँवर तिनके किसनेस सु।
विसनसिंह जयसिंह सवाई माधव बेस सु॥

परतापसिंह नरनाथ पति ध्रुव लौं भुव राजसु लहैं।
भनि **मनीराम** नृपनाह क्रम सुवन भुवन जस कवि कहैं॥ ३॥

प्रथु समान प्रथिराज राज भुव साज सुधारन।
धरमराज सुभकाज लाज कूरम कुल धारन॥
भूपन कौ जु समाज तहाँ सिरताज आज कहि।
राजराज सम विभव बढ़त आवत अवाज लहि॥
बरबाज राज गजराज अरु जटित साज नग जगमगत।
भनि '**मनीराम**' कविराज जे लहत सुवेननि जस जगत॥ ४॥

प्रथीराज तन तेज भयउ कूरम-कुलमंडन।
भूप भारमल सुभट सराहत हैं भुजदंडन॥
डट्टन अरि को तेज अनी कट्टन भुव पट्टन।
तिन पट्टन बेहाल भगत अग वट्टनि घट्टन॥
पट्टन सुकृत्य बट्टन सुधन भट्टत जगजस जय ललनि।
भनि **मनीराम** रघुवंश के को बरनै गुन के गननि॥ ५॥

मृदुल गात जलजात-पात से अति मुरझाने।
लगत बात जिमि घात जात मग पट उरझाने॥
तात मात उच्चरत सात सुष आस नहीं फिरि।
देव षात छिपि जात तजे तन जात बसी गिरि॥
निंदत विधात अकुलात यह बात ख्यात तिनकी जु तिय।
भनि **मनीराम** भगवंत नै हनि अरात गुजरात लिय॥ ६॥

मान नृपति कुल भान गाँन हिंदुवान नाथ वर।
षुरासान हय सान देस मुलतान लियनु कर॥
दिसि कुबेर कल कान थान तजि कै परान अरि।
ब्रह्मपुत्र वे मान दान दै तोरि आन तरि॥
बस करि असाम किरवान लहि पान न्हान सागर कियौ।
भनि **मनीराम** सतसठि समर जिन जित्तै सम को बियौ॥ ७॥

लाज जंजीरन जरे अरे इभ-से मतवारे।
दुगा उगा ठाहंत भुगा भूके भट भारे॥
अति उदंड भुजदंड चंड अरि के जु अमानैं।
चंड मुंड से चंड बड़े बलवंड बषानैं॥
ऐसे पठान जंग जु जुरे सज्जि सैन बनि मान कौ।
भनि **मनीराम** जगतेस नैं ते पठए जम थान कौं॥८॥

बैरिनु की बर बाल लाल तजि कैं तन तूलें।
टूटी माल प्रवाल भाल के भूषन भूलें॥
बनत माल की डाल जाल जिन मैं छिपि जाहीं।
दुष बिसाल बेहाल काल तिहिं मधि संग बाहीं॥
जे हाल काल के गाल में परे सु ते सनमुष लरे।
भनि **मनीराम** नरनाह श्री महासिंह जस भू करे॥९॥

विदित जगत जयसाह हिंद नरनाह थाह बल।
सज सिपाह जिहि राह निकट करि दाह बलक दल॥
करि उछाह चित चाह साह थप्पै रु उठावै।
करत मीर सल्लाह पाह के आहन पावै॥
अवगाह राह दिल्ली सदल ताहि सिवाहि सुपकरि लिय।
भनि **मनीराम** साहहि दिषै जीवदान दिय छाँड़ि दिय॥१०॥

कूरम कुल अवतंस हंस के बंस उजागर।
रामसिंघ नरनाह सूरता जस कौ सागर॥
जिन्ति लई आसाम बाम निज नाम सुकिन्हव।
सार धार बस करिय हार उत्तर बर लिन्हव॥
काबिल गुमान पट्ठान हनि नृपति मान जिमि आन किय।
भनि **मनीराम** सिवराज कौ साह पात तै कढ्ढि दिय॥११॥

कुँवर किसनसिंघ भए राम नृप कै सब लायक।
तिनके भौ विसनेस भांवती भू को नायक॥

भुजाँ पान बलवान आन हिंदुन की राषै।
दान विधान कृपान सबै जगती जस भाषै॥
सुलतान पान मन मान ही नृपति आन हुकमी रहैं।
भनि **मनीराम** कुल भान घर मान मौज सबही लहैं॥१२॥

प्रजापाल सुख जाल भयउ भुवपाल सवाई।
श्री जयसिंघ दयाल भाल में अति अधिकाई॥
हाल इहाँ कलि काल चाल त्रेता की चालै।
साल सत्रु को काल ढाल है धर्महि पालै॥
लषि वेद भेद अति षेद करि अश्वमेद जज्ञ सु किए।
भनि **मनीराम** रघुवंश की रीति दान विप्रंन दिए॥१३॥

माधवसिंघ नरेस देस देसन में जाहर।
श्री रघुबर की रीति वानविद्या नर नाहर॥
सफतर जंग उमंग जंग दिल्ली सौं कीनौं।
सार भार भुज भार राषि पतिसाह सुलीनौं॥
अस कूरम कुल मंडन बरहि कलस सुजस जगमग करत।
भनि **मनीराम** मन काम के अरथनि दै सबको भरत॥१४॥

टूटत बन घन सरस सरित दीरघ जल सुक्कत।
हय पुरतार पहार छार तैं दिनकर लुक्कत॥
दुग्ग उग्ग दहलात दुवन आसा प्रति लग्गहि।
तज माह ग्रह बाल जाल बेहाल सुमग्गहि॥
आमेरिनाथ कूरम कलस सहजहि मृगया को बढ़त।
राजाधिराज परताप सिंघ **मनीराम** सुजस हि पढ़त॥१५॥

कवित्त

कूरम कलस श्री सवाई परतापसिंघ,
भूपनि की मनि **मनीराम** सुनि गत्थ है।

गावत सुछंद, के प्रबंध कवि बृंदवर,
　　बिचरैं सुछंद देस देस जस सत्थ है ॥
सुनि अरि इंदन कै बाढ़ैं दुष दंद बहु,
　　मोद को निकंद होत मानि सम पत्थ है ।
माधवेस नंद ऐसौ बषत बिलंद भलो,
　　आनंद कौ कंद हिंदुपालक समत्थ है ॥ १६ ॥

अथ कविवंश वर्नन

दोहा

अनँगपाल नृप बंस के पूज्य सुरेषा राम ।
तिनके तनय मुकुंद जू विद्या धन के धाम ॥ १७ ॥
मनीराम तिनके तनय राज इंद्रगिरि सेय ।
पाई विद्या मान धन सुजस सु कहत अमेय ॥ १८ ॥
विदित जगत आँवेरिपति राजन के राजासु ।
श्रीप्रतापसिंघ हुकुम लहि बरनत हौं अब तासु ॥ १९ ॥

अथ ग्रंथप्रसंसा

दोहा

श्री जैसाहि सुनृपति कौ हुकुम बिहारी पाय ।
सतसैया ऐसो कियो रह्यो जगत में छाय ॥ २० ॥
अनवरषाँ टीका कियो ताको प्रकरन लाय ।
मत जो काव्य प्रकास कौ सास्त्र अर्थ दरसाय ॥ २१ ॥
भंडारी अमरेस हौ मारिवारि के राज ।
तिन टीका अच्छिर अरथ कियो सुजस के काज ॥ २२ ॥
टीका और अनेक हैं किय अपनी रुचि पाय ।
अनवर को अरु अमर कौ संगति लेष लगाय ॥ २३ ॥

अनवर लेष जु दूसरौ दोहा का इकतीस ।
जो अनवर को तीसरौ अमर सोरु छब्बीस ॥ २४ ॥

ऐसे खंड विहंड हैं दोहा सबही और ।
सास्त्र अरथ अच्छिर अरथ सो कीजै इक ठौर ॥ २५ ॥

अलंकार अर अर्थ जहँ सो उपजै अधिकाय ।
यों ग्रंथनि की साषि तै सोऊ लिपौं बनाय ॥ २६ ॥

सबल निबल दोऊन के अलंकार सम भाय ।
तेऊ धरिए ग्रंथ की ज्यों सोभा सरसाय ॥ २७ ॥

अथ अलंकारप्रसंसा कविप्रियायां यथा

दोहा

जदपि सुजाति सुलच्छिनी सुवदन सरस सुवृत्त ।
भूषन बिना न राजई कविता बनिता मित्त ॥ २८ ॥

भाषाभूषन टीकायां हरिकवि यथा

दोहा

शब्द अर्थ करि कहत हैं जो रस को उपकार ।
भूषन जैसे जीव कौ ते कहिएऽलंकार ॥ ३० ॥

सुरगुरु सम कवि सम सुकवि महाराज कैं नेक ।
सबको संमत लहि करत मनीराम सुविवेक ॥ ३१ ॥

अलंकार प्राचोन कवि दुहुन धरे सुषदाय ।
ते प्रमान अब और हू लिपियत सो चित लाय ॥ ३२ ॥

बहु संकर संसृष्टि बहु सुद्ध कहा इक ठौर ।
प्राचीनरु नूतन मिलैं लषौ सुकवि सिरमौर ॥ ३३ ॥

अष्टादस ब्यालीस(१८४२)भनि संवत माधव मास ।
सुकल पच्छ गुरु पंचमी किय चंद्रिका प्रकास ॥ ३४ ॥

अथ ग्रंथ सूचनिका

छप्पै

प्रथम सुनृप नृपवंस, द्वितिय साधारन जानौं।
सिष नष तीजै, तुर्य भेद मुग्धादि बषानौं॥
अष्ट नायका पँचै, छठै रूपादि गर्वितहि।
सातैं माननि सुरति, आठवैं नव परकिय कहि॥
दस दसा सात्विक, सुग्यारहै मद्य पान द्वादस कही।
तेरहैं हाव, रस चौदहैं, पंचदसैं षट रितु लही॥३५॥

दोहा

प्रस्ताविक अन्योक्ति ये षोडस प्रकरण जानि।
मनीराम अनवर सुकृत सूचिनका उर आनि॥ ३६ ॥
सबद अरथ भूषन अधिक तिनकी संष्या जानि।
भूपति भूप प्रताप अरु अमरु सु उत्तर मानि॥ ३७ ॥
अलेमान के वंस में फलेमान अवतंस।
इंगरेज एरीस अरु इसका चसुता अंस॥ ३८ ॥
ईतलि आन अमान अति, सेवैरिया वरवानि।
कास्तलि आन प्रमान किय इसपियोल मन मानि॥ ३९ ॥
रूसी और पुरूस है वलं देज धरि चित्त।
फेर बषानत हाँबसा अरु गिरेग गनि मित्त॥ ४० ॥
फरासीस रुस ईस है अरु अरमनी निहारि।
दीनमार सुकेस कै कहत चतुर चित धारि॥ ४१ ॥
पुरतगेज सबतैं सिरै अलगरावि तिन माँहिं।
मासमवीक सु औरहू लषै फिरंगी आँहिं॥ ४२ ॥
ऐसे जाति फिरंगियन पुरतगेज इक बंस।
मालवेल 'देसीलवा' नाम सुकुल अवतंस॥ ४३ ॥
तिनके पुत्र सु पेदरू देसीलवा बषानि।
विद्यानिधि उर मैं दया जीव मात्र रुज जानि॥ ४४ ॥

सावीयर देसीलवा तिनके सुत , प्रगटेसु।
अरबी और फिरंगि मैं और फारसी देसु॥ ४५॥
ज्योतिष न्यायरु व्याकरन साहित काव्य प्रकास।
अंग सहित ताकौ सबै बिलसत बुद्धि बिलास॥ ४६॥
महाराज कूरम कलस श्रीपरताप नरेस।
जिनकै है हुहकौम तो बिदित सबन ही देस॥ ४७॥
महाराज की चंद्रिका लषिकै बहु बिस्तार।
अलप बुद्धि साहित्य मैं तिनको यह उपगार॥ ४८॥
अब ऐसे यह कीजिए लच्छ जु दोहा देषि।
जे लच्छन जानत सु वे क्यौं बाँचैं यह लेषि॥ ४९॥
मनीराम लहिकैं हुकम कीनौं लघु बिस्तार।
जे प्रवीन साहित्य में तिनकों है सुषसार॥ ५०॥

इति श्रीमहाराजाधिराज महाराजा श्रीसवाई प्रतापसिंघ चंद्रिकायां राजवंस कबिवंस वर्ननं नाम प्रथमो प्रकास: ॥ १॥

अथ बिहारी कृत सतसई टीका लिष्यते

दोहा

मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँई परै स्याम हरित दुति होय॥ १॥

टीका—आसीर्वादात्मक मंगलाचरन है। यामैं देवरति भाव ध्वनि॥ विषमालंकार स्लेषाभाव है॥ कारन को रंग और ही कारज औरै रंग। यह विषमालंकार कौ बियौं भेद छबि संग॥ अमर॥ प्रथम मंगलाचरन यह कवि की बिनती जानि। प्रगटत अपनी अधमता अधिकाई धुनि आनि॥ जितौ अधम तितनी बड़ी भवबाधा यह अर्थ। उहि हरिबे कों चाहिए कोऊ बड़ो समर्थ॥ नर बाधा कौं सुर हरत सुर बाधा ब्रह्मादि। ब्रह्मादिक की बाध कौं हरत जु स्याम अनादि॥ लषि राधा तिन स्याम की बाधा हरति न कोय।

यातै मो बाधा हरौ राधा नागरि सोय ॥ जिनकै इक छिन बिरह मैं स्याम बिकल बिलपात। पुनि तिन तन झाँई परै होत हहहहो गात ॥ बाधा त्रिभुवननाथ की हरन जोग जे आहि। तेई मोसे अधम की बाधा हरौ निबाहि ॥ इहिं बिधि सरबोपर परम इष्ट जानि सुष कर्म। यातैं इनहीं कौ धरयौ प्रथम मंगलाचर्न ॥ अलंकार इहिं अर्थ मैं काव्यलिंग है आनि। अब ताकौ लच्छन सुनौं ग्रंथन गत चित आनि ॥ काव्यलिंग सामर्थता जहँ दृढ करत प्रवीन। ह्यां भवबाधा हरन की द्रढ समर्थता कीन—द्वितीय अर्थ—मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोय। कैसी है तिनकै सुनौ इमि बखान कवि लोय ॥ जा तन की झाँई परैं नैक ध्यान मैं आय। दूरि होय स्यामत्व तम दुति जु सत्व अधिकाय ॥ इहाँ हू सामर्थता द्रव्य दिपाई यातैं काव्यलिंग है॥—तृतीय अर्थ—वे राधा बाधा हरौ पीत रंग उद्योत। जिनकी तन झाँई परै स्याम हरित रँग होत ॥ यहाँ हेत अलंकार है ताकौ लच्चण। हेत सहित कारज जहाँ कहैं हेत कबिराज। प्रिया पीत रँग स्याम पिय हेतु हरिति-रँग काज ॥ **राधानागर** यौं पाठ होय तौ श्रीकृष्णपक्ष अर्थ—वे मेरी बाधा हरौ राधानागर सोय। जिनकै सुमिरत नैक ही इतौ महाफल होय ॥ जिन तन की झाँई परै स्याम ध्यान मैं आइ। हरि कै तद्गुन होय वह सारूपहि कौं पाय ॥ इहां तद्गुणालंकार लच्चण। तदगुन निज-गुन तजि जहाँ औरै गुन लपटाय। हरि झाँईं तै हरि भयौ अपनौ रूप नसाय। औरहु अर्थ अनेक बिधि करन मंगलाचर्न। कहे न भय विस्तार कै सुनहु सुकवि सुषकर्न। श्रीप्रताप—अनवर नै देव-रति-भाव-ध्वनि लिषी ताकौ यह भेद। जो कवि की प्रतीति देवता को अथवा राजा कौ मुनि कौं इत्यादिक कै वर्नन होय सो भावध्वनि कहिए यह भेद। और श्लेष भास लिष्यौ है सो आभास वाकौ कहिए। दीसै अरु होयं नहीं। सो यहाँ भव शब्द में श्लेषाभास है। भव के अर्थ बहुत हैं। भव संकर संसार भव, भव कहिए कल्यान। भव जु जनम, जब सफल तब भजि लीजे भगवान ॥

अमरे—"वह्निर्जन्महरौ भवौ" । काव्यलिंग अलंकार अमर ने लिष्यौ सो हैही । विषमालंकार हू जाय नहीं ॥ १ ॥

साधारण नायिका वर्णन

दोहा

लहलहाति तनु तरनई लखि लगलौं लचि जाय ।
लगै लाँक लोयन भरी लोयन लेत लगाय ॥ २ ॥

टीका—उक्ति नायक की स्मृति संचारी, उपमालंकार, कोमला-वृत्ति है । अरु लोयन लगाय या पद मैं लच्छणा है ॥ उपमान रु उपमेय पुनि धर्म रु बाचक होय । ये चारों होवैं जहाँ पूरन उपमा होय ॥ जहाँ वृत्य अनुप्रास में गुन माधुर्य प्रकास । तहाँ कोमला वृत्य है बरनत बुद्धिविलास ॥ कोमला परुषा उपनागरिका वृत्यानुप्रास ही मैं होय, छेका में नहीं ॥ द्रवै चित्त जाके सुनत अति आनंद प्रधान । सु है मधुरता रसुन क्रम प्रथम सरसई आँन—अमर—पूरनोपमालंकार । लच्छणा । उपमेय सु लोयनभरी लग उपमान विचारि । लौ वाचक लफनौं धरम पूरन उपम निहारि ॥ लोइन शब्द दोय बार कह्यौ तातैं जमकालंकार हू होय है । अर्थ भिन्न है । लोइन नेत्र ॥ लोइन लावन्य । श्रीप्रताप—लोयन लगाय या पद मैं लच्छणा है । अनवर मैं लिषी है सो लच्छणा वासौं कहैं हैं । अच्छरन को अर्थ न बनै और मिलतौ अर्थ बनाय लीजिए । सो लोयन लगायबौ नहीं संभवै है सो नेत्रन को चाह ही रहै है देषवे की । यह अर्थ संभव है ॥ २ ॥

दोहा

तज भूषन अंजन द्रगनि पगनं महावर रंग ।
नहिं सोभा कौं साजियत कहि एहो कौ अंग ॥ ३ ॥

टीका—जो सषी की उक्ति होय तौ स्तुति-व्यंग । जो नायका की उक्ति होय तौ रूपगर्विता । जो नायक की उक्ति होय तौ गुन कथन व्यंग । वक्विोधव्य है । **मीलति** अलंकार है । सदृश वस्तु

मैं भेद न लहै, जिहि थल कविजन मीलति कहैं। मीलतिसम इनकौ एक बाचकानुप्रवेस संकर। तुल्ययोगिता की संसृष्टि ॥ अमर—रूप गर्विता के वचन सोभा कहिबे माहिं। कहि एहो के अंग तो अंग सुहागिल ठाहिं ॥ मीलति अलंकार ॥ श्रीप्रताप—तन भूषन तुल्य योगिता। सम। समही सौं। लक्षण। अलंकार-रत्नाकरे—होय अवन्र्येक वन्र्ये कौ एकै धर्म समान। नहिं सोभा कौ साजियत धर्म कि समता (मान)॥ अलंकार सम तीन विधि जथा जोग को संग। तन भूषन इत्यादि तैं जथाजोग को संग ॥ ३ ॥

दोहा

पचरँग रँग बैंदी परी उठी ऊगि मुष जोति।
पहरैं चीर चिनौंठिया चटक चौगुनी होति ॥ ४ ॥

टीका—जो सषी की उक्ति होय तौ नायक सौं रुचि उपजावति है। जो नायक की उक्ति होय तौ गुनकथन। स्वभावोक्ति अलंकार। (लक्षण) जैसो जाकौ रूप रँग बरनौं तैसो साज। कोमलावृति। 'द्रवैचित्त' इति पूर्वोक्तं। अमर प्रश्न—पचरँग रँग पुनि शब्दवटि इक यह प्रश्न सुजानि। दूजै चौगुनि चटक मिलि प्रश्न सुतीनि प्रमानि ॥ (परी चटक अरु चौगुनी प्रश्न सुतीनि प्रमानि)॥ उत्तर—कहुं तिय पिय सों रँग भयौ साज्यौ सरस सिंगार। तहँ सषि सौं सषि कौ बचन कहत सु इहि परकार ॥ इक मुष दुति दूजै षरी भई रंग पिय पाय। तीजैं बैंदी चीर लहि चटक चौगुनी गाय ॥ इहाँ अनगुन अलंकार है। लक्षण। अनगुन जब संगति भयैं पूरब गुन सरसाय। एक चटक सौं चौगुनी भई रंग पिय पाय ॥ प्रताप—वृत्त्यानुप्रास। भाषाभूषणे। प्रति अक्षर आवृत्ति बहु वृत्ति तीनि विधि मानि। मधुर वृत्ति जामैं सबै उपनागरिका मानि ॥ उदाहरन रसरहस्ये। चंद सौ आनन चाह सौं चूमैं चलैं चष चारु न चौंप चपाई। यामैं चकार की बहुबेर वृत्ति आई। रँग रँगलाटा। ल०। भाषाभूषणे। सो लाटानुप्रास जँहँ पद की आवृति होय। सब्द अर्थ के भेद बिनु भिन्न भाव कछु होय ॥

उदाहरन। पीव निकट जाकैं नहीं घाम चाँदनी आहि। पीव निकट जाके नहीं घाम चाँदनी आहि ॥ ४ ॥

(मध्य से पृ० ६३—)

अथ माननी बनन

(सप्तम प्रकास)

दोहा

जद्यपि सुंदर सुघरकर सगुनौ दीपक देह।
तऊ प्रकास करै तितौ भरिए तितौ सनेह ॥ १ ॥

टीका—सखी की उक्ति नायका सौं। सिक्षा रूप बचन तैं बोध ब्यंग करि मान ब्यंजित होति है। ताकरि नायका के अति मान धुनित है। याही सौं "गुरुमान" कहत हैं। अरु अर्थांतर संक्रमित धुनि कहत हैं॥ जो यह उक्ति साध की होय तौ सांत रस। ऐसे ही और ठौर संक्रमित धुनि ह्वै सकति है। वाच्य श्लेस रूपक कौं पोषत हैं। यातै अलंकार संकर है॥ एक शब्द के अर्थ जहँ भासत आइ अनेक। शब्द श्लेस सु कहत हैं जिनकें बुद्धि बिबेक। उपमान रु उपमेय में भेद परै नहिं जानि। तासों रूपक कहत हैं सब कबि सुमति बखानि॥ अमर—। इहाँ श्लेस रूपक संकर। सगुनौ पद सुश्लेस हैं रूपक दीपक देह। यो सलेस रूपकहि कौं, संकर जानहु एह॥ श्रीप्रताप। सकार ते वृत्त्या। दीपक देहते छेका। लक्षण पूर्वोक्तं॥ १ ॥

दोहा

तोही निरमोही लग्यौ, मोही यहै सुभाव।
अन आयैं आवै नहीं, आयैं आवै आव ॥ २ ॥

टीका—नाइका की उक्ति नाइक सौं। नाइका की मरजी पाइ सखी कहै है सखी द्वारा। माननी उपालंभ संचारी। अतिसयोक्ति अलंकार। (इहाँ नाइका कौ मध्यमान। बात कहत तिय और सौं देखहिं केशोदास। उपजत मध्यम मान तहँ माननि कैं

सविलास। और नाइका नै इह बात कही तुम सौं। सो इह नाइका सुनि मान कियो। यह नाइक प्रति-सखीवचन। यह नाइका खंडिता होउ)। (नाइक को आयबो कारन आको आयबो कारज ये संग यातै अक्रमातिशयोक्ति)।—अमर प्रश्न। अन आए जो आय नहिं, तौ मति दसा विचार। फेरि आव आवै सुकिमि, बनै न बचन निहार॥ उत्तर और अर्थ। वार्त्ता। तो हिय निरमोही है। तो हिय सौं मोहिय लग्यो ताते संगति पाइ, यह निरमोही भयो, मोपै तेरे आइ बिन आवत नहीं। तातैं आव व्यंगि करि बुलावति है। मोही मोही जमक है। आयैं लाटानुप्रास है। श्रीप्रताप—। हुकार अकार तैं वृत्त्या॥ २॥

दोहा

रही पकरि पाटी सुरिस, भरे भौंह चित नैन।
लखि सपने पिय आन रति, जगतहु लगति हियैं न॥ ३॥

टीका—सखी की उक्ति सखी सौं। मध्यमान। भ्रांति अलंकार। भ्रम चित्त होय आय। भूषन सुभ्रांति गाय॥ अमर। समै भाव तैं यह नाइका खंडिता। रतिभ्रमा है॥ नाइका अनेक, यथा—देश काल वय भाव तैं केशव जानि अनेक। भ्रांति अलंकार पूर्वोक्तं। श्रीप्रताप—। भरे पद तीन ठौर लाग्यो याते तुल्ययोगिता। लक्षण कंठाभरने। वर्निकौ अथवा अवर्निनकौ एक धर्म्म तुल्ययोगिता त्रिबिधि विचारी है। फूले सषा सषी नैन॥ ३॥

दोहा

तू मति मानै मुकतई, दिए कपट बित कोटि।
जो गुन ही तो राषिए, आँखिन माँहि अगोटि॥ ४॥

टीका—जो उक्ति काहू साध की होइ तौ चित्त सो जानिए। वितर्क संचारी ने पोष्यौ निर्वेद स्थाई सो कथन अनुभाव से सांत रस व्यंगि॥—जो सखी की उक्ति होइ नाइक प्रति तो, ईर्षा संचारी। भेदोपाय ते मान जानिए। पर्यायोक्ति अलंकार। पर्यायोक्ति प्रकार द्वै कछु रंचना सों बात। मिस करि कारज

कीजिए, जैसो चित हि सुहात। अमर—।, नाइक सठ। तहाँ सखी-वचन नाइका सौं। जो गुनही गुनहगार है तो आँखिन ही मैं राखि, कपट रूरी बित देइ तोऊ मुकतई छूटनो उनको मति मानि। संभावनालंकार। जैा तैा पद जहँ होइ। संभावना तँहँ जोइ। (कोटि सो कोट गढ़। तू मति के बिषै सूँ मानै, सो मान को मुकतई सो दूरि करि।—कोटि कपट दिपै दुष्ट सवीतै योग्य नहीं। श्रौर जो योग्य ही है तो अंग सो पर्वतरूप श्रीकृष्ण तिनकों आँखिन माँहि अंगोट सो राखियै। अंग श्रोट ऐसो पद कह्यो। दीप थंभ गिर—गज, इति कविप्रियायाम्। श्रौर साधु की उक्ति में जो गुन सो भजन। साधन को श्रौर जोग जैा तैा पै नहीं बनि आवै तैा श्रौर अर्थ पूर्ववत्॥)—श्रीप्रताप—कपट कित रूपक। लक्षण रसरहस्ये। उपमान रु उपमेय को भेद परे नहिं जानि। समता व्यंगि रहै जहाँ रूपक ताहि वषानि॥ ४॥

दोहा

अहै कहै न कहा कह्यौ, तोसों नंदकिसोर।
बड़ बोली कत होति बलि, बड़े द्रगन के जोर॥ ५॥

टीका—सखी की उक्ति मानिनी नायका सों। लोकोक्ति अलंकार। कहनावति है। लोक की उक्ति लोकोक्ति सोइ॥—अमर प्रश्न अकहै कहा बड़ बोल है इही प्रश्न इहि ठाम। उत्तर। अहै कहै जु नकार तू यहै बोल बड़ बाम। फेरि प्रश्न। सुतो नकार न बोल बड़ जहाँ सुनो अरु अर्थ। तिया पियहि अपमान सौं बोली सुनो समर्थ॥ तोसों नंदकिसोर कहि कह्यो यही बड़ बैन। तहाँ प्रश्न तो अहै पद, पिय प्रति शब्द बनै न। उत्तर। तिया सषी सौं कहति कछु धरै मान मन देन। कहै क्यों न तू कहति है, इहि सों इहि विध बैन। कहा कहयौ तोसौं सु मैं, कबहूँ नंदकिशोर। मों सो पूछति सुनि सखी, बोली जिय पिय श्रोर॥ बड़ बोली कत होति है कहि सु अनादर बैन। तोसौं यैां कहि बोलियत, इनसो लहि बड़ नैन॥ उत्तरालंकार॥ प्रत्युत्तर जहँ

उत्तर कहिए सोइ। (सोह्याँ नाइका की, सखी नाइक सौं पूछति है। नंदकिसोर तोसौं वा नायका ने कहा कह्यौ। जानौं तू बलरावल हतौ। उत्तरार्द्ध मैं उक्ति सषी की। सो नाइका की सखी कहै है। ता नाइका की सखी सौं तू तेरी नाइका के कहे सूँ तू करि बोलै है सो तेरी नाइका बड़बोली है ॥) —श्रीप्रताप— वकार तें वृत्या। लच्छण भाषाभूषनं। वृत्य एक बहु वर्ण की बहु विर समता धारि। ललचाहैं चप सूँ ललन, चाहति चपला नारि ॥ ५ ॥ इति।

(अंत्य से—पृ० १८७ से १८८ तक में से)

(प्रस्तावित अन्योक्ति नामक षोडस प्रकास)

दोहा

गढ़ रचना बरुनी अलक चितवन भौंह कमान।
आघवकाई ही बढ़ै तरुनि तुरंगम तान ॥ १ ॥

टीका—सिक्रामाति भाव धुनि। प्रस्ताविका दीपक। असर—दीपकालंकार। लच्छण। उपमान रु उपमेय मौं इक पद लागैं होइ। गढ़ आदिक सब ठाँ लग्यै आघवकाई सोइ ॥ श्रीप्रताप—प्रस्ताविक अन्योक्ति के प्रकरन मैं अनवर अमर श्रीप्रताप कौ लेप एक सौ जानियै ॥ १ ॥

दोहा

अनियारे दीरघ द्रगनि किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू जिंह बस होत सुजान ॥ २ ॥

टीका—प्रस्तावी भेदकातिसयोक्ति। असर—इहाँ व्यतिरेक भेदकातिसयोक्ति। सब पर मैं इक अधिकई व्यतिरेक की युक्ति। औरै पद जहँ होत अति वहै भेदकातिसयोक्ति ॥ द्रग करि बहु तिय सम लसैं पै यह अलिता एक। वसि सुजान करिबो सगुन वरयम कहत अनेक ॥ और यह प्रगट ही है यातैं भेदकातिसयोक्ति जानियैं ॥ २ ॥

दोहा

गिरि तैं ऊँचे रसिक मन, बूड़े जहाँ हजार।
वहै सदा पशु नरन कौं, प्रेम पयोधि पगार ॥ ११ ॥

टीका—प्रस्ताविक अवर काव्य। पर्यायोक्ति अलंकार। अमर।—प्रश्न। कह्यो रसिक बूड़न कठिन तरिबो सिंधु सरूप। सुगम कह्यौ पसु नरन कौं, है पगार के रूप॥ यह असमंजस बात अरु, कह पगार को भाव। कढ़त न नीकी भाँति ह्याँ अर्थ कहो कविराव॥ उत्तर—। साधु गिरनता उच्चता, यातैं गिर उपमान। मूढ़न पसु उपमा प्रसिध जिनकौ अबुध बखान॥ गिर सुभाव बूड़न सु ज्यौं, तरिबो पसुनि सुभाव। सो तहँ प्रेम पयोधि मैं, कहे दुहुन के भाव॥ ज्यौं बारिध मैं नीर पर धरै कोइ गिर लाइ। सो निहचै बूड़े लहै तरनि संग तरि जाइ॥ जानै सिंधु महातमैं सीतल गति दुति देइ। जहाँ सु पसु जल मैं परै सो तरि तीरहि लेइ॥ रतन संग महिमा जलधि, नहिं सीतलता ताहि। जैसैं रसिकन प्रेम रस लाभ बहुत विधि चाहि। रतन संग ज्यौं साधु सँग प्रभु महिमा रसलीन। मूढ़ सु प्रेम बखान ही रस न भिद्यौ, हिय दीन॥ रूप प्रेमपयोधि पसु नर इत्यादि (वृत्या)॥ श्रीप्रताप—। संबंधातिसयोक्ति। वृत्या लक्षण। संबंधातिसयोक्ति जो देत अजोगहि जोग। या पुर के मंदिर कहैं ससि तैं ऊँचे लोग। वृत्या पूर्वोक्त ॥ ११ ॥

दोहा

प्यासे दुपहर जेठ के थके सबै जल सोधि।
मरुधर पाय मतीरहू, मारू कहत पयोधि॥ २१॥

(पृ० १८८)

टीका—अवर काव्य। प्रस्ताविक दोहा। काव्यलिंग अलंकार। प्यासे दुपहर मैं पथिक पावत मधुर मतीर। तब वे मारू सौं कहत यह पयोधि है घीर॥ वार्ता। पयोधि सब्द चोरसागर व्यंगि। यह कि मतीर सौं भूख प्यास दोऊ पथिकन की

गई।. तातें पयोधि कह्यौ। तहाँ प्रश्न। पथिक कहाँ जान्यौं परै सब्द माँहि इहि ठौर ॥ यहाँ कह्यौ मारू कहत पयोनिधि अर्थ न और ॥ उत्तर—सब जल सोधि फिरे तहाँ मारू जन ते नाँहि। वे तौ जल जानत वचन यातें पथिक लखाँहि ॥ महा प्यास में विरस जल सोऊ सुखदा होइ। इहाँ देस की श्रेष्ठता देत मधुर जल सोइ ॥ प्रहर्षन अलंकार। वांछित तें जहँ अधिक फल द्वितिय प्रहर्षन जानि। जल सोधत है तहँ लह्यो मधुर मतीर सु आनि ॥ २१ ॥

दोहा

इक भीजे चहलैं परैं, बूड़ैं बहैं हजार।
कितौ न औगुन जग करै, वै नै चढ़ती बार ॥ ४४ ॥

(पृ० १९३)

टीका—प्रस्ताविक। रूपक ताकौ पोषक। दीपक अरु श्लेष है यातें यहाँ संकर कहिए। अमर प्रश्न—। नदी चढ़े के पछ लगै भीजैं आदि निहारि। वय के चढ़ै सु किम तहाँ, भीजनादि विधि न्यारि ॥ उत्तर—भीजनादि के रूप में है सुभ चारि प्रकार। उहाँ वैस की दरस सौं चारि प्रकार विचार ॥ श्रवण सुपन औ चित्र पुनि, प्रतच्छ लखत इहि भाइ। लगन क्रम क्रम सुदृ, परनैं पर अधिकाइ ॥ जिन वय सुनी सु दुख भयो भीजन कौ सो चाहि। जिँहिं सुपनै देखी सु छबि, चहलैं परैं सुचाहि ॥ चित्र देखि बूड़न सम, दुख सु भयौ तन रूप। प्रतिछ माँहि बहिबौ सुदुख हे अपार जु सरूप ॥ इहाँ उल्लासालंकार है ताको लच्छन। इक के गुन तैं दोष जँहँ सो उल्लास कवि भूप। नैवै को चढ़िबो सुगुन औरहि दोष सरूप ॥ श्रीप्रताप—किते न औगुन जग करैं कह काका। इति पस्ताविका—॥

अथ अन्योक्ति

दोहा

मोरचंद्रिका स्याम सिर, चढ़ि कत करत गुमान।
लखबी पाइल पर लुठत, सुनियत राधा मान ॥ ४६ ॥

(पृ० १९३)

टीका—अन्योक्ति अलंकार कहियैं। जहाँ डारि सिर और के कहै और की बात। तासौं अन्योक्ति कहत हैं जे कविता सरसात ॥ भ्रमर—प्रिये मान कीनौं कहूँ सुधि न प्रियहिं तिहिं बार। कोऊ सखि सुधि देत कहि, लखि हरि सजत सिंगार। निकट सखी तिहिं सौं कहति, सौतव अचन सुनाइ। गरब करत कत चंद्रिका लखवी पर-सत पाइ॥ प्रश्न :-गर्ब सु क्योंकार जानियैं, कहा चंद्रिका माँहि। उत्तर—यह गर्व निज उच्चता मानति सो सम नाहिं। इहाँ द्वितिय पर्यायोक्ति अलंकार। लच्छन—पर्यायोक्ति सुजानियें कछु रचना सों बात। सूधै मान कह्यो नहीं कह्यौ रचन सरसात। श्रीप्रताप—। स्याम सिर। कत करत। पाइन परत। छेका। अनवर ने अन्योक्ति लिखी सो उपादान लच्छिना करि सिद्ध भई। जैसें फूलन के गजरे लखौ खेलत चौपरि चारु। जहाँ अपनौं अर्थ बनायवे के लियैं और अर्थ जानि लीजै सो उपादान लच्छना। इहाँ गजरेन वारे हाथ जानियै। तैसे ही मोर चंद्रिका तें मोरचंद्रिका वारो जानियै। इति-रसरहस्ये। मोरचंद्रिका कौ गुमान करिबौ नहीं संभवै तातें मोर-चंद्रिकावारो जानियै॥

दोहा

नहिं पराग नहिं मधुरमधु, नहिं विकास इहिं काल।
अली कली ही सौं बिंध्यौ, आगे कौन हवाल॥ ५२॥

(पू० १८४)

टीका—। अन्योक्ति। भ्रमर प्रश्न—। अली कली सौं नहिं बँधत रसिकन सिसुता माहिं। कहिये विधि समझाइ कैं, दुजौ संभवित नाहिं॥ उत्तर—। नहिं पराग माधुर्जता मधु जौ रसताहीन। नहिं विकास इहिं काल है लपियौ रसिक अधीन। अन्योक्ति स्पष्ट॥

दोहा

विषम वृषादित की तृषा, जिए मतीरन सोधि।
अमित अपार अगाध जल, मारौ मूड़ पयोधि॥ ७४॥

(पू० १८७)

टीका—। अन्योक्ति। अमर—। काहू कौ कार्ज लघु ही तैं सिद्ध भयो तातैं अन्योक्ति॥

दोहा

इह हैं ही मोती सु गथ, तू नथ गर्व निसाक।
जिह पहिरैं जग दृग दसत लसत हसत सी नाक॥ ७५॥
(पृ० १८७)

टीका—। अन्योक्ति। अमर—। काहू कौ कार्ज लघु ही तैं। इहाँ काव्यलिंग अलंकार है। ताकौ लच्छन। काव्यलिंग सामर्थता जहँ दृढ़ करी दिखात। मुकतन बढ़ि सामर्थता जिन सों नाक लसात॥ श्रीप्रताप—अन्योक्ति॥—(इति अन्योक्ति)

दोहा

"मैं निज मति माफक कियौ, कविमत कौ परकास।
लीजौ सुमति सुधारि कैं, जिन कैं बुद्धि बिलास॥ १॥"

यह लेख अनवर कौ। अनवर खाँ नैं जे लिपे-अलंकार चित लाइ। अमर नै सु तिनसों अधिक लिपे अलंकृत पाइ॥ २॥ छेका-वृत्यानुप्रास ये षोडस षोडस जानि। लाटा तीन सु तेरहैं, जमक लिखी अधिकानि॥ ३॥ है सत अरु च्यालीस ये अरथ अलंकृत देषि। सत्य सु अनवर नै लिषे, ये हूँ सत्य सु लेखि॥ ४॥ अमरचंद्रिका ग्रंथ कौं पढ़ैं गुनैं चित लाइ। बुधि प्रकास परवीनता ताहि देत हरि-राइ॥ ५॥ अनवरखाँ अरु अमर तैं भूषन अधिक सु जोइ। श्री प्रताप की चंद्रिका बिषै लिखे कवि जोइ॥ ६॥ छेका पैंसठि वृत्य हैं एक सौ रु इकतीस। लाटा उनतीसैं जमक द्वै अधिकी सुनि बीस॥ ७॥ तीन सै रु त्रेसठि सु ये अरथ अलंकृत देखि। लीजे सु कवि बिचारि कैं जो बर बुद्धि बिसेषि॥ ८॥ प्राचीनन नैं जो लिखे सो है ही या माँहि। नूतन की संख्या लिखी सो सु बिचारहु आहि॥ ९॥ नृप नाथ सु कै हैं सबै कवि पंडित समुदाय। **मनी-राम** भूषन लिखैं तिनकी सिच्छा पाइ॥ १०॥ कंठाभरन, कविप्रिया, भाषाभूषन देषि। रसरहस्य रत्नाकर सु औरहु मतन बिसेषि॥ ११॥

नूतन भूषन सौं कहौ तिनकौ मतन विचारि। **मनीराम** बिनती करै भूल्यो नेहु सुधारि ॥ १२ ॥

इति श्रीमन्महाराजाधिराज महाराजा श्री सवाई प्रतापसिंह चंद्रिकायां प्रस्ताविक अन्योक्ति वर्नन षोडसो प्रकास ॥१६॥

पुस्तक संपूर्णम्। श्रीरस्तु कल्याणमस्तु।

"श्री प्रतापचंद्रिका" पर नोट

यह हस्तलिखित ग्रंथ बिहारी-सतसई की पद्यात्मक सम्पूर्ण टीका है। इसके अंदर दोहों का क्रम "अनवरचंद्रिका" के अनुसार सोलह प्रकाशों में इस प्रकार है—

संख्या—प्रकाशनाम	"छंद—दोहा सोरठा" संख्या—विशेष		विशेष
१ "राजवंशवर्नन"—	५८	कवित्त दोहे	इस प्रकास में राजवंश-कविवंश—टीका का उपोद्घात—मनीराम कवि ने महाराज के हुक्म से बनाई है जिसका वर्णन इत्यादि। टीका तो दूसरे प्रकासमें है।
२ "साधारण नायका वर्नन"।	३५	दोहे की टीका	
३ "सिखनख वर्नन"।	५९	,,	
४ "मुग्धादि नायका वर्नन"।	२१	,,	
५ "स्वाधीनपतिका अष्टनायका"।	११५	,,	
६ "रूपगर्वितादि नायका"।	४	,,	
७ "मानिनी नायका"।	४६	,,	
८ "सुरति सुरतांत नायका"।	२९	,,	
९ "परकीया नायका"।	१४३	,,	
१० "दसदसा वर्णन"।	१४	,,	
११ "सात्विक भाव वर्नन"।	१०	,,	
१२ "मद्यपान वर्नन"।	७	,,	
१३ "हाव वर्नन"।	११	,,	
१४ "शृंगारादि नवरस तथा भाव वर्नन"।	८२	,,	शृंगार वीर करुणादि।
१५ "षटऋतु वर्नन"।	४३	,,	वसंतादिक ...
१६ "प्रस्ताविक-अन्योक्ति को वर्नन"।	७५	,,	प्रस्ताविक-नीति-अन्योक्ति

इन १५ प्रकासों में बिहारी के ७२३ (सात सौ तेईस) दोहे, सोरठे हैं। ७०० से जो अधिक हैं इनकी छानबीन करना एक समय, परिश्रम, और अनुष्ठान का कार्य्य है। परंतु साधारणतया बिहारी के असल दोहे सब इसमें आ गए। प्रथम प्रकाश उपो-द्घात रूप ही है। इसमें बिहारी कवि के रचे कोई छंद नहीं हैं। इसमें तो टीका के प्रधान निर्माता **मनीराम कवीश्वर** कृत ही ५० छंद हैं। यह मनीराम महाराज प्रतापसिंहजी की "कवि बाईसी में" से मुख्यों में एक थे। जैसे गणपतिजी कवीश्वर थे, जो गुरू भी माने गए थे॥

इस टीका में (१) **अनवरचंद्रिका** और **अमरचंद्रिका**—इन दो टीकाओं—बिहारी सतसई की-से-प्रधानतया उद्धरण लेकर फिर उस पर "**श्री प्रताप**" ऐसा लिखकर मनीरामजी ने अपनी टीका लिखी है, जिसमें जिन अलंकारों का उक्त दोनों टीकाओं में उल्लेख रह गया है उसको दिया है, कहीं उन टीकाओं पर टिप्पण और समालोचना आदि हैं। अर्थ और भावार्थ के खोलने में प्रायः कष्ट कहीं भी नहीं किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि यह टीका केवल कवि-कोविदों के अधिकार और पात्रता भाव से की गई होगी। टीका में सर्वत्र अलंकारों पर दृष्टि विशेषता से, तथा नायक नायिका, रस, भाव आदि पर विधिपूर्वक है। अन्य रीति-ग्रंथों के प्रमाण भी दिए हैं। परंतु वे अर्थ के स्पष्टीकरण के निमित्त नहीं, अपितु अलंकार, सिद्धांत, वा विशेषता सिद्धि के निमित्त ही हैं। १ आदि (प्रकाश) में राजवंश वर्णन के अनंतर कवि के विशेप लक्ष्य (फरासीसी) **पुर्तगाली** विद्वान् हकीम "**मार-टिन**" "**डी सेलवा**" के कुल और उनकी योग्यता का भी वर्णन है। इन विज्ञ हकीमजी की भी इस टीका में सहायता रही है। इनके वर्णन में यूरोप की अन्य ईसाई जातियों वा देशों के नाम भी आ गए हैं। स्यात् ये नाम भी उक्त हकीमजी के बताए हुए प्रतीत होते हैं।

इस एक टीका से अन्य दो अतिप्रसिद्ध और सारभरी टीकाओं "अनवरचंद्रिका" और "अमरचंद्रिका" के दर्शन भी हो जाते हैं। और उभय कविता-सार-पारंगत विद्वानों की योग्यता का परिचय उत्तमता से हो जाता है। महाराज श्री प्रतापसिंहजी के साहित्य-मर्मज्ञ कविताप्रेमी और कवि-समादरकारी तथा विद्याप्रचारकारी होने का एक उज्ज्वल प्रमाण इस ग्रंथ के निर्माण कराने से ज्ञात हो जाता है। उनके समय में, उनके प्रताप से, सैकड़ों ग्रंथ बने हैं, ऐसा हमको प्रतिभावित हो गया है, जिसकी चर्चा समय समय पर यथासंभव इसी प्रकार की जायगी। और स्वयं महाराज एक प्रसिद्ध आशु कवि साहित्य पारगामी कला-विशारद भगवद्भक्त विद्वान् थे। फिर उनके पास कवि और गुणिजनों का संघटन तो उचित ही था। उनकी "कविबाईसी" जैसी एक रत्नावली प्रख्यात है, ऐसे ही उनकी "ग्रंथ-बाईसी" प्रकीर्तित है। फिर उनकी परख से इस टीका में दो नामी टीकाकारों के उद्धरण वा हवाले के साथ अपने यहाँ के नामी कवि द्वारा परिशिष्ट टीका को देकर यह "प्रतापचंद्रिका" बिहारी के काव्य के गौरव को स्पष्ट दिखाने में चंद्रिका ही मानौं है, और उसका प्रकाश अन्य दो चंद्रिकाओं से और भी बढ़ गया है। दोहों की संख्या ७२३ होती है, जैसा कि ऊपर कहा है। अंत में अनवर का अभिप्राय लिखकर मनिराम कवि ने अपना अभिप्राय लिखा है। महाराज की सभा के अन्य कवियों की सम्मति भी ली है जैसा कि "तिन सिच्छा पाई" से प्रगट होता है। तथा रसरहस्य (कुलपति मिश्र का), कविप्रिया (केशवदास की), भाषा-भूषन (म० जसवंतसिंहजी का), अलंकार-रत्नाकर (कवि दलपति राय वंशीधर का), कवित्त-रत्नाकर (सेनापति का), कविकंठाभरण (कवि दूलह का), और "इत्यादि" शब्द से हरिकवि की टीका भाषा-भूषण के ऊपर, आदि ग्रंथ तथा जिनके नाम तो दिए नहीं पर अभिप्राय लेकर लिख दिया है।

यह "प्रतापचंद्रिका", जिसको कवि ने "प्रतापसिंह चंद्रिका" ऐसा ही लिखा है, संवत् १८४२ में बनी है। मनीराम कवि ने प्रारंभ के ३४ वें छंद में लिखा है—

दोहा

"**अष्टादस ब्यालीस** (१८४२) भनि संवत माधव मास।
सुकल पच्छ गुरु पंचमी, किय चंद्रिका प्रकास" ॥३४॥

महाराजा सवाई प्रतापसिंहजी (कविता नाम 'ब्रजनिधि') अपने बड़े भाई प्रथीसिंहजी के परलोकगामी होने पर संवत् १८३४ में राजगद्दी पर विराजे, और संवत् १८५६ में वैकुंठवासी हुए। इससे यह टीका महाराज के राज्यकाल के (आठवें) वर्ष में बनी थी, जब महाराज की अवस्था २१-२२ वर्ष की थी, अर्थात् पूर्ण युवावस्था थी, और ऐसी उत्कृष्ट कविता से उनको बड़ा ही प्रेम था, जिसमें भगवत् संबंधी शृंगार और प्रेम रस हो।

टीकाकार मनीराम कवि की कविता के नमूने ऊपर दिए गए हैं। उन्होंने कोई अन्य स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखा था या नहीं, इसका पता अब तक नहीं चला। परंतु यह कवि-बाईसी में थे यह प्रतीत होता है। यद्यपि इनकी कविता रीति-ग्रंथकारों की सी तो नहीं है, तथापि अच्छी है। इस टीका को बनाकर उन्होंने बड़ा काम किया, और साथ ही अनवरचंद्रिका और अमरचंद्रिका टीकाओं को भी अमर कर दिया।

इस हस्तलिखित पुस्तक का आकार १२ × ९ अंगुल का है। जयपुरी देशी कागज पर साधारण अक्षरों से प्रायः शुद्ध लिखी हुई है। पन्ने १९८ हैं (जिसके २९६ पृष्ठ हुए), प्रति पृष्ठ पर प्रायः १९ पंक्तियाँ और प्रति पंक्ति में २४-२५ अक्षर हैं। यों अनुमानतः पाँच हजार चार सौ अनुष्टुप् संख्या का ग्रंथ है।

परंतु बीच में १२९ से १३६ तक के ८ पन्ने नहीं हैं। यह कमी अवश्य है। जब तक दूसरी प्रति न हो, पूर्ति नहीं हो सकती।

इस टीका (प्रतापचंद्रिका) का उल्लेख "नागरीप्रचारिणी पत्रिका" भाग ६ अंक ३ के पृ० १३७—१४१ पर हुआ है। परंतु वह विवरण अपूर्ण है। कवि ने टीका-निर्माण का संवत् १८४२ स्पष्ट लिख दिया है;

अष्टादस ब्यालीस (१८४२) भनि संवत् माधव मास।
सुकल पच्छ गुरु पंचमी, किय चंद्रिका प्रकास ॥३४॥

और कुछ कुछ अपना परिचय भी दिया है। इसके १५ प्रकरणों के जोड़ से ७२३ दोहे होते हैं। प्रथम प्रकाश में (अनवरचंद्रिका की नकल पर) राजवंश, कविवंश, ग्रंथप्रशंसा, संवत् आदि भी दिए हैं। फिर १५ प्रकाशों में प्रकरणबद्ध क्रम अनवरचंद्रिका का लिया है।

यह कवि **मनीराम** तँवर (तोमर) राजपूतों का पुरोहित या गुरु या आश्रित होगा। महाराज प्रतापसिंहजी जयपुरवालों का यह कवि कुछ मनभाँवता और उनके प्रसिद्ध हकीम और मुसाहिब पुर्तगाली विद्वान् 'मारटीन डी सेलवा (DeSalva)' का कृपापात्र प्रतीत होता है। अनंगपाल तँवर से जब दिल्ली छुटी तब उसने फिरता फिरता पाटन (राज्य जयपुर इलाका निजामत तोरावाटी हाल) में आकर राज्य किया था। तभी से यह इलाका "तँवरापाटी" कहाया, जो अब राज्य जयपुर में है। महाराज प्रतापसिंहजी के एक महाराणी तँवरजी भी थीं जो संपतसिंह तँवर पाटणवाले की बेटी थीं। इनका विवाह संवत् १८४४ में पाटण ही में हुआ था। संभव है कि यह कवि पाटण से आया हुआ हो। परंतु यह विवाह, टीका के बन जाने से दो वर्ष पीछे हुआ है। टीका के प्रथम प्रकाश के छंद १८ (दोहे) में मनीराम ने "इंद्रगिरि" लिखा है। यह स्यात् "इंद्रगढ़" हो, जो जयपुर के अधिकार में रहा है और अब तक इंद्रगढ़ का मामला (कर) राज्य जयपुर में आ रहा है। इंद्रगढ़ के राठौर राजा राजसिंह के भाई अणँदसिंह की बेटी राठोड़जी महाराजा माधोसिंहजी (जयसिंह सवाई के पुत्र) को ब्याही थीं, अर्थात् यह राठोड़जी प्रतापसिंहजी की

माँई भा थाँ। संभव है, इन संबंधों से यह तँवरों का ब्राह्मण कवि राज्य जयपुर में आ बसा हो और अपने संबंध वा गुण से राजा तक उसकी पहुँच हुई हो। निश्चित बात अधिक खोज से प्राप्त हो सकती है। ऊपर के (प्रथम प्रकाश के १७, १८) दोहों में कवि मनीराम ने अपने कुल का कुछ वर्णन किया है—

"अनंगपाल नृप बंश के पुज्य सु **रैखाराम**।
तिनके तनय **मुकंदजू** विद्याधन के धाम ॥ १७ ॥
मनीराम तिनके तनय राज **इंद्रगिरि** सेय।
पाई विद्या मान धन सुजस सु कहत अमेय ॥ १८ ॥"

इन दोहों में कवि का पिता **मुकंद(राम)** और प्रपिता **रेखाराम** है और वे तँवर (अनंगपाल वंशज) राजपूतों के पूज्य (पुरोहित वा विद्यागुरु) थे। उनका धनवान्, विद्वान्, गुणवान् और प्रतिष्ठावान् भी होना पाया जाता है। "पाई विद्या" शब्द से, कवि का जयपुर में विद्या पढ़कर गुणवान् होना लख पड़ता है। अतः इसका पिता या प्रपिता कोई पहले से जयपुर में आकर बसे होंगे। "इंद्रगिरि सेय" इंद्रगढ़ के निवास या आश्रय को प्रगट करता है। हमको इस मनीराम का अभी अधिक पता नहीं चल सका है। ढूँढ़ने पर मिल जायगा तो फिर इसके विषय में लिखेंगे। यह अटकल ही समझिए। इसको कोई महाराज का काव्य गुरु भी बताते हैं और 'कविबाईसी' में होना तो प्रगट ही है।

जयपुर के प्रख्यात विद्वान् महामहोपाध्याय महोच्चवाग्मी महोपदेशक विद्यारत्न संस्कृत पाठशाला के प्रधानाध्यक्ष चतुर्वेदी श्रीगिरिधर शर्म्माजी के अधिकार से, उनकी कृपा से, यह टीका दृष्टिगोचर हुई। तदर्थ हार्दिक कृतज्ञता।

(१७) आचार्य कवि केशवदास

[लेखक—श्री पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, एम० ए०]

निर्गुण भक्ति ने विदेशी अत्याचार के नीचे पिसती हुई जनता के हृदय की नैराश्यजन्य शुष्कता को कविता के क्रोड़ में संचित कर दिया था। कबीर की तल्लीनता यद्यपि सरस्वती की वीणा की झंकार की मधुरता को समय समय पर बलात् उनकी जिह्वा पर लाकर बैठा देती थी, फिर भी उनके पीछे बहुत दिन तक यह बात न चल सकी। परंपरा संप्रदायों का प्रवर्तन कर सकती है पर कविता को अपने आँचल में बाँध नहीं ले जा सकती। परंपरा के पालन के लिये कही गई साखियों या शब्दों में न कविता का अंतरंग आ पाया और न बहिरंग। और आ भी कैसे सकता था? कविता का अंतरंग या आत्मा भावों की तीव्रता है जिनका उद्भव हृदय की तल्लीनता के बिना असंभव है। और वैसे तो बहिरंग सौंदर्य अंतरंग सौंदर्य का अनुसरण करता है पर कभी कभी स्वाभाविक बाह्य सौंदर्य की वृद्धि के लिये बाहरी उपाय भी काम में लाए जाते हैं। इसके लिये साहित्य शास्त्र का ज्ञान अपेक्षित है। इन दोनों बातों से ये 'निर्गुनिए' साधु कोरे होते थे। न उनमें भावुकता होती थी और न पांडित्य ही। अधिक से अधिक मूल्य मानने पर उनकी वाणियाँ रूखी-सूखी भाषा में लिखे गए दर्शन ग्रंथ मात्र कहे जा सकते हैं जिनका एक मात्र उद्देश्य वैराग्योत्पादन था, (यद्यपि दार्शनिक भी उनके दर्शन ग्रंथ कहे जाने पर आपत्ति कर सकते हैं।) इसलिये वे तभी तक जनता को आकर्षित कर सकते थे जब तक उसे जीवन अप्रिय लगता रहा। परंतु जब मुगलों ने भारतवासी होकर भारत पर शासन करना आरंभ किया और लोगों को जीवन की सामान्य आवश्यकताओं के उपस्कर उपलब्ध होने

प्रयोजन

लगे तब यह स्वाभाविक था कि इन फीकी बातों से हटकर उनकी रुचि सरसता और सुंदरता की ओर झुकती। समय की इसी प्रवृत्ति ने साहित्य-क्षेत्र में एक ओर सगुण भक्ति का और दूसरी ओर साहित्य शास्त्र-चर्चा का वह प्रवाह चलाया जिसे किसी उपयुक्त नाम के अभाव में रीति-प्रवाह कह सकते हैं। सूर, तुलसी आदि सगुण-भक्त कवियों ने वैराग्य-विमोहित कविता में अंतरात्मा को फूँकने का प्रयत्न किया और रीति के आचार्य उसके बहिरंग को सँवार कर उसका ठाटबाट खड़ा करने में यत्नवान् हुए। आगे चलकर मुगल दरबार की बढ़ती हुई शानो-शौकत तथा ऐशो-इश्रत ने, जिसकी नकल करने में भारतीय राजाओं ने आपस में स्पर्द्धा दिखाई, केशव-दास द्वारा प्रवर्तित रीति-प्रवाह को इतनी उत्तेजना दी कि भक्ति-प्रवाह थम सा गया और साहित्य-क्षेत्र में रीति-प्रवाह का ही साम्राज्य हो गया यद्यपि स्वयं केशव ने भी भक्ति-प्रवाह में कुछ योग दिया था।

केशव को रीति-प्रवाह का प्रवर्तक कहने से हमारा यह तात्पर्य नहीं कि हिंदी में उन्होंने पहले पहल साहित्य शास्त्र पर कलम चलाई। उनसे पहले भी साहित्य-शास्त्र के अंगों पर ग्रंथ लिखे जा चुके थे। हिंदी साहित्य के इतिहास में पुष्य नामक कवि सबसे पहला कवि समझा जाता है। शिवसिंह सेंगर ने ७०० विक्रमाब्द में इसका होना लिखा है। कहते हैं,

आचार्यत्व

उसने अलंकार पर ही अपना ग्रंथ लिखा था जो अब मिलता नहीं। गोप कवि ने भी अलंकार के दो छोटे छोटे ग्रंथ लिखे थे पर वे भी अप्राप्य हैं। हिंदी-साहित्य-शास्त्र संबंधी सबसे पुरानी प्राप्य पुस्तकें मोहन का शृंगार-सागर और कृपाराम की हिततरंगिनी हैं जो अकबर के राजत्वकाल में रची गई थीं। इसी समय के लगभग रहीम ने बरवै छंदों में 'नायिकाभेद' लिखा और कर्णेश ने कर्णाभरण, श्रुतिभूषण और भूपभूषण तीन छोटे छोटे ग्रंथ लिखे। हिततरंगिणी में अत्यंत संक्षेप में रस का निरूपण है, शृंगार-सागर में केवल शृंगार रस का वर्णन है और कर्णेश के ग्रंथ अलंकार

पर हैं०। स्वयं केशव के बड़े भाई बलभद्र ने नखशिख और दूषण विचार पर लिखा था। परंतु ये सब उथले और क्षीण प्रयत्न थे और लोकरुचि के परिवर्तन की दिशा के संकेतक होने पर भी साहित्य-शास्त्र के लिये विस्तीर्ण और अप्रतिबंध मार्ग न खोल सके। इस दिशा में सबसे पहला विस्तृत और गंभीर प्रयत्न केशव ही का था और यद्यपि उनके मत को हिंदी में साहित्य-शास्त्र पर लिखनेवालों ने आधार रूप से नहीं ग्रहण किया, फिर भी उन्होंने लोगों की प्रवृत्ति को एक विशेष दिशा की ओर पूर्णतया मोड़ दिया। इसी लिये वे रीति-प्रवाह के प्रवर्तक और प्रथम आचार्य माने जाते हैं। वे केवल लेखिनी के ही मुँह से बोलनेवाले आचार्य नहीं थे, व्यावहारिक आचार्य भी थे। अपनी शिष्या प्रवीणराय के प्रतिनिधित्व से उन्होंने कवि-समुदाय को कविता के बाह्य रूप की बनावट सिखाने का काम अपने हाथ में लिया था, और उस काम को करने के लिये वे सर्वथा योग्य भी थे। आचार्य में जिन गुणों का होना आवश्यक है वे सब केशव में वर्तमान थे। वे संस्कृत के भारी पंडित थे, साहित्य-शास्त्र के पूर्ण ज्ञाता थे, विद्वान थे, प्रतिभासंपन्न थे और इंद्रजीतसिंह के मुसाहिब, मंत्री और राजगुरु होने के कारण ऐसे स्थान पर भी थे जहाँ से वे लोगों में अपने लिये आदर-बुद्धि उत्पन्न कर सकते और अपने प्रभाव को बहुत गुरु बना सकते। केशव की ६ पुस्तकों में से रामालंकृतमंजरी, कविप्रिया और रसिकप्रिया साहित्य-शास्त्र से संबंध रखती हैं। रामालंकृतमंजरी पिंगल पर लिखी गई है, कविप्रिया अलंकार ग्रंथ है और रसिकप्रिया में रस, नायिकाभेद, वृत्ति आदि बातों पर विचार किया गया है। रामालंकृतमंजरी अभी छपी नहीं है। कहते हैं, उसकी एक हस्तलिखित प्रति ओड़छा दरबार के पुस्तकालय में है।

जहाँ तक संभव होता है हिंदी सभी विद्याओं के लिये संस्कृत की ओर मुड़ती है, यह उसका दायाधिकार है। केशव ने भी हिंदी साहित्य शास्त्र के उत्पादन में अपने संस्कृत ज्ञान से लाभ

उठाया। केशव का समय संस्कृत साहित्य शास्त्र के इतिहास का वह युग है जिसमें संकलन और संश्लेषण का क्रम जोरों पर था। प्राचीन रसमार्ग आलंकारिकों और रीतिमार्गियों के प्रचंड आक्रमणों को सहकर भी मम्मट आदि नवीन रसमार्गियों के प्रयत्न से अपने उचित स्थान पर प्रतिष्ठित हो गया था। ध्वनिमार्ग आगे चलकर उसकी प्रतिद्वंद्विता में खड़ा हुआ था पर वह भी उसका पोषक बन बैठा था। यद्यपि रस के वास्तविक स्वरूप के विषय में अप्पय दीक्षित और पंडितराज जगन्नाथ के वाद-विवाद के लिये अभी स्थान था पर फिर भी शास्त्रकारों ने यह निश्चित कर लिया था कि काव्य में सारभूत अंतरंग वस्तु रस है और अलंकार रीति और ध्वनि अपनी शक्ति के अनुसार उसके सहायक हैं, विरोधी नहीं, और न्यूनाधिक रूप से सभी का काव्य से स्थायी संबंध है। अतएव साहित्य-शास्त्रकार अब विरोधी मतों से बहुत कुछ विरोधी अंश निकालकर साहित्य-शास्त्र के भिन्न भिन्न अंगों के सामंजस्य से एक पूर्ण पद्धति बना रहे थे। विश्वनाथ का साहित्य-दर्पण और उसके समान अन्य ग्रंथ इसी प्रयत्न के फल थे। वैसे तो कवित्व शक्ति ईश्वरीय देन है; कहा भी है कि कवि जन्म से होता है बनाने से नहीं, पर साहित्य शास्त्र के नियम बन जाने पर उन लोगों को भी कवि बनने का चस्का लगने लगा जो सहज कवि न थे। ऐसे लोगों की आवश्यकता की पूर्ति के लिये आचार्यों ने विषयों का भी वशीकरण कर दिया। कवि को किन किन विषयों पर कविता करनी चाहिए किन पर नहीं, उसे क्या क्या अनुभव होने चाहिएँ आदि बातें उनके अभ्यास के लिये लिखी गईं। इस प्रकार कवि शिक्षा पर लिखा जाने लगा। केशव इन्हीं पिछले ढंग के आचार्यों में हैं। संस्कृत से चली आती हुई इसी परंपरा को उन्होंने हिंदी में जारी रखा।

केशवदास ने कवि-शिक्षा का विषय कोट काँगड़ा के राजा माणिक्यचंद्र के आश्रय में रहनेवाले केशव मिश्र के अलंकारशेखर नामक ग्रंथ के वर्णक रत्न (अध्याय) से लिया है। अलंकार-

शेखर कविप्रिया के कोई ३० वर्ष पहले लिखा गया होगा। इसके वर्णक रत्न में केशव मिश्र ने उन विषयों का वर्णन किया है जिन पर कविता की जानी चाहिए यथा भिन्न भिन्न रंग, नदी, नगर, सूर्योदय, राजाओं की चर्या आदि। केशवदास ने इन विषयों को वर्णालंकार और वर्ण्यालंकार इन दो भागों में बाँटा है। वर्णालंकार के अंतर्गत भिन्न भिन्न रंग लिए गए हैं और शेष वर्णनीय विषय वर्ण्यालंकार में हैं। अलंकार शब्द का यह विलक्षण प्रयोग है। शास्त्रीय शब्द अलंकार के लिये केशवदास ने विशेषालंकार शब्द का व्यवहार किया है। इस प्रकार केशव ने अलंकार का अर्थ विस्तृत कर दिया जिसके वर्णालंकार, वर्ण्यालंकार और विशेषालंकार तीन भेद हो गए। विशेषालंकारों अर्थात् काव्यालंकारों के विषय में केशवदास ने विशेष कर दंडी का अनुसरण किया है। अध्याय के अध्याय काव्यप्रकाश से लिए गए हैं। कहीं कहीं राजानक रुय्यक से भी सामग्री ली गई है। विषय-प्रतिपादन के साधारण ढंग को सामयिक परंपरा से प्राप्त करने पर भी प्रधान अंगों पर बहुत पुराने आचार्यों का आश्रय लेने का फल यह हुआ कि रस की मिठास का मूल्य अलंकारों की झनझनाहट के सामने कुछ न रह गया। साहित्य शास्त्र के साम्राज्य में रस को पदच्युत होकर अलंकार की प्रधानता स्वीकार करनी पड़ी और रसवत् अलंकार के रूप में उसका छत्रवाहक होना पड़ा। पुराने रीतिमार्गी आचार्य इतनी दूर तक नहीं गए थे; वे रसवत् अलंकार वहीं मानते थे जहाँ एक रस दूसरे रस का पोषक होकर आवे किंतु केशव की व्यवस्था के अनुसार जहाँ कहीं रसमय वर्णन हो वहाँ रसवत् अलंकार हो जाता है। सूक्ष्म-भेद-विधान की ओर केशव ने बहुत रुचि दिखलाई है। उन्होंने उपमा के बाईस और श्लेष के तेरह भेद बताए हैं। केवल संख्या-वृद्धि के उद्देश्य से भी कुछ अलंकार ऐसे रखे गए हैं जिन्हें शास्त्रीय अर्थ में अलंकार नहीं कह सकते, जैसे प्रेमालंकार और ऊर्जालंकार। जहाँ प्रेम का वर्णन हो वहाँ प्रेमालंकार और

जहाँ और सहायकों के कम हो जाने पर भी अलंकार बना रहे वहाँ ऊर्जालंकार। प्रेम के वर्णन से काव्य की शोभा बढ़ सकती है पर वह अलंकार नहीं हो सकता। गाल की नैसर्गिक गुलाबी सौंदर्य को बढ़ा सकती है पर आप उसे पेंट और पाउडर या सिंदूर और लाक्षारस के साथ श्रृंगार की पिटारी में नहीं रख सकते। रसिकप्रिया में रस, नायिकाभेद, वृत्ति आदि विषयों का परंपरानुबद्ध वर्णन किया गया है। भेदोपभेद-विधान की तत्परता उसमें भी अधिकता से दिखाई गई है। नायिकाओं का (पद्मिनी, चित्रिणी आदि) जातिनिर्णय भी काव्यशास्त्र के अंतर्गत ले लिया गया है यद्यपि उसका कामशास्त्र से ही संबंध है। स्वयं केशव की कविता में पवित्रता का अभाव नहीं है पर आगे चलकर इस प्रवृत्ति ने कविता के पावित्र्य पर कुठाराघात किया और कविता को कामोद्दीपन की सामग्री बना दिया। रसिक काव्य-रस का प्रेमी नहीं रहा, स्त्रियों से छेड़छाड़ पसंद करनेवाला हो गया।

केशव केसन अस करी जस अरिहू न कराहिं।
चंद्रबदनि मृगलोचनी बाबा कहि कहि जाहिं॥

यह रसिकता के उदाहरणरूप में पेश किया जाता है। स्नान के घाट कवियों के अड्डे हो गए।

इन ग्रंथों में केशव का बहुत शक्तिमान प्रयत्न निहित है जिससे उनकी इतनी धाक बैठी कि लोकरुचि के विशेष दिशा में मुड़ जाने पर भी बहुत समय तक किसी को इस विषय पर कलम उठाने का साहस न हुआ। पर जब लोगों ने लिखना आरंभ किया तो आचार्यों की बाढ़ सी आ गई। सभी नायिकाभेद, नखशिख, अलंकार और रस पर लिखने लगे। इन पर लिखे बिना कवि-कर्म अधूरा समझा जाने लगा। पर केशव को कोई भी आधार बनाकर नहीं चला और यह उचित ही हुआ, क्योंकि केशव भारतीय साहित्य शास्त्र की प्रगति के इतिहास की कई शताब्दियाँ निगल जाना चाहते थे। उनके बाद जयदेव के 'चंद्रालोक' आदि ग्रंथों का अनुसरण

किया गया। राजा जसवंतसिंह का सर्वप्रिय ग्रंथ भाषाभूषण इसी चंद्रालोक का छायानुवाद है।

हम देख चुके हैं कि ऐतिहासिक कारणों से भी रीति-प्रवाह को भारी उत्तेजना मिली जिसका आरंभ में उल्लेख किया जा चुका है। इस सब का फल यह हुआ कि कविता में आडंबर और कृत्रिमता ने अपना घर कर लिया, अंतरंग की अपेक्षा होने लगी और अंत में शब्दों की टेढ़ी मेढ़ी करामात और रीति की रीती खड़खड़ाहट ही कविता समझी जाने लगी। हद तक पहुँच जाने पर इस प्रवाह ने पलटा खाया और प्रतिफल में आज लोग दूसरी हद तक पहुँचना चाहते हैं। कविता के बहिरंग को वे केवल अपने ही भाग्य पर नहीं छोड़ देना चाहते, बाधा मानकर विद्वेष की दृष्टि से भी देखते हैं। हिंदी की वर्तमान छायावादी कविता इसी मार्ग का अनुसरण कर रही है।

इसमें संदेह नहीं कि अंतरात्मा बाह्य रूप से हर हालत में महत्त्वपूर्ण होती है, परंतु बाह्य रूप भी निरर्थक नहीं। उसकी अपनी उपयोगिता है। अंतरंग आँखों के सामने नहीं रहता, वह हमेशा छिपा रहता है। उसको देखने के लिये तीव्र अंतर्दृष्टि और उसका आनंदोपभोग करने के लिये कोमल हृदय चाहिए जो हर एक में नहीं हो सकता। परंतु बाहरी सौंदर्य के सबके दृष्टिपथ पर खुले रहने से पहले तो अनायास ही सब उसके पास खिंचे आते हैं, आगे चलकर मेल-जोल बढ़ जाने पर विरक्ति हो जाय तो हो जाय। कितने लोग हैं जो किसी युवती के बाह्य रूप पर मोहित होने के लिये उसके आंतरिक सौंदर्य को देखने तक ठहरे रहते हैं? मनोहर संगीत को सुनकर हरिणी जो मुग्ध हो जाती है वह उसके भाव को समझकर या तद्गत रस को अवगत कर नहीं! कविता में जो नादात्मक सौंदर्य होता है वह इसी बाह्यरूप के अंतर्गत है। यदि बाह्य रूप की कुछ उपयोगिता ही न होती तो संस्कृत के धुरंधर साहित्याचार्य रीति अलंकार या

अंतरंग और बहिरंग का तारतम्य

वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा कह डालने की भीषण गलती करने को बाध्य न होते। और कुछ न सही तो इतना मानना पड़ेगा कि यह बाह्य रूप जन साधारण को काव्य की ओर आकृष्ट करता है जिससे काव्य के साथ संपर्क रहने से धीरे धीरे उनमें उत्कृष्ट काव्य को समझने तथा उसके रस का आनंद उठाने की योग्यता आ जाती है। साहित्यिकों की भाषा में कह सकते हैं कि वे सहृदय हो जाते हैं क्योंकि सहृदयता सहजात ही नहीं होती, जन्म के उपरांत पड़नेवाले प्रभावों का फल भी हो सकती है जिनमें काव्य जगत् से संपर्क भी एक है। इस संपर्क का प्रभाव उस अवस्था में और भी आशामय हो जाता है जब पाठक वा श्रोता के सामने बाहरी ठाट के साथ अंतरात्मा भी हो। कोरे ठाट बाट से काम न चलेगा। पूरा प्रभाव तभी पड़ सकता है जब यह बाहरी ठाट बाट स्वयं साध्य न होकर उस दूसरे प्रभाव का साधन हो जो कुछ स्थायित्व लिए हो, जो हमारे मर्म को छूकर हमारे अस्तित्व का अपरिज्ञेय भाग होकर ठहरे। ऐसा होने से फिर विरक्ति की वह आशंका रह ही नहीं जाती जो अभी अभी कुछ समय हुए उठी थी। अतएव बहिरंग सौंदर्य को अंतरंग सौंदर्य का सहायक होना चाहिए, और उतनी ही मात्रा में होना चाहिए जितनी में वह सौंदर्य की परिभाषा के अंदर रह सके। उसका इतना बाहुल्य न हो कि कविता बेचारी उसके नीचे दिखाई ही न पड़े या कुचलकर उसकी दुर्दशा हो जाय। जूड़े के साथ गुथा हुआ एक पुष्प, फूलों का एक गजरा या मोतियों की एक लड़ी या और कोई स्वल्प आभरण ललना के लावण्य को बढ़ा सकता है पर यदि उसके नाक, कान फोड़कर या उसे सुफेद अथवा पीली धातु या रंग-बिरंगे पत्थरों से लादकर यह प्रभाव लाया चाहो तो कैसे बन सकता है? कहने का तात्पर्य यह है कि साध्य को साधन के लिये बलिदान नहीं कर देना चाहिए।

बहिरंग के लिये अंतरात्मा के बलिदान की सबसे बड़ी आशंका तब होती है जब लक्षणकार स्वयं कवि बन बैठता है। साहित्य-

शास्त्र कविता का व्याकरण है। कविता ही उसकी सृष्टि का कारण है। अतएव उसे कविता का अनुगमन करना चाहिए, उसका अग्रगामी नहीं बनना चाहिए। लक्षणकार का कर्तव्य है कि वह अपने लक्षणों के उदाहरण कविता के साम्राज्य से ढूँढ़ ढूँढ़कर प्रस्तुत करे उसे अपने आप उन्हें गढ़ने का जबर्दस्ती प्रयत्न न करना चाहिए। मनुष्य-शरीर के पार्थिव तत्त्वों का विश्लेषण किया जा सकता है परंतु वह रासायनिक विश्लेषक यदि चाहे कि उन तत्त्वों के मेल से जीता जागता मनुष्य खड़ा कर दे तो यह असंभव है, इसके लिये परमात्मा ने दूसरी ही प्रयोगशाला बनाई है। साहित्य शास्त्र के नियम भी कविता के विश्लेषण के परिणाम हैं। उनके ही आधार पर कविता का ढाँचा भर खड़ा किया जा सकता है जो कितना ही सुंदर क्यों न हो आखिर निर्जीव ढाँचा ही तो है। केशवदास ने अपने लक्षण ग्रंथों में कुछ स्वतंत्र चिंतन और समन्वय-बुद्धि का परिचय दिया है परंतु जबर्दस्ती स्वयं ही उदाहरण गढ़ने का एक ऐसा आदर्श उन्होंने अपने अनुयायियों के सामने रखा जिससे साहित्य शास्त्र और काव्य-साम्राज्य दोनों का अहित हुआ। आचार्य लोग साहित्य के विश्लेषण से नवीन नियमों का अन्वेषण कर उसके रहस्यों के उद्घाटन का कार्य छोड़कर उदाहरण ही गढ़ने में अपनी शक्ति व्यय करने लगे। इससे साहित्य शास्त्र में तो कोई उन्नति न हुई, हाँ, कविता के भांडार में असली के साथ साथ नकली सिक्के खूब भर गए; वहाँ की बात ही दूसरी है जहाँ सामयिक लहर में पड़कर कवियों को लक्षणकार बनना पड़ा।

केशव की रचनाएँ लक्षणों और उदाहरणों में ही समाप्त नहीं हो जातीं। ऊपर कहे गए लक्षण ग्रंथों के अतिरिक्त उन्होंने और

कवित्व

चार ग्रंथों की रचना की। रामचंद्रिका, जहाँगीर-जस-चंद्रिका, वीरसिंहदेवचरित और विज्ञानगीता। जहाँगीर-जस-चंद्रिका और वीरसिंहदेव-चरित क्रमशः जहाँगीर और वीरसिंहदेव की प्रशंसा में लिखे गए हैं। विज्ञानगीता

एक प्रकार से प्रायः निर्गुण भक्ति का ही विरक्ति प्रचारक अवशेष है। रामचंद्रिका केशव की सबसे उत्कृष्ट रचना है पर उसकी रचना भी ऐसी मालूम होती है कि मानो भिन्न भिन्न लक्षणों के उदाहरण स्वरूप रचे गए पद्यों का तरतीबवार संग्रह हो। दूषणों तक के उदाहरण उसमें मिलते हैं। छंदों की ओर दृष्टि डालने से तो यह पिंगल का सा ग्रंथ मालूम पड़ता है। आदि में एकाक्षरी से लेकर कई अक्षरों तक के छंदों का क्रमशः एक ही स्थान पर मिलना इस विचार को पुष्ट करता है कि हो न हो केशव रामचंद्रिका के पहले पिंगल ही का ग्रंथ बना रहे थे, परंतु विषय की संभावनाओं तथा सगुणभक्ति के प्रवाह में योग देने की इच्छा से उन्होंने उसे वह रूप दे डाला जो हमें आज पढ़ने को मिलता है। रामालंकृतमंजरी केशव का बनाया हुआ एक पिंगल ग्रंथ है, यह हम कह चुके हैं। रामचंद्रिका की कुछ हस्त-लिखित प्रतियों में कुछ छंदों के नीचे यथा 'रामालंकृत-मंजर्यां' लिखकर उन छंदों के लक्षण लिखे हैं। संभव है रामचंद्रिका रामालंकृतमंजरी का परिवर्तित या परिवर्धित रूप हो या ये छंद रामालंकृतमंजरी में दिए गए हों। रामचंद्रिका के बहुत से छंद कविप्रिया में भी उदाहरण स्वरूप दिए गए हैं। रामालंकृतमंजरी का समय तो ज्ञात नहीं पर यदि कविप्रिया और रामचंद्रिका का समय ज्ञात न होता तो हमारी यही कहने की प्रवृत्ति होती कि यह ग्रंथ भिन्न भिन्न लक्षण ग्रंथों से संकलित कर संगृहीत किया गया है। बाबा बेनीमाधवदास ने अपने मूल गुसाईंचरित में लिखा है कि एक बार केशवदासजी तुलसीदासजी से मिलने गए, पर वे तुरंत ही उनके स्वागत के लिये न आ सके। केशवजी समझे कि इन्हें रामचरितमानस रचने का बड़ा गर्व हो गया है, उसे दूर करना चाहिए। उलटे पाँवों वापिस आकर उन्होंने एक ही रात में रामचंद्रिका बनाकर तुलसीदासजी को दिखा दी। रामचंद्रिका सरीखे बृहद् ग्रंथ को एक ही रात में नकल कर सकना भी असंभव नहीं तो अत्यंत कठिन अवश्य है, उसे रचने की तो बात दूर रही। क्या यह प्रका-

रांतर से यह सूचित करने के लिये तो नहीं कहा गया है कि रामचंद्रिका एक संग्रह ग्रंथ मात्र है। गंभीर प्रकृति के लोगों को यह सब निरर्थक प्रलाप मालूम होगा। इसके बल पर हम यह भी नहीं कहना चाहते कि अवश्य ही रामचंद्रिका लक्षणों के उदाहरणों का संग्रह है, पर इतना अवश्य है कि रामचंद्रिका को लिखते समय केशव की आँखों के सामने वे लक्षण सर्वदा बने रहते थे जिन्हें उन्होंने आगे चलकर ग्रंथ रूप में प्रकट किया। इसी से रामचंद्रिका में भी कविता का आभ्यंतर कम आ पाया है। कविता के अंतरंग और बहिरंग का जिक्र हम ऊपर कर चुके हैं। कवि के साधन की ओर दृष्टि रखकर इन्हीं को 'हृदय-पक्ष' और 'कला-पक्ष' कहा जाता है। हृदय का संबंध हमारे रागों या भावों से है और कला बुद्धि की उपज है। हिंदी में सच्ची आलोचना के प्रवर्तक श्रद्धेय गुरुवर पंडित रामचंद्र शुक्ल के अनुसार 'कविता' वह साधन है जो सारी सृष्टि से हमारा रागात्मक संबंध स्थापित करता है। यह काम न गढ़े हुए उदाहरणों, या फर्मायशी पद्यों से हो सकता है और न चाटुकारी के लिये की गई झूठी प्रशंसा से। हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि लक्षणों के उदाहरण रूप में या राजाओं की तारीफ में उत्कृष्ट काव्य हो ही नहीं सकता। यह इस बात पर निर्भर है कि रचयिता के रागों का अपने वर्ण्य विषय से कितना घना संबंध है। भूषण का शिवराजभूषण भी अलंकार ग्रंथ है और एक राजा की प्रशंसा में लिखा गया है। फिर भी भूषण का काव्य उत्कृष्ट काव्य है, क्योंकि भूषण की प्रशंसा झूठी प्रशंसा नहीं है। केशव की शब्दावली का व्यवहार करें तो उनकी 'सत्यभाषिणी मति' है। यह मतलब नहीं कि कवि बिलकुल सच बोले। कवि-सत्य साधारण या वास्तविक सत्य नहीं होता, हार्दिक सत्य होता है। जिस बात को कवि सत्य समझता है, चाहे वह झूठ ही क्यों न हो, इस प्रकार कहना कि श्रोता भी उसे ठीक उसी भाव में समझ जाय जिस भाव में कवि समझता है, अर्थात् उसमें उसकी वृत्ति रम जाय कवि-सत्य कहाता

है। परंतु यह बात तब तक नहीं हो सकती जब तक स्वयं कवि की वृत्ति उसमें न रमी हो, जब तक स्वयं उसे अपने कथन की सत्यता पर अटल विश्वास न हो। कवि को जब किसी बात की सत्यता में पूर्ण विश्वास हो जाता है तब उसकी मांगलिकता का, उसके सौंदर्य का, उसके आनंद का वह स्वयं ही उपभोग नहीं कर सकता क्योंकि वह स्वार्थी नहीं होता। वह चाहता है कि सारा संसार उसके आनंद को बाँटकर बढ़ावे, और जब तक वह उस सत्य के संदेश को कह नहीं डालता तब तक उमंग का एक बोझ उसके हृदय पर पड़ा रहता है जो उसे चैन नहीं लेने देता। यही बेचैनी कवि की वाणी को वह अबाध प्रवाह, वह अप्रतिहत गति देती है जो सीधे श्रोता या पाठक के अंतस्तल में पहुँचकर वहाँ भी उथल पुथल मचा देती है। भूषण के दिल में ऐसी ही बेचैनी थी। १८,००,००० की थैली, १८ हाथी और १८ गाँव पाने की नीयत से उसने अपना 'इंद्र जिमि जंभ पर बाडव सुअंभ पर' वाला कवित्त नहीं कहा था, बल्कि अपने दिल के गुबार बाहर निकालकर उसे हलका करने के लिये, हिंदुत्व के संदेश को जन साधारण के दिल की गहराई तक पहुँचाने के लिये, उसकी रचा के सत्य स्वरूप को प्रत्यक्ष करने के लिये। शिवाजी और भूषण को अलग अलग व्यक्ति नहीं समझना चाहिए। वे एक ही घटनावली के दो पक्ष थे। हिंदुत्व की प्रदीप्त आत्मा कर्म-क्षेत्र में शिवाजी और भावना-क्षेत्र में भूषण के रूप में जाज्वल्यमती हुई। भूषण भावना-क्षेत्र के शिवाजी थे और शिवाजी कर्म-क्षेत्र के भूषण। परंतु क्या केशव के विषय में ऐसी कोई बात कही जा सकती है? क्या उसमें वह बेचैनी नजर आती है, क्या वह रागात्मक तल्लीनता दिखाई देती है जिसके कारण भूषण का काव्य उच्च कोटि के काव्य में परिगणित होने के योग्य हुआ है? 'अपयश की गोली' खिलाने योग्य बीरबल, केशव को ६,००,००० का दान देने पर, उसी दम ऐसे यश का भागी हो जाता है कि उनके दान के प्रभाव से—

भूलि गयो जग की रचना चतुरानन बाय रह्यौ मुख चारयो।

इंद्रजीत की भी उन्होंने इसलिये प्रशंसा नहीं की कि उनमें कुछ ऐसे गुण थे कि जिनके कारण कवि का मन उमंगित होता है और उसके हृदय में सद्भावनाएँ उद्दीप्त होती हैं किंतु इसलिये कि उनके

'राज केसौदास राज सो करत है।'

केशवदास राजा की तरह रहते थे, यह सुनकर आजकल के अपुरस्कृत कवियों के दिल से 'आह' भले ही निकल जाय पर इंद्रजीत-सिंह अथवा वीरसिंहदेव के साथ जनसाधारण के चित्त का कोई रागात्मक संबंध नहीं जुड़ सकता, जब कि शिवाजी उद्भट योधा, निर्बलों के रक्षक और स्वतंत्रता के उपासक होने के कारण बलात् चित्त की वृत्तियों को अपनी ओर खींच लेते हैं। यही कारण है कि वीरसिंहदेव-चरित और जहाँगीरजसचंद्रिका के नाम साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में ही मिलते हैं। रामचंद्रिका का पठन पाठन भी इने गिने धुरंधर पंडितों तक ही परिमित रहा। रामचंद्रिका के आज बहुत से प्रशंसक मिल सकते हैं परंतु उन्हें यदि जरा टटोलकर देखिए तो यह जानकर आपको आश्चर्य होगा कि वे रामचंद्रिका का नाम ही नाम जानते हैं (, किसी इम्तहान के लिये विवश होकर पढ़नी ही पड़ी हो तो बात दूसरी है)। रामचंद्रिका का नाम राम-कथा की महिमा से हुआ है, केशव की कविता की हृदयस्पर्शिता से नहीं। संक्षेप में, केशव के काव्य में हमें रागात्मक तत्त्व बहुत थोड़ा मिलता है।

इसका कारण यह जान पड़ता है कि उनका निरीक्षण बहुत परिमित था, उन्होंने देखने का प्रयत्न ही नहीं किया। मनुष्यजीवन तो उनकी आँखों में कुछ पड़ भी गया था पर प्रकृति में अंतर्हित जीवन का स्पंदन वे नहीं देख पाए। मनुष्यजीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं में जहाँ उनकी दृष्टि गई है वहाँ उनकी भावुकता भी जाग्रत हो गई है। कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं—

उसके सुख को देखकर जलनेवाली सौत को और जलाने की कौशल्या की यह इच्छा कितनी स्वाभाविक है,

रहौ चुप ह्वै सुत क्यों बन जाहु
न देखि सकैं तिनके उर दाहु;

और जो नासमझी और चारित्रिक निर्बलता के कारण अपने ही प्रिय का अपकारी बन जाय ऐसे आदरणीय के प्रति भी यह उपेक्षा और झुँझलाहट भी—

लगी अब बाप तुम्हारेहिं बाइ।

किसी अपने ही मुँह से अपनी तारीफ करनेवाले की गर्वोक्तियाँ सुनकर दिल में खुद बखुद तानेजनी की जो उमंग उठती है उसे परशुराम के प्रति भरत के इस कथन में देखिए—

हैहय मारे नृपति सँहारे सो यश लै किन युग युग जीजै।

दूसरे ही प्रकार के प्रसंग में यही भाव मैथ्यू आर्नल्ड ने इस प्रकार प्रकाशित किया है—

टेक हीड लेस्ट मेन शुड से
लाइक सम ओल्ड माइज़र, रुस्तम होर्ड्स हिज़ फ़ेम
ऐंड शंस टु पेरिल इट विद यंगर मेन।

प्रभाव प्रकारांतर से दोनों का एक ही पड़ता है। भड़काने का यह अच्छा तरीका है।

भय और लज्जा से मनुष्य किस प्रकार सिकुड़ जाता है, वह रावण के सामने सीता की उस दशा में दिखाया गया है जिसमें उन्होंने

सबै अंग लै अंग ही में दुरायो।

मनुष्य पर जब घोर आपत्ति आती है तब वह पागल सा हो जाता है। वियोग भी ऐसी ही आपत्ति है, जिसमें वियुक्त अपनी सुध-बुध भूल जाता है, अपनी परिस्थिति को नहीं देखता, कंकड़ पत्थर से भी प्रश्न करके उत्तर की प्रतीक्षा करता है। परंतु यह पागलपन मानसिक अव्यवस्था का फल नहीं होता बल्कि प्रियाभिमुख अत्यंत सजग राग का निकास है। हनुमान राम की मुद्रिका साथ ले आए थे जिसको दिखाकर उन्होंने सीता को विश्वास दिलाया कि मैं राम का ही दूत हूँ। उस मुँदरी के प्रति सीताजी के इस भावपूर्ण कथन में भी यही बात देखने को मिलती है—

श्रीपुर में बन मध्य हौं, तू मग करी अनीति;
कहि मुँदरी अब तियन की को करिहै परतीति ?
कहि कुशल मुद्रिके ! रामगात.........

परंतु यह निरीक्षण भी इतना पूर्ण नहीं था कि बहुत दूर तक केशव की सहायता कर सकता। कई मर्मस्पर्शी घटनाओं का भी उन्होंने ऐसा वर्णन किया है जिससे मालूम होता है कि मनुष्य की मनोवृत्तियों को वे बहुत ही कम समझ पाए थे। यहाँ पर एक ही उदाहरण देंगे।

रामचंद्र कपट मृग को मारने गए थे। 'हा लक्ष्मण' शब्द सुनकर सीता ने सोचा कि राम लक्ष्मण को, सहायता के लिये, बुला रहे हैं पर लक्ष्मण ने सीता को अकेला छोड़ना ठीक नहीं समझा तब

'राजपुत्रिका कह्यो सो और को कहै, सुनै।'

लक्ष्मण को जाना पड़ा। वे सीता को अभिमंत्रित रेखा के बाहर आने की मनाही कर चले गए। कपटयोगी रावण को भिक्षा देने के लिये सीता ने लक्ष्मण की शिक्षा का उल्लंघन किया और रावण से हरी गई। तब वे विलखने लगीं—

हा राम, हा रमन, हा रघुनाथ धीर।
लंकाधिनाथ वश जानहुँ मोहि वीर॥
हा पुत्र लक्ष्मण छोड़ावहु वेगि मोहीं।
मार्तंडवंश यश की सब लाज तोहीं॥

यदि केशव मनोवृत्तियों से परिचित होते तो इस अवसर पर इस अपील में उनकी सीता अपना हृदय खोलकर रख देतीं; अपनी निस्सहाय अवस्था का जिक्र करतीं, अपने हर्ता की क्रूरता का जिक्र करतीं, उसे कोसतीं, केवल लंकाधिनाथ कहकर न रह जातीं; लक्ष्मण को बुरा-भला कहने तथा उनका आदेश न मानने के लिये अपने आपको धिक्कारतीं, अपने पर व्यंग छोड़तीं। पर इस तार खबर में क्या है ? और कहाँ तक आत्मीयता झलकती है ? 'रमन' और 'पुत्र' को छोड़कर कौन बात ऐसी है जिसको आपत्ति में पड़ी हुई स्त्री

दूसरे के प्रति नहीं कह सकती ? पर कई ऐसे स्थल तो उन्होंने साफ छोड़ दिए हैं।

मनुष्यजीवन के अंदर तो उनकी अंतर्दृष्टि कुछ दिखाई भी देती है पर प्रकृति के जितने भी वर्णन उन्होंने दिए हैं वे प्रकृति-निरीक्षण का जरा भी परिचय नहीं देते। क्लिष्टता की दृष्टि से लोग उनकी तुलना मिल्टन से करते हैं। मिल्टन से उनकी इतनी और समानता है कि उन्होंने भी प्रकृति का परिचय कवि-परंपरा से पाया है। मिल्टन लावा (लार्क) पक्षी को खिड़की पर ला बैठाते हैं तो ये कहीं विहार की तरफ विश्वामित्र के तपोवन में—

एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहै

कह चलते हैं। मालूम होता है कि प्रकृति के बीच वे आँखें बंद करके जाते थे। क्योंकि प्रकृति के दर्शन से प्रकृत कवि के हृदय की भाँति उनका हृदय आनंद से नाच नहीं उठता। प्रकृति के सौंदर्य से उनका हृदय द्रवीभूत नहीं होता। उनके हृदय का वह विस्तार नहीं है जो प्रकृति में भी मनुष्य के सुख दुःख के लिये सहानुभूति ढूँढ़ सकता है, जीवन का स्पंदन देख सकता है, परमात्मा के अंतर्हित स्वरूप का आभास पा सकता है। फूल उनके लिये निरुद्देश्य फूलते हैं, नदियाँ बेमतलब बहती हैं, वायु निरर्थक चलती है। प्रकृति में वे कोई सौंदर्य नहीं देखते, बेर उन्हें भयानक लगती है, वर्षा काली का स्वरूप सामने लाती है और उदीयमान अरुणिमामय सूर्य कापालिक के शोणित भरे खप्पर का स्वरूप उपस्थित करता है। प्रकृति की सुंदरता केवल पुस्तकों में लिखी सुंदरता है। सीताजी के वीणावादन से मुग्ध होकर घिर आए हुए मयूर की शिखा, सूए की नाक, कोकिल का कंठ, हरिणी की आँखें, मराल के मंद मंद चाल चलनेवाले पाँव इसलिये उनके राम से इनाम नहीं पाते कि ये चीजें वस्तुतः सुंदर हैं* बल्कि इसलिये कि कवि इन्हें

---

* कबरी कुसुमालि सिखीन दई, गजकुंभनि हारनि शोभ मई।
मुकुता शुक सारिक नाक रचे, कटि-केहरि किंकिणि शोभ सचे॥
दुलरी कल कोकिल कंठ बनी, मृग खंजन अंजन भाँति ठनी।
नृप-हंसनि नूपुर शोभ गिरी, कल हंसनि कंठनि कंठ सिरी॥

परंपरा से सुंदर मानते चले आए हैं, नहीं तो इनमें कोई सुंदरता नहीं। इसी लिये सीताजी के मुख की प्रशंसा करते हुए वे कह गए हैं—

देखे भावे मुख अनदेखे कमल चंद।

कमल और चंद्रमा देखने में सुंदर नहीं लगते? हद हो गई हृदयहीनता की!

कल्पना की बे-पर की उड़ानें अलबत्त: केशव ने खूब मारी हैं। जहाँ किसी की कल्पना नहीं पहुँच सकती वहाँ उनकी कल्पना पहुँच जाती है। उनकी उत्कट कल्पना के नमूने रामचंद्रिका के किसी भी पन्ने को उलटकर देखने से मिल सकते हैं। यहाँ एक दो ही उदाहरण काफी होंगे—

लंका में आग लगी है—

कंचन को पघल्यो पुर पूर पयोनिधि में पसर्यो सो सुखी ह्वै।
गंग हजार मुखी गुनि 'केसौ' गिरा मिली मानो अपार मुखी ह्वै॥

अग्नि के बीच बैठी हुई सीता को देखकर उद्दीप्त हुई केशव की कल्पना अत्यंत चमत्कारक है—

महादेव के नेत्र की पुत्रिका सी, कि संग्राम की भूमि में चंडिका सी।
मनो रत्न सिंहासनस्था सची है, किधौं रागिनी राग पूरे रची है॥

पुस्तक में आगे पढ़ते चले जाइए, सारा वर्णन चमत्कार से परिपूर्ण मिलेगा पर इनकी कल्पना मस्तिष्क की उपज मात्र है, हृदय-जात नहीं। इसी से कभी कभी इनकी कल्पना ऐसे दृश्यों को अलंकार रूप में सामने लाती है जिनसे प्रस्तुत वस्तु का असली स्वरूप कुछ भी प्रत्यक्ष नहीं होता, पर जिसे प्रत्यक्ष करना अलंकारों का मुख्य उद्देश्य है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत वस्तु के बीच केवल किसी बात में बाहरी समानता ही नहीं होनी चाहिए, उन दोनों को एक समान भावनाओं का उद्भावक भी होना चाहिए। यदि आप मुलायम मलमल की श्वेतता की उपमा देते हुए बरसात की धुली हड्डी से उसकी समानता करना चाहें तो कहाँ तक उसके प्रति लोगों की रुचि को आकर्षित कर सकेंगे? हाँ मक्खन के साथ उसकी समानता करने

से अवश्य यह काम हो सकता है। मक्खन कोमल और श्वेत होने के साथ साथ प्रिय वस्तु है जब कि हड्डी कठोर तो है ही, घृणा भी पैदा करती है। केशव का बालारुणसूर्य को देखकर यह संदेह करना कि

कै श्रोणितकलित कपाल यह किल कपालिका काल को

हड्डीवाली उपमा ही के समान है।

इसके साथ संदेहालंकार के जो और पद्य हैं और जो एक उत्प्रेक्षा है वे इसके विरोध में कितने मनोरम लगते हैं—

अरुणगात अति प्रात पद्मिनी प्राणनाथ भय।
मानहुँ केशवदास कोकनद कोक प्रेममय॥
परिपूरण सिंदूर पूर कैधों मंगल-घट।
किधौं शक्र को छत्र मढ्यो मानिक मयूष पट॥
कै श्रोणितकलित कपाल यह किल कपालिका काल को।
यह ललित लाल कैधों लसत दिग्भामिनि के भाल को।

बस एक पंक्ति ने सारा गुड़ गोबर कर दिया है! कहीं कहीं तो प्रस्तुत वस्तु ऐसे अरुचिकर रूप में सामने आती है कि केशव की रुचि पर तरस आए बिना नहीं रहता। वे एक जगह रामचंद्र की उपमा उल्लू से दे गए हैं—

वासर की संपति उलूक ज्यों न चितवत।

और कहीं कहीं पर प्रस्तुत और अप्रस्तुत वस्तु में कुछ भी समानता नहीं होती, केवल शब्द-साम्य के बल पर अलंकार गढ़ लिए गए हैं। पंचवटी का यह वर्णन लीजिए—

पांडव की प्रतिमा सम लेखो, अर्जुन भीम महामति देखो।
है सुभगा सम दीपति पूरी, सिंदुर की तिलकावलि रूरी॥
राजति है यह ज्यों कुल कन्या, धाइ विराजति है सँग धन्या।
केलिथली जनु श्री गिरिजा की, शोभ धरे सितकंठ प्रभा की॥

अब बताइए अर्जुन से अर्जुन के पेड़ का, भीम से अम्लवेतस का, सिंदूर के तिलक से सिंदूर के पेड़ का और दूध पिलानेवाली धाय

से धाय के पेड़ का क्या सादृश्य है ? सिवाय इसके कि कोश में एक शब्द दोनों का पर्यायवाची मिलता है ? इसे यदि किसी का जी खिलवाड़ कहने का करे तो उसका इसमें क्या दोष ? इस शब्द-साम्य के कारण कहीं कहीं पर तो केशव के पद्य बिल्कुल पहेली हो गए हैं और खासकर वहाँ जहाँ उन्होंने सभंग पद श्लेष के द्वारा एक ही पद्य में दो दो, तीन तीन अर्थ ठूँसने का प्रयत्न किया है। 'जाको देन न चहै बिदाई, पूछै केशव की कविताई' का यही रहस्य है।

हाँ, तो केशवदासजी में कला पक्ष अत्यंत प्रबल है। उनकी बुद्धि प्रखर है और दरबारी होने के कारण उनका वाग्वैदग्ध्य ऊँचे दरजे का है। रामचंद्रिका सुंदर और सजीव वार्तालापों से भरी हुई है। व्यंजनाएँ कई स्थानों पर बहुत अच्छी हुई हैं पर वस्तु या अलंकार की, भाव की नहीं—

कैसे बँधायो ? जो सुंदरि तेरी छुई दृग सोवत पातक लेखो।

मैंने (हनुमान ने) तेरी सोती हुई स्त्री को देखा भर था इस पाप से बाँधा गया हूँ परंतु तेरी (रावण की) क्या दशा होगी जो पराई स्त्री को पाप बुद्धि से हर लाया है; यह व्यंजित है।

नए और लोकोपकारी विचारों की भी उन्होंने खूब उद्भावना की है। इसका सबसे अच्छा एक उदाहरण उस लथाड़ में है जो उन्होंने लव के मुँह से विभीषण को दिलाई है। जिस खूबी से रावण ने अंगद को फोड़ने का प्रयत्न किया था उससे उनकी राजनीतिज्ञता का परिचय मिलता है। अपनी इसी निपुणता के कारण वे वीरसिंहदेव का जुरमाना माफ कराने के लिये दिल्ली भेजे गए थे। राज्य-व्यवहार वे अच्छी तरह जानते थे। राज-सभा में रावण का आतंक प्रतिहारी की इस झिड़की में अंकित है—

पढ़ै बिरंचि मौन वेद जीव सोर छंडि रे,
कुबेर बेर कै कही न जच्छ भीर मंडि रे।
दिनेस जाइ दूरि बैठु नारदादि संग ही,
न बोलु चंद मंद बुद्धि, इंद्र की सभा नहीं ॥

जरा विषय के बाहर चला जा रहा था। संक्षेप में, अपने निरीक्षण से एकत्र की हुई सामग्री को विचारों के पुष्ट ढाँचे में ढालकर, उसे कल्पना का सौंदर्य देकर, तथा रागात्मिकता का उसमें जीवन फूँककर ही सफल कवि कविता का जीता जागता मनोहर रूप खड़ा कर सकता है। जिसमें ये सब बातें न होंगी उसे यद्यपि हम कवि कहने से इंकार न कर सकें तथापि सफल कवि कहने को बाध्य नहीं किए जा सकते। केशवजी में विचारों की पुष्टता है, कल्पना की उड़ान है, और यद्यपि रागात्मिकता का सर्वथा अभाव नहीं है फिर भी प्रायः अभाव ही सा है। निरीक्षण भी उनका एकदेशीय है जो मनुष्य के जीवन-व्यवहार ही से संबंध रखता है, मनुष्य की मनोवृत्तियों पर उनका उतना अधिकार नहीं है और प्रकृतिनिरीक्षण तो उनमें है ही नहीं। भाषा भी उनकी काव्योपयोगी नहीं है; माधुर्य और प्रसाद गुण से तो जैसे वे खार खाए बैठे थे। परंतु उनके नाम और उनकी करामात का ऐसा जादू है कि उन्हें महाकवि केशवदास कहे बिना जी ही नहीं मानता, यद्यपि कविता के प्रजातंत्र में 'महा' और 'लघु' के विचार के लिये स्थान नहीं है, क्योंकि कविता यदि सच्ची कविता है तो, चाहे वह एक पंक्ति हो या एक महाकाव्य, समान आदर की अधिकारिणी है और तदनुसार उनके रचयिता भी; वैसे तो महाकाव्य लिखनेवाले सैकड़ों महाकवि निकल आयँगे। परंतु यदि आदत से विवश होकर इस उपाधि का साहित्य-साम्राज्य में प्रयोग आवश्यक ही हो तो उसे तुलसी और सूर के लिये सुरक्षित रखना चाहिए। हाँ, हिंदी के नवरत्नों में (कविरत्नों में नहीं) केशव का स्थान वाद-विवाद की सीमा के बाहर है क्योंकि साहित्य-शास्त्र की गंभीर चर्चा के द्वारा उन्होंने हिंदी के साहित्यक्षेत्र में एक नवीन ही मार्ग खोल दिया, जिसकी ओर उनसे पहले लोगों का बहुत कम ध्यान गया था।

(१८) साहित्यिक ब्रजभाषा तथा उसके व्याकरण की सामग्री

[लेखक—श्री जगन्नाथदास रत्नाकर, बी० ए०]

जब आर्य जाति की बस्ती तथा सभ्यता उत्तरीय भारत में एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैल गई, तब भिन्न भिन्न प्रांतों के लोगों की बोलियों में भेद पड़ने लगा। इतने लंबे चौड़े तथा भिन्न भिन्न प्रांतिक प्रकृति रखनेवाले देश में एक ही प्रकार की बोली का होना भाषा के प्राकृत नियमों के विरुद्ध है, विशेषत: समाज की ऐसी दशा में, जब उसमें लिखने पढ़ने का प्रचार बहुत सामान्य हो, और छापे का प्रचार सर्वथा न हो। भाषा के सामान्य नियमों, अर्थात् सुखोच्चारण, शीघ्रता और असावधानी इत्यादि एवं प्रांतिक प्रभावों के कारण भाषा में शनै: शनै: कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है। पर प्रत्येक प्रांत की जनता की बोली में ठीक एक ही सा हेर फेर नहीं होता, जिसके कारण भिन्न भिन्न प्रांतों की बोलियों में कुछ कुछ भेद पड़ने लगता है, जो आरंभ में तो बहुत सूक्ष्म रहता है; पर शनै: शनै: बढ़कर भिन्न भिन्न प्रांतों की बोलियों को भिन्न भिन्न कर देता है। यह भिन्नता पड़ोसी प्रांतों की बोलियों में इतनी नहीं होती, जितनी दो दूरस्थ प्रांतों की बोलियों में। इसी कारण किसी एक केंद्र के चारों ओर कुछ दूर तक की बोलियों में एक प्रकार का साम्य होता है, और जब उस केंद्र से किसी प्रांत का अंतर अधिक हो जाता है, तब उस दूरस्थ प्रांत की बोली का प्रकार किसी अन्य केंद्र की बोली के मेल का हो जाता है। इस रीति पर विस्तृत देशों में बोलियों के कई केंद्र अर्थात् प्रकार स्थापित हो जाते हैं। एक एक प्रकार की बोलियों में कुछ ऐसी विशेषता रहती है, जिनसे आपस में तो वे मिलती हैं; पर अन्य प्रकार की बोलियों से भिन्न हो जाती हैं।

उक्त स्वाभाविक सिद्धांतों के अनुसार उत्तरीय भारत में बोलियों के तीन प्रादेशिक समूह हो गए थे—शौरसेनी, मागधी तथा पैशाची, जो अपने अपने क्षेत्रों में बोले जाते और प्राकृत कहलाते थे। शौरसेनी तथा मागधी बोलियों के प्रचार-क्षेत्र के विषय में तो विशेष मत-भेद नहीं है, पर पैशाची के क्षेत्र के विषय में अभी विद्वानों के भिन्न भिन्न मत हैं। स्थूल रूप से शौरसेनी बोलियों के प्रचार-क्षेत्र की पूर्वी सीमा प्रयाग के आसपास तक, पश्चिमी सीमा दिल्ली के आस-पास तक, उत्तरी सीमा हिमालय की तराई तक तथा दक्षिणी सीमा मध्य प्रदेश के एक बड़े भाग तक कही जा सकती है। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि उक्त क्षेत्र की पूर्वी तथा पश्चिमी सीमा-रेखाएँ प्रयाग तथा दिल्ली से ठीक उत्तर-दक्षिण नहीं जातीं, प्रत्युत प्रयाग तथा दिल्ली से दक्षिण जाने में वे पश्चिम की ओर और दिल्ली से उत्तर जाने में कुछ पूर्व की ओर झुकती हुई जाती हैं। इसी शौरसेनी क्षेत्र के पूर्व मागधी का क्षेत्र समझना चाहिए। पैशाची बोलियों के क्षेत्र के विषय में यद्यपि अभी एकमत नहीं है, तथापि पैशाची भाषा के रूप से जो व्याकरणों द्वारा लक्षित होता है, तथा और कई कारणों से उसका क्षेत्र शौरसेनी क्षेत्र के पश्चिम तथा पश्चिमोत्तर मानना समीचीन प्रतीत होता है।

ये तीनों क्षेत्र स्वयं भी ऐसे विस्तृत थे कि इनके भी भिन्न भिन्न प्रांतों की बोलियाँ एक ही सी न रह सकीं। उनमें भी पारस्परिक कुछ प्रभेद पड़ गए, यद्यपि उनमें वे मुख्य अवच्छेदक बने रहे, जो उनको अन्य क्षेत्र की बोलियों से अलग करते थे। अब प्रत्येक क्षेत्र में इस बात की आवश्यकता पड़ी कि उसके सब प्रांतों के निवासी आपस में सुगमता-पूर्वक वाग्व्यवहार कर तथा चिट्ठी-पत्री लिख सकें। इसके अतिरिक्त लिखे पढ़े लोगों के हृदय में यह अभि-लाषा भी उमँगने लगी कि उनकी कविता इत्यादि का प्रचार दूर तक हो। इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त लोग कुछ ऐसी भाषा लिखने पढ़ने लगे, जो यथासंभव अनेक प्रांतों के लोगों की

समझ में आ सकती थी। ऐसी भाषा के प्रयोग में उन्हें ऐसे शब्दों तथा रूपों का व्यवहार करना पड़ता था, जिनका प्रचार, ज्यों का त्यों अथवा किंचित् रूपांतर से कुछ न्यूनाधिक्य के साथ, अनेक प्रांतों में पाया जाता था, और ऐसे रूपों तथा शब्दों का परित्याग करना पड़ा, जो सर्वथा एकप्रांतीय थे। इस प्रकार होते होते, प्रत्येक क्षेत्र में लिखने पढ़ने के निमित्त एक ऐसी भाषा बन गई, जो अनेक प्रांतों के लोग सहज ही समझने तथा प्रयुक्त करने में समर्थ थे, और उसी में सामान्यतः लिखने पढ़ने का काम होने लगा। पहले तो प्रत्येक क्षेत्र के कुछ विशेष प्रांतों ही के लोग उसका व्यवहार करते रहे होंगे, पर उक्त प्रांतों के कुछ विशेष गौरवान्वित तथा उक्त नवीन भाषा के अधिक प्रचलित होने के कारण, अन्य प्रांतों के लोग भी उसी को सीख-साखकर काम में लाने लगे होंगे। बस फिर, इसी रीति पर प्रत्येक क्षेत्र में एक एक लिखने पढ़ने की भाषा, उस क्षेत्र के कई प्रांतों की बोलियों से न्यूनाधिक मिलती जुलती, तथा सबसे कुछ पृथक्, तैयार हो गई, जिसको शनैः शनैः कवियों इत्यादि ने परिमार्जित करके बस उस क्षेत्र की साहित्यिक भाषा बना लिया। ये भाषाएँ अपने अपने क्षेत्रों के नामों से विशिष्ट होकर शौरसेनी, मागधी तथा पैशाची प्राकृत कहलाने लगीं।

अब एक एक क्षेत्र में दो दो प्राकृत भाषाएँ, अर्थात् एक एक बोली, जो कि कुछ रूपांतर से भिन्न भिन्न प्रांतों में बोली जाती थी, और एक एक लिखने पढ़ने की भाषा, जो कि क्षेत्र भर में प्रायः एक सी होती थी, प्रयुक्त होने लगीं। पर कवियों तथा अन्य ग्रंथकारों को केवल एक प्रदेश में अपनी रचना के प्रचार होने से संतोष न हुआ। उनके हृदयों में यह लालसा तरंगित होने लगी कि उनके ग्रंथ उत्तरीय राष्ट्र भर में प्रचलित हों। इसके अतिरिक्त उपयोगी तथा धार्मिक ग्रंथों का देश भर में प्रचार होना आवश्यक भी था। इन बातों के निमित्त एक ऐसी भाषा की आवश्यकता हुई, जो तीनों क्षेत्रों की लिखने पढ़ने की भाषा से कुछ कुछ मिलती जुलती हो,

जिसमें सब क्षेत्रों के शिक्षित लोग उसको सहज ही सीख और समझ सकें। बस फिर, जिस प्रकार भिन्न भिन्न प्रांतों की बोलियों से लिखने पढ़ने की भाषाएँ बनीं, उसी प्रकार सब क्षेत्रों की लिखने पढ़ने की भाषाओं से एक राष्ट्रीय साहित्य प्राकृत बनकर काम में आने लगी। यह राष्ट्रीय प्राकृत महाराष्ट्री कहलाई, और संस्कृत की भाँति उच्च श्रेणी की कविता तथा अन्य उपयोगी ग्रंथों में प्रयुक्त होने लगी। सभ्य समाज के भद्र लोग उसको बोलने के काम में भी लाते थे।

इस साहित्यिक भाषा का ढाँचा मुख्यतः शौरसेनी प्राकृत के ढंग का था; पर इसमें मागधी तथा पैशाची के भी अनेक रंग ढंग मिश्रित थे। ऐसी राष्ट्रीय भाषा में शौरसेनी को प्रधान स्थान मिलने का एक कारण तो यह था कि शौरसेन प्रदेश महाभारत के समय ही से उत्तरीय भारतदेश में सबसे अग्रगण्य, पुनीत तथा श्रद्धेय समझा जाता था, और दूसरा तथा स्वाभाविक कारण उसकी स्थानिक स्थिति थी। वह प्रदेश मागधी तथा पैशाची क्षेत्रों के बीच में पड़ता था, जिसके कारण उक्त दोनों क्षेत्रों के लोग उसकी भाषा कुछ कुछ समझ लेते थे, क्योंकि किसी पंजाबी को बँगला भाषा समझने में अथवा किसी बंगाली को पंजाबी भाषा समझने में जितनी कठिनाई पड़ती है, उतनी कठिनाई पश्चिमोत्तर प्रादेशिक भाषा के समझने में न तो पंजाबी को पड़ती है और न बंगाली को।

महाराष्ट्री भाषा की उत्पत्ति के विषय में जो बातें ऊपर कही गई हैं, उनसे हमारा अभिप्राय यह नहीं कि शौरसेनी, मागधी तथा पैशाची भाषाओं के बन जाने के पश्चात् ही उसका बनाना सोचा तथा प्रारंभ किया गया। बहुत संभव है, शौरसेन प्रदेश में उक्त भाषा उसी रूप में, अथवा किंचित् रूपांतर से, उक्त तीनों प्रादेशिक भाषाओं के तैयार होने के पूर्व ही, लिखने पढ़ने के काम में आती रही हो, और उसी से क्रमशः परिवर्तन होते होते तीनों भाषाएँ निज निज प्रादेशिक विशेषताओं के संमिश्रण से बनी हों, और फिर आव-

श्यकता पड़ने पर वही राष्ट्रीय भाषा बना ली गई हो, क्योंकि सबकी जननी होने के कारण उसका स्वरूप कुछ कुछ सबसे मिलता जुलता था। इन बातों पर गूढ़ मीमांसा करके यहाँ विषय बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। हमारे वर्णनीय विषय के निमित्त इतना ही कहना पर्याप्त है कि 'प्राचीन काल में तीन प्रदेशों में तीन प्रकार की बोलियों के समूह और तीन प्रकार की लिखने पढ़ने की भाषाएँ अर्थात् शौरसेनी, मागधी तथा पैशाची प्रचलित थीं। इनके अतिरिक्त एक साहित्यिक राष्ट्रीय भाषा भी उच्चश्रेणी के काव्य अथवा अन्य उपयोगी ग्रंथों की रचना के काम में आती थी। यह भाषा महाराष्ट्री कहलाती और तीनों ही प्रदेशों के सुशिक्षित लोगों के द्वारा व्यवहृत होती थी।

ऊपर कही हुई शौरसेनी, मागधी, पैशाची तथा महाराष्ट्री भाषाओं द्वारा, बहुत दिनों तक सामान्य लिखने पढ़ने तथा काव्य-रचनादि का काम, सुगमतापूर्वक, चलता रहा। पर शनैः शनैः उनमें तथा उनकी बोलियों में अंतर पड़ने लगा। क्योंकि बोलियों में तो परिवर्तन के नियमानुसार निरंतर हेर फेर होता रहा, पर उक्त भाषाओं में, उनके लिखने पढ़ने की भाषा होने के कारण, कुछ स्थायित्व आ गया। अतः यद्यपि बोलियों के प्रभाव इन पर भी कुछ अवश्य पड़ते थे, तथापि उनमें उतने शीघ्र तथा उतने परिवर्तन नहीं होते थे। ऐसे ऐसे अनेक कारणों से बोलियों तथा भाषाओं में क्रमशः अधिकाधिक भेद बढ़ते बढ़ते ऐसा अंतर पड़ गया कि सामान्य जनता को उक्त भाषाओं का समझना तथा लिखना कठिन हो गया। उनके काम में लाने के निमित्त लोगों को विशेष रूप से श्रमपूर्वक उनके अध्ययन करने की आवश्यकता होने लगी। प्राचीन समय की बोलियों तथा समय समय पर उनके परिवर्तनों का पता लगना तो इस समय बड़ा दुःसाध्य, प्रत्युत असंभव ही है, क्योंकि उक्त बोलियों के रूपों का लिखित प्रमाण नहीं मिल सकता। अशोक के शिलालेखों की भाषा से उस समय की बोलियों का रूप कुछ लक्षित होता है, पर वे भी एक सामयिक ही हैं। पर शौरसेनी,

मागधी, पैशाची तथा महाराष्ट्री प्राकृतों के स्वरूप तथा उनके क्रमशः परिवर्तनों के क्रम, चंड, वररुचि, हेमचंद्र, त्रिविक्रम इत्यादि के प्राकृत व्याकरणों तथा भिन्न भिन्न समयों के नाटकों एवं अन्य ग्रंथों से ज्ञात हो सकते हैं।

जब बोलियों तथा भाषाओं का अंतर उक्त श्रेणी तक पहुँचने लगा, तब साधारण जनता ने शनैः शनैः अपनी अपनी बोली में लिखना पढ़ना आरंभ कर दिया, और जिस प्रकार क्रमशः तीन प्राकृत भाषाएँ बन गई थीं, उसी प्रकार धीरे धीरे अन्य तीन नई प्रादेशिक भाषाएँ बन गईं, अर्थात् शौरसेनी, मागधी तथा पैशाची—जिनको पंडित समाज ने प्राकृत व्याकरणों से च्युत देखकर अपभ्रंश की पदवी दे दी। इन तीनों अपभ्रंशों में अपनी अपनी जननी प्राकृतों के अनुसार कतिपय वर्णों तथा स्वरों में विशेषताएँ होती थीं। जैसे शौरसेनी में संस्कृत शब्दों के "त, थ" के स्थानों पर "द, ध" हो जाना इत्यादि, मागधी में 'ष' तथा 'स' के स्थानों पर 'श' का प्रयोग इत्यादि तथा पैशाची में वर्गों के तृतीय, चतुर्थ वर्णों का प्रथम तथा द्वितीय वर्ण हो जाना एवं 'ण-कार' के स्थान पर 'न-कार' का प्रयोग इत्यादि। इसी प्रकार स्वरों में भी कुछ प्रादेशिक विशेषताएँ आ गई थीं। इन विपर्ययों का विषय प्राकृत व्याकरणों में लिखा है, पर प्रतीत होता है कि अपभ्रंशों में आकर इन निर्दिष्ट विपर्ययों में भी कुछ हेर फेर पड़ गया था।

यहाँ किसी ऐसे स्थूल भेद का विवरण उचित प्रतीत होता है, जिससे तीनों क्षेत्रों की बोलियाँ तथा भाषाएँ सुगमता से पहचानी जा सकें। हमारी समझ में कई प्रकार के अकारांत पुंलिंग शब्दों के कर्ता तथा कर्म कारकों के एक वचन रूपों में तीनों क्षेत्रों की भाषाओं में कुछ स्थूल भेद होता है, जिससे वे बिना प्रयास ही पहचानी जा सकती हैं।

उक्त भेद को सुगमता से समझाने के निमित्त यहाँ एक बात का कह देना आवश्यक है। अपभ्रंशों के बनने तथा प्रयुक्त होने

के समय संज्ञा तथा विशेषणवाचक अकारांत पुंलिंग शब्द दो प्रकार के हो गए थे। एक प्रकार के तो वे, जिनके कर्ता तथा कर्म कारकों के एक वचन रूप, उकरांत, इकारांत तथा अकारांत होते थे, और दूसरे प्रकार के वे, जिनके उक्त कारकों के एकवचन रूप, ओकारांत, एकारांत तथा आकारांत होते थे। इस भेद के कारण के विषय में अनेक मत हो सकते हैं, जिनकी आलोचना की इस लेख में आवश्यकता नहीं। इन दोनों प्रकार के शब्दों के रूपों में से उकारांत तथा ओकारांत रूप शौरसेनी क्षेत्र में बरते जाते थे, इकारांत तथा एकारांत रूप मागधी क्षेत्र में तथा अकारांत एवं आकारांत रूप शौरसेनी क्षेत्र के पश्चिमोत्तर प्रदेशों में, अर्थात् पंजाब तथा काबुली सीमास्थ प्रांतों में। संज्ञाओं और विशेषणों के अतिरिक्त वर्तमानकालिक तथा भूतकालिक कृदंतों (जो विशेषणवत् प्रयुक्त होते थे) के रूपों की भिन्नता से भी भाषाओं के क्षेत्रों की भिन्नता ज्ञात हो सकती थी। वर्तमानकालिक कृदंतों के रूप प्रथम प्रकार के शब्दों के समान होते थे, और भूतकालिक कृदंतों के रूप द्वितीय प्रकार के शब्दों के समान। अतः पुंलिंग संज्ञाओं, विशेषणों तथा कृदंतों के कर्ता तथा कर्म कारकों के एकवचन रूपों का उकारांत अथवा ओकारांत होना शौरसेनी क्षेत्र की भाषाओं की मुख्य पहचान थी, उनका इकारांत अथवा एकारांत होना मागधी भाषाओं की एवं उनका अकारांत अथवा आकारांत होना पंजाब प्रांतीय भाषाओं की।

इन तीनों अपभ्रंशों के अतिरिक्त एक राष्ट्रीय साहित्यिक अपभ्रंश भाषा भी शनैः शनैः तैयार हो गई। यह महाराष्ट्री प्राकृत के ढंग पर बनी थी, और तीनों प्रदेशों में उसी के स्थान पर, अर्थात् काव्य तथा उच्चश्रेणी के ग्रंथों में प्रयुक्त होती थी। हेमचंद्र, त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर इत्यादि के प्राकृत व्याकरणों में, जिस अपभ्रंश के लक्षण कहे गए हैं, वह यही अपभ्रंश है। इसका भी मुख्य ढंग शौरसेनी ही था। इसके राष्ट्रीय साहित्यिक भाषा होने के प्रमाण में यह कहा जा सकता है कि गुजरात प्रांत की निर्मित की हुई 'भवि-

सयत्त कहा' इत्यादि तथा बंगाल प्रांत के बौद्ध गान की भाषा के ढंग उज्जैन के महाराज मुंज के दोहों की भाषा से बहुत मिलते हैं। जो भेद उनमें दिखलाई देते हैं, वे कवियों के भिन्न भिन्न प्रदेशों के होने के कारण प्रतीत होते हैं, जैसे यदि पंजाब, बिहार तथा आगरा प्रांत के निवासी ब्रजभाषा ही में कविता करें, तो भी उनकी भाषा में कुछ न कुछ भेद अवश्य लक्षित होगा। इसके अतिरिक्त समय के अंतर से भी भाषा में अंतर पड़ना संभावित है। इसकी नींव विक्रमाब्द की तीसरी अथवा चौथी शताब्दी में पड़ गई थी, और सातवीं आठवीं शताब्दी तक यह पूर्णतया प्रचलित तथा परिपक्व हो गई थी।

कुछ दिनों तक शौरसेनी, मागधी, पैशाची तथा राष्ट्रीय अपभ्रंशों से भी उसी प्रकार काम चला, जिस प्रकार चारों प्राकृतों से चला था; किंतु फिर हेमचंद्र से सैकड़ों वर्ष पूर्व ही वे भी उन्हीं कारणों से, जो चारों प्राकृतों के संबंध में कहे गए हैं, जनता के समझने के लिये कठिन हो गई; और प्रत्येक क्षेत्र में बोली तथा अपभ्रंश को मिलाकर अन्य ही प्रकार की एक राष्ट्रीय साहित्यिक भाषा तथा प्रादेशिक भाषाएँ बनने लगीं। सिद्ध हेमचंद्र में अपभ्रंश के जो उदाहरण उद्धृत हुए हैं, वे प्रायः हेमचंद्र से दो तीन सौ वर्ष पूर्व के हैं, और जो हेमचंद्र के स्वयं रचित हैं, वे उन्हीं के ढंग पर बने हैं। अब जो नई साहित्यिक भाषा बनी, उसमें संभवतः हेमचंद्र के पूर्व भी कुछ कवि हुए होंगे। नंद, मसऊद इत्यादि कतिपय प्राचीन कवियों के नाम भी सुनने में आते हैं। खुमानरासा का रचना-काल कोई कोई संवत् ८६० के आसपास अनुमानित करते हैं, पर उसकी भाषा से इतनी प्राचीनता नहीं प्रतीत होती। इस भाषा का 'पृथ्वीराजरासा' नामक एक बृहदाकार ग्रंथ हेमचंद्र के समसामयिक महाकवि चंद बरदायी ने बनाया, और वह नागरी-प्रचारिणी सभा की कृपा से मुद्रित होकर अब सुलभ भी है। उसी ग्रंथ को उक्त भाषा का प्रथम तथा मान्य ग्रंथ मानकर उसके स्वरूप के विषय में कुछ आवश्यक बातें लिखी जाती हैं।

पृथ्वीराजरासो के चंदबरदायी-कृत होने में श्रीयुत रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा ने कई एक अनुमान-प्रमाणों से बड़ा संशय डाल दिया है, और उसकी जो छपी हुई प्रति प्राप्य है उससे उसका चंद ही क्या, प्रत्युत किसी भी एक कवि द्वारा बनाया जाना प्रतीत भी नहीं होता। तो भी कई कारणों से, जिनके उल्लेख की इस भूमिका में समाई नहीं, हम उसका सर्वथा अन्यान्य कवियों द्वारा रचा जाना मानने को तैयार नहीं हैं। हमारी समझ में उसका एक बड़ा भाग अवश्य चंद का रचा हुआ है, और बीच बीच में अनेक स्थानों पर अन्य कवियों की रचनाएँ, चंद की निजी रचनाएँ निकालकर, मिला दी गई हैं

अपने महाकाव्य में प्रतिष्ठित करके जिस भाषा को चंद ने राष्ट्रीय साहित्यिक भाषा कहलाने का गौरव प्रदान किया, वह ६ भाषाओं—अर्थात् संस्कृत, प्राकृत, राष्ट्रीय अपभ्रंश तथा तीनों प्रदेशों की तत्सामयिक प्रचलित भाषाओं—के मेल से बनी थी; अतः षड्भाषा कहलाती थी, जैसा स्वयं चंद के इस छंद से विदित होता है—

उक्ति धर्म विशालस्य राजनीति नवं रसं।
षड्भाषा पुराणं च कुरानं कथितं मया ॥१।२६॥

इस छंद का अर्थ यद्यपि कुछ लोग घुमा फिराकर कई प्रकार से करते हैं, पर वास्तविक अर्थ इसका यह ज्ञात होता है—

विशाल (उदार) धर्म की उक्ति, राजनीति, तथा नवरस का षड्भाषा में पुरान तथा कुरान [स्वरूप] मैंने [यह ग्रंथ] कहा, अर्थात् मेरा यह ग्रंथ, उदार-धर्म के कथन, राजनीति एवं नवरस का पुरान तथा कुरान है, पर पुरान तथा कुरान, संस्कृत तथा अरबी भाषाओं में पृथक् पृथक् हैं, और यह ग्रंथ षड्भाषा में दोनों के तुल्य है।

उक्त षड्भाषा में मेल तो यद्यपि छओं भाषाओं के शब्दों का होता था, पर कारकों तथा क्रियाओं के रूप, राष्ट्रीय अपभ्रंश की भाँति, शौरसेनी भाषा ही के रखे जाते थे, जैसा रासो की भाषा से विदित होता है, यद्यपि चंद के लाहौर-निवासी होने के कारण उनकी भाषा

में पंजाबीपन की झलक भी कहीं कहीं आ गई है। नीचे लिखे हुए छंद से षड्भाषा में छओं प्रकारों की भाषाओं का मेल तथा कारकों एवं क्रियाओं का शौरसेनी ढंग होना लक्षित होता है—

कवित्त

अति ढंक्यौ न उघार सलिल जिमि सिषिण सिवालह।
बरन बरन सोभंत हार चउ रंग विसालह॥
बिमल अमल बानी बिसाल (वयन) बानी वर ब्रन्नन।
उक्तिन बयन बिनोद मोद श्रोतन मन हर्ष्नन॥
युत अयुत जुक्ति विच्चार बिधि बयन छंद छुट्यो न कह।
घटि बड्ढि मत्ति कोई पढ़इ (तौ) चंद दोस दिज्जौ न वह॥१।३८॥

महाराष्ट्री प्राकृत से लेकर राष्ट्रीय अपभ्रंश तक जो परिवर्तन शनैः शनैः हुए, वे भाषा-परिवर्तन के केवल सामान्य नियम संबंधी वर्णों तथा स्वरों इत्यादि के विपर्यय, आगम, लोप इत्यादि थे। पर षड्भाषा में इतना ही परिवर्तन न होकर एक और भी बड़े महत्त्व का परिवर्तन हुआ, जिसने उसको एक भिन्न ही अवस्था की भाषा बना दिया। इस अवस्था-भेद के समझने के लिये हिंदी पाठकों को श्री-युत बाबू श्यामसुंदरदास जी बी० ए० के 'भाषा-विज्ञान' नामक ग्रंथ का तृतीय प्रकरण देखना चाहिए। यहाँ उनका कुछ संक्षिप्त वर्णन पाठकों के सुबीते के लिये किया जाता है।

धातुओं के समूह से उन्नति करके जब भाषा बनने लगती है, तब उसकी कई अवस्थाएँ होती हैं। उसकी आद्यावस्था विच्छेदावस्था कहलाती है। इसमें भिन्न भिन्न कारकों तथा लकारों इत्यादि के भाव जताने के लिये मुख्य शब्दों में, उनके सहायक रूप से, अन्य शब्द ज्यों के त्यों जोड़ दिए जाते हैं, जैसे 'घर' शब्द के अधिकरण कारक का भाव प्रकट करने के निमित्त उसमें मध्य शब्द को जोड़-कर 'घरमध्य' संयुक्त शब्द से 'घर में' का अर्थ समझना। इस अवस्था में मुख्य शब्द तथा उसके सहायक, दोनों ज्यों के त्यों अपने अपने रूपों में बने रहते हैं; केवल उनके पूर्वापर स्थानों के भेद से

अभिप्रेत भाव विदित होता है। कुछ दिनों में प्रयुक्त होते होते, उच्चारण शीघ्रतादि भाषा के सामान्य नियमों के अनुसार, सहायक शब्दों के रूपों में विकार पड़ने लगता है। और होते होते वे निरर्थक अक्षर, अथवा अक्षरों के समूह मात्र रह जाते हैं। उस दशा में उनके पृथक् रूपों का कार्य, मुख्य शब्दों के भाव विशेषों का जताना मात्र रह जाता है; स्वयं उनका न तो कुछ अर्थ ही रह जाता है और न वे मुख्य शब्दों से अलग प्रयुक्त ही हो सकते हैं। ऐसी दशा में वे विभक्ति, प्रत्यय इत्यादि कहलाने लगते हैं। जब मुख्य शब्दों तथा ऐसे विभक्ति, प्रत्यय इत्यादिकों के संयोग से, भिन्न भिन्न कारकों, लकारों इत्यादि के भाव प्रकट करने का काम लिया जाने लगता है, तब भाषा संयोगावस्था में पहुँचती है। इस अवस्था में मुख्य शब्दों के रूप ज्यों के त्यों, अथवा बहुत ही न्यून परिवर्तन के साथ, बने रहते हैं; केवल उनके सहायक शब्द विकृत होकर, विभक्ति, प्रत्यय इत्यादि के रूपों में, उनमें जोड़े जाते हैं। जैसे 'घर' शब्द के अधिकरण कारक का भाव प्रकट करने के निमित्त, उसमें 'मध्य' के स्थान पर 'में' का जोड़ा जाना। ऊपर कहे हुए दोनों भेद विश्लेषावस्था के अंतर्गत माने गए हैं, क्योंकि उन दोनों भेदों में मुख्य शब्द तथा उनके भिन्न भिन्न भाव बतलानेवाले साधकों का अस्तित्व अलग अलग बना रहता है। जब संयोगावस्था में भाषा कुछ दिन रह चुकती है, और उसके संयोगात्मक शब्दों से उसके बोलने तथा सुननेवाले भली भाँति परिचित हो जाते हैं एवं शब्दों के विशेष सँभालकर बोलने की आवश्यकता नहीं रह जाती, तब उनके रूपों में शनैः शनैः विकार आने लगता है, और मुख्य शब्द तथा उनके सहायक—विभक्ति, प्रत्यय इत्यादि मिलकर कुछ दिनों में ऐसे रूप धारण कर लेते हैं कि मुख्य शब्दों तथा उनके सहायकों का अस्तित्व पृथक् नहीं रह जाता; वे दोनों मिलकर एक शब्द हो जाते हैं, जिससे वे संयुक्त शब्द, मुख्य शब्द के विकृत रूप से जान पड़ने लगते हैं। जैसे 'गृह' शब्द के संस्कृत के अधिकरण कारक का रूप 'गृहे'। भाषा की यह

अवस्था विकृतावस्था कहलाती है। इस विकृतावस्था से भी भाषा फिर आगे बढ़ने लगती है, और उसके एक ही शब्द के विकृत रूप से कर्ता, क्रिया तथा उनके वचन काल, इत्यादि का बोध होने लगता है, जैसे संस्कृत के एक ही 'करोमि' शब्द से उत्तम पुरुष, करना क्रिया, एक वचन तथा वर्तमान काल का बोध हो जाता है। यह अवस्था भाषा की संमिश्रणावस्था कहलाती है, और भाषा-विकास की पराकाष्ठा समझी जाती है। ये दोनों अवस्थाएँ, अर्थात् विकृतावस्था तथा संमिश्रणावस्था संश्लेषावस्था के अंतर्भूत मानी जाती हैं, क्योंकि इन दोनों में मुख्य शब्द तथा उनके सहायक एक जीव हो जाते हैं। इनमें शब्दों तथा विभक्ति, प्रत्ययों इत्यादि के मिश्रण में केवल मात्रा के परिमाण में भेद हैं।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि ऊपर का अवस्था-विवरण उक्त 'भाषा-विज्ञान' ही के आधार पर बतलाया गया है, अतः उसमें अवस्थाओं के नाम भी वही रखे गए हैं, जो उक्त ग्रंथ में कल्पित किए गए हैं, यद्यपि ये प्रभेदों के नाम कुछ चिंतनीय हैं।

ऊपर कही हुई अवस्थाओं में से संस्कृत चरमावस्था अर्थात् सम्मिश्रणावस्था तक पहुँची हुई भाषा थी। इस अवस्था में उसका रूप व्याकरण के नियम-निगड़ों में ऐसा जकड़ दिया गया कि उसे उससे आगे बढ़ने अथवा पीछे हटने का किंचिन्मात्र भी अवकाश न रह गया, अतः वह केवल लिखने पढ़ने की भाषा होकर अब तक उसी रूप में चली आती है। जब कोई भाषा उक्त चरमावस्था तक पहुँच जाती है, तो उसके नियमों में ऐसी क्लिष्टता तथा जटिलता आ जाती है कि साधारण जनसमूह को उसका पालन तथा उस अवस्था के पदों का यथार्थ भाव समझना दुस्तर हो जाता है, अतः वे लोग फिर मनमाने शब्द जोड़कर अपने भाव प्रकट करने लगते हैं। पर उनकी भाषा में कुछ रूप संमिश्रणावस्था के भी मिले रह जाते हैं, जो शनैः शनैः कम होते जाते हैं। यह बात यहाँ ध्यान में रखनी चाहिए कि फिर से शब्द जोड़ना आरंभ करने में लोग

पूरे ही पूरे शब्द जोड़ते हैं, जिससे उनकी भाषा सम्मिश्रणावस्था तथा विकृतावस्था, अथवा सम्मिश्रणावस्था तथा संयोगावस्था की मिश्रितावस्था की भाषा क्रमशः न होकर, एक ही छलाँग में सम्मिश्रणावस्था तथा विच्छेदावस्था की मिश्रितावस्था की होने लगती है। इस प्रकार जब सम्मिश्रणावस्था में विच्छेदावस्था मिलने लगती है, तो क्रमशः उसका मेल अधिक होता जाता है, और वह विच्छेदावस्था का भाग शनैः शनैः संयोगावस्था की ओर, और फिर सम्मिश्रणावस्था की ओर, बढ़ने लगता है, जिसका परिणाम यह होता है कि एक नई ही सम्मिश्रणावस्था की भाषा बन जाती है, क्योंकि जिस सम्मिश्रणावस्था की भाषा से अलग होकर यह नई सम्मिश्रणावस्था की भाषा बनती है, उसी के तुल्य इसका रूप नहीं होता। इस भिन्नता का यह कारण होता है कि इन दोनों भाषाओं की आदि अवस्था में जोड़े जानेवाले शब्द प्रायः एक ही नहीं होते और न उनके शनैः शनैः विकृत होने के कारण क्रम तथा रूप ही एक होते हैं। पर फिर भी इन दोनों भाषाओं के मुख्य शब्दों में कुछ साम्य बना रहता है, जिससे एक भाषा के अनेक शब्दों की धातुएँ, अन्य भाषा के उन अर्थों के शब्दों की धातुओं से ज्यों की त्यों अथवा कुछ वर्णों के हेर फेर से मिलती हैं। पर जो भाषा किसी मूल भाषा से इस प्रकार सीधी नहीं निकलती, उसकी धातुओं के रूप मूल भाषा की धातुओं से उतने नहीं मिलते। फिर मूल भाषा से इस प्रकार सीधी निकली हुई कई भाषाओं की धातुओं के रूपों में भी परस्पर उतना साम्य नहीं होता। इस प्रकार अनेक भाषाओं में साम्य के न्यूनाधिक्य का परिमाण भिन्न हो जाता है। यह विषय भाषा-विज्ञान का है, हमारे वर्णनीय विषय से इसका विशेष संबंध नहीं; केवल प्रसंगवशात् इतना लिख दिया गया।

जिस समय शाकल्य, शाकटायन इत्यादि व्याकरणियों और अंततोगत्वा पाणिनिजी के परिश्रम से संस्कृत भाषा परिमार्जित होकर शनैः शनैः अपनी चरमावस्था को पहुँची, और साहित्यिक भाषा के

गौरव से गरिष्ट हुई, उस समय उसका जो सामान्य रूप जनता में प्रचलित था, उसमें प्रतीत होता है कि कुछ विश्लेषावस्था की विभक्तियाँ भी प्रयुक्त होती थीं। ये विभक्तियाँ संस्कृत में तो लुप्तप्राय हो गईं, पर प्राकृत में पैतृक संपत्ति की भाँति उनमें से अनेक बनी रहीं, जैसा भास, शूद्रक प्रभृति प्राचीन नाटककारों के प्राकृत अंशों में 'केरो' 'केरक' इत्यादि के प्रयोग से जाना जाता है। ज्यों ज्यों प्राकृत भाषाएँ, शनैः शनैः बोलियों से पृथक् होकर, लिखने-पढ़ने तथा साहित्य की भाषाएँ होती गईं, त्यों त्यों संस्कृत वैयाकरणों के हस्तक्षेप से उनमें विश्लेषावस्था की विभक्तियों का ह्रास होता गया; पर बोलचाल की भाषा में वे अपना रूप-परिवर्तन करती कराती, अथवा एक शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द ही होकर प्रयुक्त होती चली आईं। अतः ष ्भाषा बनने के समय जो विश्लिष्ट विभक्तियाँ बोलचाल में प्रचलित थीं, वे उसमें भी प्रयुक्त हुईं, और राष्ट्रीय अपभ्रंश की संश्लिष्ट विभक्तियाँ भी काम में लाई गईं, जिससे उक्त भाषा विश्लेषावस्था तथा संश्लेषावस्था दोनों से मिश्रितावस्था की भाषा हो गई।

चंद की षड्भाषा में निम्नलिखित विश्लिष्ट विभक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—

करण कारक—सम, सों, तें, ते, त।

संप्रदान कारक—सम, सों, प्रति।

अपादान कारक—पास, कहँ, कों।

संबंध कारक—कत, को, के, की, कैं, केरी, केरौ।

अधिकरण कारक—मद्धि, मधि, मझि, माहि, माहि, महिं, महि, में, मे, मं, पर।

[यहाँ निःसंकोच भाव से यह कह देना उचित है कि इन विभक्तियों के अतिरिक्त, संभव है, और भी कुछ विभक्तियाँ रासो में निकल आवें, क्योंकि इतने बड़े ग्रंथ के विषय में यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि उसमें इतनी ही विभक्तियों का प्रयोग हुआ है।]

यहाँ इस बात पर ध्यान दिला देना भी आवश्यक है कि यद्यपि षड्भाषा में तृतीयांत कर्ता का प्रयोग बहुतायत से होने लगा था, तथापि उक्त कारक में 'ने' विभक्ति उस समय तक नहीं लगती थी। यह बात प्राचीन साहित्यिक ब्रजभाषा में भी देखने में आती है। नव्वाब आसफुद्दौला के समय तक की पुरानी उर्दू में भी यह कभी कभी नहीं लगाई जाती थी—

न मिलने के दुख उसके सब मैं सहे।
भला अपने जी से व जीता रहे॥

रासो की भाषा के निदर्शनार्थ उसका १४ वाँ रूपक नीचे उद्धृत किया जाता है।

चंद अष्टादश पुराणों की अनुक्रमणिका का कथन करता है—

ब्रह्मन्य-देव सम व्यासु देव। अठ दस पुरान तिन कहि सुभेव॥
तिन कहौं नाम परिमान ब्रन्न। जिन सुनत सुद्ध भव होत त्रन्न॥
ब्रह्मह पुरान दस-सहस जुट्टि। जिहि पढ़त सुनत तन-तप्प छुट्टि॥
पंचास-पंच हज्जार गन्नि। पद्मह पुरान तिन कह्यो ब्रन्नि॥
तेतीस सहस सै चारि जानि। विष्णू पुरान विष्णू समानि॥
चौबीस सहस कहि सिव-पुरान। तिहि पढ़त सुनत सम अमिय पान॥
अट्ठारह सहस भागवत भेव। करि पार परिक्खित सुक्कदेव॥
नारद पुरान कहि पाव लाख। तहँ मुक्ति मोद आनंद भाख॥
मारकंड नाम तेइस हजार। पोरान पवित्र सो दुःख-जार॥
पंद्रह हजार संख्या सपूर। अग्नी पुरान पढ़ि पाप दूर॥
चौदै हजार सै पाँच पड्ढि। भविषत पुरान सो पाप जड्ढि॥
ब्रह्म वैव्रत सहस अठार। केवल गिनान कथि भक्ति सार॥
रुद्रह हजार लिंगह पुरान। आनंद अर्थ आगम गुरान॥
चौबीस सहस बाराह भक्ति। पौरव पुरान तिन अमित सक्ति॥
हज्जार इक्यासी कहि विवेक। स्कंदह पुरान भव भक्ति एक॥
ग्यारह सहस्स बामन सुअच्छ। पौरान सुनत सुधि अग्ग पच्छ॥
सत्रह हजार कूरम पुरान। भाषा विनोद प्राक्रम पुरान॥

विद्या हजार मित मच्छ देव। विधि संख उद्धरे सेव भंव ॥
उनईस सहस गरुड़ह पुरान। श्रोतान वक्त भक्ती उरान ॥
ब्रह्मांड पुरान बारह सहस्स। करि व्यास भक्ति प्रभु कंस नस्स ॥
पंद्रह हजार अरु चार लाख। सम ब्रह्म व्यास कहि चंद भाख ॥

—रासो १ रू० १४

चंद के पश्चात् का षड्भाषा का कोई ग्रंथ नहीं मिलता।

रायल एशियाटिक सोसाइटी की रिपोर्ट के प्रथम भाग के १४३वें पृष्ठ पर, चंद के किसी पौत्र द्वारा एक 'कार्य' नामक हम्मीर-विषयक ग्रंथ का रचा जाना बतलाया गया है। उसके कुछ छंद 'प्राकृत-पिंगल-सूत्र' नामक ग्रंथ में कई छंदों के उदाहरण में दिए हुए हैं। उनमें से दो छंद, निदर्शनार्थ, नीचे दिए जाते हैं—

प अभरदर मरु धर नितर निरह धुल्लिअ झंपिअ।
कमठ पिट्ठटर परिअ मेरु मंदरसिर कंपिअ॥
कोहें चलिअ हम्मीर वीर गअजुह संजुत्तें।
कियउ कट्ठ हाकंद मुच्छि मेच्छिअ के पुत्ते॥ १ ॥
पिंधउ दिढ़ संणाह बाह उप्पइ पक्खर दइ।
बंधु समदि रण धसउ साहि हम्मीर वअण लइ॥
उड्डुउणह पह भयउ खग्ग रिपु सीसहि झल्लउ।
पक्खर पक्खर ठल्लि पेल्लि पव्वअ अप्फालउ॥
हम्मीर कज्ज जज्जल भणाई कोहाणल मह मइ जलउ।
सुलितान सीस करवाल दइ तज्जि कलेवर दिअ चलउ॥२॥

ऊपर लिखे छंदों में प्राकृत-मिश्रित अपभ्रंश है, पर तत्सामयिक देशभाषा का प्रभाव भी उसमें प्रकट है। पहले छंद के चतुर्थ पाद में 'के' तथा दूसरे छंद के पाँचवें पाद में 'महँ' विश्लेषावस्था की विभक्तियाँ प्रयुक्त हुई हैं।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, षड्भाषा में यद्यपि तीनों क्षेत्रों की बोलियाँ मिश्रित थीं, तथापि उसका मुख्य ढाँचा शौरसेनी ढंग का था, अतः उसको शौरसेनी साहित्यिक भाषा कहना समुचित

है। जिस प्रकार महाराष्ट्री प्राकृत तथा राष्ट्रीय अपभ्रंश, शौरसेनी ढंग की होनेपर भी, राष्ट्रीय साहित्यिक भाषा मानी जाती थी, उसी प्रकार तथा उन्हीं कारणों से पड्भाषा भी साहित्यिक भाषा हो गई। इसका आधिपत्य यद्यपि उतना विस्तृत तो नहीं हुआ, तथापि मगध तथा पंजाब प्रदेशों के एक बड़े भाग तक इसका प्रचार अवश्य था, और दूर दूर के लोगों की कविता में भी वह अपना प्रभाव कुछ न कुछ झलका देती थी, जैसे श्रीयुत विद्यापति ठाकुर तथा श्री गुरु नानकजी के पदों में। इसके इतनी व्याप्त भाषा हो जाने पर भी इसका कोई व्याकरण इत्यादि नहीं बना। अतः परम स्वतंत्र होने के कारण इसने बहुत शीघ्र शीघ्र रूप बदलना आरंभ किया। जो लोग अपनी रचना कुछ बँधी हुई रीति पर करना चाहते थे, वे तो प्राकृत तथा अपभ्रंश का सहारा लेते थे, जैसा कि ऊपर उद्धृत दोनों छंदों से प्रकट है; पर जो लोग अपनी रचना के प्रचाराधिक्य तथा लोकप्रियता के अभिलाषी थे, वे पड्भाषा ही के किसी रूप में अपने ग्रंथ बनाते थे। ऐसे रचयिता जिस प्रांत के निवासी होते थे, उस प्रांत की भाषा तथा बोलियों का रंगढंग उनकी रचना में अधिक झलकता था। शौरसेन प्रदेश में इस प्रकार की पद्य-रचनाएँ बहुत अधिकता से हुईं, अतः पड्भाषा ने शनैः शनैः साहित्यिक शौरसेनी का रूप धारण कर लिया। उक्त भाषा में शौरसेन प्रदेशों की अनेक बोलियों के शब्द तथा रूप अधिकता से बढ़ते जाते थे; पर कितने ही शब्द अन्य प्रदेशों की बोलियों के भी मिश्रित हो गए थे।

शौरसेनी क्षेत्र में यद्यपि अनेक रूपों की प्रांतीय भाषाएँ तथा बोलियाँ प्रचलित थीं, तथापि वे निम्नलिखित भेदों में विभक्त हो सकती हैं—

(१) राजपूतानी—मारवाड़ी, मेवाड़ी, जयपुरी इत्यादि।

(२) मध्यभारती—ग्वालियरी, बुंदेलखंडी इत्यादि।

(३) अंतर्वेद प्रांतीय—पश्चिम प्रांतीय अर्थात् ब्रजभाषा, पूर्व प्रांतीय अर्थात् कन्नौजी, बैसवाड़ी, अवधी इत्यादि।

(४) हिमालयी—गढ़वाली, कमाऊनी, नेपाली।

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि अंतर्वेद प्रांतीय से केवल उतने ही भाग की भाषा अभिप्रेत नहीं है, जो गंगा तथा यमुना के बीच में पड़ता है, प्रत्युत गंगा के उत्तर तथा यमुना के दक्षिण के कुछ प्रदेशों को भी, भाषा के निमित्त, अंतर्वेद के अंतर्गत समझना चाहिए। शौरसेनी क्षेत्र की भिन्न भिन्न प्रांतीय बोलियों के पुराने रूप तो ज्ञात नहीं हैं; पर उनके लिखने-पढ़ने की भाषाओं के पुराने रूप तत्प्रांतीय उपलब्ध ग्रंथों से लक्षित हो सकते हैं, जैसे रामायण तथा पद्मावत इत्यादि से।

कुछ काल के अनंतर और शौरसेनी प्रांतों से भी कहीं अधिक व्रज प्रांत में कविता का प्रचार हुआ, अतः उक्त भाषा में व्रज प्रांतीय शब्दों तथा रूपों का प्रयोग बहुत अधिकता से होने लगा, यद्यपि अन्य प्रांतीय शब्द भी कुछ कुछ उसमें मिश्रित रहे। अब यह साहित्यिक भाषा ही, जिसको साहित्यिक व्रजभाषा कहना चाहिए, मुख्य साहित्यिक शौरसेनी भाषा हो गई, और उसका संबंध अन्य प्रांतीय साहित्यिक भाषाओं से, जो कि तत्तत्प्रांतों में बन गई थीं, वही हो गया, जो राष्ट्रीय प्राकृत का शौरसेनी, मागधी तथा पैशाची से था। अन्य प्रांतों के लोग भी प्रायः अपने ग्रंथ उसी भाषा में रचते थे। वह भाषा उस समय की प्रचलित पश्चिमी तथा पूर्वी अंतर्वेदी भाषाओं के रूपों से कुछ अधिक मिलती थी; पर वह कुछ प्राचीनतर रूप की थी, और उसमें कुछ ऐसे शब्द तथा रूप भी प्रयुक्त होते थे, जो उस समय के थे, जब उक्त प्रांतीय भाषाओं में विशेष अंतर नहीं पड़ा था, अतः वे दोनों प्रांतीय भाषाओं के प्राचीन रूप कहलाने के अधिकारी थे। इसी प्रकार की प्रायः अन्य साहित्यिक भाषाएँ भी होती हैं।

वैक्रमी १६ वीं शताब्दी के मध्य भाग से सौ वर्ष तक का समय साहित्यिक व्रजभाषा की परम उन्नति तथा सौभाग्य का था। पुष्टि-मार्ग के परमाचार्य श्रीमद्वल्लभाचार्यजी 'महाप्रभु उस समय व्रज में

विराजमान थे। उनके मत में श्रीकृष्णचंद्र आनंदकंद की सगुण उपासना ही मान्य थी। उनके चार शिष्य—सूरदासजी, कुंभनदासजी, परमानंददासजी तथा कृष्णदासजी—ब्रजभाषा के बड़े बड़े धुरंधर कवि हुए। उक्त आचार्यजी के पुत्र श्री विट्ठलनाथजी गोस्वामी के भी चार शिष्य—चतुर्भुजदासजी, छीत स्वामीजी, नंददासजी तथा गोविंद-स्वामीजी—परमोत्तम कवि हुए। येही आठों महाकवि ब्रजभाषा के अष्ट छाप के कवि कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त श्रीस्वामी हित-हरिवंशजी एवं श्री स्वामी हरिदासजी तथा इन महानुभावों के संप्रदाय के अनेक वैष्णव, जैसे श्री व्यासजी, श्री भगवतरसिकजी तथा श्री विहारिनिदासजी इत्यादि बड़े सरस तथा महान् कवि हुए। ये सब महानुभाव भिन्न भिन्न प्रांतों के निवासी श्रीकृष्णभक्त थे, और भगवत-लीला-रस का आस्वादन करते हुए ब्रज सेवन करते थे। इनके सत्संग तथा पारस्परिक भगवद्गुण-कीर्तन से ब्रजभाषा की स्वाभाविक सरसता तथा मधुरता में एक विलक्षण ही स्वाद उत्पन्न हो गया। उसमें जो अन्य प्रांतीय शब्द तथा रूप पहले ही से साहित्यिक नियमों के अनुसार बर्ते जाते थे, उनके अतिरिक्त और भी कितने ही अन्य प्रांतीय शब्द तथा रूप सम्मिलित हो गए और वह एक बड़ी ललित तथा व्याप्त भाषा बन गई। यद्यपि ब्रज-प्रांत की बोलचाल की भाषा की अपेक्षा उसका रूप कुछ विलक्षण तथा उसका शब्द-कोष विशेष विस्तृत था, तथापि उसका अवतार ब्रजभूमि ही में होने के कारण, उसके रूपों तथा उच्चारणों में प्रच-लित ब्रजभाषा ही की प्रधानता थी। इसके अतिरिक्त उसका मुख्य आधार भी प्राचीन साहित्यिक शौरसेनी तथा ब्रजभाषा ही था, अतः वह ब्रजभाषा ही के नाम से प्रतिष्ठित हुई, और अब तक उसके अनु-यायी कवियों की कविता ब्रजभाषा ही की कविता कहलाती है।

यद्यपि सूरदासजी के समय में तथा उनके पूर्व भी ब्रजभाषा के अनेक उत्तमोत्तम कवि हुए, तथापि जितनी रचना सूरदासजी ने की एवं जो श्रेष्ठता, माधुर्य, लोकप्रियता उनकी कविता को प्राप्त हुई,

वह अन्य किसी की कविता के बाँटे नहीं आई। अतः उक्त साहित्यिक व्रजभाषा को सूरदासजी की भाषा कहना अनुचित न होगा। सूरदासजी के समय में उक्त भाषा निरी बाल्यावस्था में थी। जब कोई साहित्यिक भाषा अपनी बाल्यावस्था में रहती है, तब उसके लिखने पढ़नेवालों का ध्यान विशेषतः इस बात पर रहता है कि किसी प्रकार अपने भाव उसमें प्रकाशित कर दें। उस समय प्रयोग-साम्य अथवा भाषा के अन्य आवश्यक गुण दोषों पर विचार नहीं किया जाता। उसमें अनेक प्रांतों के पदों तथा प्रयोगों के मिश्रित होने के कारण लोग मनमाने शब्दों तथा रूपों का प्रयोग करने लगते हैं। ऐसी दशा में छंदों तथा अंत्यानुप्रासों इत्यादि की आवश्यकताएँ भी प्रयोग-वैषम्य की बड़ी कारण हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त, उक्त भाषा के प्रयोक्ताओं में से अधिकांश लोग विशेष पंडित नहीं होते। बहुत लोग तो उनमें ऐसे होते हैं, जो कर्ता, कर्म, क्रिया इत्यादि का भेद भी नहीं जानते। वे इधर उधर सुन सुनाकर उक्त भाषा का ज्ञान संचित कर लेते हैं, और कुछ स्वाभाविक शक्ति-संपन्न होने के कारण कविता करने लगते हैं। बस फिर लिखे पढ़े लोग भी उनके प्रयोगों के औचित्यानौचित्य पर बिना विशेष विचार किए ही कहीं कहीं उनका अनुकरण करने लगते हैं। जैसे आज-कल के कोई कोई हिंदी-लेखक बंग भाषा से प्रभावित होकर कोई कोई प्रयोग तदनुसार कर लेते हैं, और फिर अन्य लेखक भी उनकी देखा देखी उनको बरतने लगते हैं। इस प्रकार के विषम तथा व्याकरण-च्युत प्रयोगों के उदाहरण सूरदासजी के समय की कविता में भी बहुतायत से मिलते हैं। जैसे

प्रथम प्रकार के अकारांत पुंलिंग शब्द 'राम' इत्यादि के कर्ता तथा कर्म कारकों के एकवचन रूप का उकारांत तथा अकारांत दोनों प्रयोग। जैसे—रामु, श्यामु तथा राम, श्याम।

कारण-सूचक कृदंतों का कई रूपों से प्रयोग। जैसे—चलें, चलें तथा चलैं, चलैं।

सामान्य कारक के एकवचन के 'हि' का निरनुनासिक तथा सानुनासिक दोनों प्रयोग। जैसे—रामहि, तोहि तथा रामहिं, तोहिं।

सामान्य कारक के बहुवचन के अकारांत, इकारांत तथा उकारांत तीनों प्रयोग। जैसे—रामन, दृगन, रामनि, दृगनि, तथा रामनु, दृगनु।

तिङंत क्रिया के बहुवचन का अंत्यानुप्रास के अनुरोध से निरनुनासिक प्रयोग। जैसे—चलैं, करैं, देखैं, इत्यादि के स्थानों पर चलै, करै, देखै इत्यादि।

वर्तमानकालिक कृदंत क्रिया के स्त्रीलिंग का अकारांत प्रयोग। जैसे—चलति, होति, कहति, इत्यादि के स्थानों पर चलत, होत, कहत, इत्यादि।

भूतकालिक कृदंत क्रिया के एकवचन के दो रूपों का प्रयोग। जैसे—कर्यौ, चल्यौ, देख्यौ इत्यादि तथा करौ, चलौ, देखौ इत्यादि; एवं उक्त क्रिया के एकवचन तथा बहुवचन में पंजाबी रूपों—हुआ, गया इत्यादि तथा 'हुए'—का प्रयोग।

तुकांत की आवश्यकता से 'तेरो' के स्थान पर 'तोरो' का प्रयोग।

पूर्वकालिक कृदंत का इकारांत तथा अकारांत दोनों प्रयोग। जैसे—देखि, सुनि, करि इत्यादि तथा देख, सुन, कर इत्यादि।

आज्ञार्थक एक वचन क्रिया का इकारांत तथा अकारांत दोनों प्रयोग। जैसे—देखि, बैठि, चलि, इत्यादि तथा देख, बैठ, चल इत्यादि।

प्रयोग-वैषम्य इत्यादि के कुछ प्रकार ऊपर निदर्शनार्थ लिखे गए हैं, क्योंकि सब प्रकारों को छाँटकर लिखना बड़ा दुस्तर कार्य है। इनसे विदित होता है कि उस समय साहित्यिक व्रजभाषा एक बड़ी अव्यवस्थित दशा में थी। प्राकृत तथा अपभ्रंश के रूपों को तो व्याकरणियों ने शनैः शनैः सुश्रृंखल तथा व्यवस्थित बना दिया था, यद्यपि उसमें भी कभी कभी उच्छृंखल प्रयोग कोई कोई कर लेते थे। पड्भाषा के सश्रृंखल होने के पूर्व ही उसका स्थान साहित्यिक

ब्रजभाषा ने ले लिया अतः उसका कोई व्याकरण इत्यादि न बन सका, क्योंकि किसी भाषा के सुव्यवस्थित होने तथा व्याकरण इत्यादि बनने में बहुत समय लगता है। अतः उक्त ब्रजभाषा को अपनी पूर्ववर्तिनी भाषा का सहारा भी अपनी सुव्यवस्था के निमित्त न प्राप्त हो सका। तो फिर उसमें आरंभ काल में अनेक प्रकार के प्रयोग-वैषम्यों तथा अव्यवस्थित रूपों का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

आरंभ में प्रत्येक भाषा की यही दशा होती है। फिर शनैः शनैः उसके प्रयोक्ताओं में से शक्तिशाली तथा विचारशील लोगों को उसकी उच्छृंखलता तथा विषमता खटकने लगती है, और वे क्रमशः उसके उच्छृंखल प्रयोगों का त्याग तथा सुप्रयोगों का ग्रहण करने लगते हैं, जिससे क्रमशः वह भाषा परिमार्जित तथा सश्रृंखल होने लगती है। अंततोगत्वा कुछ अन्वेषण-शक्ति-संपन्न तथा अधिक विचारवाले लोग उसको पूर्णतया नियमबद्ध करने पर उद्यत हो जाते हैं और उसका व्याकरण बना डालते हैं। यहाँ यह आशंका उपस्थित हो सकती है कि जब किसी भाषा के आदि प्रयोक्ताओं में से अच्छे अच्छे कवियों इत्यादि ने एक ही शब्द अथवा पद का कई प्रकार से प्रयोग किया है, तब फिर पीछे के संशोधकों को इनमें से किसी को उच्छृंखल तथा किसी को शुद्ध समझने अथवा ठहराने का क्या अधिकार है; किसी रूप का त्याग तथा किसी का ग्रहण केवल उनकी रुचि, अभ्यास, तथा संस्कार पर निर्भर है, अथवा उक्त चुनाव के निमित्त कुछ युक्त साधन भी हैं? इसके उत्तर में यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि सुप्रयोग-निर्धारण केवल रुचि, अभ्यास तथा संस्कार पर निर्भर नहीं होता, प्रत्युत उसके लिये अनुसंधान करने से अनेक युक्तियाँ भाषा ही में प्राप्त हो जाती हैं, जिनका अन्वेषण तथा उपयोग सुधारक एवं वैयाकरण को बड़े श्रम, सूक्ष्म विचार और सावधानी से करना पड़ता है। प्रत्येक भाषा के भिन्न भिन्न देश, काल तथा प्रयोक्ताओं के व्यवहार, स्वभाव इत्यादि एवं अन्य अनेक व्यवस्थाओं के कारण ये युक्तियाँ भिन्न प्रकारों

की होती हैं। उनमें से कुछ, जो **साहित्यिक ब्रजभाषा के अनुकूल हैं**, निदर्शनार्थ नीचे लिखी जाती हैं—

(१) प्रयोग-बाहुल्य-ग्रहण—प्रायः ऐसा होता है कि किसी पद के दो रूपों में से एक का प्रयोग बहुतायत से तथा बहुत लोगों के द्वारा होता है, और अन्य का न्यून तथा अल्प लोगों के द्वारा। ऐसे पदों के रूपों में से संशोधकों को अन्वेषण करके प्रायः बहु-प्रयुक्त रूपों को ग्रहण करना पड़ता है।

(२) शिष्ट-प्रयोग-ग्रहण—कितने ही पदों के दो रूपों में से एक रूप तो विशेषतः श्रेष्ठ कवियों की रचनाओं में दिखाई देता है, और अन्य रूप सामान्य जनों की। ऐसे पदों के रूपों में से संशोधक को शिष्ट जनों के प्रयोग ग्राह्य होते हैं।

(३) लोक-व्यवहार-ग्रहण—जब प्रयोग-बाहुल्य तथा शिष्ट प्रयोग से किसी पद के दो रूपों में से ग्राह्य रूप का निर्णय संदिग्ध रह जाता है, तब संशोधक को लोक व्यवहार का विचार करना पड़ता है, और वह तदनुसार रूप का ग्रहण करता है। प्रत्युत कभी कभी प्रयोग-बाहुल्य तथा शिष्ट प्रयोग के निर्णय के विरुद्ध भी लोक-व्यवहार का अनुसरण उचित होता है।

(४) पूर्वरूप—कभी कभी किसी पद के ग्राह्य रूप का निर्धारण करने के निमित्त निर्दिष्ट भाषा के पहले की भाषा में उक्त पद के स्वरूप की जाँच करनी पड़ती है, और तदनुसार ही उसके रूप का ग्रहण किया जाता है।

(५) आपत्प्रयोग-परित्याग—प्रायः पदों के दो रूपों के प्रयोगों के विषय में यह बात देखने में आती है कि एक रूप तो कविजनों ने सामान्यतः प्रयुक्त किया है, और अन्य रूप छंद अनुप्रासादि की आपत् अर्थात् आवश्यकता से। ऐसे रूपों पर विचार करके संशोधक को आपत्प्रयुक्त रूपों का परित्याग करना उचित होता है।

(६) आपत्प्रयोगानुकरण-परित्याग—बहुधा लोग अपने पूर्व के कविजनों के आपत्प्रयुक्त रूपों की देखा देखी बिना किसी आवश्यकता

के भी उनका प्रयोग करने लगते हैं। ऐसे रूपों के अापत्त्ययुक्त न होने पर भी संशोधक को सूक्ष्म दृष्टि से विचार करके उनका परित्याग करना होता है।

(७) संदिग्ध-प्रयोग परित्याग—किसी किसी शब्द के दो रूपों में से एक रूप तो उक्त पद के प्रातिपदिक के अन्य किसी पद के रूप से मिल जाता है, तथा अन्य रूप उक्त प्रातिपदिक के अन्य पदों से भिन्न होता है। ऐसी दशा में संशोधक को प्रायः उस रूप का परित्याग उचित होता है, जो अन्य रूप से मिल जाता है।

(८) सांसर्गिक पद का परित्याग—किसी किसी पद के दो रूपों में से एक तो निर्दिष्ट भाषा के प्रयोक्ताओं द्वारा स्वभावतः प्रयुक्त होता है, और दूसरा विदेशी जनों—जैसे यवनादिकों—के संसर्ग से प्रयुक्त होने लगता है। इनमें से प्रायः सांसर्गिक रूप त्याज्य है।

(९) लेख-लाघव-प्रयोग-परित्याग—किसी किसी पद के दो रूपों के लिखने में एक तो उच्चारण के अनुसार लिखा जाता है, और दूसरे में लेखक की असावधानी के कारण अंत्य इकार अथवा उकार इत्यादि लगाना रह जाता है, और फिर कुछ लोग प्रयत्न-लाघव के अनुरोध से वैसा ही लिखने लगते हैं। भाषा-संशोधक को ऐसे पदों का अनुसंधान करके उनके शुद्ध लिखने की प्रथा प्रचलित करनी होती है।

भाषा-परिशोधन के निमित्त कुछ स्थूल उपयुक्त युक्तियाँ ऊपर प्रदर्शित की गई। इनके अतिरिक्त यथावसर संशोधक को अपनी विवेचनशक्ति से अनेक युक्तियाँ निकालकर काम करना पड़ता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि सब पदों के रूप निर्धारण करने में सब युक्तियाँ काम नहीं देतीं; किसी पद में एक, किसी में दो और किसी में और अधिक लगानी पड़ती हैं। किसी किसी पद के ग्राह्य रूप निर्धारण करने में एक युक्ति का निर्णय अन्य युक्ति के निर्णय के विरुद्ध पड़ता है। ऐसी दशा में किसी अन्य युक्ति के द्वारा ठीक निर्णय करना पड़ता है। इत्यादि।

ऐसी ऐसी अनेक युक्तियों से विचारशील विद्वान् अपनी भाषा का परिमार्जन आरंभ करते हैं, और फिर वैयाकरण उस कार्य को यथासंभव पूर्ण करके कुछ नियम बना देते हैं, जिन पर ध्यान रखने से परिमार्जित भाषा का प्रयोग शुद्ध तथा शिष्ट हो सकता है।

जैसा ऊपर कहा गया है, सूरदासजी के समय में साहित्यिक व्रजभाषा प्रारंभिक अवस्था में थी, अतः स्वभावतः ही उसके पदों के रूप अव्यवस्थित थे, और उनके प्रयोगों में वैषम्य दिखलाई देता था। जो लोग संस्कृतज्ञ तथा व्याकरण के सिद्धांतों के जानकार थे, उनकी आँखों में उसकी अव्यवस्थित स्थिति खटकने लगी, और वे अपनी कविता में यथाशक्ति भाषा का सुधार करने लगे। जो जितने ही विचारशील होते थे, वे अपनी कविता में भाषा का प्रयोग उतना ही सँभालकर करते थे। पर उनके इस सुधार का पूरा लाभ सब लोगों को नहीं पहुँचता था; क्योंकि यद्यपि वे अपनी कविता में तो भाषा का कुछ सुधार अपने विचारों के अनुसार कर लेते थे, पर अपने सिद्धांतों को किसी पुस्तक द्वारा प्रकाशित करने का श्रम नहीं उठाते थे। सामान्य कवि यद्यपि उनकी परिमार्जित भाषा से कुछ न कुछ प्रभावित तो अवश्य होते थे, पर सिद्धांतों के स्पष्ट ज्ञान के अभाव के कारण भाषा-सुधार की आवश्यकता तथा ढंग नहीं समझ सकते थे। प्रत्येक विचारवान् कवि को अपने निमित्त स्वयं अनुशीलन तथा अन्वेषण करना पड़ता था, और भाषा-सुधार की उन्नति यथेष्ट वेग से नहीं हो सकती थी। इतना ही नहीं, प्रत्युत अपने सिद्धांतों को स्पष्ट रूप से निर्धारित करके लेख में स्थापित न करने के कारण उनमें कुछ ऐसा धुँधलापन बना रहता था कि स्वयं निर्धारित करनेवालों की दृष्टि भी कभी कभी चूक जाती थी, और वे भी कहीं कहीं उनके निर्वाह पर ध्यान नहीं रख सकते थे। जितना श्रम कवियों ने रीति ग्रंथों के निर्माण में उठाया, यदि उसका अंशांश भी भाषा के सिद्धांत लिखने में उठाते तो बहुत शीघ्र ही वह सर्वथा परिमार्जित तथा सशृंखल हो जाती।

भाषा के पुराने कवियों में केशवदासजी संस्कृत के बहुत बड़े पंडित हुए हैं। संस्कृत में भाषा-शुद्धि सर्वोत्कृष्ट गुण माना जाता है। अतएव उसके पंडितों तथा लेखकों को वाक्य-शुद्धि तथा प्रयोग-साम्य पर बहुत ध्यान रखना पड़ता है; वे वाक्य-रचना बड़ी सावधानी से करते हैं। उनको प्रति वाक्य के कर्ता, कर्म, क्रिया इत्यादि के रूपों की विवेचना करने का तथा समानाधिकरण इत्यादि के निर्वाह का अभ्यास हो जाता है, जिससे मनमाने तथा कामचलाऊ प्रयोग उनकी शिक्षा तथा रुचि के विरुद्ध पड़ते हैं। इसी कारण केशव-दास की रचना की भाषा अपेक्षाकृत बहुत सुशृंखल तथा सुथरी हुई है। पर तो भी उनका मुख्य तथा पूर्ण लक्ष्य, भाषा-परिमार्जन न होने तथा सिद्धांतों की अस्पष्टता के कारण, उनकी रचना के किसी किसी प्रयोग में वैषम्य अथवा उच्छृंखलपन आ गया है, जैसे—

कुजन, कुस्वामी, कुगति हय, कुपुर-निवास कुनारि।
परबस, दारिद आदि दै, ये दुख दानि **विचारि**॥

इस दोहे में विचारि पद, जो आज्ञार्थक है, इकारांत प्रयुक्त हुआ है, पर—

पल्लव, कुसुम, दयालमन, माखन, मृदुल, मुरार।
पाट, पामरी, जीभ, पद, प्रेम, सुपुन्य **विचार**॥

इस दोहे में वही और वैसा ही 'विचार' शब्द अकारांत है। ऐसे ही अकारांत शब्दों के कर्ता तथा कर्म कारकों के एक वचन के रूप, केशव की रचना में अकारांत तथा उकारांत दोनों प्रकार से मिलते हैं।

स्मरण रहे, यहाँ हमें इस बात की मीमांसा नहीं करनी है कि इन दोनों में अमुक रूप शुद्ध तथा अमुक अशुद्ध है, और न यही निश्चित करना है कि दोनों रूपों का प्रयुक्त करना अनुचित ही है। यहाँ हमें केवल इतना दिखलाना अभीष्ट है कि केशवदासजी की कविता में भी, कहीं कहीं प्रयोगवैषम्य दृष्टिगोचर होता है।

केशवदासजी के समकालीन तथा परवर्ती कवियों में से कई एक के काव्य से लक्षित होता है कि उनका ध्यान साहित्यिक भाषा

की अशृंखलता तथा प्रयोगविषमता पर आकृष्ट हुआ था। पर छंदों के प्रतिबंध, अंत्यानुप्रासों की अड़चन, श्रेष्ठकवि-प्रयुक्त प्रमाणों के सहारे तथा रचना-पूर्ति की उत्सुकता के झमेले में पड़कर वे अपने काव्यों में भाषा के यथेष्ट शुद्ध तथा वैषम्यरहित रूप में प्रयोग करने से वंचित रहे।

साहित्यिक व्रजभाषा के सुशृंखल स्वरूप का एक दृढ़ ढाँचा हृदय में स्थिर करके उसी के अनुसार अविचल रूप से अपनी रचना में प्रयोगसाम्य के वर्तने का सुयश तथा गौरव महाकवि श्रीबिहारी-दास ही को प्राप्त हो सका। उनकी निर्दिष्ट भाषा का कोई व्याकरण उनके समय तक निर्मित नहीं हुआ था, और न किसी एक कवि की रचना ही में ऐसी भाषा मिलती थी जो प्रयोग-वैषम्य-रहित और पूर्णतया सुशृंखल कहला सकती और जिसके अनुसार कोई ऐसा व्याकरण बन सकता जो विकल्प-प्रयोगों के विधानों से ऐसा न भर जाय कि अंत में उसके अधिकतर नियम विडंबनामात्र भासित होने लगें। अतः बिहारी को पूर्व तथा समकालीन कवियों के प्राप्य उदाहरणों में ऊपर कहे हुए भाषा-संस्कार के यत्नों को चरितार्थ करके यथासंभव एक शुद्ध साहित्यिक भाषा के स्वरूप-नियमों का स्पष्ट ढाँचा अपने हृदय में स्थिर करना पड़ा होगा, और फिर उसी के अनुसार अपनी रचना में दृढ़तापूर्वक शब्दों के रूपों के प्रयोग करने का कष्ट तथा श्रम उठाना पड़ा होगा।

ये दोनों कार्य्य बड़े श्रम, गंभीर गवेषणा तथा परम पांडित्य के हैं। पहले के निमित्त तो एक एक प्रकार के कारकों तथा लकारों के अनेकानेक उपयुक्त उदाहरण एकत्र करके उनमें से उचित रूप का ग्रहण करना और तदनुसार व्याकरण का एक ढाँचा स्थिर करना पड़ता है और दूसरे के लिये नियत ढाँचे के अनुसार प्रयोग करने का अभ्यास डालना और छंदों अनुप्रासों इत्यादि के झमेलों को झेलने में रचना-पूर्ति के प्रलोभन से विचलित न होना। इन दोनों बातों में बिहारी ने पूर्ण सफलता प्राप्त की और उन्होंने अपनी सतसई

में परम परिमार्जित तथा वैषम्य-विमुक्त भाषा का प्रयोग किया। पर खेद का विषय है कि उन्होंने जो शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा के व्याकरण का ढाँचा अपने लिये स्थिर किया उसका उद्देश्य केवल अपनी कविता में सुंदर और शुद्ध भाषा लिख पाने का था। उसको उन्होंने व्याकरण का रूप देकर अन्य कवियों के निमित्त पथप्रदर्शक नहीं बना दिया। यदि वे ऐसा कर जाते तो उनके पश्चात् के कवियों को शुद्ध भाषा के प्रयोग में बड़ा सहारा मिलता। उनके पीछे के कवियों के लिये यद्यपि उनकी सतसई में शुद्ध भाषा का एक सुंदर आदर्श विद्यमान था और जो श्रम बिहारी ने उसके स्वरूप-साधन के निमित्त किया था उसकी आवश्यकता न थी तथापि, किसी उपयुक्त व्याकरण के अभाव में, वे उसकी भाषा के मर्म्म पर विचार न करके पुरानी परिपाटी के अनुसार लिखते पढ़ते चले आए और साहित्यिक ब्रजभाषा का रूप अव्यवस्थित दशा में ही पड़ा रहा। बिहारी के पश्चात् आनंदघनजी ने अपनी कविता में शुद्ध तथा साम्यसंपन्न भाषा के प्रयुक्त करने का प्रयत्न किया और वे बहुत कुछ कृतकार्य भी हुए। यद्यपि उनकी भाषा बिहारी की भाषा के तुल्य तो प्रयोगसाम्यसंपन्न एवं परिमार्जित नहीं कही जा सकती तथापि उसको भी कतिपय आवश्यकता-प्रेरित प्रयोगों को अगण्य मानकर आदर्श साहित्यिक ब्रजभाषा माना जा सकता है।

हमारी समझ में बिहारी तथा आनंदघनजी की कविताओं में शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा का एक सुंदर और उपयोगी व्याकरण तैयार करने के योग्य पर्याप्त सामग्री विद्यमान है। यदि कोई व्याकरण-बुद्धि-संपन्न महाशय इस विषय में उद्योग करें तो वे उक्त भाषा के नियमों को पूर्णतया उक्त ग्रंथों के द्वारा स्थापित कर सकते हैं। यदि किसी ऐसे ही रूपविशेष का नियम इन ग्रंथों से निर्धारित न हो सकेगा तो उसके लिये उनको अन्य श्रेष्ठ कवियों की रचना में देख-भाल करनी पड़ेगी।

(१६) सामाजिक उन्नति

[लेखक—श्री इंद्रदेव तिवाड़ी एम० ए०]

प्राक्कथन

परिवर्तन संसार का साधारण नियम है। व्यक्ति और समाज दोनों ही इसके अधीन हैं। समाज की व्यवस्था सदा एक सी नहीं रहती। सामाजिक उद्देश्य, संस्कृति, आचार, व्यवहार सभी क्रमशः बदला करते हैं। नई कठिनाइयाँ, नवीन प्रश्न, अभिनव समस्याएँ, नूतन आवश्यकताएँ सदा उपस्थित होती रहती हैं। इनकी यथोचित पूर्ति करने के अनवरत प्रयत्न से समाज जीवित रहता है।

परिवर्तन के परिणाम उन्नति अवनति, उत्कर्ष अपकर्ष दोनों हो सकते हैं। अतएव यह प्रश्न उठता है कि सामाजिक उन्नति का स्वरूप क्या है, उत्कर्ष के अंग क्या हैं ? इस प्रश्न का उत्तर समझने में पाश्चात्य समाजशास्त्र से बड़ी सहायता मिलती है। समाजशास्त्र चार मुख्य और विशिष्ट प्रश्नों का विवेचन करता है—

(१) समाज की उत्पत्ति, (२) समाज की क्रमशः वृद्धि, (३) सामाजिक संस्थाओं के आकार और व्यापार, (४) सामाजिक उन्नति का स्वरूप और उसकी प्राप्ति के साधन।

प्रसिद्ध फरासीसी कोंत के समय से समाज-शास्त्री सामाजिक अभ्युदय और उसके साधनोपाय के मनन पर बड़ा जोर देते आए हैं। उनका यह मत है कि समाजशास्त्र के प्रयोजनों में से एक यह है कि उसने उन्नति-संबंधी सिद्धांत के बोध में सहायता प्रदान की है।

यद्यपि आजकल "उन्नति" शब्द प्रत्येक व्यक्ति के मुख से निकलता है तथापि उसके विषय में अब तक हमारी अभ्रांत धारणा नहीं है। उन्नति के अभिप्राय इन शब्दों में व्यक्त किए जाते हैं—"मानव जाति के सुख की वृद्धि", "प्रकृति पर विजय", "ज्ञान-वृद्धि" इत्यादि। उन्नति के ये आकार अच्छे होते हुए भी अस्पष्ट और संकुचित हैं

और उनसे हमको इसका पूरा बोध नहीं हो पाता। उनसे उन्नति का आंशिक स्वरूप ही समझ में आता है। यदि हम समाजशास्त्र के दृष्टि-कोण से उसका भीतरी स्वरूप जानने का प्रयत्न करें तो उसका वास्तविक एवं समग्र रूप समझ में आ जायगा।

सामाजिक उन्नति का अर्थ

उस मानव-समाज को हम अवश्य उन्नत समाज कहते हैं जिसमें प्राणरक्षा के साधन विद्यमान हैं; जिसमें रोग, दुर्भिक्ष इत्यादि अथवा जानवरों और जंगली मनुष्यों के आक्रमण से बचने की शक्ति और क्षमता है। प्राणरक्षा के साधन प्रत्येक समाज में होने चाहिएँ। मनुष्य पहले बहुत सुरक्षित अवस्था में नहीं रहते थे। यह खटका उन्हें सदा लगा रहता था कि न मालूम किस समय जंगली जानवरों अथवा मनुष्यों का आक्रमण हो, न जाने कब अपना स्थान छोड़ना पड़े; इत्यादि। मानव-विकास के विशेषज्ञ हमें बतलाते हैं कि अधिक बलशाली लोगों के द्वारा भगा दिए जाने पर या किसी भारी आपत्ति के आ पड़ने पर लाखों करोड़ों मनुष्य समूल नष्ट हो गए हैं। अतएव उन्नति का आशय यह है कि मानव-समाज में ऐसी विपत्तियों से युद्ध करने की क्षमता हो।

"संकट और अनर्थों से सुरक्षित रहना" उन्नति का द्योतक अवश्य है परंतु यहीं इसकी इतिश्री नहीं हो जाती। उन्नति का अर्थ इससे और अधिक व्यापक है। इसका तात्पर्य है **अधिक संपन्न जीवन, पूर्णतर जीवन**; सुखमय आनंदमय जीवन, ऊँचे ऊँचे उद्देश्य, तथा समाज के अंतर्गत व्यक्तियों का एकरस होकर बिना विद्वेष के मिलकर रहना और सामाजिक संस्थाओं का अधिक सुचारु रूप से संचालित होना।

उन्नति से केवल यही तात्पर्य नहीं है कि समाज से बुराइयाँ दूर कर दी जायँ, किंतु उत्तम और अधिक सुखपूर्ण अवस्था का प्रादुर्भाव भी उसके अंतर्गत है। पर्याप्त भोजन मिले; स्वास्थ्य-रक्षा और

उसकी वृद्धि के साधन,—प्रवातसुभग सदा सुखदायक भव्य भवन रहने को हों, काम करने के घंटों की संख्या कम हो जाय, श्रमजीवी लोगों के लिये अधिक सुविधापूर्ण परिस्थितियाँ हो जायँ; इत्यादि। यद्यपि ये सब वांछित अवश्य हैं तथापि उन्नति की सीमा यहीं समाप्त नहीं हो जाती। उससे तात्पर्य है उच्चतर संस्कृति, अधिक शिक्षा-प्रसार, न्याय, औचित्य, एवं दूसरों के स्वत्वों और अधिकारों की स्वीकृति।

जीवन के **विकास** में, विशेषतः मानसिक और नैतिक उत्थान में ही समाज की उत्पादन-शक्ति अपना काम करती है। समाज क्रमशः सामाजिक प्रकृति अथवा व्यक्तित्व का निर्माण करता है। समाज-संगठन का मुख्य उद्देश्य है **सामाजिक व्यक्तित्व** अथवा बलशाली, बुद्धिशाली, नैतिक मनुष्य का निर्माण। यदि मनुष्य दिन दिन नैतिक पथ पर आगे बढ़ रहा है, उसकी बुद्धि तीक्ष्ण हो रही है, उसमें सहानुभूति की मात्रा बढ़ रही है, तब वह वास्तव में उन्नति कर रहा है, और वह समाज-शरीर जिसका वह एक अंग है अवश्य सार्थक और सुयोग्य है। इसके विपरीत यदि वह समाज के प्रति अपना कर्तव्य छोड़ दे; उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाय; वीरत्व घट जाय; आत्मबल, आत्मसंयम, सहानुभूति कम हो जाय तब समझना चाहिए कि वह निश्चय ही अवनत हो रहा है और उसका सामाजिक व्यूह, चाहे बाह्य रूप में अच्छा क्यों न हो, अवश्य अपने उद्देश्य की प्राप्ति में विफल हो रहा है।

वनस्पति तथा जंतु के जीवन-विकास में जाति के निमित्त व्यक्ति का खूब क्रूर बलिदान हुआ है। पर मनुष्य के विकास में ऐसा नहीं हुआ। उसमें व्यक्ति का ह्रास भी कम हुआ है और साथ ही जाति तथा समाज का अस्तित्व भी स्थिर और दृढ़ बना रहा है। उच्च प्रकार की सभ्यता में, जाति और समाज को बिना किसी तरह की क्षति पहुँचे, व्यक्तिगत स्वतंत्रता अटूट क्रम से बढ़ती जाती है। समाज का संरक्षण और व्यक्ति की स्वतंत्रता, शक्ति और

सुख की उत्तरोत्तर वृद्धि—यही समाजशास्त्रवेत्ताओं के विचारानुसार उन्नति का स्वरूप है।

उन्नति और विकास

सामाजिक उन्नति और विकास में बड़ा अंतर है। इनके भेद को जानना आवश्यक है, क्योंकि प्राणि-विज्ञान के सिद्धांतों के प्रभाव के कारण उन दोनों को प्रायः लोग एक ही मान लेते हैं।

"विकास" एक वैज्ञानिक शब्द है। इसका अर्थ है परिणाम—क्रमशः एकीकरण और पृथक्करण। विकास का अर्थ अनिवार्य-रूप से यह नहीं है कि मनुष्य या समाज अभीष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर होता जाय। सामाजिक उन्नति का तात्पर्य है कि मनुष्य और समाज उन उद्देश्यों की पूर्ति की ओर अग्रसर हो रहे हों जिनको हम मूल्यवान् मानते हैं। "विकास" एक वैज्ञानिक भावना है और "उन्नति" एक नैतिक, मूल्य और कल्याणसूचक भावना है।

क्रमागत रूपप्राप्ति को विकास कहते हैं। कोई वस्तु विकास को प्राप्त हुई है—इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि वह अच्छी है। इसके विपरीत उन्नति का अर्थ है अभ्युदय—कल्याण की ओर प्रगति। उदाहरण में वर्ण-व्यवस्था को लीजिए। हिंदू-समाज में यह संस्था बहुत पुरानी है। इसका क्रमशः विकास हुआ है। पहले चार वर्ण थे। अब तो उनके इतने भेद और उपभेद हैं कि गिने नहीं जा सकते। इस एक से अनेक की क्रमशः वृद्धि को हम 'विकास' कहते हैं। परंतु हम इसको उन्नति नहीं कह सकते।

विकासतत्त्ववादियों के मत में न्याय, नीति, अथवा शील से संबंध रखनेवाली किसी व्यवस्था की आवश्यकता नहीं है। सृष्टि के बीच एक घोर संग्राम हो रहा है। सबल जीव निर्बलों को दबाकर या उनका नाश करके अग्रसर हुए हैं। इन सबल जीवों के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वे पराजित जीवों से न्याय, नीति और शील में बढ़कर थे। परंतु उन्नति की दृष्टि में पशुबल की व्यापकता निम्न श्रेणी की स्थिति की द्योतक है।

उन्नति की अनिवार्यता

उन्नति के संबंध में कुछ लोगों की धारणा बड़ी विचित्र है। उनका कथन है कि कोई चाहे प्रयत्न करे या न करे, मानव-समाज उन्नति की ओर स्वयं बढ़ रहा है। उनके मत में उन्नति की धारा शृंखलाबद्ध, स्वसंचालित और अनिवार्य है। मानव-समाज अभ्युदय की ओर अबाध्य रूप से, अनिवार्य रूप से, बढ़ा चला जा रहा है।

समाज-शास्त्रवेत्ता उन्नति की इस प्रगति को अंगीकार नहीं करते। यह समझना महा भ्रम है कि वस्तुएँ स्वयमेव, अपने भीतर वर्त्तमान स्वाभाविक तथा आकर्षक सद्‌गुणों के द्वारा ठीक मार्ग पर ही बढ़ती चली जा रही हैं। जान मारले ने ठीक कहा है कि उन्नति के विषय में निश्चयात्मक धारणा रखना मूढ़ विचार है—एक अंध-विश्वास है। ऐसी भावना से व्यक्ति और समाज दोनों ही को बड़ी क्षति होती है, हमारा पराक्रम शिथिल हो जाता है और हम अपने उत्तरदायित्व को भूल जाते हैं।

समाज-शास्त्र की दृष्टि में उन्नति न तो किसी ऊपरी देव अथवा ईश्वर पर आश्रित है और न उसकी स्थिरता का ही कुछ निश्चय है। व्यक्ति और समाज दोनों के लिये यह आवश्यक है कि उत्कट और अनवरत परिश्रम और प्रयत्न करते रहें। पूर्ण परिश्रम के फल-स्वरूप ही वह प्राप्त होती है।

उन्नति के मूल कारण

सामाजिक उन्नति के मूल कारण क्या हैं? वह कौन सी कारण-सामग्री है जो यह बताने में सहायक होती है कि सामाजिक परि-वर्तन उन्नतिकारी है अथवा अवनतिकारी? समाज-शास्त्रज्ञों ने इस विषय में कुछ सिद्धांतों का निरूपण किया है। वे पाँच हैं—

(१) भौगोलिक मत

कुछ समाज-शास्त्रवेत्ताओं की धारणा है कि उन्नति के निम्न कारण हैं—

(१) जल और वायुमंडल,

(२) मिट्टी के गुण,

(३) भोजन,

(४) बाह्य प्राकृतिक स्थिति ।

बकल साहब ने अपनी "इँगलैंड की सभ्यता का इतिहास" नामक पुस्तक में इसका बहुत स्पष्ट विचार किया है। उनका कथन है कि यूरोप की भौगोलिक स्थिति ऐसी रही है कि मनुष्य प्रकृति पर विजय पाने में समर्थ हो। इसी कारण आपने सोचा कि यूरोप के अतिरिक्त अन्य देशों में सभ्यता का उच्च विकास स्थायी रूप से होना संभव नहीं है। इस सिद्धांत की अपरिपक्वता स्पष्ट ही है।

(२) शरीर और जाति संबंधी मत

बहुत से तत्त्ववेत्ताओं ने सामाजिक उन्नति को शारीरिक और जातीय सुव्यवस्था पर अवलंबित माना है। उपर्युक्त भौगोलिक सिद्धांत ने रक्त और वंशानुक्रम की अवहेलना की है।

अत: यह सिद्धांत भी एकांगी और संकुचित है क्योंकि यह उन कई एक महत्त्वपूर्ण कारणों की गणना नहीं करता जिनके द्वारा विशेषत: सामाजिक उन्नति होती है।

(३) अर्थशास्त्रीय मत

सामाजिक उन्नति के विचार में सर्वप्रिय मत आजकल अर्थ-शास्त्रीय समझा जाता है। समाज की उन्नति आर्थिक दशाओं पर निर्भर रहा करती है—जीवन-निर्वाह के लिये जो वस्तुएँ आवश्यक हैं उनकी उपज तथा उनके संविभाग पर अवलंबित रहती हैं।

इस सिद्धांत की लोकप्रियता का मुख्य कारण यह है कि इसका प्रचार कार्ल मार्क्स और उनके अनुयायियों ने खूब किया है। स्वयं मार्क्स के शब्दों में इस मत का प्रारंभिक वर्णन यह है—

"सामाजिक, राजनीतिक तथा आध्यात्मिक जीवन की व्यवस्था आर्थिक जीवन पर ही आश्रित है।" इसका तात्पर्य यह है कि जिन

विधियों से जीवन-निर्वाह के साधन उत्पन्न किए जाते हैं और जिन विधियों से धन बाँटा जाता है उनके द्वारा ही अंत में सामाजिक जीवन की भिन्न भिन्न श्रेणियाँ और आदर्श निर्धारित होते हैं। समाज के अन्य सूत्र मुख्यतः आर्थिक सूत्र से संचालित होते रहते हैं। आर्थिक परिस्थितियों की भित्ति पर ही शासन-व्यवस्था, न्याय, धर्म इत्यादि की रचना होती है और अंत में इन परिस्थितियों के बदल जाने पर वे स्वयं बदल जाते हैं। मार्क्स के अनुगामियों के हाथ में पड़कर यह मत क्रांति का एक बड़ा भारी शस्त्र बन गया है।

(४) मनोवैज्ञानिक मत

मनुष्य की उच्चतर मानसिक शक्तियों ने मानव-समाज की संस्कृति तथा सभ्यता के निर्माण में प्रधान भाग लिया है। मनुष्य अपने बुद्धि-वैभव के विकास के कारण प्रकृति पर विजय पाने में समर्थ हुआ है।

इस चौथे मत में तथ्य बात यह है कि सामाजिक उन्नति मनुष्य की बुद्धि, संकल्प और प्रयत्न पर बहुत कुछ निर्भर है। भौगोलिक, शारीरिक एवं आर्थिक दशा पर उन्नति अवश्य आश्रित है, परंतु इसकी कारण-सामग्री प्रस्तुत करने में मनुष्य की मानसिक शक्ति, उसका नैतिक संकल्प और प्रयत्न का विशिष्ट साहाय्य है। सामाजिक उन्नति में मनुष्य का भी हाथ है।

(५) समाजशास्त्रीय मत

यह सिद्धांत सभी सिद्धांतों का समन्वय है। सामाजिक उन्नति के लिये भौगोलिक, शारीरिक, आर्थिक, मानसिक सभी अंगों की आवश्यकता है। सामाजिक उन्नति के लिये इतना ही आवश्यक नहीं है कि प्राकृतिक स्थितियाँ अनुकूल हों, वंशानुक्रम विशेष रूप से उत्तम हो तथा धन का उपार्जन और बँटवारा अधिक विषम न हो। उसके लिये मानसिक गुणों की भी आवश्यकता है, जैसे—ज्ञान,

नैतिक उद्देश्य और उच्चतर आदर्श। सामाजिक उन्नति के लिये न केवल प्राकृतिक साधन और सुविधाओं की आवश्यकता है, शारीरिक स्वास्थ्य तथा अच्छी आर्थिक दशा की आवश्यकता है, किंतु उच्चतर विचारों की पारस्परिक सहानुभूति और उदारता की भी आवश्यकता है। संभव है कि इन सबका यह क्रम रखा जाय जैसे शारीरिक उन्नति पहले आवश्यक है, तत्पश्चात् मानसिक, और अंत में नैतिक।

उन्नति के चिह्न

समाजशास्त्री उन्नति के चिह्नों की सूची देते हैं जिनसे सर्व-साधारण को मालूम हो जाय कि अमुक समाज आगे बढ़ रहा है अथवा पीछे हट रहा है। एक सूची यह है—

(१) जनसंख्या में वृद्धि,
(२) आयु की अवधि में वृद्धि,
(३) जन-समूह में एकता, एकरूपता,
(४) अक्षर-ज्ञान और शिक्षाप्रचार तथा ज्ञानवृद्धि,
(५) रोगों और रोगियों का अभाव,
(६) अपराधियों की संख्या में न्यूनता,
(७) स्वतंत्रता (राजनीतिक),
(८) धन की वृद्धि—दरिद्रता का अभाव।

समाज और राष्ट्र के लिये जनसंख्या की वृद्धि किसी अंश तक आवश्यक है। जिस समाज में अधिक लोग अल्प आयु में मर जाते हैं अथवा बच्चे और बालक अधिक संख्या में मरते हैं, जैसा कि अपने दरिद्र देश में होता है, तो वह समाज उन्नत नहीं कहा जा सकता। यदि समाज में एकता नहीं है, लोगों में परस्पर सहानुभूति नहीं है, उनके विचार इत्यादि में अत्यंत भेद है तो उन्नति कम होगी। जिस समाज में रोगों की वृद्धि है, दरिद्रता का स्वराज्य है, वह समाज भी किसी प्रकार उन्नत नहीं कहा जा सकता। धन की वृद्धि, रोगों

का अभाव ये उन्नति के सूचक हैं। परंतु इन सबों के रहते भी यदि समाज में स्वतंत्रता—स्वाधीनता—नहीं है तो हम यही कहेंगे कि उन्नति के एक मुख्य अंश का अभाव है। विचार-विषयक स्वतंत्रता—राजनीतिक स्वाधीनता—पूर्णरूप से होनी चाहिए, और किसी भी पुरुष या स्त्री के मार्ग में किसी प्रकार की बनावटी बाधा या रुकावटें नहीं होनी चाहिएँ। सबको योग्यतानुसार समान अवसर प्राप्त होने चाहिएँ।

स्वतंत्रता का अर्थ स्वच्छंदता नहीं है। स्वच्छंदता अवनति की ओर समाज को खींच ले जाती है। स्वतंत्रता के साथ ही साथ आत्मसंयम होना आवश्यक है। परोपकार, आत्मत्याग, आत्मसंयम — ये उन्नति के अचूक चिह्न हैं।

(२०) बालीद्वीप में हिंदू वैभव

[लेखक—श्री हीरानंद शास्त्री एम० ए०]

बालीद्वीप प्राय: जावा अथवा यवद्वीप का एक भाग ही है और बाली जलडमरूमध्य ने, जिसका लघुतम विस्तार एक मील से कुछ ही अधिक होगा, इसे अलग कर दिया है। सन् १८८२ ईसवी में ही इसे यवद्वीप (जावा) से अलग करके लोंबोक के साथ, शासन के सुबीते के लिये, मिलाया गया था। दोनों द्वीप डच राज्य के अंतर्गत हैं। बाली नाम का निर्वचन संस्कृत 'बल' से हो सकता है जिससे 'बली' अथवा 'बाली' संज्ञा का हो जाना असंभव नहीं होगा। इस द्वीप के निवासी अपने साहस और पराक्रम के लिये प्रसिद्ध हैं। अत: संभव है, इसी हेतु से इस देश का नाम बली वा बाली पड़ गया हो। यह संस्कृत नाम ही प्रतीत होता है। जावा एवं सुमात्रा नाम भी संस्कृत 'यव' (द्वीप) और सुवर्ण (द्वीप) अभिधानों से ही निकले हुए हैं।

बालीद्वीप दो राजनीतिक भागों में विभक्त है—एक तो पूर्णतया डच अधिकार में है और उसके दो विषय (जिले) हैं बुलेलेंग (Buleleng) और जेंब्रना (Jembrana); दूसरा प्राय: स्वतंत्र प्रदेश है और पाँच रियासतों में बँटा हुआ है; जिनके नाम हैं क्लुंग लुंग (Klung Lung), बेंग्ली (Bangli), मेंगुई (Mengui), बडुंग (Badung) और तबनम (Tabnam)।

तीन चार सौ वर्ष पहले जावा में हिंदू धर्म का ही प्राधान्य था एवं बाली और लौंबोक में अब भी हिंदू धर्म का ही प्राधान्य है यहाँ तक कि सती की प्रथा भी वहाँ पाई जाती है (और अब शायद इस प्रथा को रोका जा रहा हो)। वर्णाश्रम धर्म का पूरा प्रचार है; यहाँ तक कि मद्रास प्रांत की तरह वहाँ 'पंचम' अथवा 'पैरिआ' जाति भी मानी गई है। यहाँ का हिंदू

धर्म बौद्ध धर्म से मिश्रित अवश्य है और भूत-प्रेतों को भी इसमें स्थान दिया गया है। आजकल भी, जैसा हिंदुस्तान में पहले रिवाज था या अब भी कहीं कहीं है, वहाँ भूत प्रेतों को उच्चाटन करने की रीतियाँ देखी जाती हैं जिनका उल्लेख चाणक्य ने अपने अर्थ-शास्त्र में किया है अथवा कई एक शिलालेखों में पाया जाता है।

बालीद्वीप के धर्म-ग्रंथ 'कवि' भाषा में लिखे जाते हैं। यह भाषा प्राचीन काल में यवद्वीप (जावा) में प्रचलित थी। इसका पूरा नाम 'बसकवी' (Basa-kawi) है जो कि 'कविभाषा' का अपभ्रंश है और जिसका अर्थ विद्वानों की बोली ही हो सकता है। यह ग्रंथ अब भी तालपत्रों पर लिखे जाते हैं।

भारतवर्ष से सन् ईसवी की पहली शताब्दी के लगभग जावा अथवा बालीद्वीप में लोग जाकर बसे ऐसा माना जाता है। हिमालय से कन्याकुमारी तक अपनी सभ्यता फैलाकर उन्होंने समुद्र लाँघकर भी अपनी उन्नति का परिचय यत्र तत्र भारत के पूर्वतम प्रदेशों वा द्वीपों में जा जाकर दिया। पहले पहल कब हम लोग वहाँ गए इसका निश्चित ज्ञान नहीं है। हाँ, इतना कह सकते हैं कि हिंदू सभ्यता ईसा मसीह की अग्रिम शताब्दियों में पूर्वीय द्वीपसमूहों में अवश्य जा चुकी थी। कोईटई (Koetei, East Barnes) में महाराज मूलवर्मन् के कई एक यूप पाए गए हैं जिन पर लेख भी खुदे हुए हैं। ये लेख इस बात का अकाट्य प्रमाण एवं साक्षी दे रहे हैं कि वहाँ वैदिक यज्ञ किए गए, यूप अथवा याज्ञिक खंभे खड़े किए गए और उच्च कोटि के ब्राह्मणों अथवा विप्रों को, जिन्होंने वे याग करवाए थे, 'भूरि दक्षिणा' दी गई। इन लेखों का काल चौथी शताब्दी से कम नहीं। सन् ४१४ ईसवी के लगभग चीनी यात्री फाहियान (Fa Hien) का जावा अथवा सुमात्रा (Ye-po-ti) में जाना और वहाँ उसका ब्राह्मणों को अच्छी स्थिति में देखना इतिहासज्ञ जानते ही हैं जिससे उन दूरस्थ देशों में हिंदू सभ्यता का प्रचार अथवा ब्राह्मणगौरव का उस समय स्थापित होना स्पष्ट ही है।

ईचिंग (I-tsing), जिसने प्रायः ई० ६७१ में यात्रा की थी, इस बात का दूसरा साक्षी है। यह महात्मा सुमात्रा द्वीप में गया और वहाँ इसने पालेंबंग (Palembang) के पास फोस (Foche) नामक स्थान में छः महीने ठहरकर संस्कृत व्याकरण का अध्ययन किया। कितने गौरव की बात है! सातवीं शताब्दी में इन द्वीपों पर शैलेंद्र वंश के राजाओं का आधिपत्य था जैसा कि मेरे निकाले हुए नालंदा के ताम्रपट्ट एवं अन्यान्य लेखों से सिद्ध है। इस वंश के लोग पहले पहल कौन थे और कहाँ के रहनेवाले थे इसका अभी निर्णय नहीं हुआ। परंतु इसमें संदेह नहीं कि ये उस समय हिंदूधर्मावलंबी थे। हिंदू शब्द का यहाँ विस्तृत अर्थ में प्रयोग है और वह एतद्देशीय धर्म का बोधक है।

अभी तक हमें बोरनियो (Borneo) से ही सबसे पुराने लेख मिले हैं जो कि महाराज मूलवर्मन् के हैं जिनकी अभी सूचना दी है। इनसे थोड़े अर्वाचीन लेख जावा में कुछ एक चट्टानों पर खुदे हैं जिनमें राजा पूर्णवर्मन् का वर्णन है और जो ईसा के ४५० वर्ष पीछे के हैं। ये लेख संस्कृत भाषा में लिखे हुए हैं और इनमें पूर्णवर्मन की तुलना विष्णु से की गई है। क्या यह साक्षी मनुस्मृति के—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

वचन के सारगर्भित होने का प्रमाण नहीं?

जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, बालीद्वीप जावा और सुमात्रा महाद्वीप का ही एक अंग है। जावा और सुमात्रा का पुराणों में वा अन्यान्य हिंदू ग्रंथों में क्रमशः यवद्वीप और सुवर्णद्वीप नामों से उल्लेख पाया जाता है।

वाल्मीकि-रामायण के अनुसार जावा अर्थात्, यवद्वीप प्राचीन समय में एक विस्तृत राज्य होगा जिसके आधिपत्य में सात छोटी छोटी रियासतें थीं।

यवद्वीपं सप्तराज्योपशोभितं (रामायण ४-४०.३०)—ऐसे वचनों से अनुमान किया जा सकता है कि बालीद्वीप इन सात रियासतों में से एक रियासत थी और यह यवद्वीप के अधीन थी।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि भारतवर्ष के कौन से भाग वा प्रदेश के लोगों को इन द्वीपसमूहों में हिंदू अथवा 'ब्राह्म' सभ्यता ले जाने का श्रेय प्राप्त हुआ। देखा जाता है कि हिंदुस्तान से जो लोग वहाँ गए हैं उन्हें केलिंग वा क्लिग के नाम से पुकारा जाता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ पहले दक्षिण-पूर्व वा कारुमंडल के लोग गए होंगे और उन्होंने ही भारतवर्ष की सभ्यता का वहाँ विस्तार किया होगा। केलिंग वा क्लिग, कलिंग शब्द का ही अपभ्रंश है इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। बालीद्वीप की एक स्वतंत्र रियासत अब भी विद्यमान है जिसका नाम क्लुंग लुंग (Klung Lung) है। यह संज्ञा भी कलिंग नाम की स्मारक है। सुमात्रा अथवा सुवर्णद्वीप में ऐसी जातियाँ अब भी पाई जाती हैं जिनका नाम पांडिय मेलिपल वा चोलिय है और जो इस बात का समर्थन करती हैं कि दाक्षिणात्यों को ही पहले वहाँ जाने का श्रेय प्राप्त हुआ होगा। अब तक इन द्वीपों में जो प्राचीन लेख मिले हैं, जिनका संबंध हमारे धर्म वा सभ्यता से है, वे सब पल्लव-ग्रंथलिपि में ही उल्लिखित हैं। इस लिपि का प्रचार दक्षिण में ही था। इसमें संदेह नहीं कि बौद्ध धर्म से संबंध रखनेवाले लेख प्राय: नागर अक्षरों में लिखे हुए हैं जैसा कि नालंदा से प्राप्त ताम्रपट्ट से वा कलासन के वा और लेखों से प्रमाणित होता है। संभव है बौद्ध धर्म का प्रचार उत्तरीय लोगों ने किया हो अथवा उन महात्माओं ने जिनका प्रेम नागराक्षरों से होगा। दक्षिण में भी तो ब्राह्मी लिपि का प्रयोग होता ही था जैसा कि अमरावती, जगय्यपेटा, नागार्जुनीकोंडा वा भट्टिप्रोलू आदि स्थानों से प्राप्त हुए लेखों से स्पष्ट देखा जाता है। इस अनुमान का समर्थन इस बात से भी होता है कि इन लेखों में प्राय: शक संवत् का ही प्रयोग किया

गया है क्योंकि शक संवत्, जो ईसा से ७८ वर्ष पीछे प्रचलित हुआ, मुख्य करके दक्षिण भारत में ही प्रयुक्त हुआ। विक्रम संवत् की गणना का तो इन द्वीपसमूहों के लेखों में अभाव सा ही है। यव-द्वीप में अवश्य ही संस्कृत का अधिक प्रचार रहा होगा। अब भी वहाँ राजाओं के नाम राज, प्रभु, भूपति आदि शब्दों से सुशोभित हैं और अधिकारी लोग मंत्री धक्स (अध्यक्ष) आदि पदों से पुकारे जाते हैं। यहाँ सबसे प्राचीन लेख, जो प्राप्त हुए हैं और जिनमें समय का उल्लेख भी है दो हैं, एक चंगल का, दूसरा दिनय का*। चंगल का शिलालेख संस्कृत में है और इसमें किसी संजयर नाम के राजा का, जिसके पूर्वज दक्षिण भारत के 'कुंजर कुंज' स्थान के निवासी थे, 'शिवलिंग' स्थापन करने का वर्णन है। इसका समय शक संवत् ६५४ (ई० ७३२) है। दिनय का लेख शक संवत् ६८२ (ई० ७६०) का है और इसमें हिंदुस्तान के प्रसिद्ध ऋषि अगस्त्य की मूर्त्ति स्थापन करने का उल्लेख है। अगस्त्य मुनि की दक्षिण भारत में ही बहुत करके पूजा होती है और इनके नाम से ही एक पहाड़ी 'अगस्त्य-मलै' या 'अगस्त्यकूटम्' टिनेवल्ली के समीप ट्रावनकोर राज्य में प्रसिद्ध है। यही मुनि दक्षिण भारत में वैदिक सभ्यता के प्रचारक हुए होंगे। दक्षिण नभो-मंडल में इस नाम के तारासमूह (Asterism) के उदय होने पर वर्षाकाल समाप्त होता है और उस समय समुद्रयात्रा का भय दूर हो जाता है—इस विश्वास पर भी इस 'अगस्त्य-पूजन' का प्रादुर्भाव हुआ होगा यह भी माना जा सकता है, जिससे यह प्रतीत होगा कि समुद्र-यात्रा करनेवाले दाक्षिणात्यों ने ही इन पूर्वतम द्वीप-समूहों में अगस्त्य मुनि की अर्चना सिखाई होगी और येही लोग उनकी मूर्त्ति के स्थापक बने होंगे। इन सब प्रमाणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि दाक्षिणात्य ही इस ओर वैदिक धर्म को अपने साथ ले

* विस्तार के लिये देखो Dor. Vagel का the Relation Bet. the Art of India and Java.

गए होंगे और उन्होंने ही इसका वहाँ प्रचार किया होगा। अब भी जो बालीद्वीप-निवासियों में इस धर्म का प्राधान्य है वह उनके ही सदुद्योग का फल है। बालीद्वीप में जो विद्वान् यहाँ* से गए हैं और जिन्होंने वहाँ का वर्णन किया है उनके लेखों से तो यही प्रतीत होता है कि इस द्वीप का बहुत सा भाग हिंदू है एवं बालीद्वीप में अब भी जो प्राय: स्वतंत्र हिंदू रियासतें विद्यमान हैं और जिनसे अब भी हिंदुओं का माथा ऊँचा हो सकता है इस सब का गौरव और श्रेय उन्हीं को देना चाहिए। उनका सद्भाव ही वास्तविक 'कीर्त्ति' है जिससे हिंदू संतान अपने पूर्व वैभव का अनुमान कर सकती है।

* विशालभारत, वर्ष १; खंड १, संख्या ३, पृ० ३८६—३९९।

(२१) वात्सल्यरस

[लेखक—श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय]

बालक परमात्मा का अधिक समीपी कहा जाता है, उसमें सांसारिक प्रपंच नहीं पाया जाता। जितना वह सरल होता है, उतना ही कोमल। छल उसे छूता नहीं, कपट का उसमें लेश नहीं। उसके मुखड़े पर हँसी खेलती रहती है, और उसकी चमकीली आँखों से आनंद की धारा बहती जान पड़ती है। उसके मुसकुराने में जो माधुर्य्य है, वह अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होता। वह जितना ही भोला भाला होता है, उतना ही प्यारा। उसकी तुतली बातें हृत्तंत्री में संगीत उत्पन्न करती हैं, और उसके कलित कंठ का कल-नाद कानों में सुधा बरसाता है। वह दांपत्य सुख का सर्वस्व है, भाग्यवान् गृहस्थ-गृह का उज्ज्वल प्रदीप है, और है स्वर्गीय लीलाओं का ललित निकेतन। परमात्मा का नाम आनंदस्वरूप है, बालक इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। एक उत्फुल्ल बालक को देखिए, इस मधुर नाम की सार्थकता उसके प्रत्येक उल्लास से हो जावेगी। बालकों की इस आनंदमयी मूर्ति का चित्रण अनेक भावुक कवियों ने बड़ी ही मार्मिकता से किया है। इस रससमुद्र में जो जितना ही डूबा, वह उतना ही भाव-रत्न संचय करने में समर्थ हुआ। एक अँगरेज सुकवि की लेखनी का लालित्य देखिए। वह लिखता है—

'I have no name:
I am but two days old;'
What shall 'I call thee ?'
'I happy am,
Joy is my name.'
'Sweet joy befall thee !

Pretty Joy!
Sweet Joy, but two days old.
Sweet Joy I call thee :
Thou dost smile
I sing the while,
Sweet joy befall thee !'

W. Blake.

मेरा नामकरण अभी नहीं हुआ है, मैं दो दिन का बच्चा हूँ। तो हम तुमको क्या कहकर पुकारें ? मैं मूर्तिमान् उल्लास हूँ, मेरा नाम आनंद है। तो तुमको मधुरतर आनंद प्राप्त हो !

मेरे प्रियतर आनंद ! मेरे मधुरतर आनंद ! मेरे दो दिन के प्यारे बच्चे ! तुझको मधुर से मधुर आनंद प्राप्त हो !

तुम मधुर हँसी हँसो, मुसकुराओ, मैं भी स्वर्गीय गान आरंभ करता हूँ—भोले भाले बच्चे, तुझको अधिकाधिक आनंद प्राप्त हो!

बालभावों का चित्रण करने में, उनके आनंद और उल्लासों के वर्णन में कविकुलशिरोमणि सूरदासजी की सुधावर्षिणी लेखनी ने बड़ी ही मार्मिकता दिखलाई है—आहा ! देखिए—

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुन चलत रेनु तनु मंडित मुख दधि-लेप किए ॥
चारु कपोल लोल लोचन गोरोचनतिलक दिए।
लट लटकनि मनो मत्त मधुपगन मादक मदहिं पिए ॥
कठुला कंठ, बज्र, केहरि-नख, राजत रुचिर हिए।
धन्य 'सूर' एको पल या सुख का सत कल्प जिए ॥ १ ॥

हौं बलि जाउँ छबीले लाल की।
धूसर धूरि घुटुरुवनि रेंगनि, बोलन बचन-रसाल की ॥
छिटिक रहीं चहुँ दिसि जु लटुरियाँ लटकन लटकति भाल की।
मोतिन सहित नासिका नथुनी कंठ कमल-दल-माल की ॥
कछुकै हाथ कछू मुख माखन चितवनि नैन बिसाल की।
सूर सु प्रभु के प्रेम मगन भईं ढिग न तजनि ब्रज बाल की ।२॥

हरिजू की बाल-छबि कहौं बरनि।
सकल सुख की सींव कोटि मनोज-सोभा-हरनि ॥
मंजु मेचक मृदुल तनु अनुहरत भूखन भरनि।
मनहुँ सुभग सिंगार सुरतरु फरयो अद्‌भुत फरनि ॥
लसत कर प्रतिबिंब मनि आँगन घुटुरुवनि चरनि।
जलज संपुट सुभग छबि भरि लेति उर जनु धरनि ॥
पुन्य फल अनुभवति सुतहिं बिलोकिकै नँदघरनि।
सूर प्रभु की बसी उर किलकनि ललित लरखरनि ॥ ३ ॥
—सूरसागर

हिंदी-साहित्य-गगन-मयंक गोस्वामी तुलसीदासजी का कवित्व-संबंधी सर्वोच्च सिंहासन बाललीला-वर्णन में भी सर्वोच्च ही रहा है। क्या भावसौंदर्य, क्या शब्दविन्यास, सभी बातों में उनकी कीर्तिपताका भगवती वीणापाणि के उच्चतर करकमलों में ही विद्यमान है। देखिए रससमुद्र किस सरसता से तरंगायित है—

नेकु बिलोकि धौं रघुबरनि।
चारि फल त्रिपुरारि तोको दिए कर नृपघरनि ॥
बाल भूखन बसन तन सुंदर रुचिर रज भरनि।
परसपर खेलनि अजिर उठि चलनि, गिरि गिरि परनि ॥
झुकनि झाँकनि छाँह सों किलकनि, नटनि, हठि लरनि।
तोतरी बोलनि, बिलोकनि, मोहनी मनहरनि ॥
चरित निरखत बिबुध तुलसी ओट है जलधरनि।
चहत सुर सुरपति भयो सुरपति भए चहैं तरनि ॥ ४ ॥

छँगन मँगन अँगना खेलत चारु चारयो भाई।
सानुज भरत लाल लखन राम लोने लरिका लखि मुदित मातु समुदाई ॥
बाल बसन भूखन धरे नखसिख छबि छाई।
नील पीत मनसिज सरसिज मंजुल मालनि मानो है देहनि ते दुति पाई ॥
ठुमुक ठुमुक पग धरनि नटनि लरखरनि सुहाई।

भजनि मिलनि रूठनि तूठनि किलकनि अवलोकनि बोलनि बरनि न जाई ॥
सुमिरत श्री रघुबरन की लीला लरकाई ।
तुलसिदास अनुराग अवध आनँद अनुभवत तब को सो अजहुँ अघाई ॥५॥

छोटी छोटी गोड़ियाँ अँगुरियाँ छबीली छोटी
नखजोति मोती मानो कमल-दलनि पर ।
ललित आँगन खेलैं, ठुमुक ठुमुक चलैं,
झुँझुनु, झुँझुनु पाय पैंजनी मृदु मुखर ॥
किंकिनी कलित कटिहाटकजटित मनि
मंजु कर कंजन पहुँचियाँ रुचिरतर ।
पियरी झीनी झँगुली साँवरे सरीर खुली
बालक दामिनि ओढ़ी मानो बारे बारिधर ॥
उर बघनहा, कंठ कठुला, झँडूले केस,
मेढ़ी लटकन मसि बिंदु मुनि मनहर ।
अंजन रंजित नैन, चित चोरै चितवनि मुख-
सोभा पर वारौं अमित कुसुमसर ॥
चुटकी बजावति नचावति कौसल्या माता
बालकेलि गावति मल्हावति सुप्रेम भर ।
किलकि किलकि हँसैं, द्वै द्वै दतुरियाँ लसैं
तुलसी के मन बसैं तोतरे बचन बर ॥ ६ ॥

कैसा सरस और अद्भुत बालकेलि-वर्णन है। ऐसे और कई एक पद गीतावली में हैं, किंतु सबके उद्धृत करने का स्थान कहाँ! इच्छा होने पर भी उनको छोड़ता हूँ। कुछ रचनाएँ खड़ी बोली की भी देखिए। सामयिक रुचि की रक्षा के लिये ही ऐसा किया जाता है, नहीं तो अमृतरस-पान कराकर इक्षुरस पिलाने का उद्योग कौन करेगा।

लड़कपन

भोला भाला बहुत निराला लाखों आँखों का उँजियाला ।
खिले फूल सा खिला फबीला बड़े छबीले मुखड़ेवाला ॥१॥

हँसी खेल का पुतला प्यारा बड़ा रँगीला नोखा न्यारा ।
जगमग जगमग करनेवाला उगा हुआ चमकीला तारा ॥२॥
स्वर्ग लोक में रहनेवाला रस सोतों में बहनेवाला ।
जी को बहुत लुभानेवाला बात अनूठी कहनेवाला ॥३॥
रस के किसी पेड़ से टूटा फल उमँग हाथों का लूटा ।
समय बड़ी सुथरी चादर पर कढ़ा सुनहला सुंदर बूटा ॥४॥
महँक भरे फूलों का दोना हँसती हुई आँख का टोना ।
लेनेवाला मोल मनों का खरा चमकनेवाला सोना ॥५॥
साथ रंग-रलियों के खेला मीठा बजनेवाला बेला ।
मनमानापन का मतवाला बड़ा लड़कपन है अलबेला ॥६॥

चंदखिलौना

चंदा मामा दौड़े आओ दूध कटोरा भरकर लाओ ।
उसे प्यार से हमें पिलाओ मुझ पर छिड़क चाँदनी जाओ ॥१॥
मैं तेरा मृगछौना लूँगा उसके साथ हँसूँ खेलूँगा ।
उसकी उछल कूद देखूँगा उसको चाटूँगा चूमूँगा ॥२॥
तू है अगर चाँदनीवाला तो मैं भी हूँ लाल निराला ।
जो तू अमृत है बरसाता तो मैं हूँ रस-सोत बहाता ॥३॥
जो तेरी किरणें हैं न्यारी तो मेरी बातें हैं प्यारी ।
तू है मेरा चंद खिलौना मैं हूँ तेरा छुन्ना मुन्ना ॥४॥

बालविभव

बालकों में कैसी आकर्षणी शक्ति होती है, उनके भाव कितने भोले होते हैं, उनमें कितनी विनोदप्रियता, रंजनकारिता और सरसता होती है, ऊपर की रचनाओं को पढ़कर यह बात भली भाँति हृदयंगम हो गई होगी। ऐसे बालक किसके वल्लभ न होंगे, कौन उन्हें देखकर उत्फुल्ल न होगा, कौन उन्हें प्यार न करेगा, और वे किसके उल्लाससरोवर के सरसीरुह न बनेंगे? मा बाप के तो बालक सर्वस्व होते हैं, ऐसी अवस्था में उनको देखकर उनके हृदय में अनुराग संबंधी अनेक सुंदर भावों का उदय होना स्वाभाविक है।

मा बाप अथवा गुरुजनों का यह भाव परिपुष्ट होकर विशेष आस्वाद्य हो जाता है, वही, कुछ सहृदय जनों की सम्मति है कि, वात्सल्य रस कहलाता है। अधिकतर आचार्य्यों ने नौ रस ही माने हैं, वे वात्सल्य भाव को अलग रस नहीं मानते। इस भाव ही को नहीं, बड़ों का छोटों के प्रति जो अनुराग होता है, उन सबको वे वात्सल्य कहते हैं, और 'रति' स्थायी भाव में उनका अंतर्भाव करते हैं। उन लोगों का विचार है कि रस का जितना परिपाक शृंगार में होता है, वात्सल्य में नहीं, अतएव इसको वे 'भाव' ही मानते हैं, रस नहीं। कुछ सम्मतियाँ देखिए—

काव्यप्रकाशकार ने रसों का नाम उल्लेख करने के पहले लिखा है—"तद्विशेषानाह"। इसकी व्याख्या करते हुए 'बालबोधिनी' टीकाकार लिखते हैं—

"केचिदाहुरेक एव शृंगारो रस इति। केचिच्च प्रेयांसदांतोद्धतैः सह वक्ष्यमाणाः नवेति द्वादशरसाः। तत्र स्नेहप्रकृतिकः प्रेयांसः अयमेव वात्सल्य इति बोध्यम्। धैर्य्य स्थायीभावको दांतः, गर्वस्थायीभावक उद्धतः। जन्मतनिरासाय सामान्यज्ञानोत्तरं विशेषजिज्ञासोदयाच्च वृत्तिकृदाह—तद्विशेषानाहेति—तद्-विशेषान् नवरसस्य विशेषान् भेदान्। रससामान्यलक्षणं तु रस-त्वमेव, नच तत्र मानाभावः, रसपदशक्यतावच्छेदकतया तत्सिद्धेः'"

किसी की सम्मति है कि एक शृंगार रस ही रस है, किसी ने प्रेयांस, दांत, उद्धत के साथ वर्णित नवरस को द्वादश रस माना है। जिस रस का स्थायी स्नेह हो उसको प्रेयांस कहते हैं, इसी का नाम वात्सल्य है। जिसका स्थायी धैर्य्य है, उसको दांत, जिसका स्थायी गर्व है, उसको उद्धत कहा गया है। इन मतों के निरसन के लिये और सामान्य ज्ञान के उपरांत विशेष जिज्ञासा उदय होने पर वृत्तिकार कहते हैं 'तद् विशेषानाह' उस रस के विशेष भेदों को बतलाता हूँ। रस का सामान्य लक्षण रसत्व है, इसके लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, रस पद की शक्यता से ही वह सिद्ध है।

एक दूसरे स्थान पर वे लिखते हैं—

"प्रेयांसादित्रयस्तु भावांतर्गताः इति भावः। एतेनाभिलाषस्थायिको लौल्यरसः, श्रद्धास्थायिको भक्तिरसः, स्पृहास्थायिकः कार्पण्याख्यो रसेतिरिक्त इत्यपास्तम् त्रयाणामपि भावांतर्गतत्वात्"।

"प्रेयांसादि तीनों को 'भाव' के अन्तर्गत माना है। जिसका स्थायी अभिलाष है उसको लौल्यरस, जिसका स्थायी श्रद्धा है उसको भक्तिरस, जिसका स्थायी स्पृहा है उसको कार्पण्य रस कहा है, किंतु ये तीनों भी भाव ही के अंतर्गत हैं"।

सोमेश्वर की सम्मति निम्नलिखित बतलाई गई है —

"स्नेहोभक्तिर्वात्सल्यमिति रतेरेव विशेषाः। तेन तुल्ययोरन्योन्यं रतिः स्नेहः, अनुत्तमस्योत्तमे रतिर्भक्तिः, उत्तमस्यानुत्तमे रतिर्वात्सल्यम्—इत्येवमादौ भावस्यैवास्वाद्यत्वमिति"।

स्नेह, भक्ति, वात्सल्य, रति के ही विशेष रूप हैं। तुल्यों की अन्योन्य रति का नाम स्नेह, उत्तम में अनुत्तम की रति का नाम भक्ति, और अनुत्तम में उत्तम की रति का नाम वात्सल्य है। आस्वाद्य की दृष्टि से ये सब 'भाव' ही कहे जाते हैं।

एक अन्य विद्वान् की अनुमति यह है—

"स्नेहोभक्तिर्वात्सल्यमैत्री आबंध इतिरतेरेव विशेषाः। तुल्ययोर्मिथोरतिः स्नेहः प्रेमेति यावत्। तथा तयोरेव निष्कामतया मिथोरतिर्मैत्री, अवरस्य वरे रतिर्भक्तिः। सैवाविपरीता वात्सल्यम्। सचेतनानामचेतने रतिराबंध इति।"

स्नेह, भक्ति, वात्सल्य, मैत्री, आबंध, रति के ही विशेष रूप हैं। तुल्य लोगों की परस्पर रति, स्नेह अथवा प्रेम, उनकी परस्पर निष्काम रति 'मैत्री', श्रेष्ठ में साधारण की रति 'भक्ति', छोटों में बड़ों की रति 'वात्सल्य' और अचेतन में सचेतन की रति 'आबंध' कहलाती है।

ऊपर के अवतरणों के देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि वात्सल्य को रति का ही रूप माना गया है, और यह बतलाया गया है कि वह 'रस' नहीं 'भाव' है। साहित्यदर्पणकार 'भाव' का लक्षण यह बतलाते हैं—

"संचारिण: प्रधानानि देवादिविषया रति: ।
उद्‌बुद्धमात्र: स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ॥"

"प्रधानता से प्रतीयमान निर्वेदादि संचारी तथा देवता गुरु आदि के विषय में अनुराग एवं सामग्री के अभाव से रस रूप को अप्राप्त उद्‌बुद्धमात्र रति, हास, आदिक स्थायी, ये सब 'भाव' कहाते हैं"।

दूसरे स्थान पर वे लिखते हैं—

"देव, मुनि, गुरु, नृपादि विषया च रतिरुद्‌बुद्धमात्राविभावादिरपरिपुष्टतया रसरूपतामनापद्यमानाश्च स्थायिनो भावाभावशब्दवाच्या: ।"

"देवता, मुनि, गुरु और नृपादि-विषयक रति (अनुराग) भी प्रधानतया प्रतीत होने पर 'भाव' कहलाती है, और उद्‌बुद्धमात्र अर्थात् विभावादि सामग्री के अभाव से परिपुष्ट न होने के कारण रस रूप को अप्राप्त हास,क्रोधादि भी 'भाव' ही कहलाते हैं"।

काव्यप्रकाशकार की भी यही सम्मति है। वे लिखते हैं—

"रतिर्देवादिविषया: व्यभिचारी तथांजित:—भाव: प्रोक्त: ।"

बालबोधिनी टीकाकार की व्याख्या यह है—

"रतिरिति सकलस्थायीभावोपलक्षणम् । देवादिविषयेत्यपि अप्राप्तरसावस्थोपलक्षणम् । तथा शब्दश्चार्थे । तेन देवादिविषया सर्वप्रकारा, कांतादिविषयापि अपुष्टरति:, हासादयश्च अप्राप्तरसावस्था:, विभावादिभि: प्राधान्येनांजितो व्यंजितो व्यभिचारी भाव: भाव: प्रोक्त: भावपदाभिध्येय: ।"

भावार्थ इसका यह है कि देवता, मुनि, गुरु, नृप अथच पुत्रादिविषयक अनुराग (रति) कांतादि विषयिणी अपुष्ट रति, विभावादि

के प्राधान्य से व्यंजित व्यभिचारी, और रस अवस्था को अप्राप्त हासादिक स्थायी की 'भाव' संज्ञा होती है।

'भाव' का लक्षण आप लोगों ने देखा, अब 'रस' का लक्षण देखिए। नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि लिखते हैं—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'।

विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

काव्यप्रकाशकार की यह सम्मति है—

''कारणान्यथकार्याणि सहकारिणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥
विभावा अनुभावाश्च कथ्यंते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसस्मृतः॥''

नाट्य और काव्य में रति आदिक स्थायी भावों के जो कारण, कार्य और सहकारी होते हैं, उनको विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी क्रम से कहते हैं। इन विभावादि की सहायता से व्यक्त स्थायी भाव की रस संज्ञा होती है।

विभावादिकों की व्याख्या 'बालबोधिनी' टीकाकार ने यह की है—

'वासनारूपतयातिसूक्ष्मरूपेणावस्थितान् रत्यादीन् स्थायिनः विभावयंति आस्वादनयोग्यतां नयंतीति विभावः।'

वासना रूप से अति सूक्ष्म आकार में स्थित रति आदिक स्थायी भावों को जो आस्वादन योग्य बनाते हैं, उनको विभाव कहते हैं—यथा नायक, नायिका, पुष्पवाटिकादि।

'रत्यादीन् स्थायिनः अनुभावयंति अनुभवविषयीकुर्वंतीति अनुभावाः'।

रति आदिक स्थायी भावों को जो अनुभव का विषय बनाते हैं उनको अनुभाव कहते हैं—यथा कटाक्षादि।

"विशेषेणाभित: (सर्वांगव्यापितया) रत्यादीन् स्थायिन: काये चारयंति संचारयंति मुहुर्मुहुरभिव्यंजयंतीति वा व्यभिचारिण: ।"
"स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्ना: कल्लोलइव वारिधौ ।"

सर्वांग में व्यापित होकर जो रति आदिक स्थायी भावों के शरीर में संचरण करते हैं, समुद्र में कल्लोल समान उठते और विलीन होते हैं, उनको संचारी भाव कहते हैं—हर्ष, उद्वेग, चपलता आदि इसके उदाहरण हैं।

रस की यह परिभाषा अथवा लक्षण साहित्यिक है, इससे जैसा चाहिए वैसा प्रकाश प्रस्तुत विषय पर नहीं पड़ता। काव्यप्रकाश-कार ने रस की जो निम्नलिखित व्याख्या की है, वह सर्वबोधगम्य एवं मानस अवस्था की सूचक है।

"पानकरसन्यायेन चर्व्यमाण: पुरइव परिस्फुरन्हृदयमिव प्रविशन् सर्वांगीणमिवालिंगन् अन्यत् सर्वमिव तिरोदधत् ब्रह्मास्वादमिवानु-भावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृंगारादिको रस: ।"

पानक रस के समान जिनका आस्वाद होता है, जो स्पष्ट झलक जाते, हृदय में प्रवेश करते, व्याप्त होकर सर्वांग को सुधारससिंचित बनाते, अन्य वेद्य विषयों को ढक लेते, और ब्रह्मानंद के समान अनुभूत होते हैं, वे ही अलौकिक चमत्कार संपन्न शृंगारादि रस कहलाते हैं।

भाव किसे कहते हैं? रस में क्या विशेषता है? ऊपर के अवतरणों को पढ़कर यह बात आप लोगों ने समझ ली होगी। वास्तविक बात यह है कि विशेष उत्कर्षप्राप्त, हृदयग्राही, व्यापक, अनिर्वचनीय आनंदप्रद और अधिकतर मनोमुग्धकर भाव ही रस कहलाता है। दुग्ध की स्वाभाविक सरसता और मधुरता कम नहीं, किंतु अवट जाने पर जब वह अधिक गाढ़ा हो जाता है, और सुस्वादु मेवों के साथ, जब उसमें सिता भी सम्मिलित हो जाती है, तो उसका आस्वाद कुछ और ही हो जाता है, रसों की भी कुछ ऐसी ही अवस्था है। नाट्यशास्त्र-प्रणेता कहते हैं—

'न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।
परस्परकृता सिद्धिरनयोरस भावयोः ॥

"रस के बिना भाव नहीं और भाव के बिना रस नहीं होते। इन रस और भावों की सिद्धि एक दूसरे पर निर्भर है।"

रस और भावों में इतनी स्पष्टता होने पर भी रस और भाव के निरूपण में एकवाक्यता नहीं है। विभिन्न मत इस विषय में भी हैं, और अब तक कोई ऐसा सिद्धांत निश्चित नहीं हुआ, जो सर्वमान्य हो। ऊपर आप यह वाक्य देख चुके हैं, 'केचिद्दाहुरेक एव शृंगारो रस इति' जिससे पाया जाता है कि कोई कोई आचार्य शृंगार रस को ही रस मानते हैं, और किसी रस को रस मानना ही नहीं चाहते। साहित्यदर्पणकार लिखते हैं कि उनके पितामह पंडित-प्रवर नारायण अद्भुत रस को ही रस मानते हैं, अन्य रसों को वे स्वीकार ही नहीं करते। यथा—

"रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ॥
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ।"

"सब रसों में चमत्कार साररूप से प्रतीत होता है। और चमत्कार (विस्मय) के साररूप (स्थायी) होने से सब जगह अद्भुत रस ही प्रतीत होता है, अतः पंडित नारायण केवल एक अद्भुत रस ही मानते हैं।"

उत्तररामचरितकार करुण रस को ही प्रधान मानते हैं, वे लिखते हैं—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदा-
द्भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान् ।
आवर्त्तबुद्बुदतरंगमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम् ॥

एक करुण रस ही निमित्तभेद से भिन्न होकर पृथक् पृथक् परिणामों को ग्रहण करता है। जल के आवर्त्त, बुद्बुद, तरंगादि जितने विकार हैं, वे समस्त सलिल ही होते हैं।

नाट्यशास्त्रकार ने आठ ही रस माने हैं। यथा—

शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसा स्मृताः॥

नाट्य में शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत आठ रस माने गए हैं।

काव्यप्रकाशकार ने नवाँ शांत रस भी माना है। यथा—

निर्वेदस्थायिभावोस्ति शांतोपि नवमो रसः।

नवम रस शांत है जिसका स्थायी भाव निर्वेद है।

रसगंगाधरकार कहते हैं—

"अथ कथमेतएव रसाः? भगवदालंबनस्य रोमांचाश्रुपाता-दिरनुभावितस्य हर्षादिभिः पोषितस्य, भागवतादिपुराणश्रवणसमये भगवद्भक्तैरनुभूयमानस्य भक्तिरसस्य दुरपन्हवत्वात्। भगवदनुरागरूपा भक्तिश्चात्र स्थायिभावः। न चासौ शांतरसेन्तर्भावमर्हति, अनुरागस्य वैराग्यविरुद्धत्वात्। उच्यते—भक्तेर्देवादिविषयरतित्वेन भावांतर्गत-तया, रसत्वानुपपत्तेरिति।"

क्या रस इतने ही हैं? भगवान् जिसके आलंबन हैं, रोमांच अश्रुपातादि जिसके अनुभाव हैं, भागवतादि पुराणश्रवण के समय भगवद्भक्त भक्तिरस के उद्रेक से जिसका अनुभव करते हैं, वही भग-वदनुरागरूपा भक्ति यहाँ स्थायीभाव है। शांत रस में इसका अंतर्भाव नहीं हो सकता क्योंकि अनुराग और वैराग्य परस्पर विरोधी हैं। किंतु भक्ति देवादि रति विषय से संबंध रखती है, अतएव वह भाव के अंतर्गत है, उसमें रसत्व नहीं माना जा सकता।

रसगंगाधरकार पंडितराज जगन्नाथ असाधारण विद्वान् थे, वे स्वयं प्रश्न उपस्थित करते हैं कि क्या रस इतने ही हैं? प्रश्न उपस्थित करने के उपरांत पूर्व पक्ष का प्रतिपादन बड़ी योग्यता से

करते हैं। जिन विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों के आधार से स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त होता है, उसका निरूपण भी यथेष्ट करते हैं, उनकी पंक्तियों को पढ़ते समय ज्ञात होने लगता है कि आप भक्ति को रस स्वीकार करेंगे, किंतु उन्होंने उसको देवादि-विषयिनी रति कहकर 'भाव' ही माना। और यह भी नहीं बतलाया कि देवविषयक रति को रसत्व क्यों नहीं प्राप्त होता। परमात्मा का नाम रस है, श्रुति कहती है, 'रसो वै सः'। रस शब्द का अर्थ है, 'यः रसयति आनंदयति स रसः'। वैष्णवों को माधुर्य उपासना परम प्रिय है, अतएव भगवदनुरागरूपा भक्ति को वे रस मानते हैं। यह विषय पंडितराजजी के लक्ष्य में था, इसलिये उन्होंने पूर्व पक्ष में उसको ग्रहण किया, किंतु प्राचीन आचार्यों की सम्मति को प्रधान मानकर उसको भाव ही बतलाया।

आगे के पृष्ठों में आप पढ़ चुके हैं कि कुछ रसनिर्णायकों ने प्रेयांस, दांत, उद्धत, लौल्य, भक्ति और कार्पण्य को भी रस माना है। ज्ञात होता है कि इन लोगों का विचार भी पंडितराजजी के ध्यान में था, और इसलिये भी सबमें भक्ति को प्रधान समझकर उन्होंने उसके रस होने के विरुद्ध अपनी लेखनी चलाई। जो हो, मेरे कथन का अभिप्राय यह है कि रसनिरूपण का विषय निर्विवाद नहीं है। जैसा आप लोग देख चुके, इस विषय में भी भिन्न भि आचार्यों के भिन्न भिन्न मत हैं। हाँ, यह अवश्य है कि अधिक सम्मति नव रस संबंधिनी है। जिस प्रकार यह सत्य है, उसी प्रकार यह भी सत्य है कि कुछ मान्य विद्वानों ने वात्सल्य रस को भी दसवाँ रस माना है। उनमें मुनींद्र और साहित्यदर्पणकार का नाम विशेष उल्लेख योग्य है। साहित्यदर्पणकार लिखते हैं—

"स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः* ।"

स्पष्ट चमत्कारक होने के कारण वत्सल को भी रस कहा गया है।

---

* भोजदेव ने भी अपने 'शृंगारप्रकाश' नामक ग्रंथ में 'वत्सल' को रस माना है, और रसों की संख्या दश बतलाई है। वे लिखते हैं—

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने भी अपने नाटक नामक ग्रंथ में 'वत्सल' को रस माना है। उन्होंने रसों के नामों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

"शृंगार, हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत, वीभत्स, शांत, भक्ति वा दास्य, प्रेम वा माधुर्य्य, सख्य, वात्सल्य, प्रमोद वा आनंद।"

'प्रकृतिवाद' बँगला का एक प्रसिद्ध कोष है। उसके रचयिता वंग भाषा के एक प्रसिद्ध विद्वान् हैं। वे रस शब्द का अर्थ बतलाते हुए लिखते हैं—

"केहो केहो वात्सल्यकेओ रस बलियाथाकेन, तन्मते रस दश प्रकार।"—"कोई कोई वात्सल्य को भी रस कहते हैं, उनके मत से रस दश प्रकार का होता है।"

साहित्यदर्पणकार ने वत्सल को रस मानने का कारण उसका स्पष्ट चमत्कारक होना बतलाया है, साथ ही उसको मुनींद्रसम्मत भी लिखा है। मेरा विचार है कि वत्सल में उतना स्पष्ट चमत्कार नहीं है, जितना भक्ति में, किंतु उसको उन्होंने भी रस नहीं माना। बाबू हरिश्चंद्र ने भक्ति वा दास्य लिखकर उसको दास्य तक परिमित कर दिया है, किंतु भक्ति बहुत व्यापक और उदात्त है, साथ ही उसमें इतना चमत्कार है, कि शृंगार रस भी उसकी समता नहीं कर सकता। वैष्णव विद्वानों ने भक्ति को रस माना है, और अन्य सब रसों से उसको प्रधानता दी है। आचार्यवर मधुसूदन सरस्वती अपने भक्तिरसायन नामक ग्रंथ में लिखते हैं—

शृंगारवीरकरुणाद्भुतहास्यरौद्र-
वीभत्सवत्सलभयानकशांतनाम्नः।
आम्नासियुर्दशरसान् सुधियो वदंति
शृंगारमेव रसनाद्रस मामनामः।

शृंगार, वीर, करुणा, अद्भुत, हास्य, रौद्र, वीभत्स, वत्सल, भयानक, और शांत नामक दश रस बुद्धिमानों ने बतलाए हैं, किंतु आस्वादन पर दृष्टि रखकर शृंगार ही रस माना जा सकता है।

रसांतरविभावादिसंकीर्णा भगवद्रतिः ।
चित्ररूपवदन्याद्दग्रसतां प्रतिपद्यते ॥
रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथोर्जितः ।
भावः प्रोक्तो रसो नेति यदुक्तं रसकोविदैः ॥
देवांतरेषु जीवत्वात् परानंदाप्रकाशनात् ।
तद्योज्य—परमानंदरूपेण परमात्मनि ॥
कांतादिविषया वा ये रसाद्यास्तत्र नेद्दशम् ।
रसत्वं पुष्यते पूर्णसुखास्पर्शित्वकारणात् ॥
परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः ।
खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा ॥

अन्य रसों के समान विभावादि से युक्त होकर भक्ति चित्रफलक के सदृश मनोरंजन बनकर रसत्व को प्राप्त होती है। रसकोविदों ने देवादिविषयक रति और अर्जित व्यभिचारी को भाव बतलाया है रस नहीं, किंतु इस विचार को अन्य देवताओं तक ही परिमित समझना चाहिए, क्योंकि उन लोगों की रति अलौकिक आनन्द-दायिनी नहीं होती, परमानंदस्वरूप परमात्मा की भक्ति के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। कांतादि-विषयक रसों में रसत्व का पोषण यथेष्ट नहीं होता, क्योंकि उनको पूर्ण-सुख स्पर्श नहीं करते। प्राकृत क्षुद्र रसों से परिपूर्णरसा भगवद्भक्ति वैसी ही बलवती है, जैसी खद्योतों में आदित्य की प्रभा।

संभव है, इस उक्ति को रंजित माना जावे, किंतु अभिनिविष्ट चित्त से विचार करने पर वह सत्य समझी जावेगी। भक्ति नव प्रकार की होती है—यथा।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

भारतेंदुजी ने जिन नवीन रसों की चर्चा अपने लेख में की है, लगभग उन सबका अंतर्भाव भक्ति में हो जाता है। भक्ति दास्य ही

नहीं है, यह बात इस श्लोक से स्पष्ट हो गई। आचार्यप्रवर मधुसूदन सरस्वती की उक्ति का समर्थन भी अधिकांश में नवधा भक्ति करती है। पादसेवनं से लेकर दास्यं, सख्यं, आत्म-निवेदनं तक भक्ति का चमत्कार है। दांपत्य धर्म का सर्वस्व भी दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन है। यों तो भगवदाज्ञा है, कि 'ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम्' किंतु व्यापक भगवदु-पासना तीन ही रूप में होती है। १—पिता पुत्र भाव, २—स्वामी सेवक भाव और ३—पति पत्नी भाव में। शृंगार रस में प्रधान नायक पति और प्रधान नायिका स्वकीया होती है। ऐसी अवस्था में शृंगार रस का भी अधिकांश भक्ति के अंतर्गत आ जाता है। कबीर साहब निर्गुण उपासक माने जाते हैं। कुछ लोग उनको आधुनिक संत मत के निर्गुण उपासकों का आचार्य भी समझते हैं। निर्गुण उपासना का अधिकांश संबंध ज्ञानमार्ग से है, उसका आध्यात्मिक उत्कर्ष बहुत कुछ बतलाया जाता है। किंतु जब भक्ति अथवा प्रेम का उद्रेक हृदय में होता है, तब सगुण उपासना ही सामने आती है, और उपासना के उक्त तीनों रूपों में से किसी एक का अथवा तीनों का आश्रय चित्त की वृत्ति के अनुसार ग्रहण करना पड़ता है। निर्गुणवादी होकर भी कबीर साहब को इस पथ का पथिक होना पड़ा है। उनको तीनों रूपों में परमात्मा को स्मरण करते देखा जाता है, किंतु पत्नी भाव की उनकी उपासना बहुत ही हृदयग्राहिणी है। यह उपासना माधुर्यमयी है, इसकी वेदनाएँ मर्मस्पर्शिनी होती हैं, अतएव उनमें विचित्र रसपरिपाक पाया जाता है। कबीर साहब की निम्नलिखित रचनाओं में कितनी मार्मिकता है, आप लोग स्वयं उसका अनुभव कीजिए—

> बिरहिन देय सँदेसरा सुनो हमारे पीव।
> जल बिन मच्छी क्यों जिए पानी में का जीव॥
> अँखियाँ तो झाईं परी पंथ निहार निहार।
> जीहड़ियाँ छाला पड़ा नाम पुकार पुकार॥

बिरहिन उठि उठि भुइं परै दरसन कारन राम ।
मूए पाछे देहुगे सो दरसन केहि काम ॥
मूए पाछे मत मिलो कहै कबीरा राम ।
लोहा माटी मिल गया तब पारस केहि काम ॥
सब रग ताँत रबाब तन बिरह बजावै नित्त ।
और न कोई सुन सकै कै साईं कै चित्त ॥
पिया मिलन की आस रहौं कब लौं खरी ।
ऊँचे नहिं चढ़ि जाय मने लज्जा भरी ॥
पाँव नहीं ठहराय चढ़ूँ गिरि गिरि परूँ ।
फिरि फिरि चढ़हुँ सम्हारि चरन आगे धरूँ ॥
अंग अंग थहराय तो बहुविध डरि रहूँ ।
करम कपट मग घेरि तो भ्रम में परि रहूँ ॥
बारी निपट अनारि तो झीनी गैल है ।
अट पट चाल तुम्हार मिलन कस होइहै ॥
अंतर पट दे खोल सब्द उर लावरी ।
दिल बिच दास कबीर मिलैं तोहि बावरी ॥

इन पंक्तियों में कैसा आत्मनिवेदन है, उसे बतलाना न होगा। प्रत्येक शब्द में वह व्यंजित है। आत्मनिवेदन का अर्थ आत्मोत्सर्ग लीजिए, चाहे आत्मदशानिवेदन, दोनों ही भाव उनमें मौजूद हैं। अतएव उनमें भक्ति रस का प्राचुर्य स्पष्ट है। काव्यप्रकाशकार ने रस का जो व्यापक और मानसिक अवस्था-प्रदर्शन संबंधी लक्षण लिखा है, भक्ति में वह जितना सुविकसित पाया जाता है, अन्य रस में उसका उतना विकास नहीं देखा जाता। वे लिखते हैं—'पानक रस के समान रस को आस्वाद्य होना चाहिए' उनके कहने का भाव यह है कि जैसे पीने का रस चीनी, दूध, केवड़ा, इलायची आदि भिन्न भिन्न पदार्थों से बनकर उन सबसे पृथक् एक विचित्र स्वाद रखता है, और अधिक स्वादिष्ठ भी होता है, उसी प्रकार विभावादि के मिश्रण से जो रस बनता है, उसका

आस्वादन भी अपूर्व और विलक्षण होना चाहिए। भक्ति में यह गुण और रसों से अधिक पाया जाता है। जब भगवद्विषयक स्थायी भाव, परमानंदस्वरूप परमात्मा आलंबन विभाव को पाकर पुलक अश्रुपात आदि अनुभावों एवं हर्ष, आवेग, विबोध, औत्सुक्य आदि संचारी भावों के सहारे भक्ति में परिणत होता है, उस समय भक्त-जनों के हृदय में जिस अलौकिक रस का आविर्भाव होता है, वह कितना लोकोत्तर तथा दैवी विभूति-संपन्न देखा जाता है, क्या यह अविदित है। क्या उसी के आस्वादन-जनित आमोद का वर्णन इन शब्दों में नहीं है ?—

"त्वत्साक्षात्करणाह्लादविशुद्धाब्धिस्थितस्य मे।
सुखानि गोष्पदायंते.................. ।।"

—भागवत

तुम्हारे साक्षात्करण आह्लाद के विशुद्ध समुद्र में स्थित होने के कारण मुझको समस्त सुख गोष्पदसमान ज्ञात होते हैं।

क्या उसी रसास्वादनकारी की अद्‌भुत दशा का उल्लेख यह नहीं है ?

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिंतया क्वचिद्धसंति नंदन्ति वदंत्यलौकिका:।
नृत्यंति गायंत्यनुशीलयंत्यजं भवंति तूष्णीं परमेत्य निर्वृता: ।।

अच्युत का चिंतन करके कभी रोते हैं, कभी हँसते, आनंदित होते और अलौकिक बातें कहते हैं। कभी नाचते, गाते, भगवान का अनुशीलन करते और परमात्मा को प्राप्त कर संतोष लाभ करने के उपरांत मौन हो जाते हैं।

क्या उसी रस का प्याला पीकर भक्तिमयी मीरा ने यह नहीं गाया ?

मेरे गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई ।।
साधुन सँग बैठि बैठि लोकलाज खोई।
अब तो बात फैल गई जानत सब कोई ।।

अँसुवन जल सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई।
मीरा को लगन लगी होनि हो सो होई॥

क्या उसी रस की सरसता के स्वाद ने उनके समस्त राज-भोगों को भी नीरस नहीं बनाया था?

क्या उसी रस का भांड लेकर भक्ति-अवतार गौरांग ने बंगाल प्रांत को प्रेमोन्मत्त नहीं बनाया? स्वयं उस रस से सिक्त होकर क्या उन्होंने वह रस-प्लावन नहीं किया, जिसमें भारत का एक विशाल प्रांत आज भी निमग्न है? आज से चार सौ वर्ष पहले इस पुण्यभूमि ने जो स्वर्गीय गान सुना, जो त्रिलोकमोहन नर्तन देखा, जो अभूतपूर्व भक्ति-उद्रेक अवलोकन किया, क्या वह उसी रस की महत्ता नहीं थी?

क्या उसी रस से सराबोर मंसूर ने सूली पर चढ़कर यह नहीं पुकारा—

'यह उसके बाम का ज़ीना है आए जिसका जी चाहे।'

क्या उस रस के रोम रोम में रग रग में भीनने का ही यह निरूपण नहीं है—

'बाद मरने के हुआ मनसूर को भी जोशे इश्क़।
ख़ून कहता था अनल हक़ दार के साया तले॥'

कोई सामने आए और बताए कि दूसरे किस रस का आस्वाद ऐसा है!

रस की और विशेषता क्या है? यह कि वह स्पष्ट झलक जाता है, हृदय में प्रवेश कर जाता है, सर्वांग को सुधारस-सिंचित बनाता है और अन्य वेद्य विषयों को तिरोहित कर देता है। अन्य रसों पर भी यह लक्षण घटित हो सकता है, दूसरे रसों में भी यह विशेषता पाई जा सकती है, किंतु भक्ति रस में तो इस लक्षण और विशेषता की पराकाष्ठा हो जाती है, वरन् कहना तो यह चाहिए कि भक्ति रस में ही इन विशेषताओं की वास्तविक सार्थकता होती है। जब भक्ति अन्य वेद्य विषयों को तिरोहित कर देती है, तभी तो वह स्पष्ट झलक जाती है, तभी तो हृदयमें प्रवेश करती है, और तभी तो सर्वांग

सुधारस-सिंचित होता है। यदि ऐसा न होता तो यह क्यों कहा जाता—"प्रेम एव परो धर्म्मः" "God is lovelove is God" ? क्यों गोस्वामीजी महाराज कहते 'जेहि जाने जग जाय हेराई' और वेद्य विषयों की बात ही क्या, जब भक्ति रस के प्रभाव से 'रसो वै सः' का ज्ञान हो जाता है, तो संसार स्वयं तिरोहित हो जाता है, स्वयं खो जाता है, क्योंकि जिसको उसकी खबर हो जाती है, उसको स्वयं अपनी खबर नहीं रहती। आंरा कि ख़बर शुद ख़बरशबाज़ नयामद। और तो और, बेचारी मुक्ति को भी कोई नहीं पूछता। जब भक्ति हृदय में प्रवेश कर गई तो मुक्ति को उसमें स्थान कहाँ। उसका तिरोधान तो हो ही जावेगा।—

"राम-उपासक मुक्ति न लेहीं। तिन कहँ राम भक्ति निज देहीं।"

श्रीमद्भागवत का भी यही वचन है। सुनिए—

न किंचित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकांतिनो मम।
वांछन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥

मेरे एकांत भक्त धीर साधुजन कुछ नहीं चाहते, ममप्रदत्त कैवल्य और अपुनर्भव की भी कामना नहीं रखते। रहा सर्वांग का सुधारस-सिंचित होना, इसका अनुभव किस भावुक पुरुष को नहीं है ? जिस समय किसी देवालय तथा किसी सात्विक स्थान-विशेष में भक्तिमय भगवद्-सुयश का गान प्रारंभ होता है, अथवा जब किसी भक्तिरस-पूर्ण हृदय के मुख से उनकी कथा-अमृत की वर्षा होने लगती है, उस समय कौन है जो सुधास्रोत में निमग्न नहीं हो जाता ? परम भागवत राजा परीक्षित भक्ति-अवतार श्री शुकदेवजी से क्या कहते हैं सुनिए—

नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते।
पिबंतं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम्॥

परम दुःसह क्षुधा और पिपासा भी मुझको बाधा नहीं पहुँचा रही है, क्योंकि आपके कमल-मुख से निःसृत सुधा मैं पान कर रहा हूँ। जो क्षुधा अंग अंग को शिथिल कर देती है, शरीर को

निर्जीव बना देती है, जो पिपासा यह बतला देती है, कि जीवन का आधार जीवन ही है, राजा परीक्षित कहते हैं, कि वही क्षुधा और वही पिपासा, सो भी साधारण नहीं, परम दुःसह, उनको बाधा नहीं पहुँचाती है, उनकी आकुलता अथवा निरानंद का कारण नहीं होती है, इस कारण कि वह एक भक्तिभाजन महात्मा के मुख से निकले हरिकथामृत का पान कर रहे हैं। आपने देखा, भक्ति-रस का सर्वांग में सुधा-सिंचन। यदि भक्ति में यह शक्ति न होती तो क्या राजा परीक्षित के मुख से ऐसी अपूर्व बात कभी निकल सकती? आपमें यदि कभी भक्ति का उद्रेक होता है, या यदि कभी आपने किसी भक्ति-उद्रिक्त प्राणी को अभिनिविष्ट चित्त से देखा है, तो आपको इस बात का अनुभव होगा कि जिस समय हृदय में भक्ति-स्रोत प्रवाहित होता है, उस समय उनकी क्या दशा होती है। क्या उस समय समस्त अंगों में अलौकिक रस सिंचन नहीं होने लगता, क्या यह नहीं ज्ञात होता, कि शरीर पर कोई अमृत-कलस ढाल रहा है, कोई रग रग में किसी ऐसे आनंद की धारा प्रवाहित कर रहा है जिसका आस्वादन सर्वथा लोकोत्तर है? यही तो सर्वांग में सुधारस सिंचन है। ब्रह्मानंद का अनुभव ऐसे ही अवसरों पर तो होता है। भक्तिरस के अतिरिक्त दूसरा कौन रस है, जिसके द्वारा ब्रह्मानंद की प्राप्ति यथातथ्य हो सके? रस को ब्रह्मानंद-सहोदर कहा है, किंतु भक्ति रस में ही इस लक्षण की व्याप्ति है। सांख्य-कार ने त्रिविध दुःख की अत्यंत निवृत्ति को परम पुरुषार्थ कहा है। किंतु भक्ति रस सिक्त मनुष्य को दुःख का अनुभव होता ही नहीं, क्योंकि 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'। वह जानता है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। वह समझता है 'आनंदाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायंते आनंदेन जातानि जीवंति आनंदं प्रयान्त्यभिसंविशंति'। 'आनंदं ब्रह्मणो विद्वान्'', 'तस्यै-वानंदस्यान्ये मात्रामुपजीवन्ति'। और किस रस में इस सिद्धांत के अनुभव की शक्ति है? भक्ति ही वह आधार है जिसके आश्रय से इस भाव का विकास होता है। भक्तिमान को छोड़कर कौन

कह सकता है, 'राम-सियामय सब जग जानी। करहुँ प्रणाम जोरि युग पानी ।।' कौन कह सकता है—'बर्गेदरख़्तान सब्ज़ दरनज़रे होशियार। हरवरके दफ़्तरेस्त मारफ़ते किर्दगार ।।' 'द्रष्टा की दृष्टि में हरे वृक्षों का एक एक पत्ता परमात्मा के रहस्य-ग्रंथ का एक एक पन्ना है'। कितनी गहरी भक्तिमत्ता है। गुरु नानक देव कहते हैं—

गगन तल थाल रवि चंद दीपक बने तारकामंडला जनुक मोती।
धूप मलयानिलो पवन चवरो करै सकल बनराय फूलंत जोती ।।
कैसी आरती होय भव खंडना।

'गगनतल के थाल में तारकमंडल मोती के समान जगमगा रहे हैं, सूर्य चंद्र उसमें दीपक सदृश शोभायमान हैं। मलयानिल धूप का काम देता है, समीर चमर झलता है; समस्त तरु-पुष्प लेकर खड़े हैं, इस प्रकार भवभयनिवारण करनेवाली परमात्मा की अखंड आरती होती रहती है''।

कैसी उदात्त और आनंदमयी कल्पना है। जिसकी भक्ति के उल्लास ने संसार को परमानंदमय बना दिया है, उसी के प्रफुल्ल हृदय का यह उद्गार है। ब्रह्मानंद का अनुभव यही तो है। यही है वह भक्तिभाव जिसे पाकर 'कुर्वंति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम्'।

अब रही चमत्कार की बात। भक्ति का चमत्कार और विलक्षण है। भक्तिरस के रसिक ही के विषय में यह कहा गया है—

न पारमेष्ठ्यं न महेंद्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः ।।

—भागवत

परमात्मा के चरणरज के प्रेमिक न तो कैलाश की कामना करते हैं, न स्वर्ग की, न सार्वभौम की, न राज्य की, न योगसिद्धि की, न अपुनर्भव की। कैसा अलौकिक चमत्कार है! और सुनिए भगवान् उद्धव से क्या कहते हैं—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ।।

—भागवत

न तो मैं योग से मिलता हूँ न सांख्य धर्म से, न स्वाध्याय से न तप से; लोग मुझे अर्जित भक्ति से ही पा सकते हैं। ऐसा चमत्कार किस रस का है? और भी सुनिए। भगवद्वाक्य है—

यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।

—भागवत

जो कर्म से, तप से, ज्ञान से, वैराग्य से, योग से, दान से, धर्म से एवं दूसरे श्रेयों से पाया जा सकता है, वह सब मेरा भक्त एक भक्ति-योग द्वारा ही पा जाता है। भक्ति की कैसी अपूर्व चमत्कृति है।

वैदिक काल से प्रारंभ करके पौराणिक काल तक का जितना साहित्य है, उसके बाद के जितने काव्य अथवा अन्य धार्मिक किंवा ऐतिहासिक ग्रंथ हैं, वे समस्त भक्ति के चमत्कार से भरे पड़े हैं। वैदिक साहित्य के प्राकृतिक देवतों और ईश्वर की भक्ति का चमत्कार ही संसार के ज्ञानभांडार का विकास है। महाभारत, रामायण और पुराणों के महामहिम पुरुषों की उदात्त देवभक्ति, गुरु-भक्ति, पितृभक्ति आदि का चमत्कार क्या भारतवर्ष का पवित्र और जगदादर्शभूत महान् आत्मत्याग और अलौकिक सदाचार नहीं है? बुद्धदेव और बौद्धधर्म में अशोक की अनन्य भक्ति का चमत्कार उसका वह बौद्धधर्म-प्रचार है, जिसके आलोक से लगभग समस्त एशिया महादेश आलोकित है, और जिसकी छाया आजकल दूरवर्ती यूरोप और अमरीका आदि अन्य महादेशों पर भी पड़ रही है। महात्मा ईसा की, जगत्पिता की, उदात्त भक्ति का चमत्कार वह ईसवी धर्म है, जिसके माननेवालों की संख्या आज संसार में सबसे अधिक है।

संसार के अनंत धर्ममंदिर अपने गगनस्पर्शी गुंबदों और मीनारों द्वारा क्या ईश्वरभक्ति के चत्मकारों का ही उद्घोष नहीं कर रहे हैं? क्या उसी के गुणगान में धर्म-संबंधी विविध बाजे और गगनभेदी गंभीर निनाद नहीं संलग्न है? संसार के तीर्थों की अपार

जनता का समारोह, धार्मिक असंख्य कार्य्य-कलाप, धर्मयाजकों अथच उपदेशकों का विश्वव्यापी धर्मप्रचार क्या किसी अचिंत्य शक्ति की भक्ति के चमत्कार का ही परिणाम नहीं है ? संसार में आजकल जो नाना परिवर्तन हो रहे हैं, विविध आविष्कार और उद्योग किए जा रहे हैं, क्या वे विश्वभक्ति, देशभक्ति, समाजभक्ति, जातिभक्ति और आत्मभक्ति के ही चमत्कार नहीं हैं ? यदि इन बातों का उत्तर स्वीकृति है, तो यह स्पष्ट है कि भक्ति जैसा चमत्कार किसी रस में नहीं है, इस दृष्टि से भी उसको सब रसों पर प्रधानता है।

काव्यप्रकाशकार ने जो व्यापक लक्षण रसों के बतलाए थे, उसके आधार से विचार करने पर भी भक्तिरस का स्थान उच्च ही नहीं उच्चतर सिद्ध हुआ। भक्ति-साहित्य भी किसी रस से अल्प नहीं, हिंदी संसार में तो संतों की वाणियों ने उसका भांडार भली भांति भर दिया है। फिर भी भक्ति को भाव ही माना जाता है, उसे रस नहीं कहा जाता। इस विषय में पंडितराज जगन्नाथ जी ने भी उसका पक्ष नहीं लिया। तो भी अनेक वैष्णव विद्वानों ने उसके रस-प्रतिपादन का उद्योग किया है और यह बड़े हर्ष की बात है।

वात्सल्यरस के प्रसंग में भक्तिरस पर कुछ लिखना विषयांतर था। किंतु मैंने वात्सल्यरस का पक्ष पुष्ट करने के लिये ही यह कार्य्य किया है। मैं कहना यह चाहता हूँ कि जब भक्ति जैसे प्रधान रस की उपेक्षा हो सकती है, तो वात्सल्यरस का उपेक्षित होना आश्चर्यजनक नहीं। मैं पहले दिखला आया हूँ कि वात्सल्य को कुछ प्रसिद्ध विद्वानों ने रस माना है ; अब मैं देखूँगा कि उसमें रस होने की योग्यता है या नहीं। किसी भाव को रस मानने के लिये यह आवश्यक है कि वह विभाव, अनुभाव और संचारी भावों द्वारा परिपुष्ट हो। यह बात वत्सल रस में पाई जाती है। साहित्य-दर्पणकार लिखते हैं—

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलता स्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्॥

उद्दीपनानि तच्चेष्टा विद्याशौर्यदयादयः ।
आलिंगनांगसंस्पर्शशिरश्चुंबनमीक्षणम् ।
पुलकानंदवाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः ।
संचारिणोऽनिष्टशंकाहर्षगर्वादयो मताः ॥

"प्रकट चमत्कारक होने के कारण कोई कोई वत्सलरस भी मानते हैं। इसमें वात्सल्य स्नेह स्थायी होता है। पुत्रादि इसके आलंबन और उसकी चेष्टा तथा विद्या, शूरता, दया आदि उद्दीपन विभाव हैं। आलिंगन, अंगस्पर्श, सिर चूमना, देखना, रोमांच, आनंदाश्रु आदि इसके अनुभाव हैं। अनिष्ट की आशंका, हर्ष, गर्व आदि संचारी माने जाते हैं।"

यदि कहा जावे कि अपने विभाव, अनुभाव आदि के द्वारा स्थायी वत्सलता स्नेह उतना परिपुष्ट नहीं होता जो रसत्व को प्राप्त हो तो यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती। यह सच है कि उद्बुद्धमात्र कोई स्थायी भाव तब तक रस नहीं माना जा सकता जब तक उसमें स्थायिता और विशेष परिपुष्टि न हो, किंतु जो रस माने जाते हैं, उनसे वत्सलरस किसी बात में न्यून नहीं है, उसमें भी विशेष स्थायिता और रस-परिपुष्टि है। काव्यप्रकाशकार ने रस के जो व्यापक और मनोभावद्योतक लक्षण बतलाए हैं, उन पर मैं वात्सल्यरस को कसता हूँ। आशा है उससे प्रस्तुत विषय पर यथेष्ट प्रकाश पड़ेगा। वे लक्षण ये हैं—

(१) रसों का आस्वाद पानक रस समान होता है, (२) वे स्पष्ट झलक जाते हैं, (३) हृदय में प्रवेश करते हैं, (४) सर्वांग को सुधारस-सिंचित बनाते हैं, (५) अन्य वेद्य विषयों को ढक लेते हैं, (६) ब्रह्मानंद के समान अनुभूत होते हैं और (७) अलौकिक चमत्कृति रखते हैं।

पानक रस किसे कहते हैं, पहले मैं यह बतला चुका हूँ। अनेक वस्तुओं के सम्मिलन से जो रस बनता है, उसका स्वाद जैसे उन भिन्न भिन्न वस्तुओं से भिन्न और विलक्षण होता है, उसी प्रकार

विभाव, अनुभावादि के आधार से बने हुए रस का आस्वाद भी उन सबों से अलग और विलक्षण होना चाहिए। वात्सल्यरस में यह बात पाई जाती है। बालकों की बालक्रीड़ा देखकर माता पिता में जो तन्मयता होती है, वह अविदित नहीं। उनकी तोतली बातों को सुनकर उनके हृदय में जो रस-प्रवाह होता है, क्या वह अपूर्व और विलक्षण आस्वादमय नहीं होता? माता पिता को छोड़ दीजिए, कौन मनुष्य है जिसे बाललीला विमोहित नहीं करती? देखिए, निम्न-लिखित पद्य में इस भाव का विकास किस सुंदरता से हुआ है—

> बर दंत की पंगति कुंदकली अधराधर पल्लव खोलन की।
> चपला चमकै घन बीच जगै छवि मोतिन माल अमोलन की॥
> घुघुरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की।
> निवछावर प्रान करै तुलसी बलि जाउँ लला इन बोलन की॥

वात्सल्य स्नेह विभाव, घुघुरारी लटें, बोलन आदि उद्दीपन, मधुर छवि-अवलोकन आदि अनुभाव, और हर्ष संचारी भाव के मिलन से जिस रस का आस्वाद आस्वादनकारिणी को हुआ है, जो पद्य के प्रति पदों में छलक रहा है, क्या शानक रस के आस्वाद्य से कहीं विलक्षण नहीं है? क्या विमुग्धता का स्रोत उसमें नहीं बह रहा है?

सरित्, सरोवर आदि में लहरें उठती ही रहती हैं किंतु सब लहरें न तो स्पष्ट होती हैं, न यथातथ्य दृष्टिगोचर होती हैं। यही बात मानसतरंगों अथवा हृदय के भावों के विषय में भी कही जा सकती है। अनेक लहरें हृदय में उठती हैं, और तत्काल विलीन हो जाती हैं। किंतु कुछ भावों की लहरें ऐसी होती हैं, जो स्पष्ट झलक जाती है, और उनमें स्थायिता भी होती है। रस प्राप्त भाव ऐसे ही होते हैं। वात्सल्यरस भी ऐसा ही है। सहृदय-शिरोमणि सूरदासजी के निम्नलिखित पद्य में उसका बड़ा सुंदर विकास है। अंतिम वाक्य 'कीन्हें सात निहोरे' ने तो इस पद्य में जान डाल दी है—

जेंवत नंद कान्ह इक ठौरे।
कछुक खात लपटात दुहूँ कर बालक हैं अति भोरे॥
बड़ो कौर मेलत मुख भीतर मिरिच दसन टुक तोरे।
तीछन लगी नयन भरि आए रोवत बाहर दौरे॥
फूँकति बदन रोहिनी माता लिए लगाइ अँकोरे।
सूर स्याम को मधुर कौर दै कीन्हें सात निहोरे॥

बालक समान हृदयवल्लभ कौन है? वही तो कलेजे की कोर है, वही तो कलेजे का टुकड़ा (लख़्त-जिगर) है, फिर उसके भोले भाले भाव हृदय में प्रवेश क्यों न करेंगे। बालकों के समान हृदय-विमोहन संसार में कौन है? कुसुमचय भी बड़े मनोहर होते हैं, किंतु बालकों जैसी सजीवता उनमें कहाँ! देखिए हृदय-प्रविष्ट भाव की सरसता! गोस्वामीजी निम्नलिखित पद्य लिखकर, मैं तो कहूँगा कि, रस की रसता भी छीने लेते हैं—

पौढ़िए लालन पालने हौं झुलावौं।
कर पद मुख चख कमल लसत लखि लोचन भँवर भुलावौं॥
बाल विनोद मोद मंजुल मनि किलकनि खानि खुलावौं।
तेइ अनुराग ताग गुहिबे कहँ मति मृगनयनि बुलावौं॥
तुलसी भनित भली भामिनि उर सो पहिराइ फुलावौं।
चारु चरित रघुवर तेरे तेहि मिलि गाइ चरन चित लावौं॥

बालक का मयंक सा मुखड़ा आँखों में सुधा बरसाता है, उसकी तुतली बातें कानों में अमृत की बूँद टपकाती हैं, उसके चुंबन के आस्वाद के सम्मुख पीयूष ऊख बन जाता है, और उसका आलिंगन अंग अंग पर चाँदनी छिड़क देता है। जब वह हँसता खेलता आकर शरीर से लपट जाता है, या किलकारियाँ भरता हुआ गोद में आ बैठता है, तब क्या उस समय 'सर्वांगीणमिवालिंगन' का दृश्य उपस्थित नहीं हो जाता? यह वात्सल्यभाव की रस में परिणति ही तो है, और क्या है। देखिए सुधा निचोड़ती हुई एक माता क्या कहती है—

मेरे प्यारे बेटे आओ ।
मीठी मीठी बातें कहके मेरे जी की कली खिलाओ ॥
उमग उमग कर खेलो कूदो लिपट गले से मेरे जाओ ।
इन मेरी दोनों आँखों में हँसकर सुधा बूँद टपकाओ ॥

जिसने कभी बालकों के साथ खेला है, वह जानता है कि उस समय कितनी तन्मयता हो जाती है। बालक उस समय जो कहता है, वही करना पड़ता है। उस समय वास्तव में अन्य वेद्य विषय तिरोहित हो जाते हैं, यदि न हों तो खेल का रंग ही न जमेगा। यदि खेल का रंग न जमा तो बालविलास का आनंद ही जाता रहेगा। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ ग्लाडस्टोन एक दिन अपने पौत्र के साथ खेल रहे थे। आप घोड़ा बने हुए थे, और पौत्र उनकी पीठ पर सवार होकर उनसे घोड़े का काम ले रहा था। उसी समय उनसे मिलने के लिये एक सज्जन आए, और उनका यह चरित्र देखकर उनके पास ही कुछ दूर पर खड़े हो गए। किंतु वे अपनी केलि-क्रीड़ा में इतने तन्मय थे, कि बहुत देर तक उनका ध्यान ही उधर नहीं गया। खेल समाप्त होने पर जब यह बात उनको ज्ञात हुई, तो वे हँस पड़े। बोले, आशा है आपके यहाँ भी लड़के होंगे। इसी को कहते हैं वेद्य विषय का तिरोभाव। इसी तन्मयता का चित्र महात्मा सूरदासजी किस सहृदयता से खींचते हैं, देखिए। अंतिम पद्य में 'श्याम को मुख टरत न हिय ते' बड़ा मार्मिक है—

आँगन स्याम नचावहीं जसुमति नँदरानी ।
तारी दै दै गावहीं मधुरी मृदु बानी ॥
पायन नूपुर बाजई कटि किंकिनि कूजै ।
नन्हीं एड़िअन अरुनता फलबिंबन पूजै ॥
जसुमति गान सुनै स्रवन तब आपुन गावै ।
तारि बजावत देखिकै पुनि तारि बजावै ॥
नचि नचि सुतहिं नचावई छवि देखत जिय ते ।
सूरदास प्रभु स्याम को मुख टरत न हिय ते ॥

रस का परिपाक ब्रह्मानंद समान अनुभूत होता है, इसकी वास्तवता चिंतनीय है। वीभत्सरस एवं भयानक और रौद्र रस में इसकी चरितार्थता कैसे होगी? हाँ! शांत, शृंगार, करुण, अद्भुत और विशेष दशाओं में हास्य और वीर में भी इस लक्षण की सार्थकता हो सकती है। भक्तिरस में तो यह लक्षण पूर्णता को पहुँच जाता है; वत्सलरस में भी उसका पर्याप्त विकास दृष्टिगत होता है। संसार में जो आनंद-स्वरूप परमात्मा का कोई मूर्तिमान् आकार है, तो वह बालक है। ब्रह्म के संसार से निर्लिप्त होने का भाव जो कहीं मिलता है, तो बालक में मिलता है। दुःख सुख में सम बालक ही देखा जाता है, निरीहता उसी में मिलती है। फिर वात्सल्यरस ब्रह्मानंद-सहोदर क्यों न होगा। गोस्वामी तुलसीदासजी का इसी भाव का एक बड़ा सुंदर पद है, जो अपने रंग में अद्वितीय है—

माता लै उछंग गोविंद मुख बार बार निरखै।
पुलकित तनु आनँद घन छन छन मन हरखै॥
पूछत तोतरात बात मातहिं जदुराई।
अतिसय सुख जाते तोहि मोहि कहु समुझाई॥
देखत तव बदन कमल मन अनंद होई।
कहै कौन? रसन मौन जानै कोइ कोई॥
सुंदर मुख मोहि देखाउ, इच्छा अति मोरे।
मम समान पुन्यपुंज बालक नहिं तोरे॥
तुलसी प्रभु प्रेमवस्य मनुजरूपधारी।
बाल-केलि-लीला-रस ब्रज जन हितकारी॥

तुतलाकर लीलामय ने पूछा, तुझको अपार सुख किसमें है? माता ने कहा—तेरा कमलवदन देखकर मन आनंदित होता है। कैसा आनंद होता है, इसको कौन कहे, रसना तो चुप है, इसको कोई कोई जानता है। लीलामय ने कहा—वह सुंदर मुखड़ा मुझे दिखला। माता ने कहा—मेरे समान तेरा पुण्यपुंज कहाँ! यहाँ पर ब्रह्मानंद

को भी निछावर कर देने को जी चाहता है। संसार में बालक के मुख अवलोकन के आनंद का अनुभव माता ही को हो सकता है। और कोई संसार में इस अनुभव का पात्र नहीं, पिता भी नहीं। बालक कृष्ण भी पिता ही के वर्ग का है, इसी लिये माता ने कहा तेरा पुण्यपुंज ऐसा कहाँ! फिर जो आनंद ऐसा अलौकिक और अनिर्वचनीय है, कि जिसको रसना भी नहीं कह सकती, जिसको कोई कोई जानता ही भर है, किंतु कह वह भी नहीं सकता, उसे वे कैसे कहें। यही तो ब्रह्मानंद है! जिसकी अधिकारिणी कोई कोई यशोदा जैसी भाग्यशालिनी माता ही हैं, स्वयं अवतारी बालक कृष्ण भी नहीं। अपने मुख को आप कोई कैसे देख सकता है, जब तक विमल बोध का दर्पण सामने न होवे।

चमत्कार के विषय में तो वात्सल्यरस वैसा ही चकितकर है, जैसा कि स्वयं बालक। जब बालक-मूर्ति ही चमत्कारमयी है तो उससे संबंध रखनेवाले भाव चमत्कृतकर क्यों न होंगे! बालक का जन्मकाल कितना चमत्कारमय है और उस समय चारों ओर कैसा रस का स्रोत उमड़ पड़ता है, इसका अनुभव प्रत्येक हृदयवान् पुरुष को प्राप्त है। उस समय के गीतों के गान में जो झंकार मिलती है, सोहरों में जो विमुग्धकरी ध्वनि पाई जाती है, वह किसी दूसरे अवसर पर श्रुतिगोचर नहीं होती। संतान ही वंश-वृद्धि का आधार, पिता का आशास्थल, माता का जीवनसर्वस्व, और संसार-बीज का संरक्षक है। उसी में यह चमत्कार है कि जैसी ममता उसकी पशु पक्षी कीट पतंग को होती है, वैसी ही देवता मनुष्य और दानवों को भी। उसकी लीलाएँ जितनी मनोरंजिनी हैं, जितनी उसमें स्वाभाविकता और सरसता मिलती है, मानव जीवन की किसी अवस्था में उतनी मनोरंजन आदि की सामग्री नहीं पाई जाती। ये बातें भी चमत्कारशून्य नहीं। नीचे मैं वात्सल्यरस के कुछ पद्य लिखता हूँ। आप देखें, इनमें कैसा स्वभाव-चित्रण और कवितागत चमत्कार है। बालक जैसे सरल और कोमल होते हैं, वैसे ही

उनके भाव और विचार भी सरल और कोमल होते हैं। उद्धृत कविताओं में आपको उनका बड़ा ही मनोहर स्वरूप दिखलाई पड़ेगा।

मैया! मैं नाहीं दधि खायो।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो॥
देखि तुही छीके पर भाजन ऊँचे घर लटकायो।
तुही निरखि नान्हें कर अपने मैं कैसे करि पायो॥
मुख दधि पोंछि कहत नँदनंदन दो ना पीठ दुरायो।
डारि साँट मुसुकाइ तबहिं गहि सुत को कंठ लगायो॥
बाल विनोद मोद मन मोह्यो भगति प्रताप दिखायो।
सूरदास प्रभु जसुमति के सुख शिव विरंचि बौरायो॥

शिव विरंचि बावले बने हों या न बने हों, किंतु महात्मा सूरदास जी का बड़ा ही सजीव भाषा में सहज बाल-स्वभाव का चित्रण अत्यंत मार्मिक और हृदयग्राही है। एक एक चरण में विमुग्धकारी भाव हैं और उनको पढ़कर रसोन्माद सा होने लगता है। चमत्कार के लिये इतना ही बहुत है। शिव विरंचि का उन्माद तो बड़ा ही चमत्कारक है, संभव है हमारे दिव्यचक्षु महाकवि ने इसको अवलोकन किया हो। बालक कृष्ण की विचित्र लीला क्या नहीं कर सकती!

अबहिं उरहनो दै गई बहुरो फिरि आई।
सुनु मैया! तेरी सौं करौं याकी टेव लरन की सकुच बेंचि सी खाई॥
या व्रज मैं लरिका घने हौं ही अन्याई।
मुँहलाए मूँड़हिं चढ़ी अंतहु अहिरिन तोहि सूधी कर पाई॥
सुनि सुत की अति चातुरी जसुमति मुसुकाई।
तुलसिदास ग्वालिनि ठगी, आयो न उतर कछु कान्ह ठगौरी लाई॥

अहीरिन ने भी अच्छे घर बैना दिया था, बेचारी दो दो बार उलाहना देने आई, पर फिर भी उसी को मुँह की खानी पड़ी। उसने मुँह की ही नहीं खाई, भोले भाले बालक द्वारा ठगी भी गई। दूध दही तो गया ही था, उल्लू भी बनी, जवाब तक न सूझा। बालक कृष्ण ने ऐसी बातें गढ़ीं कि यशोदादेवी को मुसकाना ही

पड़ा। इन गढ़ी बातों को सुनकर किसके दाँत नहीं निकल आएँगे ! हमारे कृष्ण भगवान् ने चाहे जो किया हो, किंतु गोस्वामी तुलसी-दासजी की लेखनी का चमत्कार इस पद्य में चमत्कृतकर है—

जो कसौटी मैंने वात्सल्यरस के कसने की ग्रहण की थी, मेरे विचार से उस पर कस जाने पर वात्सल्यरस पूरा उतरा। इसके अतिरिक्त जब मैं विचार करता हूँ तो वात्सल्यरस उन कई रसों से अधिक व्यापक और स्पष्ट है, जिनकी गणना नवरस में होती है। हास्यरस का स्थायीभाव हास है, हास मनुष्य समाज तक परि-मित है; पशु पक्षी कीट पतंग नहीं हँसते, किंतु वात्सल्यरस से ये जीवजंतु भी रहित नहीं, चींटी तक अपने अंडे बच्चों के पालन में लगी रहती है, मधुमक्खियाँ तक इस विषय में प्रधान उद्योग करती दृष्टिगत होती हैं। यदि वनस्पति संबंधी आधुनिक आविष्कार सत्य हैं, और उनमें भी स्त्री पुरुष मौजूद हैं, तो वत्स और वात्सल्य-भाव से वंचित वे भी नहीं हैं; फिर भी 'हास्य' को रस माना गया, और 'वात्सल्य' इस कृपा से वंचित रहा। वीभत्स में भी न तो वत्सल इतनी रसता है, न व्यापकता, न संचरणशीलता, फिर भी वह नवरस में परिगणित है और 'वत्सल' को वह सम्मान नहीं प्राप्त है। वीभत्स-रस भी मानव समाज तक ही परिमित है, इतर प्राणियों में उसके ज्ञान का अभाव देखा जाता है, इस दृष्टि से भी वत्सल की समानता वह नहीं कर सकता, तथापि वह उच्च आसन पर आसीन है। वत्सल रस का साहित्य निस्संदेह थोड़ा है, इस विषय में वह रससंज्ञक स्थायीभावों का सामना नहीं कर सकता। हिंदी भाषा के किसी आचार्य्य अथवा प्रतिष्ठित विद्वान् ने 'वत्सल' को रस नहीं माना, इसलिये उसकी कविता साहित्य-ग्रंथों में प्रायः दुःष्प्राप्य है। केवल बाबू हरिश्चंद्र ने उसको रस माना है, किंतु उनकी भी इस रस की कोई कविता मुझे देखने में नहीं आई। जितने हिंदी भाषा में रस संबंधी ग्रंथ हैं, उन सबमें आवश्यकतावश नवरस की कविता मिलती है, किंतु यह गौरव वत्सल को नहीं मिला। साहित्य से

किसी भाव की व्यापकता का पता चलता है, क्योंकि इससे जन-समुदाय की मानसिक स्थिति का भेद मिलता है। अतएव यह स्वीकार करना पड़ता है, कि इस विषय में वत्सलरस उतना सौभाग्य-शाली नहीं है। फिर भी मैं यह कहूँगा कि हिंदी संसार में जितना साहित्य वात्सल्यरस का पाया जाता है, वह अद्भुत, अपूर्व और बहुमूल्य है। कविशिरोमणि सूरदास और कविचूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदासजी की वत्सलरस संबंधी रचनाएँ अल्प नहीं हैं, और इतनी उच्च कोटि की हैं, कि उनकी समानता करनेवाली कविता अन्यत्र दुर्लभ है। वत्सलरस के साहित्य के गौरव और महत्त्व के लिये मैं उनको यथेष्ट समझता हूँ, क्योंकि वे जितनी हैं उतनी ही अलौकिक मणि समान हिंदीसंसार-क्षेत्र को उद्भासित करनेवाली हैं। आजकल बालसाहित्य के प्रचार के साथ वत्सलरस की विभिन्न प्रकार की सरस रचनाओं का भी प्राचुर्य है। ज्ञात होता है, कुछ दिनों में शृंगार, हास्य, वीर आदि कतिपय बड़े बड़े रसों को छोड़कर इस विषय में भी वात्सल्यरस अन्य साधारण रसों से आगे बढ़ जावेगा। यदि इस एक अंग की न्यूनता स्वीकार कर लें तो भी अन्य व्यापक लक्षणों पर दृष्टि रखकर मेरा विचार है कि वत्सल की रसता सिद्ध है, और उसको रस मानना चाहिए। मतभिन्नता के विषय में कुछ वक्तव्य नहीं, वह स्वाभाविक है।

---
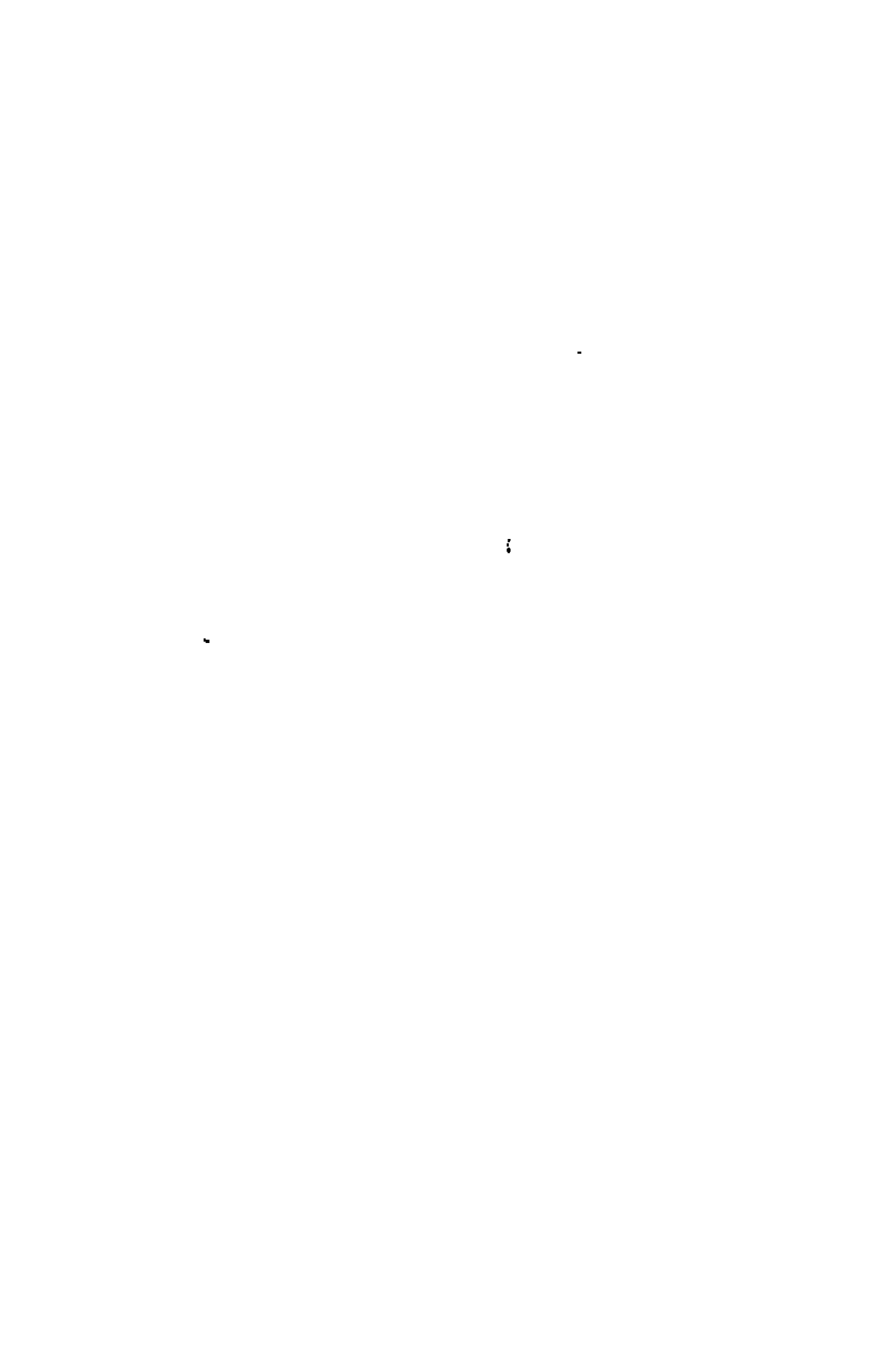
(२२) कौटिलीय अर्थशास्त्र का रचनाकाल

[लेखक—श्री कृष्णचंद्र विद्यालंकार]

कौटिलीय अर्थशास्त्र का भारतवर्ष के इतिहास में विशेष महत्त्व है। प्राचीन भारत की राजनैतिक और आर्थिक अवस्थाओं पर जितना अधिक प्रकाश इस ग्रंथ द्वारा पड़ा है, उतना और कोई ग्रंथ नहीं डाल सका। इस ग्रंथ से प्राचीन भारत की शासनपद्धति, शासन-प्रबंध, पुलिस, राज्य के भिन्न भिन्न विभाग, मुद्रा, विवाह और दाय संबंधी नियम, व्यापार, कर, दंडविधान विदेशी नीति, आयव्यय, सैन्य-व्यवस्था और व्यवसाय आदि अनेक महत्त्वपूर्ण बातें मालूम हुई हैं। डाक्टर जौली के शब्दों में हम कहें तो उसमें राज्य की भीतरी और बाहरी नीति का विवेचन है और उसे हम भारत का प्राचीन गैज़ेटियर मान सकते हैं तथा उसे राजनीति और विज्ञान का संग्रह कह सकते हैं। इसके प्रकाशित होने पर भारतीय इतिहास में क्रांति हो गई और प्राचीन भारत के इतिहास के विद्वानों को अपने मत बदलने पड़े। वस्तुतः अर्थशास्त्र भारतीय गौरव का प्रकाशस्तंभ है।

यह अर्थशास्त्र कब लिखा गया, इस पर भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों में गहरा मत-भेद है। प्रायः सभी भारतीय विद्वान् मानते हैं कि यह ग्रंथ मौर्य चंद्रगुप्त को गद्दी पर बिठानेवाले उसके प्रधान मंत्री महामति आचार्य चाणक्य ने लिखा। मौर्य चंद्रगुप्त के काल के संबंध में अब प्रायः ऐतिहासिक एकमत हैं कि वह चौथी सदी ई० पू० में हुआ। इसलिये यह अर्थशास्त्र भी उसी समय लिखा गया। परंतु प्रायः यूरोपियन विद्वानों का मत है कि अर्थशास्त्र का लेखक चाणक्य नहीं था। इस ग्रंथ को तीसरी चौथी शताब्दी में किसी अन्य लेखक ने लिखा। भारतीय इति-

हास पर इस मतभेद का गहरा असर पड़ता है। अर्थशास्त्र में वर्णित सभ्यता, राजनैतिक संस्थाएँ, राज्यप्रबंध आदि अनेक बातें भारत में किस समय प्रचलित थीं, चंद्रगुप्त मौर्य के समय या उससे छः सात सदियों बाद गुप्तवंश के समय ? इसके निश्चय करने के लिये अर्थशास्त्र के कालनिर्णय की अत्यंत आवश्यकता है।

किसी ग्रंथ के काल-निर्णय या लेखक-निर्णय में दो प्रकार के प्रमाण मिलते हैं—अंतः साक्षी अर्थात् इस संबंध में ग्रंथ स्वयं क्या बताता है और बाह्य साक्षी अर्थात् ग्रंथ से बाहर के प्रमाण। हम इन दोनों साक्षियों से अर्थशास्त्र के लेखक का निर्णय करने का प्रयत्न करेंगे। लेखक के निर्णय से काल का निर्णय स्वयं हो जायगा।

अर्थशास्त्र में भिन्न भिन्न चार स्थलों पर ग्रंथ के लेखक का परिचय दिया गया है। प्रथम अधिकरण के प्रथम अध्याय के अंत में लिखा है—

सुखग्रहणविज्ञेयं तत्त्वार्थपदनिश्चितम्।
कौटिल्येन कृतं शास्त्रं विमुक्तग्रंथविस्तरम्॥

अर्थ—कौटिल्य ने सुबोध, निश्चित तत्त्वार्थ और पदवाला यह संक्षिप्त शास्त्र बनाया है।

दूसरे अधिकरण के दसवें अध्याय के अंत में निम्नलिखित श्लोक है—

सर्वशास्त्राण्यनुक्रम्य प्रयोगमुपलभ्य च।
कौटिल्येन नरेंद्रार्थे शासनस्य विधिः कृतः॥

अर्थ—सब शास्त्रों का विचार कर तथा उनके प्रयोगों को देखकर कौटिल्य ने 'नरेंद्र' (चंद्रगुप्त) के लिये शासन का विधान बनाया।

पंद्रहवें अधिकरण के अंत में लिखा है—

येन शास्त्रं च शस्त्रं च नंदराजगता च भूः।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम्॥

अर्थ—जिसने नंदराज के हाथ में गई हुई भूमि के साथ शास्त्र तथा शस्त्र का उद्धार किया, उसने यह शास्त्र बनाया है।

उक्त श्लोक के बाद ग्रंथ की समाप्ति पर लेखक लिखता है—

दृष्ट्वा विप्रतिपत्तिं बहुधा शास्त्रेषु भाष्यकाराणाम् ।
स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यं च ॥

अर्थ—भाष्यकारों के शास्त्रों में भिन्न भिन्न मत देखकर विष्णुगुप्त ने स्वयं सूत्र और भाष्य दोनों किए ।

इन सब श्लोकों से चार बातें ज्ञात होती हैं—

१—इस ग्रंथ का कर्ता वह कौटिल्य है, जिसने नंदों का नाश किया ।

२—कौटिल्य और विष्णुगुप्त एक व्यक्ति के दो नाम हैं ।

३—यह ग्रंथ नरेंद्र (चंद्रगुप्त) के लिये बनाया गया ।

४—इस ग्रंथ में सूत्र और भाष्य एक ही व्यक्ति के किए हुए हैं अर्थात् संपूर्ण ग्रंथ एक ही विद्वान् की रचना है ।

नंद के नाश के संबंध में विष्णुपुराण में लिखा है—

महापद्मः तत्पुत्राश्चैकं वर्षशतमवनीपतयो भविष्यन्ति । नवैव । तान्नन्दान् कौटिल्यो ब्राह्मणस्समुद्धरिष्यति । तेषामभावे मौर्याश्च पृथ्वीं भोक्ष्यन्ति । कौटिल्य एव चंद्रगुप्तं राज्येऽभिषेक्ष्यति । तस्यापि पुत्रो बिंदुसारो भविष्यति । तस्याप्यशोकवर्धनः । (४.२४)

अर्थ—महापद्मनंद और उसके नौ पुत्र एक सौ वर्ष तक राज्य करेंगे । कौटिल्य नामक ब्राह्मण उन नंदों का नाश करेगा । उनके अभाव में मौर्य पृथ्वी का उपभोग करेंगे । कौटिल्य ही चंद्रगुप्त को गद्दी पर बिठायेगा । उसका पुत्र बिंदुसार होगा और उसका पुत्र अशोकवर्धन ।

जिस 'नरेंद्र' के लिये यह शासन-विधान बनाया गया है, वह मौर्य चंद्रगुप्त के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है । पुराणों में चंद्रगुप्त का दूसरा नाम 'नरेंद्र' भी मिलता है । ब्रह्मांड और वायु पुराण में नंद-नाश के प्रकरण में लिखा है—

भुक्त्वा महीं वर्षशतं नरेन्द्रः संभविष्यति ।

मत्स्य पुराण में इसे बदलकर इस तरह लिखा है—

भुक्ता मही वर्षशतं ततो मौर्यं गमिष्यति ।

इन दोनों पाठों को मिलाने से यह समझने में देर नहीं लगती कि चंद्रगुप्त के दूसरे नाम के रूप में नरेंद्र शब्द प्रयुक्त हुआ है। यहाँ नरेंद्र किसी का विशेषण नहीं है, परंतु मौर्य चंद्रगुप्त का दूसरा नाम है।

कौटिल्य, विष्णुगुप्त और चाणक्य —तीन नामों के होते हुए भी भिन्न भिन्न पुरुष नहीं हैं। हेमचंद्र ने अपने कोश में लिखा है—

वात्स्यायनो मल्लनागः कौटिल्यश्चणकात्मजः ।
द्रामिलः पक्षिलस्वामी विष्णुगुप्तोंगुलश्च सः ॥

इस उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि चंद्रगुप्त के सहायक प्रसिद्ध चाणक्य ने यह अर्थशास्त्र बनाया। चंद्रगुप्त का समय हमें मालूम है, इसलिये अर्थशास्त्र की रचना चौथी सदी ई० पू० हुई।

अर्थशास्त्र की भाषा भी अत्यंत प्राचीन है। अर्थशास्त्रकार की लेखन-शैली आपस्तंब, बौधायन आदि धर्मसूत्रों के लेखकों से मिलती है। अर्थशास्त्र में सैकड़ों ऐसे शब्द हैं, जिनका संस्कृत ग्रंथों में प्रयोग नहीं मिलता या बहुत कम मिलता है। याज्ञवल्क्यस्मृति और कौटिलीय अर्थशास्त्र की बहुत बातें परस्पर मिलती हैं। याज्ञवल्क्य का समय तीसरी सदी माना जाता है। उसने कौटिल्य के दिए हुए नियमों को, जिनसे वह सहमत था, चाणक्य के शब्दों में यथासंभव कम परिवर्तन करते हुए पद्यबद्ध किया। इसके लिये हम यहाँ दो तीन उदाहरण देते हैं।

अर्थशास्त्र	याज्ञवल्क्यस्मृति
संदिष्टमर्थमप्रयच्छतो,...भ्रातृ- भार्यां हस्तेन लंघयतो,...... समुद्रगृहमुद्भिदंतः;...(३-२०)	भ्रातृभार्याप्रहारदः । संदिष्टस्याप्रदाता च समुद्रगृहभेदकृत् ॥ (२.२३२)

अर्थशास्त्र	याज्ञवल्क्यस्मृति
पुरुषमबंधनीयं बध्नतो बंधयतो बंधं वा मोक्षयतो बालमप्राप्तव्यवहारं बध्नतो बंधयतो वा सहस्रदण्डाः । (३·२०)	अबध्यं यश्च बध्नाति बद्धं यश्च प्रमुञ्चति । अप्राप्तव्यवहारं च । स दाप्यो दममुत्तमम् ॥ (२.२४३)
शूद्रस्य ब्राह्मणवादिनो··· राजद्विष्टमादिशतो द्विनेत्रभेदिनश्च.....अष्टशतो वा दण्डः । (४.१०)	द्विनेत्रभेदिनो राजद्विष्टादेशकृतस्तथा । विप्रत्वेन च शूद्रस्य जीवतोऽष्टशतो दमः ॥ (२. ३०४)

यह मानना कठिन है कि कौटिल्य ने याज्ञवल्क्यस्मृति से उपर्युक्त बातें लीं जैसा कि डाक्टर जौली का विचार है। यदि उसे याज्ञवल्क्यस्मृति से सब बातें लेनी थीं, तो वह पद्यों को सूत्ररूप में परिणत करने का कठिन प्रयत्न न करता, जब कि वह स्वयं स्थल स्थल पर पद्य देता है।

परंतु कौटिल्य याज्ञवल्क्य से इतना पूर्व हो चुका था कि कौटिल्य के प्रयुक्त किए हुए शब्द उस (याज्ञवल्क्य) के समय प्रचलित नहीं रहे थे। इसलिये याज्ञवल्क्य उन स्थलों पर कौटिल्य के अभिप्राय को ठीक ठीक न समझ सका। अर्थशास्त्र में आया हुआ 'युक्त' शब्द ऐसा ही है। इसका अर्थ होता है अधिकारी (अफसर)। अशोक के शिलालेख में भी 'युत' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अर्थशास्त्र में लिखा है—'युक्तकर्म चायुक्तस्य'। इसका अर्थ यह है, जो व्यक्ति अधिकारी नहीं है, उसका किया हुआ ऐसा काम जो किसी अफसर को करना चाहिए। याज्ञवल्क्य ने इस 'युक्त' का अर्थ न समझकर इसे पद्यबद्ध करते हुए लिखा है अयोग्यो योग्यकर्मकृत् (२-२३५) अर्थात् अयोग्य (शूद्रादि) यदि योग्य कर्म (वेदादि का अध्ययन) करें। इस तरह स्पष्ट हो गया कि अर्थशास्त्र याज्ञवल्क्य स्मृति से बहुत पूर्व लिखा जा चुका था।

अब हम अन्य ग्रंथों से कुछ ऐसे प्रमाण देंगे, जिनसे यह स्पष्ट सिद्ध हो जायगा कि नंदों का नाश करनेवाले कौटिल्य ने ही अर्थ-शास्त्र बनाया है।

कामंदक नीतिसार के लेखक ने नंद को नष्ट करनेवाले विष्णु-गुप्त के अर्थशास्त्र बनाने का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया है। वह लिखता है—

यस्याभिचारवज्रेण वज्रज्वलनतेजसः।
पपात मूलतः श्रीमान् सुपर्वा नंदपर्वतः॥ ४॥
एकाकी मंत्रशक्त्या यः शक्त्या शक्तिधरोपमः।
आजहार नृचंद्राय चंद्रगुप्ताय मेदिनीम्॥ ५॥
नीतिशास्त्रामृतं धीमानर्थशास्त्रमहोदधेः।
समुद्दध्रे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे॥ ६॥
दर्शनात्तस्य सदृशो विद्यानां पारदृश्वनः।
राजविद्याप्रियतया संक्षिप्तग्रंथमर्थवत्॥ ७॥
उपार्जने पालने च भूमेर्भूमीश्वरं प्रति।
यत्किंचिदुपदेक्ष्यामो राजविद्याविदां मतम्॥ ८॥

अर्थात् कामंदकनीति उसी विद्वान् के ग्रंथ के आधार पर लिखी गई है, जिसने नंद को नष्ट कर चंद्रगुप्त को पृथ्वी का राजा बनाया और अर्थशास्त्ररूपी समुद्र में से नीतिशास्त्ररूपी अमृत को निकाला। उस विष्णुगुप्त को नमस्कार है।

दण्डी ने भी अर्थशास्त्र के लेखक का नाम विष्णुगुप्त दिया है और उसका मौर्य चंद्रगुप्त के लिये बनाया जाना लिखा है। वह लिखता है—

अधीष्व तावद्दण्डनीतिम्। इयमिदानीमाचार्यविष्णुगुप्तेन मौर्यार्थे षड्भिः श्लोकसहस्रैः संक्षिप्ता। सैवेयमधीत्य सम्यगनुष्ठीयमाना यथोक्तकार्यक्षमेति।

अर्थात् दण्डनीति को पढ़ो। आचार्य विष्णुगुप्त ने मौर्य के लिये इसे ६००० श्लोकों से संक्षिप्त किया है।

इसी तरह बाण*, पंचतंत्रकार† और रघुवंश के टीकाकार मल्लिनाथ‡ ने कौटिल्य या चाणक्य के अर्थशास्त्र का निर्देश किया है। नंदिसूत्र नामक जैन ग्रंथ में भी कौटिलीय अर्थशास्त्र का उल्लेख है§। सोमदेव सूरि ने भी, जो यशोधर के समय विद्यमान था, चाणक्य के नंदनाश का वर्णन किया है¶। उसका नीतिवाक्यामृत अर्थशास्त्र के आधार पर लिखा गया है+।

इस प्रकार अंतःसाक्षी और बाह्यसाक्षी दोनों से सिद्ध हो गया कि अर्थशास्त्र का कर्ता चंद्रगुप्तकालीन कौटिल्य है।

प्रोफेसर मैक्डानल प्रभृति कतिपय विद्वानों का विचार है कि कौटिलीय अर्थशास्त्र किसी एक कर्ता की कृति नहीं है। बहुत

---

* किं वा तेषां सांप्रतं येषामतिनृशंसप्रायोपदेशे निर्घृणं कौटिल्य-शास्त्रं प्रमाणम्। अभिचारक्रियाक्रूरैकप्रकृतयः पुरोधसो गुरवः। परातिसंधानपरा मंत्रिण उपदेष्टारः। नरपतिसहस्रोज्झितायां लक्ष्म्यामासक्तिः। मरणात्मकेषु शास्त्रेष्वभियोगः। सहजप्रेमार्द्रहृदया भ्रातर उच्छेद्याः। (कादंबरी)

† ततो धर्मशास्त्राणि मन्वादीनि। अर्थशास्त्राणि चाणक्यादीनि। कामशास्त्राणि वात्स्यायनादीनि। (पंचतंत्र)

‡ क—अत्र कौटिल्यः—भूतपूर्वमभूतपूर्वं वा जनपदं परदेशप्रवाहेण स्वदेशाभिष्यन्दवमनेन वा निवेशयेत्। (रघु० १५—२९)

ख—अत्र कौटिल्यः—

क्षीणाः प्रकृतयो लोभं लुब्धा यान्ति विरागताम्।

विरक्ता यान्त्यमित्रं वा भर्तारं घ्नन्ति वा स्वयम्॥ (रघु० १७—४९)

इसी तरह १७ वें सर्ग के ४६, ५६, ७६ और ८१ तथा १८ वें सर्ग के ५० श्लोकों की टीका में मल्लिनाथ ने अर्थशास्त्र से उद्धृत कर कौटिल्य का मत दिया है।

§ खमए अमच्चपुत्ते चाणक्के चेव थूलबद्देय (१२३) और "भारहं रामायणं भीमासुरक्कं कोडिल्लियम्" (३६१ सू०) में क्रमशः चाणक्य और कौटिलीय अर्थशास्त्र का उल्लेख है।

¶ श्रूयते हि किल चाणक्यस्तीक्ष्णदूतप्रयोगेणैकं नंदं जघानेति। (पृ० ५२)

+ परस्पर समानता के उदाहरणों के लिये देखो प्राणनाथ विद्यालंकार द्वारा अनुवादित कौटिल्य-अर्थशास्त्र की प्रस्तावना। (पृ० ११)

संभवतः उसमें कई अध्याय पीछे से जोड़े गए हैं और विशेष कर वे, जिनमें ग्रंथकर्ता का नाम कौटिल्य दिया है।

अर्थशास्त्र को पढ़ने से उक्त धारणा के लिये कोई कारण नहीं मिलता। डाक्टर जौली लिखते हैं कि इस समस्त ग्रंथ में प्रारंभ से अंत तक रचना और विषययोजना का ऐसा उत्तम संकलन है, जो और कहीं देखने में नहीं आता। वस्तुतः उनका यह कथन बहुत ठीक है। शुरू में विषयसूची है और अंत में ग्रंथ की रचना-प्रणाली के संबंध में टिप्पणियाँ हैं। इनके कारण संपूर्ण पुस्तक में एकता और सामंजस्य आ जाता है और सारे ग्रंथ में अन्यान्य प्रकरणों तथा आलोच्य विषयों का उल्लेख है, जिससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह ग्रंथ किसी एक लेखक का लिखा हुआ है। डाक्टर जौली भी यह स्वीकार करते हैं कि जिस रूप में आजकल यह ग्रंथ हम लोगों को प्राप्त है, ठीक उसी रूप में है, जिसमें इसे लेखक ने लिखा था। अर्थशास्त्र के अंतिम श्लोक 'दृष्ट्वा विप्रतिपत्तिं'······इत्यादि में यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि सूत्र और भाष्य दोनों एक लेखक के बनाए हुए हैं। इसलिये अब इस बात का विवाद नहीं रह जाता कि यह ग्रंथ अनेक लेखकों की कृति है या एक की।

अर्थशास्त्र के रचनाकाल के उपर्युक्त पक्ष (चौथी शताब्दी ई० पू०) पर आक्षेप करनेवाले विद्वानों में डाक्टर जौली*, प्रोफेसर ए० ए० मैकडोनल† और प्रोफेसर विंटरनिट्ज़‡ मुख्य हैं। इनके प्रायः सब आक्षेप परस्पर मिलते जुलते हैं। श्रीयुक्त काशीप्रसाद जायसवाल§, डाक्टर नरेंद्रनाथ ला|| और नंदलाल डे¶ प्रभृति भारतीय

* Arthashastra of Kautilya, [१९२३ प्रकाशित, लाहौर] की प्रस्तावना पृष्ठ १—४७।

† India's Past. आक्सफोर्ड पृ० १६८—७०।

‡ Calcutta Review, अप्रैल १९२४।

§ Hindu Polity परिशिष्ट तृतीय।

|| Studies in Indian History and Culture. पृ० २०६—६६।

¶ Asian Indian Hindu Polity.

विद्वानों ने इन आक्षेपों का समुचित उत्तर दिया है। इन आक्षेपों में कई आक्षेप तो इतने हास्यास्पद हैं, जिन्हें सुनकर विश्वास नहीं होता कि ये आक्षेप उनके सदृश विद्वानों ने किए होंगे। हम यहाँ संक्षेप से कुछ मुख्य आक्षेपों का विवेचन करेंगे।

(१) अर्थशास्त्र में लेखक ने जहाँ अन्य आचार्यों से सहमति या असहमति दिखाई है, वहाँ 'इति कौटिल्यः' या 'नेति कौटिल्यः' लिखकर। ऐसे प्रयोग संपूर्ण ग्रंथ में ७२ दफः आए हैं और एक दफः 'एतत् कौटिल्यदर्शनम् (पृ० १७)' लिखा गया है। इन प्रयोगों को देखकर डाक्टर जौली, प्रोफेसर विंटरनिट्ज़ और श्रीयुत ए० हिलब्रैंड (A. Hillbrandt)* प्रभृति विद्वानों का विचार है कि यदि कौटिल्य इस ग्रंथ का लेखक होता, तो वह अपनी सम्मति के लिये प्रथम पुरुष† (अँगरेजी में Third person) का रूप देकर अपना नाम न लिखता। अपनी सम्मति के लिये वह उत्तम पुरुष (First person) का प्रयोग करता। किसी दूसरे विद्वान् ने, जो बहुत संभवतः उसी के राजनीति-संप्रदाय (School of politics) का था, कौटिल्य की सम्मति दिखाते हुए इति कौटिल्यः या नेति कौटिल्यः लिखा है।

वस्तुतः यह यूरोपियन विद्वानों का भ्रम है। भारत में लेखक का अपना नाम देने की प्रथा प्राचीन काल से अब तक प्रचलित है। कामशास्त्र के कर्ता वात्स्यायन ने भी इसी तरह अपना मत प्रकट किया है—

स चोपायप्रतिपत्तिः कामसूत्रादिति वात्स्यायनः।

कवि राजशेखर ने भी काव्यमीमांसा में इति यायावरीयः' 'नेति यायावरीयः' लिखकर अपनी सम्मति प्रकट की है। प्रोफेसर विंटरनिट्ज़ ने यह आक्षेप करते हुए यह तो स्वीकार कर लिया है कि

---

* Das Kautilyashastra and Verwandtes.

† अँगरेजी के First person, Second person और Third person को संस्कृत में उत्तम, मध्यम और प्रथम पुरुष कहते हैं।

एक संप्रदाय (school) से संबंध रखनेवाला व्यक्ति अपना नाम प्रथम पुरुष में दे सकता है। तो क्यों न यही बात अर्थशास्त्र के लेखक के साथ मानी जाय? ए० हिलब्रैंड कृत Das Kautilyashastra and Verwandtes के विद्वान् संपादक ने उसकी भूमिका में इस आक्षेप का उत्तर देते हुए लिखा है—"प्राचीन भारतीय विद्वानों की लेख-पद्धति से अनभिज्ञता ही इस प्रकार के आक्षेप का कारण है। जब कोई लेखक दूसरों के मत का खंडन करता हुआ अपना मत रखता है, तब उसे प्रथम पुरुष का प्रयोग करना चाहिए या अपना नाम देना चाहिए। आज भी भारतीय विद्वान् उत्तम पुरुष (First person) का प्रयोग करते हुए हिचकिचाते हैं, क्योंकि 'मैं' के प्रयोग से लेखक का गर्व सूचित होता है। भारतीय लेखक अपने व्यक्तित्व को छिपाने की चेष्टा करते हैं। स्वभावत: वे अपना मत दिखाते हुए अपना नाम ही दे देते हैं। इसी लिये अर्थशास्त्र के संबंध में यह संदेह करना ठीक नहीं है कि उसे कौटिल्य ने नहीं लिखा।" हिंदी के प्राचीन और अर्वाचीन कवि भी अपनी कविताओं में अपना नाम देते चले आए हैं।

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् हर्मन याकोबी (Hermann Jacobi) ने भी इस आक्षेप का युक्तियुक्त उत्तर देते हुए एक लेख लिखा है*। उसमें वे लिखते हैं—"यदि कौटिल्य की मृत्यु के बहुत समय बाद उसी के राजनीति-संप्रदाय के किसी विद्वान् ने अर्थशास्त्र लिखा होता तो उस समय जब कि कौटिल्य के नियम साधारणतया स्वीकृत समझे जाते थे, ग्रंथ का लेखक कभी इतने ध्यान से उन सभी सूक्ष्म बातों का वर्णन न कर सकता, जिनमें कौटिल्य का पिछले आचार्यों से मतभेद था और न वह कौटिल्य का नाम और उसके विरोधियों को आचार्य लिखता। उसके लिये तो उसी संप्रदाय का प्रवर्तक (कौटिल्य) ही आचार्य था।"

* इस उपयोगी लेख का पूर्ण अनुवाद इंडियन एंटिक्वेरी १९१८ में १२७—६१ और १८७—९५ पृष्ठों में हो चुका है।

(२) डाक्टर जौली, प्रोफेसर विंटरनिट्ज और प्रो० मैकडानल का दूसरा बड़ा आक्षेप यह है कि यदि कौटिल्य चंद्रगुप्त का समकालीन था, तो चंद्रगुप्त का वर्णन करते हुए महाभाष्यकार पतंजलि और मैगस्थनीज आदि ग्रीक लेखकों ने कौटिल्य का नाम क्यों नहीं दिया।

श्रीयुक्त जायसवाल ने इस प्रश्न का बहुत अच्छा उत्तर दिया है कि मैगस्थनीज के लिखे हुए संपूर्ण ग्रंथ का तो पता लगाइए, क्योंकि जो ग्रंथ अभी तक पूरा मिला ही नहीं, उसमें किसी घटना का वर्णन न होने के आधार पर हम कोई सिद्धांत स्थिर नहीं कर सकते। इसी तरह महाभाष्य में कौटिल्य या उसके अर्थशास्त्र का उल्लेख न होने से यह सिद्ध नहीं हुआ कि वह हुआ ही नहीं। उसमें तो बिंदुसार, अशोक और बुद्ध तथा बहुत से वैदिक ग्रंथों का उल्लेख नहीं है, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वे थे ही नहीं। महाभाष्य व्याकरण का ग्रंथ है, इतिहास का नहीं।

(३) उपर्युक्त तीनों यूरोपियन विद्वान् अपने पक्ष की पुष्टि में एक विचित्र तर्क पेश करते हैं। कौटिल्य शब्द का अर्थ है कुटिलता। सम्राट् चंद्रगुप्त का प्रधान मंत्री अपना ऐसा नाम रखे, यह संभव प्रतीत नहीं होता।

कौटिल्य तो उसका गोत्रीय नाम है। कामंदकीय (१,६) की व्याख्या करते हुए शंकराचार्य ने लिखा है कि उसका वास्तविक नाम विष्णुगुप्त था और उसके जन्मस्थान तथा गोत्र के कारण उसे चाणक्य तथा कौटिल्य भी कहते थे। महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री ने अर्थशास्त्र के अपने संस्करण में लिखा है कि शुद्ध नाम कौटल्य है, जिसका अर्थ 'कुटल गोत्र में उत्पन्न' होता है, न कि कौटिल्य। केशवस्वामी ने भी 'नानार्थार्णवसंक्षेप' में एक गोत्रर्षि का नाम कुटल बताया है। सबसे बड़ी बात यह है कि अर्थशास्त्र की सब हस्तलिखित प्रतियों में 'कौटल्य' ही पाया जाता है*।

* Studies in Indian History and Culture; पृ० २७७-७८।

और फिर यदि उसका नाम कुटिलतार्थक कौटिल्य ही हो, तो भी इससे उसके प्रधान मंत्री बनने में कोई बाधा नहीं आती। इससे भी अधिक खराब अर्थवाले नाम तो भारतीय और यूरोपीय विद्वानों के रखे जाते रहे हैं। शुनःशेफ, कौणपदंत, पिशुन, वातव्याधि, Fox, Lamb और Savage आदि। बुरे नाम रखने के उत्तरदायी माता पिता हैं, न कि वे खुद।

(४) प्रोफेसर विंटरनिट्ज एक और विचित्र युक्ति देते हैं कि कोई मंत्री राजा की उपस्थिति में शत्रुओं को नष्ट करने का संपूर्ण श्रेय अपने को देते हुए यह नहीं लिख सकता—

येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम्॥

ऐसा लिखने से सम्राट् चंद्रगुप्त उससे जरूर नाराज होता। इसलिये यह ग्रंथ किसी अन्य पश्चात्कालीन लेखक का लिखा हुआ है।

इस युक्ति में भी कोई सार नहीं है। सभी जानते हैं कि चंद्रगुप्त कौटिल्य में कितनी भक्ति रखता था। वह उसे गुरु मानता था, जैसा कि विशाखदत्त ने दिखाया है। बिस्मार्क का जो स्थान जर्मनी में है, वही स्थान कौटिल्य का मौर्य-भारत में था। कौटिल्य के उपर्युक्त श्लोक लिखने से चंद्रगुप्त कभी नाराज नहीं हो सकता था।

(५) डाक्टर जौली लिखते हैं कि निम्नलिखित श्लोक कौटिल्य ने, उद्धरण के रूप में, दिया है और यह श्लोक भास में मिलता है, जिसका समय तीसरी शताब्दी है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह अर्थशास्त्र भास के बाद लिखा गया। वह श्लोक यह है—

नवं शरावं सलिलस्य पूर्णं सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्।
तत्तस्य माभून्नरकं च गच्छेद्यो भर्तृपिंडस्य कृते न युध्येत्। (१०,३)

यह श्लोक वस्तुतः भास से अर्थशास्त्र में नहीं लिया गया। अर्थशास्त्र में इस स्थल पर बताया गया है कि सेना को क्या कहकर उत्साहित करना चाहिए। यहाँ कौटिल्य ने एक वेदमंत्र लिख-

कर 'अपीह श्लोकौ' लिखते हुए एक साथ दो श्लोक उद्धृत किए हैं, जो इस प्रकार हैं—

यान्यज्ञसंघैस्तपसा च विप्राः स्वर्गैषिणः पात्रचयैश्च यान्ति ।
क्षणेन तानप्यतियान्ति शूराः प्राणान् सुयुद्धेषु परित्यजन्तः ॥
नवं शरावं सलिलस्य पूर्णं सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम् ।
तत्तस्य माभून्नरकं च गच्छेद्यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत्* ॥

इनमें पिछला श्लोक यदि अर्थशास्त्रकार ने भास से लिया, तो प्रथम श्लोक कहाँ से लिया ? वस्तुतः ये दो श्लोक पहले से ही प्रसिद्ध होंगे। सैनिकों को इस तरह उत्साहित करने की प्रथा बहुत प्राचीन है। यह संभव है कि भास ने कौटिल्य से उद्धृत किया हो।

(६) डाक्टर जौली अपने आक्षेप की पुष्टि में कहते हैं कि बहुत सी बातों में याज्ञवल्क्य और कौटिल्य एकमत हैं, उनमें किसी प्रकार का मतभेद नहीं है। इसलिये मानना पड़ता है कि कौटिल्य ने याज्ञवल्क्य की बातों को सूत्ररूप दे दिया है अर्थात् कौटिल्य याज्ञवल्क्य (३री सदी) के बाद हुआ है।

हम यह क्यों न मान लें कि याज्ञवल्क्य ने कौटिल्य से ले लिया है, जैसा कि अधिक संभव है। पद्य को सूत्र में परिणत करना अधिक कठिन और व्यर्थ प्रयत्न है, जब कि कौटिल्य को पद्य देने में कोई एतराज नहीं और वह स्थल स्थल पर पद्य लिखता है। यही अधिक संभव है कि याज्ञवल्क्य ने सूत्रों को पद्यबद्ध किया, क्योंकि वह सारा ग्रंथ पद्यमय है, उसमें सूत्र काम नहीं दे सकते थे।

(७) डाक्टर जौली अपनी स्थापना की पुष्टि में एक और युक्ति देते हैं कि अर्थशास्त्र के पढ़ने से यह पाया जाता है कि उसका कर्ता पुराणों तथा पाणिनि से परिचित था और उसने काम-विज्ञान

* भावार्थ—याज्ञिक ब्राह्मण यज्ञादि के द्वारा जिन लोकों को प्राप्त होते हैं, शूर वीर युद्ध में प्राण त्याग करते ही वहां पहुँच जाते हैं। जो आदमी स्वामी का अन्न खाकर युद्ध नहीं करता, वह नरक में जाता है और उसे नए और पवित्र सकोरे में भरा जल तथा उसी में रखा कुशा नहीं मिलता।

के वैशिक प्रकरण का उल्लेख किया है। इससे यह सिद्ध है कि अर्थशास्त्र की रचना पुराण, अष्टाध्यायी और कामशास्त्र* के बनने के बाद हुई और क्योंकि ये ग्रंथ ३०० ई० पू० के बाद बने हैं, इसलिये अर्थशास्त्र चंद्रगुप्त के समय नहीं लिखा गया।

वस्तुत: पुराण और अष्टाध्यायी के निर्माणकाल का डाक्टर जौली को ज्ञान नहीं। सबसे प्राचीन धर्मसूत्र के कर्ता को भी पुराणों का ज्ञान था। आपस्तंब (२. २४. ६) और छांदोग्य उपनिषद् में पुराण का उल्लेख है। श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ Hindu Polity के पाँचवें अध्याय के प्रारंभ में पाणिनि का काल ५०० ई० पू० सिद्ध किया है। कामशास्त्र का वैशिक प्रकरण आने से भी अर्थशास्त्र पीछे का बना हुआ नहीं माना जा सकता। दत्तक ने पाटलिपुत्र में वात्स्यायन से भी पहले वैशिक प्रकरण लिखा था। अभी तक यह भी निश्चितरूप से कहा नहीं जा सकता कि चौथी सदी ई० पू० में कोई वैशिक प्रकरण लिखा ही नहीं गया था।

(८) प्रोफेसर विंटरनिट्ज, प्रोफेसर मैकडोनल और डाक्टर जौली की एक बड़ी दलील यह है कि अर्थशास्त्र शास्त्रीय वर्गीकरण और पारिभाषिक लक्षणों की पेचीदगियों से इतना अधिक भरा हुआ और विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ है कि उसके किसी क्रियावान् राजनीतिज्ञ (Practical statesman) व्यक्ति द्वारा लिखे जाने में संदेह होता है।

यह युक्ति बहुत विचित्र है। क्या राजमंत्री गंभीर विद्वान् नहीं हो सकते! भारत में तो पहले विद्वान् ब्राह्मण ही मंत्री नियुक्त किए जाते थे। पराशरसंहिता में लिखा है।

इंद्रस्याङ्गिरसो नलस्य सुमति:, शैब्यस्य मेधातिथि-
धौम्यो धर्मसुतस्य वैण्यनृपते: स्वौजा निमेर्गौतम:।

---

* कीथ प्रभृति अनेक विद्वानों का यह मत है कि कौटिल्य और वात्स्यायन भिन्न नहीं हैं। इस विषय पर पं० जयदेवजी विद्यालंकार ने अजमेर से प्रकाशित कामसूत्र [भाषाभाष्य] की प्रस्तावना में अच्छा प्रकाश डाला है। इस कल्पना की अवस्था में तो यह आक्षेप उठ ही नहीं सकता।

प्रत्यग्दृष्टिररुन्धतीसहचरो रामस्य पुण्यात्मनो
यद्वत्तस्य विभोरभूत् कुलगुरुर्मन्त्री तथा माधवः ॥

यह तो बहुत साधारण बात है कि विद्वान् पंडित बड़े भारी राजनीतिज्ञ हों। राजा भोज की विद्वत्ता प्रसिद्ध है। लोकमान्य तिलक की अगाध विद्वत्ता और राजनीतिज्ञता में किसी को संदेह नहीं है। फिर अर्थशास्त्र तो किसी राजनीतिज्ञ की कृति है, जैसा कि डा० जौली ने स्वयं माना है कि इस ग्रंथ का रचयिता संभवतः राज्य का कोई ऐसा अधिकारी था, जो शासन-कार्य से परिचित था। अर्थ-शास्त्र में वर्णित कूटनीतियां हमें इटली के मैकियावेली का स्मरण कराती हैं।

(९) डाक्टर जौली ने एक और बहुत ही अद्भुत दलील दी है कि अर्थशास्त्रकार ज्योतिष, खनिजविद्या, वास्तुविद्या, रत्नपरीक्षा, कीमिया आदि संबंधी अनेक प्रामाणिक ग्रंथों से परिचित था। इन विषयों के साहित्य बनने में बहुत समय लगा होगा इसलिये अर्थशास्त्र ३०० ई० पू० के बाद बना होगा।

खैर, उक्त विषयों के ग्रंथ ३०० ई० पू० से पूर्व नहीं बन चुके थे, इसका क्या प्रमाण? सभी विषय ग्रीकों के आने के बाद ही विकसित हुए, इस धारणा की पुष्टि के लिये प्रबल प्रमाणों की आवश्यकता है।

(१०) डाक्टर जौली एक विचित्र तर्क पेश करते हैं कि अर्थशास्त्र में जो दूसरे आचार्यों या विद्वानों की सम्मतियाँ दी हैं, वे कल्पित हैं और उनके नाम महाभारत से लिए गए हैं।

यदि यह बात ठीक होती, तो निस्संदेह जौली के पक्ष में बड़ी जोरवाली दलील थी, परंतु वैसा है नहीं। महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री ने अर्थशास्त्र की प्रस्तावना में बताया है कि विशालाक्ष और बृहस्पति के उद्धरण साहित्य में अब तक कहीं कहीं मिलते हैं। नीतिवाक्यामृत में शुक्र और बृहस्पति के उद्धरण वर्तमान हैं। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि ये आचार्य कल्पित नहीं हैं।

(११) यूरोपियन विद्वान् अपने मत की पुष्टि में एक और प्रबल युक्ति देते हैं कि यदि अर्थशास्त्र चंद्रगुप्त के समय लिखा गया होता,

तो उसमें और मैगस्थनीज आदि ग्रीक यात्रियों के लिखे हुए भारत-वर्णन में अंतर नहीं होना चाहिए। परंतु बहुत सी ऐसी बातें दोनों में हैं, जो एक दूसरे में नहीं पाई जातीं और कई जगह विरोध भी पाया जाता है। इससे यह निश्चित है कि अर्थशास्त्र चंद्रगुप्त के समय नहीं लिखा गया।

पारस्परिक विरोध के उदाहरणों पर विचार करने से पूर्व निम्न-लिखित चार बातों का खयाल कर लेना चाहिए।

(क) मैगस्थनीज का भारत-वर्णन हमें खण्डशः मिला है। इसलिये उसमें बहुत सी आवश्यक बातें नहीं मिल सकतीं।

(ख) मैगस्थनीज आदि ग्रीक यात्रियों के विवरण पूर्णतः सत्य नहीं हैं, जैसा कि प्रो० विण्टरनिट्ज स्वयं स्वीकार करते हैं। प्रो० मैकडोनल और कीथ भी लिखते हैं कि ग्रीक लेखकों पर पूर्ण विश्वास कर लेना घातक होगा, क्योंकि वे केवल दर्शक थे और उनकी लिखी बातें पूरी सूचना के आधार पर नहीं लिखी गईं।

(ग) जिन ग्रंथों से मैगस्थनीज के उद्धरण लिए गए हैं, उन ग्रंथों के लेखकों ने मैगस्थनीज के शब्दों को नहीं बदला, इस बात का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है।

(घ) डाक्टर शानबैक (Schwanbeck) ने लिखा है कि यद्यपि मैगस्थनीज ने भारत-वर्णन के कुछ भाग प्रत्यक्ष दर्शन करके लिखे हैं, परंतु शेष भागों के लिये वह सुनी सुनाई बातों पर आश्रित रहा है।

अब हम यहां दोनों लेखकों के परस्पर के कुछ उन मतभेदों पर विचार करेंगे जिन्हें डाक्टर जौली या प्रो० विंटरनिट्ज ने बताया है।

(अ) मैगस्थनीज मीलप्रदर्शक पत्थरों (Mile stones) का वर्णन करता है, चाणक्य इस विषय में चुप है।

यह कोई परस्पर विरोध नहीं है।

(आ) मैगस्थनीज सिंचाई के लिये पानी के वितरण का वर्णन करता है, परंतु कौटिल्य ने इस संबंध में कुछ नहीं लिखा।

अर्थशास्त्र में वितरण का स्पष्ट विधान न होने का यह अर्थ नहीं कि मैगस्थनीज से वह असहमत है। कौटिल्य भी नहरों का वर्णन करता है (कुल्यावापानां च कालत:)।

(इ) मैगस्थनीज़ लकड़ी के भवनों का उल्लेख करता है और चाणक्य पत्थरों के।

पहले तो मैगस्थनीज का कथन पूर्ण सत्य नहीं मालूम होता, क्योंकि पाटलिपुत्र के खोदने से वहाँ से ईंट पत्थरों का सामान भी बहुत मिला है। दूसरे जिस प्रकरण (पृष्ठ ५२) का अर्थ विंटरनिट्ज़ ने पत्थर के मकान किया है, वह प्रकरण डाक्टर शामशास्त्री की सम्मति में सड़कों के संबंध में है, भवनों के नहीं। फिर कौटिल्य काष्ठभवनों का विरोधी भी नहीं है। उसने भूमिगृह के काष्ठ के बनवाए जाने का उल्लेख किया है (पृ० ५८)।

(ई) मैगस्थनीज ने दास-प्रथा के संबंध में लिखा है कि वह नहीं थी और अर्थशास्त्र से उसका होना पाया जाता है।

भारतवर्ष में दासों के साथ एक परिवार-सदस्य का सा व्यवहार होता था, इसलिये विदेशी यात्री उसे प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कर सकते थे। डाक्टर जौली जिस याज्ञवल्क्य स्मृति के आधार पर अर्थशास्त्र का बनना मानते हैं, उसी में दास-प्रथा का स्पष्ट वर्णन है।

(उ) ग्रीक यात्रियों के वर्णनों और अशोक के शिलालेखों से उस उन्नत भारत का ज्ञान नहीं होता, जिसका ज्ञान अर्थशास्त्र के पढ़ने से होता है। मैगस्थनीज ने केवल पाँच धातुओं का वर्णन किया है और स्ट्रैबो लिखता है कि भारतीयों को खान खोदने और धातु गलाने का ज्ञान नहीं है। परंतु अर्थशास्त्र का लेखक खान पर राज्य के अधिकार, टकसाल में सिक्के बनाने, धातुओं के आभूषण आदि बनाने से परिचित था। प्रो० विंटरनिट्ज़ लिखते हैं कि अर्थशास्त्रकार पारे का प्रयोग कर रासायनिक रीति से कृत्रिम सोने के बनाने का भी वर्णन करता है।

यहाँ भी ग्रीक यात्रियों के वर्णन सत्य नहीं जान पड़ते। मौर्य-काल और उससे पूर्व के सिक्के, गहने (पाटलिपुत्र से मिली बढ़िया

सोने की अँगूठी), ढले हुए लोहे और शीशे की मोहरें मिल चुकी हैं। स्वयं ग्रीक लेखकों ने लिखा है कि चंद्रगुप्त के महल में सोने का वृक्ष रहता था। इसी तरह पाँच धातुओं के ज्ञान की बात भी अशुद्ध है। सात धातुओं का उल्लेख तो यजुर्वेद में है*। पारे का प्रयोग उस समय (३०० ई० पू०) तक ज्ञात नहीं था, जब तक इसका कोई निश्चित प्रमाण न मिले, इस युक्ति में कोई बल नहीं है। यदि चरक में सबसे पहले पारे का प्रयोग मिलता है, तो यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि दृढ़बल ने अग्निवेश की मूल चरक-संहिता से संक्षिप्त कर वर्तमान रूप दिया। इस संबंध में डाक्टर नरेंद्रनाथ ला ने विस्तार से विचार किया है। अशोक के शिला-लेखों में यदि अर्थशास्त्र की बातें नहीं हैं, तो क्या हुआ। वे लेख तो भारत के गैजेटियर नहीं हैं।

(ऊ) मैगस्थनीज कहता है कि भारतीय लिखना नहीं जानते थे, परंतु अर्थशास्त्र में लेखों का विधान है।

यह लिखने से ही ग्रीक यात्रियों के वर्णनों की प्रामाणिकता का ज्ञान हो जाता है। यदि भारतीय लिखना नहीं जानते थे, तो अशोक ने वे धर्मलेख किस तरह खुदवाए? यदि ग्रीक यात्रियों ने आकर लिखना सिखा दिया, तो क्या वे साधारण जनता को भी पढ़-कर सुनाया करते थे, जिनके लिये वे आज्ञाएँ थीं। यह कहना नितांत भ्रम है कि प्राचीन भारतीय लेखनकला से अनभिज्ञ थे। महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ "प्राचीन भारतीय लिपिमाला" में इस धारणा का बहुत विद्वत्तापूर्वक खंडन किया है।†

---

* अश्मा च मे ········ हिरण्यं च मेऽयश्च मे श्यामञ्च मे लोहञ्च मे सीसञ्च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ (१८—१३)

† रजता हरिणीः सीसा युजो युज्यन्ते कर्मभिः।
अश्वस्य वाजिनस्त्वचि सिमाः शम्यन्तु शम्यन्तीः ॥ (२३—३७)।

जो इस विषय के संबंध में कुछ विस्तार से जानना चाहते हों, वे इस लेख को अवश्य पढ़ें। लिपिमाला, पृ० १—१६

(ए) मैगस्थनीज ने सिक्कों, जुए, मादक द्रव्यों के कर तथा सड़कों पर लगनेवाले कर का उल्लेख नहीं किया, परंतु अर्थशास्त्र में इन सब बातों का वर्णन है।

मैगस्थनीज ने बिक्री की चीजों पर कर लगने का उल्लेख किया है। इसमें वे सब कर, जिनका वर्णन अर्थशास्त्र में किया गया है, आ जाते हैं।

(ऐ) मैगस्थनीज ने शिकार के समय राजा के साथ स्त्री पहरेदारों का उल्लेख किया है, परंतु चाणक्य ने नहीं।

यह कहना भी ठीक नहीं है। अर्थशास्त्र में स्पष्ट लिखा है स्त्रीगणैर्धन्विभिः परिगृह्येत (१-२१)। स्त्रियों के छत्र लिए हुए राजा के साथ रथों पर जाने का उल्लेख (१-१७) भी है। शिकार तथा युद्ध के समय राजा का 'दशवर्ग' से घिरा होना लिखा है। इस दशवर्ग में स्त्रियाँ भी सम्मिलित थीं।

इस तरह कुछ उदाहरणों पर विचार करने से यह प्रतीत हो जाता है कि सब स्थलों पर दोनों में विरोध नहीं है और जहाँ विरोध पाया जाता है, वहाँ ग्रीक यात्रियों के वर्णनों की अपूर्णता और अप्रामाणिकता के कारण। यदि ध्यान से ग्रीक यात्रियों के वर्णनों और अर्थशास्त्र का स्वाध्याय किया जाय तो अनेक बातों में परस्पर समानता भी मिलेगी। यह देखते हुए एक बात हर समय खयाल में रखनी चाहिए कि यात्री तो ऊपर की बातों को देखकर संतुष्ट हो जाता है, अंदर गहराई तक पहुँचने का यत्न नहीं करता।

डाक्टर जौली प्रभृति विद्वानों की सभी मुख्य युक्तियों का विचारकर हमने देखा कि उन युक्तियों के आधार पर अर्थशास्त्र को पीछे का बना हुआ नहीं मान सकते। अर्थशास्त्र वस्तुतः चंद्रगुप्त के समय का ही बना हुआ है और उसे आचार्य चाणक्य ने लिखा है।

(२३) ककुत्स्थ

[लेखक—राय कृष्णदास]

ऐक्ष्वाकों की उस शाखा का, जिसमें हरिश्चंद्र, रघु, राम इत्यादि का प्रादुर्भाव हुआ था, एक नाम "काकुत्स्थ" भी है।

पुराण इस नाम की कथा यों देते हैं कि त्रेता में देवगण असुरों से, संग्राम में, हार गए। तब उन्होंने इक्ष्वाकु के पौत्र पुरंजय की सहायता चाही। राजा ने कहा कि यदि इंद्र मेरे वाहन बनें तो मैं लड़ सकता हूँ। इंद्र ने उनकी सवारी के लिये वृषभ का रूप धारण किया और उन्होंने उस वृषभ के ककुद् (डील) पर स्थित होकर असुरों को पराजित किया। विष्णुपुराण का लेख है—

पुरा हि त्रेतायां देवासुरयुद्धमतिभीषणमभवत्। तत्र चातिबलिभिरसुरैरमराः पराजिताः........। .....पुरंजयो नाम राजर्षेश्शशादस्य तनयः......। ...अमराः पुरंजयसकाशमाजग्मुरूचुश्चैनम्। भो भो क्षत्रियवर्याऽस्माभिरभ्यर्थितेन भवताऽस्माकमरातिवधोद्यतानां कर्तव्यं साहाय्यमिच्छामः तद्भवताऽस्माकमभ्यागतानां प्रणयभंगो न कार्य इत्युक्तः पुरंजयः प्राह—त्रैलोक्यनाथो योऽयं युष्माकमिंद्रः शतक्रतुरस्य यद्यहं स्कंधाधिरूढो युष्माकमरातिभिस्सह योत्स्ये तदहं भवतां सहायः स्याम्। इत्याकर्ण्य समस्तदेवैरिंद्रेण च बाढमित्येवं समन्विष्टम्। ततश्च शतक्रतोर्वृष-रूपधारिणः ककुदि स्थितोऽतिरोषसमन्वितो.....देवासुरसंग्रामे समस्तानेव असुरान्निजघान। यतश्च वृषभककुदि स्थितेन राज्ञा दैतेयबलं निषूदितमतश्चासौ ककुत्स्थसंज्ञामवाप॥

—विष्णु अं० ४ अ० २, २२—३२।

अर्थात्—पुराने जमाने में, त्रेता में, देव और असुरों का बड़ा भीषण युद्ध हुआ था। उसमें दैत्यों ने अपने विशेष बल के कारण देवताओं को हरा दिया। उस समय राजर्षि शशाद का पुत्र पुरंजय

राज्य करता था। देवता उसके पास गए और बोले—हे क्षत्रियप्रवर! हम आपकी अभ्यर्थना करते हैं—हम अपने शत्रुओं के नाश में उद्यत हैं और आपकी सहायता के इच्छुक हैं। सो, हम आपके पास आए हैं, आप हमारा जी न तोड़िए। यह सुनकर पुरंजय ने उत्तर दिया—वह जो तीनों लोकों का स्वामी सौ यज्ञों का करनेवाला तुम लोगों का इंद्र है, यदि मैं उसके कंधे पर सवार होकर लड़ूँ तो मैं तुम्हारा सहायक हो सकता हूँ। यह सुनकर शीघ्र ही देवताओं ने इंद्र को इसके लिये तैयार किया। इंद्र ने वृषभ का रूप लिया और उनके डील पर स्थित होकर अत्यंत रोष से संग्राम में पुरंजय ने समस्त असुरों का वध कर डाला। यतः (चूँकि) वृषभ के ककुद् पर स्थित होकर राजा ने दैत्यसेना का नाश किया था अतः उन्होंने ककुत्स्थ संज्ञा पाई।

अन्य पुराणों में भी यही कथा कुछ कुछ हेर-फेर से मिलती है। अस्तु, 'ककुद्' और 'स्थ' के समास से यह ककुत्स्थ शब्द बना है—(ककुदि तिष्ठतीति ककुत्स्थः) जो पुरंजय का दूसरा नाम पड़ा था। और, उन्हीं ककुत्स्थ के अपत्य काकुत्स्थ कहलाए (ककुत्स्थस्यापत्यं पुमान् काकुत्स्थः)।

वैदिक साहित्य के देखने से इस ककुत्स्थ नाम के इतिहास पर एक नया प्रकाश पड़ता है। वही इस नोट का विषय है—

वेदों में इंद्र को राष्ट्र का अधिष्ठातृदेवता माना है। वैदिक साहित्य के उन मंत्रों अथवा स्थलों में जिनका संबंध राजशास्त्र से है इस बात का बार बार संकेत है। ऋग्वेद १०, १७३ में राज्याभिषेक संबंधी मंत्रों की ये ऋचाएँ देखिए—

इंद्रइवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमुपधारय। इंद्र एतमदीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषा।

अर्थात्—इंद्र की ही भाँति यहाँ ध्रुव (स्थिर) होकर बैठो। इस राष्ट्र का ध्रुव धारण करो जैसे ध्रुव हवि (आहुति) से इसको इंद्र ने धारण किया है।

इन्हीं सूक्तों की अन्य ऋचाओं में भी यही बात ध्वनित है। अथर्ववेद ५, ८७—८८ में भी ये मंत्र कुछ भेद से आए हैं। अथर्व ३, ४-६ में भी इंद्र राष्ट्र का अधिष्ठाता कहा गया है। इसी से राजा के अभिषेक को ऐंद्र महाभिषेक कहते थे (ऐतरेय ८, १५)।

पौराणिक काल में भी लोग यह बात न भूले थे। वायु पुराण के निम्नलिखित वाक्य में इसी की ध्वनि है—

स्थानमैंद्रं क्षत्रियाणां संग्रामेष्वपलायिनाम्—

—वायु पूर्वार्ध ८, १६६।

पुराणों से ऐसे दर्जनों अवतरण दिए जा सकते हैं। अस्तु, कालिदास के समय तक भी इस तत्त्व का परिज्ञान था। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

ऋद्धं हि राज्यं पदमैंद्रमाहुः।

—रघु० २, ५०।

सो, ऐसे राष्ट्र पर राज्य करने के लिये जब राजा का वरण होता था तब उससे कहा जाता था—.

त्वा विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पंच देवीः।

वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि॥

—अथर्व ३, ४, २।

अर्थात्—तुम्हें विश् (= जनता, राष्ट्र) राज्य करने के लिये वरण करें (चुनें)। ये पांच देदीप्यमान दिशाएँ* तुम्हें राज्य के लिये वरण करें। राष्ट्र के ककुद्—डील—पर (अर्थात् ऊँचे स्थान पर, 'आला मुकाम' पर) बैठो और ऊर्जस्वितापूर्वक विभव का वितरण करो।

इस मंत्र में प्रयुक्त 'ककुद्' शब्द उच्च पद के लिये आया है, इसमें तो कोई संदेह ही नहीं। आगे, संस्कृत में भी यह बराबर इसी अर्थ में व्यवहृत हुआ है—

---

* दिशाओं की संख्या चार (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण) से आठ (चार दिशाएँ और चार कोण) और फिर दस तक (पूर्वोक्त आठ दिशाएँ और अंतरिक्ष तथा भूमि,—ऊपर, नीचे—,) पहुँची है। यहाँ पांच दिशाओं से संभवतः चार दिशाएँ और पाँचवां अंतरिक्ष विवक्षित है।

ककुदं सर्वभूतानां धनस्थो नात्र संशयः ।

—भारत, शांतिपर्व ८६, ३० ।

ककुदं वेद-विदाम्

—मृच्छकटिक १ प्रस्तावना ।

इक्ष्वाकुवंश्यः ककुदं नृपाणाम्

—रघुवंश ६, ७१ * ।

अस्तु, यह—'राष्ट्रस्य ककुदि' पद हमारे बड़े काम का है क्योंकि इससे ककुत्स्थ शब्द का प्रकृत अर्थ लग जाता है—ऐक्ष्वाकों का जब से राष्ट्र (= उसके अधिष्ठातृदेवता इंद्र) का अधिपति होने के लिये, राज्य पर बैठने के लिये, उसके ककुद् पर सवार होने के लिये (मिलाइए हिंदी मुहाविरा—'सिर पर सवार होना') वरण हुआ तब से वे ककुत्स्थ पद से अभिहित हुए। और, उन्हीं के वंशधर काकुत्स्थ कहे जाने लगे ।

ऐक्ष्वाकों की योग्यता, अथच हाथ में राज-सत्ता आ जाने, के कारण यह वरण वंशगत हो गया था । रामायण देखने से मालूम होता है कि रामचंद्र के समय में भी चुनाव की प्रथा रूढ़िरूप में कायम थी ।

पौराणिकों की रीति थी कि वे ऐसी बातों का उल्लेख रूपकमय शैली में करते थे । अतएव उन्होंने उक्त इंद्रवाली कथा की रचना की है जिसका आधार उक्त मंत्रों में उल्लिखित राज्यशास्त्र के मुहावरे हैं । सो, इस पौराणिक ऐतिह्य का समन्वय उक्त मंत्रों से हो जाता है ।

अब रही देवासुर-संग्रामवाली बात; उसका समन्वय भी वैदिक साहित्य से ही होता है क्योंकि ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार देवों में (अर्थात् देव-संस्कृति के अनुयायियों में) पहले राजा न होते थे । असुरों† से युद्ध में जब देव बार-बार हारने लगे तब वे इस

* कालिदास की सरस्वती सिद्ध थी। उन्होंने ककुत्स्थ की प्रशंसा करते हुए ककुत्स्थ की ठीक व्याख्या-सी कर दी है । सच है—वाचमर्थोऽनुधावति ।

† असुरों से तात्पर्य है, असीरिया (उन्हीं की भाषा में असूरिया) वालों का जिनके राजा वहीं की भाषा में असूर कहे जाते थे ।

निष्कर्ष पर पहुँचे कि असुरों का राजा उनका नेतृत्व करता है अतएव वे जीतते हैं। 'हमारा कोई नेता नहीं है इसलिये हमारी हार होती है। सो, हमें भी उनका अनुकरण करना चाहिए— राजा चुनना चाहिए—

देवासुरा वा एषु लोकेषु समयतन्त......तांस्ततोऽसुरा अजयन् ......देवा अब्रुवन्नराजतया वै नो जयन्ति राजानं करवामहा इति।

—ऐतरेय ब्रा० ३, १४।

जान पड़ता है कि यह उस कल्प की चर्चा है जब आर्यों में कौटुंबिक जत्थे और उनके अध्यक्ष, प्रजा-पति, होते थे। राष्ट्रीय विकास के आरंभ में युद्ध के लिये राजा की आवश्यकता और उसका नियोजन राज्यशास्त्र का एक माना हुआ सिद्धांत है और आज भी आदिम जातियों में यही बात पाई जाती है। जातकों में भी युद्ध के लिये ही राजा की रचना मानी गई है। पौराणिकों ने भी इस ककुत्स्थ पद के इतिहास में उसी स्थिति का उल्लेख किया है।

जिस मंत्र में ककुद् शब्द आया है यद्यपि वह राज-धर्म के बहुत विकसित काल का द्योतक है किंतु यह बहुत पुराना, बँधा हुआ, मुहाविरा मालूम होता है। यह संभवतः उसी समय का मुहाविरा है जब युद्ध के लिये अनेक कौटुंबिक जत्थों को मिलाकर एक नेता (= राजा) नियत करने की जरूरत पड़ी थी। अतएव उक्त पौराणिक कथा, पौराणिकों के ऐतिहासिक रवायतों (= श्रुतियों, राजस्थानी 'ख्यातों') को रक्षित रखने का अच्छा उदाहरण है।
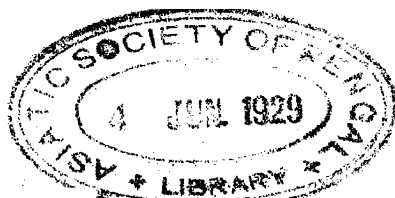
(२४). बिहारी-सतसई-संबंधी साहित्य

[लेखक—श्री जगन्नाथदास रत्नाकर, बी० ए०]

(पत्रिका भाग ६, पृष्ठ ३६० के आगे)

(४७)

एक अन्य संस्कृत गद्य टीका

सैंतालीसवीं टीका एक अन्य गद्य संस्कृत टीका है। हमारे पास इसकी एक आद्यंत तथा बीच बीच में से खंडित प्रति है, जिससे इसके रचयिता तथा रचना-काल इत्यादि का कुछ पता नहीं चलता। टीका बड़ी सुंदर तथा बहुत ही सरल संस्कृत गद्य में है। दोहों के भावार्थ प्रकाश करने की इसमें पूर्ण चेष्टा की गई है। इसमें प्रति दोहे का एक छोटा सा अवतरण लिखकर उसके वक्ता, बोधव्य तथा नायिका-भेद बतलाए गए हैं। वास्तव में यह टीका देवकीनंदन-टीका का एक प्रकार का अनुवाद मात्र है। कहीं कहीं इसके कर्त्ता ने देवकीनंदन टीका की अपेक्षा कुछ न्यूनाधिक्य भी कर दिया है। इस टीका के निदर्शनार्थ इसमें से एक दोहे की टीका नीचे लिखी जाती है—

दोहा

पारयो सोर सोहाग को इन बिन हीं पिय नेह।
उन दोहीं अँखियानि कै, कै अलसोहीं देह ॥ २३१ ॥

टीका

इयं नायिका रात्रौ पत्या सह प्रेमवार्तां कृत्वा सुरतस्पृहया जागरणं कृतवती। तेनालसा प्रेमगर्वयुता चेति दृष्ट्वा सपत्न्या दुःखं जातम्। तद्दुःखं दूरीकर्तुं तस्याः सखी तां वक्ति—

"उन" तथा "इन" अनया च (?) "दोहों" उभाभ्यामपि। नेत्रयोरालस्ययुक्तं कृत्वा तथा "देह" शरीरस्यापि आलस्ययुक्तं कृत्वा प्रियस्य स्नेहं विनैव सौभाग्यस्य कोलाहलः पातितः कृतः। प्रेमा-भावेऽपि प्रेमाऽस्तीत्युक्तम्। सखी चतुरा, प्रियेण साकं विरसो माभूदित्युक्तमेतत्। अथवा "इन" अनया उन्निद्रे नेत्रे कृत्वा देहे चालस्यं कृत्वा विनैव प्रियस्नेहं सौभाग्यस्य निनादः कृतः। अन्य-त्पूर्ववत्। दुःखमपनयतु, प्रियेण साकं स्नेहोस्तु इत्येव तात्पर्यं सख्युः (?)। पतिस्नेहदर्शनार्थमागतोयं यदि पतिरेवायं तदा स्वकीया-ऽन्यथा परकीया। मित्रमयमुभयोः। यया दृष्ट्वा दुःखं कृतं सैवा-न्यसम्भोगदुःखितेति ज्ञेयम्॥ २३१॥

इस टीका के विषय में हमारी पहले दो धारणाएँ थीं—एक तो यह कि कदाचित् यह टीका वही हो जिस संस्कृत गद्य टीका का विवरण पंडित अम्बिकादत्त जी व्यास ने किया है, और दूसरी यह कि देवकीनंदन टीका इस संस्कृत टीका के सहारे बनी है। पर इस टीका को उलट पुलटकर देखने पर हमारी ये दोनों भावनाएँ जाती रहीं, क्योंकि इसमें "तन भूषन अंजन दृगनु इत्यादि" दोहे की टीका के अंत में यह लिखा है—"अन्योप्यर्थः श्री देवकीनंदन-टीकातोऽवगंतव्यः"। इससे स्पष्ट ही प्रमाणित होता है कि यह टीका देवकीनंदन टीका के पश्चात् बनी है, और जो इस टीका तथा देवकीनंदन टीका में साम्य है उसका कारण यह है कि यह देवकी-नंदन टीका का एक प्रकार का अनुवादमात्र है जैसा कि ऊपर कहा गया है। देवकीनंदन टीका संवत् १८६१ में बनी, और व्यासजी ने जो संस्कृत गद्य टीका की प्रति देखी थी वह संवत् १८४४ की लिखी हुई थी, अतः यह टीका और व्यासजी की कथित टीका एक नहीं हो सकतीं। इसके अतिरिक्त बिहारी-बिहार के अंत में दी हुई दोहों की सूची में जो व्यास जी कथित संस्कृत गद्य टीका के दोहों के अंक दिए हैं वे इस टीका के दोहों के अंकों से नहीं मिलते।

इस टीका में क्रम देवकीनंदन टीका का रखा गया है जिसका विवरण दसवें क्रम में किया गया है।

(४८)

शृंगार सप्तशती टीका

अड़तालीसवीं टीका शृंगार सप्तशती नाम की बिहारी के दोहों का दोहों ही में संस्कृतानुवाद है। इसके रचयिता पंडित परमानंद भट्ट ने संवत् १९२५ में इसको बनाकर भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र तथा उनके मित्र रघुनाथ पंडित को समर्पित किया था। ये बातें ग्रंथारंभ के कुछ श्लोकों तथा अंत के एक संस्कृत दोहे से विदित होती हैं। ग्रंथारंभ में कुछ श्लोक ग्रंथकार ने श्री भारतेंदुजी तथा उनके मित्र रघुनाथ पंडित जी के वंशवर्णन के दिए हैं, पर अपने विषय में इतना छोड़कर और कुछ नहीं लिखा है—

"अनुमतिमथाऽऽसाद्य प्रीत्यै तयोर्गुणशालिनो-
विबुधपरमानंदो नंदन्मुकुंदगुणानुगाम्।
मधुरसरलां दोहाच्छन्दोमयीं रसपूरिता-
मनुपमगुणां पुण्यां चक्रे कृतिं सुमनःप्रियाम्॥ १३॥
पौत्रश्चैष मुकुंदभट्टविदुषः श्रौतश्चिरं संस्कृते
पुत्रः श्रीव्रजचंद्रशर्म्मसुधियः प्रीत्या महत्या तनोत्।
दोहासप्तशतीं समर्चितगुणो बुंदेलवंश्याधिपैः
शय्यां प्राप्य विहार्य्यभिख्यकृतिनो भाषाभृतायाः कृतेः॥१४॥

इन श्लोकों से इतना ही विदित होता है कि ग्रंथकार का नाम परमानंद, उसके पिता का नाम व्रजचंद एवं पितामह का नाम मुकुंद भट्ट था, और इन दोनों गुणशालियों (श्रीभारतेंदुजी तथा श्रीरघुनाथ पंडित) के प्रीत्यर्थ बिहारी के दोहों पर संस्कृत दोहे बनाए गए। अंत का संवत् वाला दोहा यह है—

शरद्दगूनवचंद्रैर्युते (?) वैक्रमाब्दगणनेन।
चैत्रकृष्णविष्णोस्तिथौ पूर्णाकृतिः सुखेन॥ ७०१॥

पंडित अंबिकादत्त जी व्यास ने बिहारी-बिहार की भूमिका में पादटिप्पणी में इनके विषय में यह लिखा है—

"मैंने दस ग्यारह वर्ष के वय में इनको देखा था। मुझे ठीक स्मरण है कि दशाश्वमेध की संगत में महंत बाबा सुमेरसिंह शाहज़ादा साहेब के यहाँ मेरे पिता जी के साथ मैं बैठा था, साहित्य की कोई बात महंत जी ने पूछी थी, मेरे पिता जी कह रहे थे इसी समय अकस्मात् बाबू हरिश्चंद्रजी और उनके साथ पंडित परमानंद आए। पंडित परमानंद साँवले से थे। लगढग तीस वर्ष का वय था। मैली सी धोती पहिरे मैली छींट की दोहर की मिर्जई पहने बनाती कंटोप ओढ़े एक सड़ी सी दोहर शरीर पर डाले थे। बाबू साहब ने पिता जी से उनके गुण कहे। सुनके सब उनकी ओर देखने लगे। उनने अपनी हाथ की लिखी पोथी बगल से निकाली और थोड़ी बाँच सुनाई और अपनी दशा कह सुनाई कि "मुझे—(कन्या-विवाह अथवा और कोई कारण कहा ठीक स्मरण नहीं) इस समय कुछ द्रव्य की आवश्यकता है इसी लिये चिर परिश्रम में यह ग्रंथ बनाया कि किसी से व्यर्थ भिक्षा न माँगनी पड़ै। अब मैं इस ग्रंथ को लिए कितने ही राजा बाबुओं के यहाँ घूम चुका। कोई तो कविता के विषय में महादेव के वाहन मिले, कहीं के सभा-पंडित घुसने नहीं देते, कहीं संस्कृत के नाम से चिढ़, कोई रीझे तो भी पचा गए। कोई कोई वाह वाह की भरती कर रह गए और कोई 'अतिप्रसन्नो दमड़ो ददाति' अब बाबू साहब का आश्रय लिया है।" थोड़े ही दिनों के अनंतर बाबू साहब ने ५००) मुद्रा और उनके मित्र रघुनाथ पंडित प्रभृति ने २००) यों दोहे पीछे १) इनकी बिदाई की। जो अनेक चँवर छत्रधारी राजा बाबू न कर सके, सो वैश्य बाबू हरिश्चंद्र ने किया। हा! अब वह आसरा भी कविजन का टूट गया।"

इस ग्रंथ में बिहारी के दोहों का अनुवाद संस्कृत दोहों में करके नीचे अपने रचित दोहों की टीका संस्कृत गद्य में लिखी है।

अनुवाद सामान्यतः अच्छा और सरस है। ग्रंथकार ने एक यह विलक्षण बात की है कि अनुवादित दोहे पहले रखकर तब बिहारी के दोहे रखे हैं, जिससे अनभिज्ञ पाठकों को यह भासित हो सकता है कि मूल दोहे संस्कृत के हैं और बिहारी के दोहे उनका अनुवाद। निदर्शनार्थ एक दोहे के अनुवाद तथा टीका नीचे दिए जाते हैं—

संस्कृत अनुवाद

सहजालसवपुषाऽनया सालसलोचनयापि।
दध्रे प्राणसमाभिधा पत्युः प्रेम विनापि ।१६॥

मूल दोहा

पार्‌यौ सोरु सुहाग कौ इन बिन ही पियनेह।
उनदौहीं अँखियाँ ककै कै अलसौहीं देह ॥ १६ ॥

टीका

पुनरपि स्वीयां वर्णयति। सहजालसं च तद्वपुः तेन करणभूतेनापि सालसे आलसवलिते लोचने यस्याः सा तया अनया विनापि पत्युः प्रेम प्राणसमाभिधा दध्रे धारिता। एतेनान्यनायिकासु यादृक् पतिप्रेम तादृक् मयि नास्तीति दोषानुद्घाटनात् सालसलोचनकरणाच्च पातिव्रत्यशीलसंरक्षणविनयार्जवादिधर्मा अवगतास्तेनास्याः स्वीयात्वम्। अत्र च पतिप्रेमाऽभावरूपप्रतिबंधके सत्यपि प्राणसमाभिधाधारणरूपकार्यस्योत्पन्नत्वात् तृतीया विभावना। कार्योत्पत्तिस्तृतीया स्यात् सत्यपि प्रतिबंधके इति लक्षणात्। यद्वा चमत्कारार्थमर्थान्तरमाह। स्वपतिसंभोगचिह्नितां सखीं दूतीं वा दृष्ट्वा अपरामंतरंगाम् सखीं प्रति नायिकाया उक्तिः। सहजालसवपुषापि हेतुभूतेन सालसलोचनया अनया सख्या मम पत्युः सकाशात् प्रेम विनापि प्राणसमाभिधा दध्रे। सालसलोचनयेत्यनेन रात्रिजागरः सूचितः। सहजालसवपुषेत्यनेन गाढतरालिंगनांगोपमर्दः सूचितः। सर्वासु सखीषु इयं पत्युः प्राणसमेतिभावः। मम प्राणसमाभिधा अनया गृहीतेति कोपोक्तिर्व्यज्यते। प्रियसंभोगचिह्नेन दूतीं वान्यां विलोक्य या उपालभेत

स्वयंकोपात् सान्यसंभोगदुःखितेति तल्लक्षणात्। यद्वा सपत्नीं संभोगचिह्नितां दृष्ट्वा सखीं प्रति सालसलोचनत्वादि तत्तद्रतिचिह्नवर्णनादेतस्याश्च प्राणसमाभिधात्ववर्णनाच्च स्वस्यातिदुःखितत्वं वर्णितमिति सपत्नीसंभोगदुःखितेति वा ॥ १६ ॥

इस टीका में दोहों का पूर्वापर क्रम लालचंद्रिका के अतिरिक्त आजमशाही क्रम की अन्य किसी प्रति के अनुसार रखा गया है। इसमें ६९९ दोहों के पश्चात् दो दोहे अर्थात् "जद्यपि है सोभा इत्यादि तथा नंद नंद गोविन्द इत्यादि", हरिप्रकाश टीका से लेकर रखे हैं। ६९७ दोहे तो इसमें आजमशाही क्रम की किसी प्रति से लिए गए हैं और एक दोहा अर्थात् "ताहि देखि इत्यादि", किसी अन्य पुस्तक से है। बीच बीच में से २१ दोहे आजमशाही क्रम के इसमें छोड़ दिए गए हैं।

(४९)

सवितानारायण कवि की भावार्थ-प्रकाशिका गुजराती टीका

उनचासवीं टीका गुजराती भाषा में भावार्थ-प्रकाशिका नाम की है। इसको संवत् १९६९ में गुजराती भाषा के सुप्रसिद्ध लेखक तथा कवि श्रीयुत सवितानारायण गणपतिनारायण जी ने रचा है। इस ग्रंथ के नाम से एकाएक यह भासित होता है कि कदाचित् यह विद्यावारिधि स्वर्गीय पंडित ज्वालाप्रसाद जी मिश्र की भावार्थ-प्रकाशिका का गुजराती अनुवाद होगी। पर वास्तव में यह बात नहीं है, यह एक स्वतंत्र टीका है। इसको स्वयं ग्रंथकार ने अपने श्रम तथा पांडित्य से अनेक टीकाओं को देखकर संपादित किया है। पंडित ज्वाला-प्रसाद जी की टीका तो ज्ञात होता है कि इन टीकाकार महाशय ने कदाचित् भली भाँति देखी भी नहीं क्योंकि अपनी भूमिका के ग्यारहवें पृष्ठ में उसका नाम भ्रम से भावार्थदीपिका कहते हैं। प्रतीत होता है कि नाम में यही भ्रम होने के कारण ही इन्होंने अपनी टीका का नाम भावार्थ-प्रकाशिका रखने में कुछ हिचक नहीं की।

इस ग्रंथकार ने सतसई के दोहों के समझने तथा समझाने में हार्दिक प्रयत्न किया है और जो अभिप्राय वह स्वयं समझा है, उसको सरल गुजराती भाषा में बहुत अच्छी रीति पर, वक्ता बोधव्य का कथन करके, समझाया है। प्रत्येक दोहे के अलंकार भी टीका में अच्छे ढंग से बतलाए और समझाए गए हैं। भूमिका में भी ग्रंथकार ने बड़ा श्रम करके अपनी योग्यता का परिचय दिया है, यद्यपि उसका एक बड़ा अंश बिहारी-बिहार की भूमिका के आधार पर निर्भर है। गुजराती भाषा जाननेवाले बिहारी के पाठकों के निमित्त यह ग्रंथ बड़ा उपयोगी है।

इस टीकाकार का जन्म संवत् १८९६ में हुआ था। इनके बनाए हुए इतने ग्रंथ और हैं—(१) अलंकारचंद्रिका, (२) सविताकृत कविता, (३) नीतिसुधातरंगिणी तथा (४) तत्रासंवरण।

इस टीका में दोहों का क्रम कृष्ण कवि की कवित्तोंवाली टीका के अनुसार है, जिसका विवरण छठे क्रम में हो चुका है। पर बीच बीच में से ११ दोहे इसमें छोड़ दिए हैं, और ३० दोहे अधिक रखे हैं। इन अधिक दोहों में एक तो संवत्वाला है और ६ कृष्ण-कवि के रचे हुए हैं। शेष २३ अधिक दोहों में से २ दोहे "एरी-देरी श्रवन इत्यादि" तथा "बधू अधर की इत्यादि" तो बिहारी-बिहार के अंत में संचित दोहों में से लिए गए हैं और २१ दोहे बिहारी-बिहार तथा अन्य ग्रंथों से।

यह टीका गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बंबई से संवत १९६९ में छपकर प्रकाशित हुई है।

ऊपर कही हुई उनचास टीकाओं के विवरण की समाप्ति पर ३ और टीकाएँ हमारे हाथ आईं, जिनमें से एक टीका तो पुराने ढँग की व्रजभाषा में है, एक नए ढँग की प्रचलित भाषा में और एक फारसी भाषा में। इन तीनों टीकाओं का विवरण नीचे दे दिया जाता है। व्रजभाषा वाली टीका का स्थान यद्यपि समयानुक्रम से संजीवन भाष्य के पूर्व अर्थात् ४० वाँ होना चाहिए क्योंकि इसका

रचनाकाल वि० सं० १९६१ है, पर संजीवन भाष्य का विवरण ४० वें स्थान पर छप चुका था और संस्कृत टीकाओं का विवरण प्रारंभ हो चुका था अतः उसको ५० वाँ स्थान दिया जाता है। पुस्तकाकार संस्करण में उसका स्थान ठीक कर दिया जायगा तथा और टीकाओं के स्थानों में भी यथोचित परिवर्त्तन हो जायगा।

(५०)

पचासवीं टीका ईश्वर कवि कृत 'सवैया छंद' नाम की है। ईश्वर कवि जाति के सनाढ्य थे। उनके पिता का नाम मानिकराम था। वे धवलपुर के रहनेवाले थे और वहीं के एक धनाढ्य ब्राह्मण मनोहरसिंह के कहने से यह टीका उन्होंने संवत् १९६१ में बनाई, जैसा कि ग्रंथ के इन दोहों से विदित होता है—

लसत धवलपुर नगर महँ दुजबंसी सुखलाल।
भजनसिंघ तिनके तनय सब बिधि बुद्धि-बिसाल ॥ ३ ॥
पुत्र मनोहरसिंघ तिहिँ भे कबित्त-रस-लीन।
सुकबि बिहारी-दास की पढ़ि सतसई प्रवीन ॥ ४ ॥
दुज सनाढ्य दीच्छित-सुकुल गोत्र सु भारद्वाज।
रहत धवलपुर नगर महँ भागीरथि सुख-साज ॥ ५ ॥
तिहिँ सुत मानिकराम भे तिहिँ सुत इस्वरनाम।
कह्यौ मनोहरसिंघ नै तिनसौँ वचन ललाम ॥ ६ ॥
अति हित अति आदर सहित अति मन मोद बढ़ाइ।
करहु सतसई के सरस कबित सरस रस छाइ ॥ ७ ॥
संवत आतम रितु भगति सूरज-रथ कौ चक्र।
भादव सुदि[१] नवमी[६] दिने[९] अर्कवार वर नक्र[१] ॥८॥

ग्रंथांत में ईश्वर कवि ने ये १४ दोहे लिखे हैं—

सुकबि बिहारीदास नै करी सतसई गाइ।
ताके सँग मैं कृस्नकबि दीने कवित लगाइ ॥ १ ॥
सोई लखि ईस्वर सुकबि मन मैं कियौ बिचार।
तबइ मनोहरसिंघ नै अति आदर-बिस्तार ॥ २ ॥

ईश्वर कवि सौं यौं कह्यौ जो उनके मन माँह।
करे सवैया सब रचे दोहा प्रति निज राह ॥ ३ ॥
चतुर याहि समुझैं सुनैं गुनैं रसिक मतिवंत।
देखैं दूषन धर कुकवि मूरख देखि हँसंत ॥ ४ ॥
उनसठि बरस मँझार मैं करे ग्रंथ सुनि लेहु।
संबत् विक्रम तीनि तैं इकसठि लौं गुनि लेहु ॥ ५ ॥
प्रथम समर-सागर[1] कियौ साम्बयुद्ध[2] सुखकंद।
फिरि अनिरुद्ध-बिलास[3] हम कह्यौ सबै विधि सुद्ध ॥ ६ ॥
कोक-कलानिधि[4] जानियै प्रेम-पयोनिधि[5] फेरि।
काम-कल्पतरु[6] लै बहुरि भावअब्धि[7] कौं हेरि ॥ ७ ॥
रितु-प्रबोध[8] मन बोध कहि वैद्य-सुजीवन[9] जानि।
कालज्ञान[10] भाषा कियो अमरकोष[11] मन मानि ॥ ८ ॥
भक्ति-रत्नमाला[12] करी ध्यान कौमुदी[13] जानि।
नखसिख[14] अहि-लीला[15] ललित कीनी बुद्धि प्रमानि ॥ ९ ॥
ध्वनि-व्यंग्यारथ-चंद्रिका[16] चित्र-कौमुदी[17] जोग।
भारथसार[18] बनाइयौ मेटन सकल प्रयोग ॥ १० ॥
जमक-सतसई[19] करि करी क्रमचंद्रिका[20] विसेषि।
कृष्ण-चंद्रिका[21] सरस करि कृष्ण-सुहयमष[22] लेषि ॥ ११ ॥
बहु-पुरान-मत पाइ किय राधा-रहस[23] बनाइ।
वालमीकि[24] भाषा कियौ आदिउपांत सुभाइ ॥ १२ ॥
रामचंद्रिका कौ कियौ टीका[25] सरस बनाइ।
रसिकप्रिया[26] कौ तैसही कह्यौ सरस मन लाइ ॥ १३ ॥
करे बिहारीदास की सतसइ पर रस-भोइ।
नाम सवैया छंद किय आन छंद नहिं होइ ॥ १४ ॥

इन दोहों से ज्ञात होता है कि ईश्वर कवि अनेक विषयों के ज्ञाता और बहुरचनाप्रिय थे। संवत् १९०३ से संवत् १९६१ तक अर्थात् ५९ वर्ष के समय में उन्होंने २७ ग्रंथ रचे जिनमें कोई-कोई ग्रंथ बहुत बड़े बड़े भी हैं जैसे भारत-सार तथा वाल्मीकि का भाषा-

नुवाद। सतसई के दोहों पर सवैया का ग्रंथ उनकी अंतिम रचना है। उनका रचनाकाल संवत् १६०३ से आरंभ होता है। यदि उस समय उनकी अवस्था १८ वर्ष की मानी जाय तो उनका जन्म संवत् १८८५ के आसपास का ठहरता है। संवत् १६६१ में उनकी सतसई टीका बनी। यदि उसके पश्चात् उनका ८—६ वर्ष तक जीवित रहना अनुमानित किया जाय तो संवत् १६७० के निकट तक उनका इस संसार में रहना अर्थात् ८५ वर्ष की आयु प्राप्त करना ठहरता है।

उनका और कोई ग्रंथ हमारे देखने में नहीं आया है, अतः उनकी कविताशक्ति का अनुमान केवल इसी टीका के सहारे करना पड़ता है। इस टीका में दो एक दोहों पर तो टीकाकार ने कुछ संक्षिप्त सी टिप्पणी भी लिख दी है पर शेष दोहों पर केवल एक एक सवैया लिखकर संतोष कर लिया है। सवैया सामान्यतः अच्छे हैं पर कृष्ण कवि के सवैयों तथा कवित्तों को नहीं पाते। यह ग्रंथ कृष्ण कवि के ग्रंथ को देखकर उसी के जोड़ पर बनाया गया है। इसमें दोहों की संख्या तथा क्रम भी उसी ग्रंथ के अनुसार ही रखे गए हैं। दोहों की संख्या में दो चार का न्यूनाधिक्य पाया जाता है और क्रम में भी कुछ दोहे आगे पीछे कर दिए गए हैं। इसके क्रम तथा संख्या के विषय में कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

इसके सवैयों के निदर्शनार्थ बिहारी का एक दोहा और उस पर लगाया हुआ सवैया नीचे दिया जाता है—

दोहा

पारयौ सोरु सुहाग कौ इन बिनुहीं पिय-नेह।
उनदौंहीं अँखिया ककै कै अलसौंही देह॥

सवैया

देखि कै आवत बाल बधू बतरानी सबै करि आप सनेह है।
ईस्वर देखौ करै मिस कैसे हरै मन मारुत यौं नभ मेह है॥

पीतम ही बिन पार्यौ सुहाग कौ यानै अरो अबही करि नेह है।
कीनी उनींदी भली अँखियाँ अरु सौहैं करी अलसौंही सी देह है॥

इस टीका से दोहों के अर्थों के स्पष्टीकरण में कुछ सहायता नहीं मिलती। इसमें केवल टीकाकार ने अपनी समझ के अनुसार दोहों के भावों का सवैयों में विस्तार किया है। पर उससे अर्थबोध में कुछ विशेष सहायता नहीं मिलती, प्रत्युत कहीं कहीं तो और भी उलझन बढ़ जाती है।

(५१)

इक्यावनवीं टीका श्रीरामवृक्षजी शर्म्मा बेनीपुरी की की हुई है। इस टीका का प्रथम संस्करण संवत् १९८२ की रामनवमी पर गुर्जर प्रेस बनारस में छपकर हिंदी-पुस्तक-भंडार, लहरिया सराय से प्रकाशित हुआ है। इसमें रचयिता ने दोहों के अर्थ सुगम प्रचलित भाषा में बड़े अच्छे ढंग से दे दिए हैं और कठिन शब्दों के अर्थ भी नीचे जता दिए हैं। विद्यार्थियों को सतसई में प्रवेश करा देने के निमित्त यह टीका बहुत अच्छी है। इसमें अलंकार इत्यादि का झगड़ा नहीं उठाया गया है। अर्थ के स्पष्टीकरण मात्र की चेष्टा की गई है। निदर्शनार्थ एक दोहे की टीका नीचे दी जाती है—

पार्यो सोरु सुहाग कौ इन बिनहीं पिय-नेह।
उनिदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह॥ ६११॥

ऊँघी हुई आँखें या अलसाई हुई देह बना बनाकर इस स्त्री ने बिना प्रियतम के प्रेम के ही अपने सुहाग की ख्याति फैला दी है (यद्यपि प्रियतम इस पर अनुरक्त नहीं तो भी इसकी उपर्युक्त चेष्टा देखकर लोग समझते हैं कि यह सदा नायक के साथ जगी हुई रहती है।)

सोर पार्यौ = ख्याति फैला दी। सुहाग = सौभाग्य। उनिदौंहीं = उनींदी, ऊँघी हुई। ककै = करके। कै = या। अलसौंहीं = अलसाई हुई।

यह टीकाकार महाशय बिहार प्रांत के बेनीपुर नामक स्थान के रहनेवाले हैं। हिंदी भाषा के ये बड़े प्रेमी और सुलेखक हैं। कई हिंदी पत्र पत्रिकाओं के संपादकीय विभाग में काम कर चुके हैं। इनकी अवस्था अभी ३० वर्ष के अनुमान होगी। जाति के ये भूमिहार ब्राह्मण हैं। इनके स्वर्गीय पिता का नाम पं० फूलवंत-सिंहजी शर्म्मा था। उन्हीं को यह टीका समर्पित की गई है।

श्री रामलोचन-शरणजी बिहारी के अनुरोध से यह टीका रची गई है और उन्हीं के द्वारा संपादित भी हुई है। इन महाशय के विषय में विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। इतना ही कह देना अलम् है कि आप हिंदी-पुस्तक-भंडार, लहरिया सराय के अध्यक्ष हैं।

(५२)

बावनवीं टीका श्रीजोशी आनंदीलालजी शर्म्मा की रची हुई फारसी भाषा में है। इस टीका का निर्माणकाल इसके अंत में सन् १३१४ हिजरी बताया गया है जो सन् १८८६ होता है। श्री आनंदीलालजी के पूर्वज ६ पीढ़ी से अलवर की राज्यसभा के सभा-सद रहते आए और उर्दू फारसी की शायरी करते थे। ये महा-शय भी उक्त सभा में उसी काम पर रहे। यह टीका उन्होंने अलवर के श्री महाराज जयसिंह सवाई के समय में बनाई और इसका नाम सफ़रंगे सतसई रखा।

इस टीका में जोशीजी ने दोहों का फारसी भाषा में अपनी समझ के अनुसार अनुवाद मात्र करने की चेष्टा की है। इससे बिहारी के दोहों के भावों के स्पष्टीकरण में विशेष सहायता नहीं मिल सकती; पर तो भी अनुवाद बहुत समझ बूझकर किया गया है। निदर्शनार्थ एक दोहे का अनुवाद नीचे दिया जाता है—

मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँई परें स्यामु हरित दुति होइ ॥ १ ॥

تمام تصدیقات دنیاوي مرا دور کنید—اي رادها هوشمند
آنکه از اُفتادن عکس تن او که مثل زعفرانست رنگ سیاه کانهه
سرسبز میشود یعني از ملاقات او کانهه خوشوقت مي شود

(तमामे तस्दीक़ाते दुनियावी मरा दूर कुनेद—ऐ राधा होशमंद आँकि अज़ उफ़तादने अक्से तन ऊ कि मिस्ले जाफ़रानस्त, रंगे सियाहे कान्ह सरसब्ज़ मीशवद याने अज़ मुलाक़ाते ऊ कान्ह ख़ुशवक़्त मीशवद)

(मेरे सब सांसारिक दुःखों को दूर करो ए वही चतुर राधा—जिसके तन (जो केसरिया रंग का है) की छाया पड़ने से कान्ह जो श्याम रंग के हैं हरे-भरे हो जाते हैं अर्थात् जिसके भेट होने से कान्ह प्रसन्न हो जाते हैं)

इस पुस्तक में ६४० दोहे रखे गए हैं और दोहों का पूर्वापर क्रम इसमें बिहारी के निज क्रम के अनुसार है। इसके क्रम तथा संख्या के विषय में बिहारी की निंज क्रम की पुस्तकों के विवरण के अंतर्गत लिखा जा चुका है।

(५३)

तिरपनवीं टीका बिहारी-रत्नाकर नाम की स्वयं इस दीन लेखक की की हुई है। इसका प्रथम संस्करण नवलकिशोर प्रेस लखनऊ में छपकर पंडित दुलारेलालजी भार्गव द्वारा प्रकाशित हुआ है। इसके विषय में कुछ विशेष वक्तव्य नहीं है। इसमें दोहों के पूर्वापर क्रम तथा संख्या अनेक प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर वही रखे गए हैं जो स्वयं बिहारी के समझे गए। दोहों के पाठ भी इसमें प्राचीन प्रतियों के सहारे यथासंभव शुद्ध किए गए हैं। इस संस्करण में अलंकारादि का बखेड़ा नहीं उठाया गया है। केवल दोहों के यथार्थ भावों के स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। इसमें टीकाकार कहाँ तक सफल हुआ है यह विज्ञ पाठकों की अनुमति पर निर्भर है।

टीकाकार का परिचय प्रकाशक ने इस टीका में ही दे दिया है। अतः उसके दोहराने की आवश्यकता यहाँ नहीं है।

बिहारी सतसई के ऊपर कहे हुए टीकाकारों, अनुवादकों तथा कुंडलिकादि में दोहों का विस्तार करनेवालों के अतिरिक्त और भी कई महाशयों ने इस पर टीका अथवा कुंडलियादि रचने की चेष्टा की, पर उनके ग्रंथ पूरे न हो पाए। उनमें से दो महाशयों अर्थात् स्वर्गवासी भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र और श्री पंडा जोखूरामजी के नाम तथा उनकी रचना के कुछ आदर्श बिहारी-बिहार की भूमिका में दिए हैं।

श्रीभारतेंदुजी के विषय में कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। उनसे हिंदी साहित्य के प्रेमी भली भाँति परिचित हैं। अतः बिहारी के दोहों पर उनकी पाँच कुंडलियाँ नीचे लिखी जाती हैं—

मेरी भवबाधा हरो राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँई परे स्याम हरित दुति होय॥
स्याम हरित दुति होय परे जा तन की झाँई।
पाँय पलोटत लाल लखत साँवरे कन्हाई॥
श्रीहरिचंद वियोग पीतपट मिलि दुति हेरी।
नित हरि जा रँग रँगे हरौ बाधा सोइ मेरी॥ १॥

सीस मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल।
एहि बानिक मो मन बसौ सदा बिहारी लाल॥
सदा बिहारीलाल बसो बाँके उर मेरे।
कानन कुंडल लटकि निकट अलकावलि घेरे॥
श्रीहरिचंद त्रिभंग ललित मूरति नटवर सी।
टरौ न उर तें नेकु आज कुंजनि जो दरसी॥ २॥

मोहन मूरति स्याम की अति अद्भुत गति जोइ।
बसत सुचित अंतर तऊ प्रतिबिंबित जग होइ॥
प्रतिबिंबित जग होइ कृष्णमय ही सब सूझै।
इक संयोग बियोग भेद कछु प्रकट न बूझै॥

श्रीहरिचंद्र न रहत फेर बाकी कछु जोहन ।
होत नैन मन एक जगत दरसत जब मोहन ॥ ३ ॥

तजि तीरथ हरि राधिका तनदुति करि अनुराग ।
जिहि ब्रज केलि निकुंज मग पग पग होत प्रयाग ॥
पग पग होत प्रयाग सरस्वति पग की छाया ।
नख की आभा गंग छाँह सम दिन कर जाया ॥
छनछबि लखि हरिचंद कलप कोटिन नवसम लजि ।
भजु मकरध्वज मनमोहन मोहन तीरथ तजि ॥ ४ ॥

सघन कुंज छाया सुखद सीतल मंद समीर ।
मन ह्वै जात अजौं वहै वा जमुना के तीर ॥
वा जमुना के तीर सोई धुनि अँखियनि आवै ।
कान बेन धुनि आन कोऊ औचक जिमि नावै ॥
सुधि भूलत हरिचंद लखत अजहू वृंदावन ।
आवन चाहत अबहिं निकसि मनु स्याम सरस घन ॥ ५ ॥

आपकी कुंडलियों का संग्रह सतसई शृंगार नाम से भाषासार नामक पुस्तक में खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर में छपा है ।

श्रीजोखूराम जी पंडा के विषय में पंडित अंबिकादत्तजी व्यास ने यह लिखा है—

"सुना है कि इनने भी थोड़ी सी कुंडलियाएँ बनाई थीं । ये काशीवासी थे । बड़े हनुमान जी के पंडे थे । कुछ फारसी जानते थे । यूनानी दवा भी करते थे । इनका कवित्त पढ़ना बड़ा हल्ले धूम का था । बाबू हरिश्चंद्र की कवि-सभा के सभ्यों में एक ये भी थे । विद्या बहुत गहिरी न थी पर डीलडौल बड़ा था । संवत् १९३८ में ये लगढग ४५ वर्ष के थे । इनका नाम मेरी समझ में पहले पहल श्रीराधाचरण गोस्वामी ने निज भारतेंदु में कुंडलियाकारों में लिखा और कदाचित् यही देखके श्री ग्रियर्सन साहब और पंडित प्रभुदयाल ने निज ग्रंथों में लिखा । इसका तत्त्व यों है । एक

बेर काशी में भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र जी के यहाँ मैं, बाबू रामकृष्ण वर्म्मा, द्विज कवि मन्नालाल और द्विज बेनी कवि प्रभृति बैठे थे और पठान की कुंडलिया की प्रशंसा की बात चली। एक कोने से जोखूरामजी बोल उठे "क्या बड़ी बात है, हुकुम हो तो मैं इससे उत्तम कुंडलिया बना लाऊँ।" बाबू हरिश्चंद्र ने कहा "अच्छा लाइए, अच्छी होंगी तो फी कुंडलिया एक रुपया मैं दूँगा।" अनंतर उनने पाँच सात कुंडलियाँ बनाईं और लाए परंतु वे कुंडलियाएँ न तो बाबू साहब ही को अच्छी लगीं और न जिने जिने उनने दिखलाईं सरदार, द्विज मन्नालाल प्रभृति को ही अच्छी लगीं। बस किस्सा तमाम।"

श्री जोखूराम जी को स्वयं हमने देखा है। ये संवत् १९६५ के आस पास तक जीवित थे। उस समय उनकी अवस्था ७५ वर्ष के अनुमान रही होगी। ये सरदार कवि के शिष्य थे और भाषा साहित्य का अच्छा ज्ञान रखते थे। भाषा ग्रंथों का संग्रह भी इनके पास अच्छा था। ये कविता में अपना नाम नागर रखते थे।

जहाँ तक क्रमों तथा टीका इत्यादि का पता हमको मिल सका उनका कुछ विवरण हमने ऊपर कर दिया। आशा है कि यदि विशेष अनुसंधान किया जाय तो सतसई के और भी कितने ही क्रम, टीकाएँ तथा अनुवाद इत्यादि प्राप्त हों।

बिहारी पर स्फुट लेख

ऊपर कहे हुए क्रमों तथा टीकाओं के अतिरिक्त कई एक महाशयों ने बिहारी पर उनके जीवनचरित्र संबंधी अथवा उनके गुण-दोष-निदर्शनार्थ कुछ लेख इत्यादि भी समय समय पर लिखे हैं। उनका भी कुछ विवरण नीचे लिखा जाता है—

ऐसे लेखों के विवरण से हमारा अभिप्राय उनमें कही हुई बातों के उचित अथवा अनुचित कहने का नहीं है। क्योंकि इस कार्य के निमित्त तो एक बृहत् स्वतंत्र ग्रंथ की आवश्यकता है, और यहाँ उसका विशेष रूप से कहना अतिप्रसंग भी हो जायगा। हमारा तात्पर्य यहाँ ऐसे लेखों के संक्षिप्त विवरण द्वारा उनका तथा उनके

लेखकों का परिचय दे देना मात्र है जिसमें बिहारी के पाठकों को तद्विषयक सब साहित्य का पता, जहाँ तक हमको ज्ञात है, मिल जाय और वे स्वयं उन लेखों के औचित्यानौचित्य पर विवेचना कर सकें।

(१)

पहले पहल संवत् १७४२ में जो सतसई का क्रम कोविद कवि ने बाँधा, उसके अंत में यह दोहा बिहारी की प्रशंसा का लिखा है—

किए सात सै दोहरा सुकबि बिहारीदास।
बिनुहिँ अनुक्रम ये भए महि मंडल सु प्रकास ॥ १ ॥

इस दोहे में बिहारी के दोहों की लोकप्रियता तथा शीघ्र ही जगत् में विख्यात हो जाने के गुण की प्रशंसा की गई है।

(२)

संवत् १७५० के आस पास पुरुषोत्तमदासजी ने सतसई का जो क्रम बाँधा उसके अंत में ये दो दोहे बिहारी की प्रशंसा के लिखे हैं—

रससुखदायक भक्तिमय जामैं नवरस-स्वाद।
करी बिहारी सतसई राधाकृष्ण-प्रसाद ॥ १ ॥
जद्यपि है शोभा सहित मुक्तनि तऊ सुदेखि।
गुहैं ठौर की ठौर तैं लर मैं होति बिसेषि ॥ २ ॥

इनमें से दूसरा दोहा आजमशाही क्रम, अमरचंद्रिका टीका तथा हरिप्रकाश टीका के अंत में भी उद्धृत किया गया है।

(३)

संवत् १७८२ में कृष्णदत्त कवि ने अपने कवित्तोंवाली सतसई की टीका में ये छः दोहे बिहारी की प्रशंसा के लिखे हैं—

ब्रजभाषा बरनी कबिन बहु बिधि बुद्धि-बिलास।
सबको भूषण सैतसई करी बिहारीदास ॥
जो कोऊ रसरीति कौं समुझ्यौ चाहै सार।
पढ़ै बिहारी सतसई कविता को शृंगार ॥
उदै अस्त लौं अवनि पै सबके याकी चाह।
सुनत बिहारी सतसई सबही करत सराह ॥

भाँति भाँति के अरथ बहु यामें गूढ़ अगूढ़ ।
जाहि सुने रस रीति को मग समझत अति मूढ़ ॥
विविध नायिका-भेद अरु अलंकार नृप नीति ।
पढ़ै बिहारी सतसई जानै कवि रस रीति ॥
करे सात सै दोहरा सुकवि बिहारीदास ।
सब कोऊ तिनको पढ़ै गुनै सुनै सबिलास ॥

(४)

संवत् १७६४ में सूरत मिश्र ने अपनी अमरचंद्रिका टीका में पुरुषोत्तमदासजी का 'यद्यपि है सोभा घनी इत्यादि' दोहा बिहारी की प्रशंसा करने के निमित्त उद्धृत किया ।

(५)

संवत् १८०६ में ईसवी खाँ ने अपनी रसचंद्रिका टीका के अंत में ये दो दोहे सतसई की प्रशंसा में लिखे—

किय प्रसंग नरवर-नृपति छत्रसिंह भुव-भान ।
पढ़त बिहारी सतसई सब जग करत प्रमान ॥ १ ॥
कविनि किए टीका प्रगट अर्थ न काहू कीन ।
अपनी कविता के लिये और कठिन करि दीन ॥ २ ॥

इन दोहों से सतसई का लोकप्रिय, प्रामाणिक तथा कठिन होना कहा गया है ।

(६)

संवत् १८३४ में हरिचरणदासजी ने ये दो दोहे बिहारी की प्रशंसा के लिखे—

जद्यपि है सोभा घनी मुक्ताफल मैं देख ।
गुहै ठौर की ठौर मैं लर मैं होति बिसेष ॥ १ ॥
ब्रजभाषा बरनी सबै कबिबरबुद्धि बिसाल ।
सबकी भूषन सतसई करी बिहारीलाल ॥ २ ॥

इनमें से पहिला दोहा तो कुछ हेर फेर के साथ पुरुषोत्तमदास जी ही का है, जिसके बाँधे क्रम पर यह टीका की गई है, और

दूसरा दोहा कुछ पाठांतर के साथ कृष्ण कवि का। हरिचरण-दास जी ने अपनी टीका में किसी किसी दोहे में कुछ स्वल्प दोष भी दिखलाए हैं और फिर संवत् १८३९ में बिहारी के ५०, ६० दोहों को अनेक प्रकार के दूषणों के उदाहरण में उद्धृत किया है।

(७)

पंडित अंबिकादत्त व्यासजी ने जिस संस्कृत गद्य टीका का उल्लेख बिहारी-बिहार की भूमिका में किया है उसमें यह एक दोहा सतसई की प्रशंसा का है—

सतसैया के दोहरा ज्यों नावक के तीर।
देखत अति छोटे लगैं घाव करैं गंभीर॥

यह दोहा पहले पहल उक्त टीका ही में देखने में आता है, इसके पूर्व के किसी ग्रंथ में इसका पता नहीं है, यद्यपि मुखाग्र यह बहुत सुनने में आता है और पिछले लेखकों ने इसको अपने लेखों में भी स्थान दिया है।

(८)

संवत् १८६१ में ठाकुर कवि ने देवकीनंदन की सतसैयावर्णार्थ नामक टीका के आदि में बिहारी का कुछ विशेष वृत्तांत वर्णन किया है तथा सतसई की कुछ प्रशंसा भी की है। उन्होंने सतसई को बिहारी की स्त्री की बनाई हुई माना है। उनके लेख का विशेष वर्णन बिहारी की जीवनी में द्रष्टव्य है।

(९)

श्रीराधाचरणजी गोस्वामी ने भी अपने भारतेंदु पत्र में बिहारी की जाति इत्यादि के विषय में कुछ लिखा था और उनकी कविता की पूर्ण प्रशंसा भी की थी। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया है कि सूर, तुलसी तथा केशवदास के काव्य बिहारी के दोहों के आगे मंद पड़ जाते हैं।

(१०)

भाषाकाव्यसंग्रह के कर्त्ता सरयूपारीण पंडित महेशदत्तजी ने भी उक्त ग्रंथ में बिहारी के विषय में कुछ लिखा है। उनके मत से बिहारी वृंदावनवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे।

(११)

भाषातरंगिणीकार ने भी बिहारी के विषय में कुछ अपने अनुमान लगाए हैं। उनके मत से बिहारी माथुर चौबे ठहरते हैं।

(१२)

स्वर्गवासी बाबू शिवसिंहजी सेंगर ने संवत् १९३४ में अपने सरोज में बिहारी की बड़ी प्रशंसा की है, और उनको ब्रजवासी चौबे कहा है।

(१३)

स्वर्गीय बाबू राधाकृष्णदासजी ने संवत् १९५२ में कविवर बिहारीलाल नामक एक छोटा सा प्रबंध नागरीप्रचारिणी सभा में पढ़ा, जिसमें बिहारी के अनेक दोहों से उनका प्रसिद्ध कवि केशव-दास के पुत्र होना सिद्ध करने की चेष्टा की, और बिहारी की कविता की बहुत प्रशंसा की।

(१४)

संवत् १९५३ में डाक्टर सर, जी० ए० ग्रियर्सन, के० सी० एस० आई०, सी० आई० ने, जो कि भाषा के बड़े विद्वान् तथा अनुसंधान-कर्ता थे, अपनी लालचंद्रिका के संस्करण की भूमिका में, अँगरेजी भाषा में, बिहारी पर एक बृहत् लेख लिखा है। उसमें उन्होंने बिहारी के विषय में तथा सतसई की टीकाओं इत्यादि के विषय में, जहाँ तक उनको अनुसंधान से ज्ञात हो सका, बहुत कुछ लिखा है और बिहारी की रचना की बड़ी प्रशंसा की है। उन्होंने यहाँ तक कहा है कि, अँगरेजी भाषा का कोई मुक्तक काव्य करनेवाला बिहारी की समता नहीं कर सका है; बिहारी के दोहों की रचना कुछ ऐसी है कि उनको अन्य भाषा में यथेष्ट रीति पर अनुवादित करने की चेष्टा करना सर्वथा व्यर्थ है।

(१५)

संवत् १९५३ ही में श्रीपंडित प्रभुदयाल जी पाँड़े ने जो बिहारी सतसई की टीका की उसकी भूमिका में उन्होंने बिहारी को ब्रजभाषा

के कवियों में शिरोभूषण तथा उनकी सतसई को कविता की अपूर्व कला से भरी हुई कहा है, और अनेक प्रकार के तर्क वितर्क करके उनको माथुर ब्राह्मण, तथा कृष्णदत्त को उनका पुत्र अथवा पुत्रवत् शिष्य माना है। उन्होंने इन दो दोहों को बिहारी के समझकर इनको उनकी आत्मश्लाघा के उदाहरण में दिया है—

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखत के छोटे लगैं बेधैं सकल सरीर ॥ १ ॥
जो कोऊ रस रीति को समझ्यौ चाहै सार।
पढ़ै बिहारी सतसई कविता को शृंगार ॥ २ ॥

पर वास्तव में ये दोहे विहारी के नहीं हैं। कदाचित् पाँड़े ही जी के लिखने से धोखा खाकर मिश्रबंधु महाशयों ने हिंदी नवरत्न में बिहारी का मानकर इन्हें उद्धृत किया है।

(१६)

संवत् १९५४ में स्वर्गवासी साहित्याचार्य श्रीपंडित अंबिकादत्त जी व्यास ने बिहारी-बिहार की भूमिका में बिहारी पर एक बृहत् लेख लिखा। उसमें उन्होंने बिहारी के भाव, शब्द, रचना-प्रणाली इत्यादि सभी की प्रशंसा की है, और बिहारी की जीवनी तथा उनकी जाति इत्यादि पर विशेष तर्क करके उनको माथुर चौबे माना है। बड़ी खोज करके उन्होंने २६ टीकाओं का भी उल्लेख किया है। यह भूमिका बड़े अनुसंधान से लिखी गई है, और एक स्वतंत्र प्रबंध के रूप में पाठकों के निमित्त उपयोगी है। बिहारी के किसी किसी दोहे पर टिप्पणी करके व्यासजी ने कुछ दोष भी दिखलाए हैं।

(१७)

संवत् १९६० में स्वर्गवासी विद्यावारिधि श्रीयुत पंडित ज्वाला-प्रसाद जी मिश्र ने सतसई की भावार्थप्रकाशिका नामक टीका की भूमिका में बिहारी की बहुत प्रशंसा की और उनकी प्रशंसा के तीन प्राचीन दोहे, अर्थात् 'सतसैया के दोहरे इत्यादि', 'ब्रजभाषा बरनी इत्यादि', तथा 'करे सात सै दोहरे इत्यादि' भी उद्धृत किए।

इस भूमिका में उन्होंने विहारी की कुछ जीवनी भी लिखी है और बिहारी को माथुर चौबे माना है।

(१८)

संवत् १९६७ में मिश्रबंधु महाशयों ने बिहारी को हिंदी-नवरत्न नामक ग्रंथ में चौथा स्थान देने का गौरव प्रदान किया। उक्त प्रबंध में उन्होंने बिहारी की जीवनी भी लिखी है और बिहारी को चौबे माना है। सतसई की कविता की हिंदी-नवरत्न में व्याप्त प्रशंसा की गई है, और उसके शब्द, अर्थ, भाव, उक्ति, युक्ति, सूझ, बूझ सभी श्रेष्ठ बतलाए गए हैं; कुछ विशेष दोहों के संबंध में विशेष गुणों का कथन भी किया गया है। उक्त महाशयों ने, अपने अर्थ-बोध तथा मत के अनुसार, बिहारी के कुछ शब्दों, भावों इत्यादि में कुछ दोष भी बतलाए हैं, जो बिहारी के प्रेमी पाठक स्वयं उस ग्रंथ में देख सकते हैं। चाहे मिश्रबंधु महाशयों का बिहारी तथा देव में तारतम्य करना एवं उनके गुणों तथा दोषों के आरोप यथार्थ समझे जायँ अथवा अन्यथा, पर उनके उस समय तक की लेखप्रणाली से कोई आग्रह अथवा पक्षपात लक्षित नहीं होता।

उक्त प्रबंध में जो ७ दोहे सतसई की प्रशंसा के बिहारीरचित कहकर रखे गए हैं वे वास्तव में बिहारी के नहीं हैं। मिश्रबंधु महाशयों ने प्रभुदयाल पांडे जी की टीका के दोहांक इत्यादि अपने प्रबंध में आदृत किए हैं पर उस टीका में भी इन ७ दोहों में से केवल २ दोहों को एक स्थान पर भूमिका में बिहारीकृत कहा है। पर फिर अंत में ये सातों दोहे सतसई की प्रशंसा में एकत्र रक्खे हैं जिससे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि पाँडे जी भी इन दोहों को बिहारीकृत नहीं समझते थे, और भूमिका में केवल २ दोहों के विषय में उनको भ्रम हो गया था।

मिश्रबंधु महाशयों का सतसई को भली भाँति जी लगाकर न देखना ही इस असावधानी का कारण प्रतीत होता है। उक्त महाशयों के बतलाए हुए सतसई के दोषों में से अधिकांश दोषारोप

भी इसी असावधानी के परिणाम कहे जा सकते हैं, जैसे "दुसह बिरह दारुण दसा इत्यादि" (प्रभुदयाल अंक ४२१) दोहे में 'ज्यौं' शब्द का पाठ पाँडे जी के अनुसार उन्होंने 'ज्यों' मानकर और उसका अर्थ 'ज्यों त्यों' समझकर बिना अन्य किसी टीका के देखे ही दोषारोप कर दिया है। यदि उक्त महाशय हरिप्रकाश अथवा लालचंद्रिका इत्यादि किसी टीका में इस दोहे को देखने का कष्ट उठाते अथवा स्वयं ही कुछ विचारते तो ऐसा कदापि न करते।

(१९)

संवत् १९६९ में गुजराती प्रसिद्ध कवि श्रीसवितानारायण गणपतिनारायणजी ने सतसई की एक भावार्थ-प्रकाशिका नाम की टीका जो गुजराती भाषा में रची, उसकी बृहत् भूमिका में अनेक टीकाकारों विशेषत: सर जी० ए० ग्रियर्सन तथा स्वर्गीय पंडित अंबिकादत्त जी व्यास के मतानुसार तथा अपनी बुद्धि से तर्क वितर्क करके बिहारी की जीवनी, सतसई के निर्माण का कारण, जयसिंह का वृत्तांत इत्यादि अनेक उपयोगी विषय लिखे हैं। उसमें उन्होंने बिहारी की प्रशंसा व्याप्त रूप से भी की है और कितने विशेष दोहों के गुण लक्षित कराकर भी। इन्होंने बिहारी की भाषा, शब्द-विन्यास तथा अनुप्रासादि की प्रशंसा भी विशेष रूप से की है, और सामान्यत: व्रजभाषा की प्रशंसा में भक्तराज कवि दयाराम के ये दोहे उद्धृत किए हैं—

श्लोक पुरानी संस्कृत बाँचत सब इतराय।
फुल्य सुफल गिरबान जब श्रोता ले समुजाय ॥ ७०६ ॥
बुध कहि भाषा बाद जो सुर बानी इक साँच।
तो हम कहि वे मूर्ख हे साँच न लावे आँच ॥ ७०७ ॥
बेद बड़े गिरबान तें नारायन की बानि।
व्रजभाषा भल ताहि तें व्रजपति भषि मख जानि ॥ ७०८ ॥

यह भूमिका बड़ी विद्वत्ता से लिखी गई है और पाठकों के देखने योग्य है।

(२०)

संवत् १९७५ में साहित्याचार्य श्रीयुत पंडित पद्मसिंहजी शर्म्मा ने अपने संजीवन भाष्य की भूमिका में, जो कि बृहदाकार होने के कारण एक पृथक् भाग में मुद्रित हुई है, बिहारी के दोहों की तुलना अन्य संस्कृत, भाषा, उर्दू इत्यादि के कवियों से करके बिहारी का सर्वोत्कृष्ट कवि होना सिद्ध किया है, और जिन जिन दोहों को तुलना के निमित्त उद्धृत किया है उनके गुणों को बड़ी अच्छी रीति पर दिखलाया है। शर्म्माजी ने व्यासजी तथा मिश्रबंधु महाशयों के आरोपित कतिपय दोषों को अयथार्थ भी बतलाया है। इस भूमिका में बहुत सी बातें पाठकों के बड़े काम की हैं। शर्म्माजी ने यह भूमिका बड़े अनुसंधान तथा योग्यता से बड़ी चटपटी भाषा में लिखी है। सामयिक शिक्षित समाज का ध्यान बिहारी सतसई की ओर आकर्षित करने में यह भूमिका बहुत उपयोगी हुई है। भाषा में तुलनात्मक समालोचना के ढंग का यह पहला ग्रंथ कहा जा सकता है। बिहारी के प्रेमियों को इसे अवश्य पढ़ना चाहिए।

(२१)

शर्म्माजी का बिहारी को सर्वोत्कृष्ट कवि बतलाना पंडित कृष्णबिहारीजी मिश्र बी० ए०, एल-एल० बी० के मत के विरुद्ध पड़ा। उनके हृदय में यह मान देव कवि के लिये सुरक्षित था, अतः उन्होंने संवत् १९७७ में देवबिहारी नाम की स्वतंत्र पुस्तक ही निर्मित की। इसमें मिश्रजी ने देव तथा बिहारी के अनेक छंदों की तुलनात्मक समालोचना करके देव को बिहारी से श्रेष्ठ कवि ठहराने का प्रयत्न किया है, और शर्म्माजी ने जो मिश्रबंधु महाशयों के कथन का खंडन किया है उसका यथामति खंडन करके मिश्रबंधु महाशयों के मत का मंडन किया है। अपनी लेखनी की सुचालता मिश्रजी महोदय ने इस छोटे से ग्रंथ में बड़ी योग्यता से दिखलाई है। इसमें यद्यपि बिहारी की भी बड़ी प्रशंसा की गई है तथापि इससे यह अवश्य

लक्षित हो जाता है कि यह पुस्तक देव को बिहारी से श्रेष्ठ ठहराने ही के अभिप्राय से निर्मित हुई है।

इस पुस्तक में शर्म्माजी के ऊपर बिहारी के साथ अनुचित पक्षपात करने का आक्षेप किया गया है और यह कहा गया है कि और कवियों के काव्यों से तो शर्म्माजी ने बिहारी के दोहों की तुलना की है पर देव कवि के काव्यों से पक्षपात के कारण नहीं की। पर हमारी समझ में इससे देवजी की उपेक्षा लक्षित नहीं होती। शर्म्माजी ने तो बिहारी के दोहों की तुलना महात्मा सूरदासजी तथा भक्तशिरोमणि तुलसीदासजी की कविताओं से भी नहीं की है।

(२२)

श्रीयुत पंडित कृष्णविहारीजी का बिहारी तथा देव में यह तारतम्यकरन श्रीयुत लाला भगवानदीनजी को, जो कि बिहारीबोधिनी नामक टीका के रचयिता हैं, बुरा लगा। उन्होंने उत्तेजित होकर श्रीशारदा नामक मासिक पत्रिका में श्रीकृष्णविहारीजी तथा मिश्रबंधु महाशयों के कथन का खंडन करने के अभिप्राय से एक लेखावली प्रकाशित की, और संवत् १९७८ में जो अपनी बिहारीबोधिनी टीका प्रकाशित की, उसके वक्तव्य शीर्षक के नीचे भी मिश्रबंधु महाशयों पर कुछ आक्षेप किए। लालाजी ने उक्त वक्तव्य में तथा श्रीयुत रामदासजी गौड़ ने बिहारीबोधिनी की भूमिका में बिहारी की बड़ी प्रशंसा की है।

लालाजी महाशय के लेखों के उत्तर में मिश्रबन्धु महाशयों ने भी कई एक लेख अभ्युदय नामक पत्र में छपवाए और 'नवरत्न' के दूसरे संस्करण में श्रीयुत लाला भगवानदीनजी पर अमर्ष करके और भी कई दोष बिहारी की सतसई पर आरोपित कर दिए।

(२३)

संवत् १९८० में मुंशी देवीप्रसादजी (प्रीतम) के गुलदस्तए बिहारी नामक सतसई के उदू‍र् पद्यात्मक अनुवाद की भूमिका में

श्रीयुत भट्ट पुरुषोत्तमजी शर्म्मा तैलंग ने भी बिहारी की कविता की व्याप्त रूप से बड़ी प्रशंसा की है।

इन मुख्य महाशयों के अतिरिक्त कुछ और सज्जनों ने भी कभी कभी माधुरी इत्यादि पत्रिकाओं में—किसी ने देव और किसी ने बिहारी को श्रेष्ठ मानकर—कतिपय दोहों पर अपने अपने मत प्रकाशित किए हैं।

अब बिहारी पर लिखनेवालों के दो दल हो गए हैं। एक दल तो देव को बिहारी से अच्छा बतलाता है, और दूसरा बिहारी को देव से, और दोनों दलों के लेखक कभी कभी, अपना अपना पक्ष समर्थन करने की उमंग में विरुद्ध पक्षवाले की कविता में हठात् भी दोषारोप करने लगे हैं। खेद का विषय है कि बिहारी तथा देव ऐसे महान् कवि पक्षपात के झगड़े में डालकर यों झकझोरे जायँ। हमारी तो यह भावना है कि यदि बिहारी तथा देवजी एक ही समय में होते तो अपनी अपनी श्रेष्ठता बढ़ाने के निमित्त एक दूसरे पर इस रीति से आक्रमण न करते।

प्रत्येक समालोचक को यह अधिकार तो अवश्य है कि वह अपने मान्य कवि को अत्युच्च आसन पर सुशोभित करे। ऐसा करने के निमित्त उसका उचित कर्तव्य यह है कि वह अपने मान्य कवि के निमित्त किसी परम उच्च स्थान का अनुसंधान करे। पर अपने मान्य कवि को किसी उच्च स्थान पर स्थापित करने के निमित्त किसी अन्य कवि को उस स्थान से च्युत करने की चेष्टा करना एक बड़ी भद्दी बात है।

(२५) श्री खारवेल प्रशस्ति और जैनधर्म की प्राचीनता

[लेखक—श्री काशीप्रसाद जायसवाल]

चक्रवर्ती अशोक मौर्य के शिलालेख में जैन भिक्षुओं की चर्चा (निगंठ अर्थात्) निर्ग्रंथ नाम से आई है। पर वह उल्लेख मात्र है। वस्तुतः सबसे पहला जैन शिलालेख वह है जो उड़ीसा के भुवनेश्वर-समीपवर्ती खंडगिरि-उदयगिरि नामक पहाड़ की हाथी-गुंफा नामधेय गुहा पर खुदा हुआ है। यह कलिंगाधिपति चेदि-वंश-वर्द्धन महराज खारवेल का लिखाया हुआ है। इस राजा का प्रताप एक बार चंद्रगुप्त और अशोक का सा चमका। सारे भारत-वर्ष में, पांड्य देश के राजा से लेकर उत्तरापथ, तथा मगध से लेकर महाराष्ट्र देश तक इसकी विजय-वैजयंती फहराई। मौर्य साम्राज्य के पतन के साथ ही भारतवर्ष के साम्राज्य-सिंहासन पर चढ़ने की कामना चार आदमियों को हुई। एक तो पटने के मौर्य सेनापति पुष्य-मित्र शुंगवंशीय ब्राह्मण थे जो नालंदा में पैदा हुए थे। दूसरे सातवाह-नीय शातकर्णि जो दक्षिणापथ के राजा कहलाते थे, तथा महाराष्ट्र देश और अंध्र देश के बीच पश्चिम देश में राज्य करते थे। इनका भी एक ही पुश्त का नया राज्य था, ये भी ब्राह्मण थे। दोनों ने अर्थात् सेनापति पुष्यमित्र ने और शातकर्णि सातवाहन ने दो दो बार अश्वमेध किया यह शिलालेखों से साबित है। तीसरे, श्री खारवेल कलिंगवाले को भी भारत में चक्रवर्ती पद प्राप्त करने की लालसा हुई। मगध के राजा नंदवर्द्धन और अशोक ने कलिंग जीता था, इसका बदला भी इन्होंने चुकाया और कलिंग से नंद राजा द्वारा आई हुई जिन मूर्तियाँ वे मगध से वापस ले गए तथा मगध के तोशक-खाने से अंग मगध के रत्न प्रतिहारों समेत उठा ले गए। इसी समय दमेत्रिय नामक यवनराज, जो अफगानिस्तान और बाल्हीक का राजा था, भारत पर टूट पड़ा और मथुरा, पंचाल, साकेत को जो मगध

साम्राज्य के सूबे थे, लेता हुआ पटने तक पहुँच गया। इसने भी मौर्य सिंहासन पर बैठने का पूरा मंसूबा किया था। यह अपनी कामना में प्राय: सिद्धार्थ हो चुका था कि उधर से खारवेल झारखंड-गया से होते हुए मगध पहुँचे और उन्होंने राजगृह तथा बराबर (गोरथगिरि) के गिरिदुर्गों के चारों ओर घेरा डाला। उन्होंने गोरथगिरि सर किया। दमेत्रिय पटने की किलाबंदी तोड़ न सका और खारवेल की चढ़ाई का हाल सुन तथा अपने खास राज्य में विद्रोह का उपद्रव उठते देख पटना, साकेत, पंचाल आदि छोड़ता हुआ* मथुरा भागा और मध्यदेश मात्र छोड़ वहाँ से निकल गया। मैदान में खारवेल और पुष्यमित्र तथा शातकर्णि रह गए। पुष्यमित्र ने फिर से अश्वमेध मनाया। अपने लड़कों द्वारा उन्होंने वैराज्य स्थापित किया†, अर्थात् स्वयं सम्राट् न हुए, उपराजाओं या गवर्नरों द्वारा मुल्क और धर्म के नाम में स्वयं अपने को सिर्फ सेनापति कहते हुए राज्य करने लगे। यहाँ भी चढ़ाई के चार वर्ष बाद खारवेल ने अपने घर से निकलकर फिर मगध पर धावा किया और पटने में पहुँच हाथियों सहित सुगांगप्रासाद में डेरा डाला और मगध के प्रांतिक शासक बृहस्पतिमित्र से, जो पुष्यमित्र के आठ बेटों में मालूम होता है, अपने पैर की वंदना कराई। इस महाविजय के बाद जब कि शुंग और सातवाहन तथा उत्तरापथ के यवन सब दब गए, खारवेल ने, जो राजसूय पहले ही कर चुके थे, एक नए प्रकार का पूर्त्त ठाना। उसे जैन धर्म का महाधर्मानुष्ठान कहना चाहिए।

उन्होंने भारतवर्ष भर के जैन यतियों, जैन तपस्वियों, जैन ऋषियों और पंडितों को बुलाकर एक धर्मसम्मेलन किया। इसमें इन्होंने

---

* यह गर्गसंहिता, हाथीगुंफा और महाभाष्य से साबित है।

† पुष्यमित्रस्तु, सेनानीरुद्धृत्य सबृहद्रथम्।
कारयिष्यति वैराज्यं समाः षष्टिं सचैव तु॥ (वायु०—किंतु दूसरे पुराणों में (यथा मत्स्य०) षट् त्रिंशति समा है)

पुष्यमित्रसुताश्चाष्टौ भविष्यन्ति समा नृपाः। (वायु०)

जैन आगम को अंगों में विभक्त करा पुनरुत्पादित कराया। ये अंग मौर्य काल में कलिंग देश तथा और देशों में लुप्त हो गए थे। अंग सप्तिक और तुरीय अर्थात् ११ अंग प्राकृत में, जिसमें ६४ अक्षर की वर्णमाला मानी जाती थी, सम्मेलन में संकलित किए गए। खारवेल को 'महाविजयों' की पदवी के साथ 'खेमराजा' 'भिखुराजा' 'धर्म-राजा' की पदवी अखिल भारतवर्षीय जैन-संघ ने मानो दी क्योंकि शिलालेख में सबसे बड़ा और अंतिम चरम कार्य राजा का यही माना गया है और जैन संघयन और अंग सप्तिक तुरीय संपादन के बाद ये पदवियाँ जैन-लेखक ने उनके नाम के साथ जोड़ी हैं। लिखने-वाला भी जैन था। यह लेख के श्रीगणेश **नमो अरहतानं नमो सवसिधानं** से साबित है।

इस लेख की १४ वीं पंक्ति में लिखा है कि राजा ने कुछ जैन साधुओं को रेशमी कपड़े और उजले कपड़े नजर किए—**अरहयते पखीनसंसितेहि कायनिसीदीयाय यापञावकेहि राजभितिनि चिन-वतानि वासासितानि** अर्थात् अर्हयते प्रक्षीणसंसृतिभ्यः कायनिषीद्यां यापज्ञापकेभ्यः राजभृतीश्चीनवस्त्राणि वासांसि सितानि।

इससे यह विदित होता है कि श्वेतांबर वस्त्र धारण करनेवाले जैन साधु, जो कदाचित् **यापज्ञापक** कहलाते थे, खारवेल के समय में अर्थात् प्रायः १७० ई० पू० (११० विक्रमाब्द पूर्व) भारत में वर्त्तमान थे, मानो श्वेतांबर जैन शाखा के वे पूर्वरूप थे। चीन गिलगिट की एक जाति को कहते थे। इन्हें अब शीन कहते हैं। ये सदा से रेशम बनाते हैं। खारवेल ने कुमारी पर्वत पर, जहाँ पहले महावीर स्वामी या कोई दूसरे जिन उपदेश दे चुके थे क्योंकि उस पर्वत को **सुपवतविजय-चक** (सुप्रवृत्त विजयचक्र) कहा है, स्वयं कुछ दिन तपस्या, व्रत, उपासक रूप से किया और लिखा है कि **जीव-देह** का भेद उन्होंने समझा। इससे यह सिद्ध हुआ कि तपस्या, जीवदेह का दार्शनिक विचार आदि उसी समय से अथवा उसके आगे से जैन धर्म में चला आता है।

नंदराज अर्थात् नंदवर्द्धन कलिंग से "कालिंगा जिन" ले आए थे। इससे जिन बिंबों का होना तथा जैन धर्म का पौने तीन सौ वर्ष खारवेल के भी पहले कलिंग में प्रचलित रहना और जैनधर्म की प्राचीनता प्रतिष्ठित होती है।

खारवेल के पूर्व पुरुष का नाम महामेघवाहन और वंश का नाम ऐल चेदि वंश था। इनकी दो रानियों का नाम लेख में है—एक बजिरघरवाली थीं, बजिरघर अब वैरागढ़ (मध्यप्रदेश) कहा जाता है और दूसरी सिंहपथ या सिंहप्रस्थ की सिंधुडा नामक थीं जिनके नाम पर एक गिरिगुहाप्रासाद, जो हाथीगुंफा के पास है, उन्होंने बनवाया। इसे अब रानी नौर कहते हैं। इन नामों का पता किसी जैनग्रंथ में मिले तो मुझे उसकी सूचना कृपा कर दी जावे।

---

(२६) हाड़ा वंश के विकास पर विचार

[लेखक—श्री हरिचरणसिंह चौहान]

चौहान वंश की भाँति हाड़ा वंश की उत्पत्ति के विषय में भी लोगों के पृथक् पृथक् मत पाए जाते हैं। वंशभास्कर और वंश-प्रकाश आदि पुस्तकों में हाड़ा वंश की उत्पत्ति भानूराज अर्थात् अस्थिपालजी से मानी गई है। मूता नैनसी की ख्यात में जो उसने संवत् १७२१ वि० के ज्येष्ठ मास में राव जगन्नाथ के वंशधर राव रामचंद्र से लिखी है, उसमें उसने सौनगरा चौहानों के विषय में लिखते हुए नाडोल के राव लाखण के ५ पुत्र—(१) बीसल (२) आसल (३) जोजल (४) जैतल और (५) बलि—लिखे हैं, जिनमें से "बीसल के (वंशज) हाडौती में हैं" ऐसा लिखा है।

लेकिन जहाँ उसने हाड़ाओं की पीढ़ियाँ दी हैं वहाँ उसने राव लाखण के पाँचवें पुत्र बलि से हाड़ाओं की वंशावली चलाई है, जो इस प्रकार है—

राव लाखण नाडोल का स्वामी, बली, सोहि, महंदराव, अणहल, जिंदराव, आसराव, माणकराव, (संभारण) जैतराव, अनंगराव, कुंत-सिंह, विजयपाल, हाड़ा, बाघा, और देवा बाघा का, जो परस्पर एक दूसरी के विरुद्ध हैं—इस आधार को लेकर आजकल के विद्वान् इस हाड़ा नाम को हरराज का अपभ्रंश मानकर इसी हाड़ा से हाड़ावंश का विकास मानने लग गए हैं। यह एक विचारणीय बात है।

उदयपुर-निवासी बाबू रामनारायणजी दूगड़ ने उक्त ख्याति का हिंदी अनुवाद किया है जो नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा छप चुका है, उसमें उन्होंने उक्त ख्याति के १०४ पृष्ठ पर अपनी दूसरी टिप्पणी में लिखा है कि "आसराज विक्रम की तेरहवीं शताब्दि के आरंभ में नाडोल की गद्दी पर बैठा था"। "इसका बड़ा पुत्र आल्हण

तो नाडौल की गद्दी पर बैठा और छोटे माणकराज के वंश में बूँदी के चौहान हैं।"

संवत् १४४६ वि० वाले मैनाल के लेख की वंशावली को, जिसका टाड साहब ने अपने भ्रमण-वृत्तांत में उल्लेख किया है, बाबू साहब ने अपने नोट में उद्धृत करते समय, (उसमें) मनमाने नाम बढ़ा दिए हैं जो टाड साहब की लिखी हुई वंशावली में नहीं हैं—हम दोनों को पाठकों के अवलोकनार्थ यहाँ पर उद्धृत करते हैं, जिससे मालुम हो जायगा कि, एक गलत बात को सच्ची सिद्ध करने के लिये किस प्रकार प्रयत्न किया गया है।

टाड साहब द्वारा उल्लेख की हुई मैनाल के शिलालेख की वंशावली	टाड साहब के नाम से बाबू रामनारायणजी दूगड़ द्वारा दी हुई वंशावली
१ भँवरधन	माणकराज
२ कोलन	संभारण
३ जयपाल	जैतराव
४ देवराज	अनंगराव
५ हरराज ; रितुपाल (देवराज के पुत्र)	कुंतसिंह
६ कोल्हण (रितुपाल का पुत्र)	जयपाल
७ कुंतल देदा	हरराज (हाडा)
८ महादेव	बाघा (बंगदेव)
९ दुर्जन	देवा (देवसिंह)

बाबू साहब की उपर्युक्त दी हुई वंशावली के अनंगराव तथा

कुंतसिंह को यदि टाड साहब की वंशावली का भँवरधन तथा कोलन भी समझ लिया जाय तो भी माणकराज संभारण और जैतराव तथा हरराज और बाघा नाम टाड साहब की दी हुई मैनाल की वंशावली से इसमें अधिक हैं जो मूता नैनसी की वंशावली से लेकर ही मैनाल की वंशावली में बाबू साहब ने अपनी इच्छा से मिला दिए हैं।

मूता नैनसी माणकराव को आसराव का पहला पुत्र और आल्हण को तीसरा लिखता है जैसा कि हम ऊपर दिखला चुके हैं—परंतु बाबू रामनारायण दूगड़ जी आल्हण को प्रथम और माणकराव को छोटा पुत्र लिखते हैं; केवल यही नहीं किंतु बाबू साहब आसराव का गद्दी पर बैठना विक्रम की १३वीं शताब्दि का आरंभ लिखते हैं। १३वीं शताब्दि का आरंभ-काल संवत् १२०० की समाप्ति के ऊपर समझा जाता है, लेकिन आसराव के समय के तीन शिलालेख मिल चुके हैं जो संवत् ११६७, ११७२ और १२०० के हैं, जिनसे पता चलता है कि, संवत् ११६७ वि० से पहले वह नाडौल की गद्दी पर बैठ चुका था, अतः १३वीं शताब्दि के आरंभकाल में उसका गद्दी पर बैठना मानने लायक बात नहीं है। इन्हीं लेखों में आसराव के ज्येष्ठ पुत्र का नाम कटुकराव और छोटे पुत्र का नाम आल्हण लिखा है। आल्हण, कटुकराव के देवलोक हो जाने पर ही नाडौल की गद्दी पर बैठा हो, माणकराव का उसमें कहीं नाम-निशान भी नहीं है, तब मूताजी का लिखा हुआ माणकराव, आसराव का पुत्र किस प्रकार माना जाय? इस पर अभी तक किसी विद्वान् ने विचार नहीं किया। रावभाटों ने मूता नैनसी को जैसा लिखवाया वैसा लिख लिया, और उन्होंने उसको शोधा नहीं। अतः जब रावभाटों की वंशावलियाँ विश्वास योग्य नहीं समझी जातीं, तब रावभाटों से ली हुई मूता नैनसी की लिखित वंशावलियाँ विश्वास योग्य मानना भूल ही है।

न तो बूँदी वंशपरंपरा में हाड़ा या हरराज का नाम है और न मैनाल की प्रशस्ति में ही कि जिसे टाड साहब ने अपने बनाए हुए

राजस्थान एनल के भ्रमणवृत्तांत में उद्धृत किया है। फिर न मालूम आजकल के विद्वान् लोग मूता नैनसी की ख्यात की वंशावली को क्यों विश्वासयोग्य मानते हैं ?

सुर्जनचरित्र नामक संस्कृत काव्य, जिसे संवत् १६५२ विक्रमी (जो मूता नैनसी की ख्यात से ६८ वर्ष पूर्व का बना हुआ है) में पंडित रामचंद्र कवि ने राव राजा भोज के आश्रित रहकर बनाया था और जो २५-३० वर्ष पहले चुनार के किले से मिल चुका है, उसमें चाहुमान वंश की वंशावली, चाहुमानजी के वंशधर वासुदेवजी से लेकर राव राजा सुर्जनजी के पुत्र राव राजा भोज तक दी है। उसमें बूँदी नरेशों के पूर्वज माणिकराज को भारतेश्वर सम्राट् पृथ्वीराज का छोटा भाई और सोमेश्वर देव का द्वितीय पुत्र लिखा है, परंतु शिलालेखों तथा अन्य कई एक ग्रंथों में सोमेश्वर के छोटे पुत्र का नाम हरिराज मिलता है, जो पृथ्वीराज के पीछे संवत् १२५० तक अजमेर का स्वामी रहा और कुतुबुद्दीन एबक से लड़कर अजमेर में मारा गया। संभव है माणिकराज हरिराज का पुत्र और पृथ्वीराज का भतीजा तथा सोमेश्वर का पौत्र हो, जिसे सुर्जनचरित्र में पुत्र लिख दिया हो, क्योंकि उसमें जैसे बरसिंह के पुत्र वैरीसाल का नाम छूट गया है और वैरीसाल के पुत्र भारमल (सुभांडदेव) को बरसिंह का पुत्र लिख दिया है, संभव है उसी प्रकार हरिराज का नाम छोड़कर माणिकराज को पृथ्वीराज का भाई और सोमेश्वरदेव का पुत्र लिख दिया हो और उसने अपने पिता हरिराज के युद्ध में वीर-गति पाने पर अजमेर छोड़कर इस प्रांत में आकर अपना बचाव किया हो तथा इसी हरिराज से हाड़ा वंश प्रसिद्ध हुआ हो और यही संभव भी है, क्योंकि उस समय तक मैनाल, मोराकुरो, बिजोल्या, मांडलगढ़, जहाजपुर, आमलदा, लोहारी आदि समस्त प्रांत अजमेर के चौहानों के अधिकार में थे, जहाँ उनके कितने ही शिलालेख पाए जाते हैं। अतः हरिराज से हाड़ा वंश की प्रसिद्धि मानी जाय तो वह हरिराज पृथ्वीराज का छोटा भाई और संभव है माणिकराज का

पिता हो, जिसके वीर-गति पाने पर माणिकराज ने इस प्रांत में आश्रय लिया हो, जिसके वंश में बंबावदा, बूँदी और कोटा के हाड़ा चौहान हैं जिनकी उपाधि अब तक संभरधनी और संभरेश है अत: बूँदी नरेश सांभर और अजमेर के चौहानों के वंशधर हैं न कि नाडोल के चौहानों के।

यदि मूता नैनसी की संगृहीत ख्यात की वंशावली को ही ठीक मान लिया जाय (जो वास्तव में ठीक नहीं है) तो हाड़ा से देवसिंहजी का नंबर तीसरा है और देवसिंह को महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा ने खेता (चेत्रसिंह) राणा के पिता राणा हमीर का समकालीन लिखा है तथा कुंभलगढ़ की संवत् १५१७ की प्रशस्ति* और संवत् १५४५ के एकलिंग-माहात्म्य† में लिखा है कि राणा चेत्रसिंह ने हाड़ा मंडल के मुंड को खंडन कर हाड़ावटी देश के पति को जीता और उसके मंडल को अपने अधीन किया। इसमें मांडलगढ़ को हाड़ावटी का मस्तक बयान किया गया है, जिससे साबित होता है कि राणा चेत्रसिंह के समय में हाड़ावटी देश का विस्तार बहुत बड़ा था कि जिसका मस्तक मांडलगढ़ बयान किया गया है, तब उसके हाथ पाँव और धड़ का अंदाजा किया जाय तो कम से कम तीन चार हजार वर्ग मील से तो कम में हो ही नहीं सकता। फिर यदि सूक्ष्म विचार से विचारा जाय तो मेवाड़वालों ने खेता का बड़प्पन बखानने के लिये ही खेता से लगभग १०० वर्ष पीछे ये श्लोक गढ़े हैं—फिर इतने श्लोक रचने पर भी हाड़ावटी के देशपति का कहीं नाम ही नहीं है, तब ये श्लोक कल्पित ही सिद्ध होते हैं; तो भी मुहणोत नैनसी के लेखानुसार विजयपाल के पुत्र हरराज (हाड़ा) से देवसिंह (जिसे खेता के पिता हमीर का समकालीन कहा जाता है) पुत्र तक केवल चार पीढ़ी ही होती हैं। इन चार पीढ़ियों में मूता नैनसी

* हाड़ावटीदेशपतीन् स जित्वा तं मंडलं चात्मवशीचकार।

† हाड़ामंडलमुंडखंडनधतस्फूर्ज्जत्कबंधोद्भरम्।

लिखित हाड़ा के वंश का इतना विस्तार कहाँ बढ़ गया जो इतने बड़े मुल्क में फैले हों कि जिससे इतने बड़े 'विस्तृत देश का नाम हाड़ावटी पड़ सके कि जिसका सिर मांडलगढ़ हो और खेता ने उसका मुंड खंडन किया हो; परंतु इसके विरुद्ध संवत् १४४६ की मैनाल की प्रशस्ति में—जिसका अनुवाद टाड साहब ने अपने बनाए हुए राजस्थान एनल के दूसरे भाग के भ्रमण-वृत्तांत में दिया है, जो ठीक खेता के समकालीन नरेश महादेव के समय की है, और एक-लिंग-माहात्म्य से ठीक १०० वर्ष पहले की है—उसमें देवराज के वंशधर महादेव ने अमीशाह का मान मर्दन कर राणा खेता की रक्षा की थी। इस स्पष्ट लेख से राणा खेता की जैसी वीरता थी उसका पता चल जाता है और उसके हाड़ावटी विजय करने का थोथापन भी जाहिर हो जाता है। चाहे इस समय के विद्वान् लोग सहायक नरेश को सहायता करने के कारण मातहत समझ लें, परंतु वास्तव में जो जबर्दस्त होता है वही सहायक बनता है; मातहत कभी सहायक नहीं बन सकता। इसके सिवाय मित्रता, रिश्तेदारी अथवा अपने जातीय संबंध के कारण भी सहायक नरेश परस्पर एक दूसरे की सहायता करने में, और मुख्यकर विधर्मियों के विरुद्ध, अपना कर्तव्य समझते थे, जिसके बहुत से प्रमाण मिल सकते हैं। उस मैनाल के लेख से तो महादेव का स्वतंत्र नरेश होना ही साबित होता है, अतः कुंभलगढ़ तथा एकलिंग-माहात्म्य के लेख पीछे से रचे जाने के कारण विश्वासयोग्य नहीं समझे जा सकते।

यह सब लिखने का मतलब यही है कि मूता नैनसी की ख्यात में जो हाड़ाओं की वंशावली दी है उसमें लिखा हुआ, माणिकराव न तो नाडोल के आसराव के समय के शिलालेखों से आसराव का पुत्र सिद्ध होता है, न टाड साहब की दी हुई मैनाल की वंशावली से ही और न बूँदी वंशपरंपरा में माणिकराव के वंशज विजयपाल के पुत्र का ही नाम हाड़ा है कि जिससे हाड़ा वंश का विकास माना जाय। अतः मूता नैनसी की ख्यात के लिखे अनुसार हरराज

(हाड़ा) से हाड़ा वंश का होना मान लेना भूल ही है और यदि उस समय मांडलगढ़ को हाड़ावटी का मुंड समझा जाय तो हाड़ा वंश का विकास बहुत पहले हो जाना चाहिए : वह पृथ्वीराज के भाई हरिराज से मान लेने में युक्तियुक्त भी है, क्योंकि सुर्जन-चरित्र नामक काव्य में माणिकराज को पृथ्वीराज का भाई और सोमेश्वर का पुत्र लिखा है, जो संभव है सोमेश्वरदेव का पौत्र और हरराज का पुत्र हो और अजमेर छूटने पर इस प्रांत में आ बसा हो, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। अतः यदि हाड़ा वंश का विकास हरराज से ही माना जाय तो पृथ्वीराज के भाई हरिराज से ही मानना ठीक हो सकता है—मूता नैनसी की ख्यात के हाड़ा से नहीं।

(२७) कालिदास की प्रतिष्ठा और उनके समय तथा ग्रंथरचनाक्रमसंबंधिनी विवेचना पर एक नवीन दृष्टि*

[लेखक—श्री रामकुमार चौबे एम० ए०, एल० टी० (काशी), एम० ए० (कलकत्ता), एम० आर० ए० एस० (लंदन)]

पुष्पेषु जाती नगरेषु कांची नारीषु रंभा पुरुषेषु विष्णुः ।
नदीषु गंगा नृपतौ च रामः काव्येषु माघः कवि कालिदासः ॥

—घटखर्पर ।

"जो स्थान पुष्पों में मालती का, नगरों में कांची तथा अंगनाओं में रंभा का, पुरुषों में विष्णु भगवान् का, नदियों में श्रीभागीरथी का, नरेंद्रों में महाराज रामचंद्र और काव्यों में माघ काव्य का है, वैसा ही श्रेष्ठ स्थान कवियों में श्रीकालिदास का है।"

पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे
कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः ।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावाद्
अनामिका सार्थवती बभूव ॥

—सुभाषितरत्नावली ।

"प्राचीन कवियों की गणना के प्रसंग में श्रीकालिदास का स्थान सबसे प्रथम तो ठहरता ही है और कनिष्ठिका जिस पर से गिनना आरंभ किया जाता है, वह तो उनके भाग में आ ही जाती है परंतु आज तक उनके सदृश कवि के अभाव से दूसरा स्थान भी

* यह निबंध इसी विषय पर लिखे हुए एक बृहत् अप्रकाशित निबंध के कुछ अंशों का संक्षिप्त सार रूप है।—लेखक ।

उनके अतिरिक्त किसी दूसरे को देना असंभव है। अतः कनिष्ठिका के समीप की उँगली, जो आज तक अनामिका (बिना नामवाली) कही जाती थी, श्रीकालिदास की गणना मात्र में प्रयुक्त होने की गौरव-प्राप्ति से अब अर्थान्वित हो जाती है।"

यस्याश्चोरश्चिकुरनिकुरः कर्णपूरो मयूरो
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पंचबाणस्तु बाणः,
केषा नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय॥

—प्रसन्नराघव।

"जिस कविता रूप कामिनी के 'चोर' कवि केशपाश तथा 'मयूर' कवि कर्णपूर हैं, महाकवि 'भास' जिसका हास और कवि-कुलशिरोमणि "श्रीकालिदास" जिसका विलास हैं, कवियों में अग्रगण्य "श्रीहर्ष" जिसका उल्लास और कविवर 'बाण' जिसके हृदय में निवास करनेवाले कामदेव हैं, वह किस मनुष्य को कौतु-कास्पद न होगी।"

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसांद्रासु मंजरीष्विव जायते।

—हर्षचरित।

"कालिदास की कविता सुंदर, रसीली, मधुर तथा मनोहर मंजरी के समान है। उसके विकसित होने पर किसका हृदय प्रेम से द्रवी-भूत नहीं हो जाता।"

"Wouldst thou the earth and heaven itself in one name combine?
I name thee, Sakoontala, and all at once is said."

(Goethe.)
(Translated by E. B. Eastwick)

"यदि भूलोक और स्वर्गलोक के अखिल सौंदर्य्य, लावण्य तथा रमणीयता को एक ही नाम से व्यक्त करना हो तो 'शकुंतला' कहने ही से सब कुछ स्पष्ट हो जाता है।"

—गेटे, जर्मनी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार।

"Description of the influence which Nature exercises upon the minds of lovers, tenderness in the expression of feeling and richness of creative fancy have assigned to Kalidasa his lofty place among the poets of all nations."

(Alexander von Humboldt)

"प्रकृति का जो प्रभाव प्रेमी जनों के हृदय पर पड़ता है उसको व्यक्त करने से तथा मानव-हृदय के भावों को सुकुमारता के साथ चित्रित करने से और उनकी कल्पना-शक्ति में प्रकर्ष और बाहुल्य होने से श्री कालिदास सब जातियों के कवियों में उच्च स्थान पाने योग्य हैं।"

—एलेग्जैंडर फान हमबोलट।

"Kalidasa's Meghduta is without a rival in the whole elegiac literature of the world."

(M. Hippolyte Fauche)

"कालिदास के मेघदूत काव्य के जोड़ का कोई भी ग्रंथ सारे संसार के करुणारसप्रधान साहित्य में नहीं है।"

—हिपोलिट फोशे (फ्रैंच विद्वान्)।

"Kalidasa is the brightest star in the firmament of Indian Artificial Poetry."

(Prof. Lassen)

"श्री कालिदास भारतीय कवितारूपी गगनमंडल के अत्यंत उज्ज्वल नक्षत्र हैं।"

—सुप्रसिद्ध प्रोफेसर लासेन।

"Kalidasa's love-poetry rings as true in our ears as it did in his countrymen's ears fifteen hundred years ago............I know of no poet, unless it be Shakespeare, who has given the group of heroines so individual and yet so universal; heroines as true, as tender, as brave as are Indumati, Sita, Parvati, the Yaksha's bride, and Sakoontala............Poetical fluency is not rare; intellectual grasp is not very uncommon, but the combination has not been found perhaps more than a dozen times since the world

began. Because Kalidasa possessed this harmonious combination, he ranks not with, Anacreon, and Horace, and Shelley, but with Sophocles, Vergil, and Milton."

(Prof. A. W. Ryder)

"कालिदास की श्रृंगाररस की कविता हमारे कानों में आज भी उसी प्रकार गूँजती है जिस प्रकार वह अपने देशवासियों के कानों में पंद्रह सौ वर्ष पहले गूँजती थी।......मुझे कविवर शेक्सपियर को छोड़कर और कोई कवि ऐसा ज्ञात नहीं है जिसने कि ऐसी नायिकाओं के समुदाय की सृष्टि की हो जो कि अपना व्यक्तित्व रखते हुए भी सर्वकालीन तथा सार्वदेशिक कही जा सकें। इंदुमती, सीता, पार्वती, यक्ष की प्रेमिका तथा शकुंतला, सती साध्वी, सुकुमार तथा साहसी नायिकाओं का आदर्श हैं।... ..सब ही देशों के कवियों में कविता का प्रवाह भी मिल सकेगा और बुद्धि की प्रखरता तथा सर्वव्यापकता का भी अभाव न मिलेगा; परंतु इन दोनों गुणों का एक ही कवि में समावेश संसार की सृष्टि से अब तक बारह बेर से अधिक न मिलेगा। कालिदास में इन दोनों गुणों का संमिश्रण होने ही से उनकी गणना एनेक्रियोन, होरेस और शेली से भी बढ़कर कवियों—सोफ़ाकलीज, वर्जिल और मिल्टन—में होती है।"

—प्रोफेसर ए० डब्ल्यू० राइडर।

" Le nom de Kalidasa domine la poesie Indienne et la resume brillamment...... .....Les applaudissements qui saluerent la naissance de Cakuntala Ujjayini ont apres de longs siecles eclate d'un bout du monde a l'autre, quand William Jones l'eut revelee a l'Occident. Kalidasa a marque sa place dans cette pleiade etincelante ou chaque nom resume une peiode de l'esprit humain. Le serie de cesnoms forme l'historie."

(Prof. Sylvain Levi in his "Le Theatre Indien")

"भारतीय कवियों में श्रीकालिदास का स्थान सबसे उच्च है और उनकी कविता सुंदर से सुंदर कविता का उज्ज्वल निष्कर्ष है।

शकुंतला नाटक की सृष्टि पर जिस आवेग तथा उत्कंठा से उसका स्वागत उज्जयिनी नगरी में हुआ होगा उसी आवेग से, अनेक शताब्दियाँ बीतने पर, विलियम जोंस द्वारा अनुवादित शकुंतला के पाश्चात्य देशों में प्रचार होने से सारे संसार में एक सिरे से दूसरे सिरे तक आज उसकी कीर्ति फैल गई है और श्री कालिदास का नाम कवियों की कीर्तिरूपी उस आकाशगंगा में अंकित हो गया है जिसमें का प्रत्येक नाम उत्कृष्ट से उत्कृष्ट मानवी बुद्धि का सारभूत है। इन्हीं नामों की माला से इतिहास बनता है।''

—सुप्रसिद्ध फ्रेंच प्रोफेसर सिलवें लेवी के फरांसीसी भाषा में लिखित ले थियेतरे इंदियें (भारतीय नाट्यशास्त्र) से अनुवादित।

विरला ही कोई साहित्यप्रेमी ऐसा होगा जिसके हृदय को इस बात के विचारमात्र ही से आघात न पहुँचता हो कि एक ओर तो पश्चिमी देश हैं जिनके सामान्य से सामान्य कवियों की प्रतिदिन की साधारण बातों तक का पता लग चुका है, दूसरी ओर हमारा देश भारतवर्ष है जिसकी रत्नगर्भा वसुंधरा को देवी वागीश्वरी के अग्रगण्य उपासक कविशिरोमणि श्रीकालिदास की जन्मदात्री होने का गौरव प्राप्त तो अवश्य है, जिनकी स्वर्णमयी अमल कीर्तिध्वजा शताब्दियों तक अनेक आक्रमणकारियों के नैष्ठुर्य को बलपूर्वक सहन करते हुए आज पंद्रह सौ वर्ष पश्चात् संसार के विद्वन्मंडल के मस्तिष्क पर पदारोपण कर दिग्दिगंत-व्यापिनी हो रही है। आमेजन और मिसिस्पी, रायन और टेम्स नदियों के तटों पर भी आज उनके रचे हुए ग्रंथों का अध्ययन उसी आनंद तथा उसी आदर के साथ होता है जिस प्रकार गंगा, सिंधु, गोदावरी और कृष्णा के किनारों पर होता रहा है। पाश्चात्य पंडितसमाज उनको संसार के उत्तमोत्तम कवियों—शेक्सपियर, गेटे, डांटे, सोफ़ाक्लीज और मिल्टन—के बराबर आसन देकर अपने को धन्य समझता है। परंतु ऐसे महान् कवि और नाट्यकार के विषय में छोटी छोटी बातों का जानना तो दूर रहा, यह भी ज्ञात नहीं है कि उन्होंने भारतवर्ष

के कौन से प्रदेश में और किस काल में जन्म लिया। कालिदास-संबंधी खोज का बहुत कुछ श्रेय पाश्चात्य विद्वानों को है। शायद ही विलायत का संस्कृतज्ञ विद्वान् ऐसा मिलेगा जिसने कालिदास के विषय में कुछ न कुछ विचार न किया हो और उनके विषय में कुछ न कुछ न लिखा हो। भारतवर्ष के भी कुछ संस्कृत विद्वानों की दृष्टि इस ओर गई है और कालिदाससंबंधी खोज में उन्होंने भी पश्चिमी पंडितों का हाथ बँटाया है। कालिदास के विषय में जो खोज उस समय तक हुई थी उसका सारांश सुप्रसिद्ध हिंदी लेखक श्रीमहावीरप्रसाद द्विवेदी, भूतपूर्व संपादक 'सरस्वती', कालिदास के विषय में लिखी हुई एक पुस्तक में कर चुके हैं।

कालिदास के समय के विषय में पहले तो अनेक मत थे पर अब मुख्यत: तीन ही मत हैं।

(१) हज़रत ईसा से ५७ वर्ष पूर्व, जैसा कि भारतवर्ष में प्राचीन किंवदंती है कि, कालिदास उन विक्रमादित्य के नवरत्नों में से थे जिन्होंने विक्रमी संवत् चलाया।

(२) कालिदास अंतिम कालीन गुप्त राजाओं के समय यानी महाराज स्कंदगुप्त के पश्चात् सन् ४८० ईसवी के लगभग हुए।

(३) कालिदास पूर्व गुप्त राजाओं यानी समुद्रगुप्त, चंद्रगुप्त विक्रमादित्य, कुमारगुप्त तथा स्कंदगुप्त में से किसी एक अथवा दो के समय सन् ३७५ से ४६० के बीच में रहे हों।

नं० (२) के मत को माननेवाले भी अब बहुत नहीं हैं। भारतवर्ष में मुख्यत: वयोवृद्ध तथा विद्यावृद्ध महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री (वंगप्रांतवासी) हैं। नं० (१) के मत को माननेवाले प्राचीन पंडित ही नहीं वरन् कुछ आधुनिक भारतीय विशेषत: महाराष्ट्र व कुछ वंगवासी विद्वान् हैं। नं० (३) मत के माननेवाले पश्चिम के अनेक धुरंधर विद्वान् तथा भारतीय विद्वान् हैं। पूर्व गुप्त राजाओं का काल भारत का स्वर्ण-युग समझा जाता है और इसी लिये अधिक विद्वान् कालिदास को पूर्व गुप्त वंशीय राजाओं का समकालीन मानते हैं।

भारतीय इतिहास के धुरंधर आचार्य विंसेंट स्मिथ महोदय ने अपनी 'अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया' में अपना मंतव्य इस प्रकार प्रकाशित किया है कि "इसमें कोई संदेह नहीं कि कालिदास पाँचवीं शताब्दी में, जब कि गुप्त राजाओं की शक्ति उच्चतम शिखर पर थी, हुए।" उनके मत में वह महाराज कुमारगुप्त (४१३–४५५) के समकालीन हैं परंतु वे कहते हैं कि यह भी संभव है कि वे महाराज चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के अंतिम समय और महाराज कुमारगुप्त के समय में अथवा महाराज कुमारगुप्त के समय और स्कंदगुप्त के आरंभिक समय में विद्यमान रहे हों।

प्रस्तुत लेखक ने अपने बृहत लेख में, जिसके कुछ अंशों का सार निम्नलिखित है, यह दिखलाने की चेष्टा की है कि यह संभव है कि कालिदास की अवस्था ८० वर्ष या ७८ वर्ष मानी जाय और उनकी कविता का काल ६० वर्ष माना जाय तो सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य, कुमारगुप्त तथा स्कंदगुप्त तीनों के संयुक्त समय में भी उनका विद्यमान रहना असंभव नहीं। बड़े बड़े कवि सूरदास, तुलसीदास, शेख सादी, वर्ड्सवर्थ, टैनिसन कितने ऐसे हुए हैं जो दीर्घजीवी थे और ८० वर्ष पर्यंत जीवित रहे। एक बड़े कवि का ८० वर्ष जीवित रहना संभव मानकर लेखक ने उनके ग्रंथों के उन स्थलों के आधार पर, जिन पर कि पहले दृष्टि नहीं गई थी, यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि उनकी कविता का काल उपर्युक्त तीनों सम्राटों के समय में इस प्रकार विभक्त हो सकता है।

(१) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में	३९९ से ४१३ तक	१४ वर्ष
(२) कुमारगुप्त के समस्त राज्यकाल में	४१३ से ४५५ तक	४२ वर्ष
(३) स्कंदगुप्त के आरंभिक समय में	४५५ से ४६० तक	५ वर्ष
		जोड़ ६१ वर्ष

कालिदास ने अपने किसी भी ग्रंथ में अपने विषय में स्पष्ट रीति से कुछ भी नहीं लिखा और न अपनी समकालीन किसी घटना ही का वर्णन किया है। इसलिये सीधे प्रकार से तो उनके विषय में कुछ भी जानना असंभव है। परंतु प्रत्येक मनुष्य के मन पर देश तथा काल का प्रभाव अवश्य पड़ता है इसलिये कालिदास के शब्दों का तथा भावों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो उनके विषय में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इस लेख में इसी दृष्टि से कुछ शब्दों पर विचार किया गया है और उसी आधार पर उनके समय तथा उनके ग्रंथरचनाक्रम पर विवेचना की गई है।

शब्दों पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि डालने से किसी विषय पर प्रकाश कैसे पड़ सकता है, इसके समझने के लिये निम्नलिखित दृष्टांत पर्याप्त होगा।

डाक्टर कीथ ने अपनी पुस्तक 'संस्कृत ड्रामा' (पृष्ठ १४३) और स्वर्गीय हिलेब्रांट साहब ने अपनी जर्मन पुस्तक 'कालिदास' (पृष्ठ ७) में लिखा है कि "यह प्रसिद्ध दंतकथा है कि कालिदास आरंभ में मूर्ख थे पर 'काली' के वरदान से तत्काल पंडित हो गए जैसा कि उनके नाम कालिदास ही से व्यक्त होता है परंतु यह बात बुद्धि-सम्यक् नहीं है।" यही बात कालिदास के ग्रंथों पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि डालने से बहुत ही शीघ्र और निश्चित रूप से इस प्रकार सिद्ध हो सकती है। अपने अभीष्ट देव अथवा देवी का गुणगान सभी कवि अपने ग्रंथों में किया करते हैं। कालिदास तो नितांत ही 'काली' देवी के ऋणी थे। आशा तो यह थी कि उनकी चर्चा का कालिदास के ग्रंथों में बाहुल्य होगा जैसा श्रीतुलसीदासजी ने सीता और राम की चर्चा करते हुए किया है; परंतु कालिदास की कविता में यदि छान बीन करें जो कि एक बृहत् समुद्र है तो उसमें **एक बार भी काली का नाम तक नहीं आया है।** इसके विपरीत 'पार्वतीपरमेश्वरौ' का वर्णन बहुत स्थलों पर है जिस से यह सिद्ध है कि 'शिवपार्वती' उनके आराध्य देव और देवी थे।

संभवत: कोई सज्जन कहें कि 'काली' के नाम लिखने का प्रसंग ही न आया हो। उनके आगे यही बतलाना पर्याप्त होगा कि उन्होंने पार्वती, लक्ष्मी, शची, सरस्वती इत्यादि देवियों का अनेक स्थलों में वर्णन किया है और कुमारसंभव में तो अनेक देवी देवता, बहुत से साधारण भी—जो 'तारकासुर' से पीड़ित थे—वर्णित हैं परंतु काली का वहाँ भी उल्लेख नहीं है। कालिदास ने 'महाकाल' तक का वर्णन किया है और मनोवैज्ञानिक साहचर्य्य के नियमानुसार काली का स्मरण आ जाना आवश्यक है परंतु तब भी काली का नाम वे नहीं लेते। इससे सिद्ध होता है कि काली उनकी आराध्या अधिष्ठात्री नहीं थीं। संभव है वे पार्वती के ही भक्त हों अथवा सरस्वती के भी उपासक हों परंतु उपर्युक्त तर्क से यही प्रतीत होता है कि 'कालिदास' उनका नाम उनके माता-पिता ने केवल नामकरण के लिये रख दिया होगा जैसे कि प्राय: बहुत से नाम बिना किसी प्रयोजन के भी रख लिए जाते हैं, काली के वरदान से उसका कोई संबंध न होगा।

कालिदास का ठीक समय निर्णय करने के पूर्व दो सीमाएँ पहले निश्चित होनी चाहिएँ जिनके मध्य में कालिदास का समय पड़ेगा।

नीचे की सीमा का निश्चय मंदासोर लेख (सन् ६७२-७३) के आधार पर और ऐहोल लेख (सन् ६३४) के आधार पर हो जाता है। पिछले लेख में "कविताश्रित-कालिदास-भारति-कीर्तिः।" कालिदास का नाम स्पष्ट आ जाने से कोई शंका नहीं रह जाती कि उनका समय सन् ६३४ के पूर्व ही होना चाहिए।

ऊपरी सीमा का निर्णय लेखक के मतानुसार 'पुराण' शब्द पर दृष्टि डालने से हो सकता है। श्री कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक के आरंभ ही में लिखा है—

पारिपार्श्वकः—प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबंधानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं परिषदो बहुमानः।

सूत्रधारः—अयि विवेकविश्रांतमभिहितम्। पश्य।

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।

पारिपार्श्वक—"सुप्रसिद्ध यशवाले भाससौमिल्लक कविपुत्रादि की रचनाओं का अतिक्रमण कर परिषद वर्तमान कवि कालिदास की रचना का बहुमान क्यों करती है ?"

सूत्रधार—"ऐसा कहना तो विवेकसंगत नहीं है। देखिए।"

"केवल पुराण होने से वस्तु श्रेष्ठ नहीं होती और केवल नवीन होने से कोई काव्य दूषित नहीं होता।"

कालिदास अपनी रचना को वर्तमान तथा भाससौमिल्लक कवि-पुत्र आदिक की रचनाओं को 'पुराण' कहते हैं। किसी कथा को 'पुराण' कहने के लिये दो बातें आवश्यक हैं—(१) वह जनसमुदाय में प्रथित अथवा सुप्रसिद्ध होनी चाहिए (२) इतना समय भी उसको व्यतीत हो जाना चाहिए कि घटनाओं का साधारण रूप ही ज्ञात रह सके और विस्तृत आकार विस्मृत हो जाय। इन दोनों बातों का संमिश्रण होने से २०० या १७५ वर्ष व्यतीत होने पर ही कोई कथा पुराण कही जा सकती है।

भास किस समय में हुए यह अनिश्चित है—उनके तो ग्रंथ भी मिले हैं पर सौमिल्लक कविपुत्रादि के कोई ग्रंथ भी विद्यमान नहीं हैं। 'केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया' (पहली जिल्द पृष्ठ ४८३) में लिखा है "मौर्य काल में संस्कृत काव्यों के लिखे जाने का कोई सम्यक् प्रमाण नहीं है। मौर्य काल के लगभग तीन ग्रंथ लिखे गए हैं (१) कौटिल्य का अर्थशास्त्र (२) पतंजलि का महाभाष्य (३) पाली कथावत्थु। यह कथन ठीक भी प्रतीत होता है क्योंकि जब पाली भाषा का आधिपत्य था तब संस्कृत काव्यों की प्रख्याति कैसे हो सकती थी ? सबसे प्राचीन संस्कृत लेख कनिष्क के समय का सन् १४४ ई० का है। वह लेख तथा रुद्रदमन का सन् १५२ ई० का लेख दोनों बहुत ही गिरी हुई संस्कृत में हैं और कालिदास की प्रौढ़ शैली और उस संस्कृत में आकाश पाताल का अंतर है।

सन् ५७ पू० ई० में कालिदास की २५ वर्ष की आयु यदि मानी जाय तो वे अपने को 'वर्तमान कह सकें और भास-सौमिल्लक-कविपुत्रादि को पुराण कह सकें इसलिये ५७ में कालिदास की आयु के २५ वर्ष और १७५ पुराणकाल जोड़ने से उन नाटककारों का समय मौर्य्य काल में जा पड़ता है जो उपर्युक्त केंब्रिज हिस्ट्री के तर्कानुसार काव्यकाल नहीं ठहरता। '

शुंग काल में बौद्धों का ह्रास तथा ब्राह्मणों की अवश्य उन्नति हुई। इस वंश ने सन् १८४-७२ पूर्व ईसा राज्य किया। उन नाटककारों को उस समय में रखने से कालिदास के जन्म और भास आदि में लगभग ६५ वर्ष ही का अंतर पड़ेगा जो कि कालिदास के भास को पुराण कहने के लिये बहुत न्यून है। अतः कालिदास को ५७ वर्ष पू० ईसा मानने से भासादि को 'पुराण' होने के लिये मौर्यकाल से पीछे करीब ५०० वर्ष पूर्व ईसा ले जाना पड़ेगा। और यदि ऐसा होगा तो पुराने ग्रंथों का सब रचनातिथिक्रम बदलना पड़ेगा जिसके लिये विद्वान् लोग कदाचित् ही तैयार हों।

उपर्युक्त विचार की पुष्टि एक और प्रमाण से भी हो सकती है। स्वर्गीय सर रामकृष्ण भांडारकर ने अपनी पुस्तक "शैविज्म वैष्णविज्म एटसेटा" में 'स्कंद' अथवा 'स्वामी कार्त्तिकेय' का विकास दिखाया है और डाक्टर डी० आर० भांडारकर ने 'कारमाइकेल लेकचर्स आन न्यूनिस्मेटिक्स सन् १९२१' (पृष्ठ २२) में दिखाया है कि 'महाभाष्य' में पतंजलि ने 'जीविकार्थे चापण्ये' पाणिनीय सूत्र की व्याख्या करते हुए मूर्तियों के तीन दृष्टांत दिए हैं—शिव, स्कंद, विशाख; जिससे उन्होंने यह प्रमाणित किया है कि स्कंद और विशाख दोनों देवताओं की मूर्तियाँ भिन्न भिन्न थीं। कनिष्क और हुविष्क के समय में सन् १००-२०० ई० के सिक्कों पर भी चार मूर्तियाँ, स्कंद, कुमार, विशाख और महासेन भिन्न भिन्न हैं। अमरकोश में स्वामिकार्त्तिकेय के पर्यायवाची शब्द ये हैं—

कार्त्तिकेयो महासेनः शरजन्मा षडाननः ।
पार्वतीनंदनः स्कंदः सेनानीरग्निभूर्गुहः ॥
बाहुलेयस्तारकजिद् विशाखः शिखिवाहनः ।
षाण्मातुरः शक्तिधरः कुमारः क्रौंचदारणः ॥

अमरकोश के लिखे जाने की तिथि चौथी शताब्दी मानी जाती है और उपर्युक्त श्लोक में महासेन, स्कंद, कुमार और विशाख के पर्यायवाची शब्द भिन्न भिन्न चार चरणों में विभक्त हैं अतः सब १७ शब्दों को पर्यायवाची मानने की अपेक्षा चारों चरणों के शब्दों को अलग अलग महासेन, स्कंद, कुमार अथवा विशाख का पर्यायवाचक मानना संगत होगा ।

कादंबरी सातवीं शताब्दी के आरंभ में लिखी गई । उसमें दो स्थलों पर 'कार्त्तिकेयो विडंबयति कुमारशब्दम्' और 'कुमारस्तु ... तारकोद्धरणम्' ये शब्द आए हैं जिनसे स्पष्ट है कि बाण के समय में कुमार, कार्त्तिकेय और तारकजित् पर्यायवाची हो गए थे और अमरसिंह के समय तक, चौथी शताब्दी तक, भिन्न भिन्न ही थे और 'कार्त्तिकेय' 'महासेन' का पर्यायवाची था न कि 'कुमार' का ।

अब प्रश्न यह है कि कालिदास ने इन शब्दों को पर्यायवाची माना है अथवा भिन्न भिन्न । लेखक ने अपने बृहत् निबंध में यह प्रमाणित किया है कि कालिदास के ग्रंथों में यह शब्द पर्यायवाची है। अतः इस कसौटी के अनुसार भी कालिदास का समय चौथी तथा आरंभिक सातवीं शताब्दी में पड़ेगा। ३०० वर्ष के अंतर को आधा करने से भी वही समय सन् ३९९ से ४६० तक पड़ेगा जो कि लेखक ने माना है ।

ऊपर और नीचे की सीमा ठीक हो जाने के पश्चात् कालिदास का कविताकाल ६० वर्ष मानने से चंद्रगुप्त विक्रमादित्य, कुमारगुप्त तथा स्कंद गुप्त तीनों सम्राटों के समय में (३९९ से ४६० तक) उनका विद्यमान होना असंभव नहीं हो सकता—यह ऊपर दिखाया जा चुका है ।

कालिदास इन्हीं राजाओं के समय में हुए । इसकी पुष्टि में लेखक का मत इस प्रकार है ।

डाक्टर हार्नेले ने कालिदास के ग्रंथों में 'आसमुद्रक्षितीशानाम्' तथा 'आकुमारकथोद्धातं' दिखाते हुए और इंपीरियल लाइब्रेरी के पुस्तकाध्यक्ष प्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय हरिनाथ डे ने "गोप्त गोप्तमेंद्रिया..." और साहित्याचार्य्य पं० रामावतार शर्म्मा एम० ए० ने "चंद्रमसेव रात्रिः, स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः", दिखाते हुए और एस० सी० चटर्जी ने "भानुः, भास्वान्, विक्रम प्रताप" दिखाते हुए तथा महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने मेघदूत में 'तत्र स्कंदं नियतवसतिम्' दिखाते हुए यह बतलाने की चेष्टा की थी कि इन शब्दों का गुप्त राजाओं की ओर संकेत प्रतीत होता है। पहली बात तो यह है कि इन शब्दों को लेकर किसी विद्वान् ने अब तक विस्तारपूर्वक छानबीन करने तथा लेख लिखने की कृपा नहीं की। दूसरे गुप्त, गोप्ता, गोप्तरि, भानुः, भास्वान् इत्यादि शब्दों के प्रयोग मात्र से कि जब उनके अर्थ, रक्षा, रक्षक, सूर्य्य आदि ठीक ठीक बैठते हैं यह नतीजा निकालना कि उनका संकेत गुप्त राजाओं की ही ओर है सर्वतः संगत नहीं जान पड़ता।

कालिदास-लिखित सात ग्रंथ माने जाते हैं,—

(१) ऋतुसंहार, (२) मालविकाग्निमित्र, (३) कुमारसंभव, (४) विक्रमोर्वशी, (५) रघुवंश, (६) शकुंतला, (७) मेघदूत।

'उपमा कालिदासस्य', श्री कालिदास की उपमा जगद्विख्यात है। उनके ग्रंथ सैकड़ों उपमाओं से भरे पड़े हैं। उनकी उपमाएँ असाधारण तथा सारगर्भित होती हैं। स्वामी कार्त्तिकेय की उपमा कालिदास के ग्रंथों में अनेक बार आई है और उन्होंने इसके पर्याय-वाचक बहुत से शब्द प्रयुक्त किए हैं। केवल इस एक ही उपमा के विकास पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि डालने से कालिदास के समय तथा ग्रंथरचना-क्रम पर जो प्रकाश पड़ सकता है उसका पूरा ब्योरा तो लेखक ने अपने बृहत् लेख में दिया है पर उसमें से दो चार बातों का सार निम्नलिखित है—

स्वामी कार्त्तिकेय की उपमा का प्रयोग कालिदास उस स्थल पर करते हैं जहाँ या तो (१) किसी की शैशव अवस्था का वर्णन करना हो अथवा (२) किसी का शौर्य्य या पराक्रम दिखाना हो या (३) स्वामी कार्त्तिकेय की कथा का प्रसंग हो। इन पर्याय-वाचक शब्दों को एकत्र करके ग्रंथानुसार विभक्त किया जाय तो निम्नलिखित क्रम प्रतीत होगा।

(क) ऋतुसंहार में कोई भी शब्द स्वामी कार्त्तिकेय का पर्यायवाची प्रयुक्त नहीं हुआ है।

(ख) मालविकाग्निमित्र में भी स्वामी कार्त्तिकेय का कोई पर्याय-वाची शब्द प्रयुक्त नहीं है।

(ग) कुमारसंभव —

(१) सेनानी—दो बार—सर्ग ३ श्लोक १५ और सर्ग २ श्लोक ५१।

(२) सेनापत्य—एक बार—सर्ग २ श्लोक ६१।

(३) गुह—एक बार—सर्ग ५ श्लोक १४।

(घ) विक्रमोर्वशी—

(१) कुमार—चार बार—चौथे अंक की प्रवेशिका, चौथे अंक के अंत में, फिर चौथे अंक के अंत में; और पाँचवें अंक के श्लो० ७ में।

(२) महासेन
(३) सेनापत्य } एक एक बार—अंक ५ श्लोक २३।

(ङ) रघुवंश—

(१) स्कंद—दो बार—सर्ग २ श्लो० ३६ और सर्ग ७ श्लो० १।

(२) कुमार—तीन बार—सर्ग ३ श्लो० १६, सर्ग ३ श्लो० ५५ और सर्ग ५ श्लो० ३६।

(३) शरजन्मा—एक बार—सर्ग ३ श्लो० २३।

(४) गुह—एक बार—सर्ग ६ श्लो० ४।
(५) तेजो वह्निनिष्ठ्यूतम्—एक बार—सर्ग २ श्लो० ७५।
(६) नगरंध्रकृ—एक बार—सर्ग ६ श्लो० २।
(७) हरसूनु—एक बार—सर्ग ११ श्लो० ८३।
(८) षडानन—एक बार—सर्ग १४ श्लो० २२।
(९) षण्मुख—एक बार—सर्ग १७ श्लो० ६७।
(१०) सेनानी—एक बार—सर्ग २ श्लो० ३७।

(च) शकुंतला में स्वामी कार्त्तिकेय का कोई पर्यायवाचक शब्द नहीं है।

(छ) मेघदूत—
(१) स्कंद—एक बार—श्लोक ४५, पाठक का एडीशन।
(२) पावकी—एक बार—श्लो० ४६।
(३) हुतवहमुखे संभृतं तेजः—एक बार श्लो० ४५।
(४) शरवणभव, एक बार—श्लो० ४७।

उपर्युक्त स्वामी कार्त्तिकेय के पर्यायवाची शब्दों की पूरी सूची है जो कालिदास के ग्रंथों में प्रयुक्त हुए हैं। पहले इनके विकास का अध्ययन कर फिर उन पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि डालना चाहिए।

(१) देखने ही से पहली बात जो दृष्टिगोचर होगी वह यह है कि तीन ग्रंथों—ऋतुसंहार, मालविकाग्निमित्र तथा शकुंतला—में स्वामी कार्त्तिकेय के पर्यायवाची शब्दों का **नितांत अभाव** है।

(२) कुमारसंभव के केवल आठ सर्ग ही कालिदास-रचित माने जाते हैं। उनमें केवल **तीन शब्द** 'सेनानी,' 'सेनापत्य' और 'गुह' चार बार आए हैं जिनमें से 'सेनानी' दुहराया हुआ है। सबसे बड़ी बात जो विचारणीय है वह यह है कि यद्यपि पुस्तक का नाम 'कुमार-संभव' है तथापि 'कुमार' शब्द जो अत्यंत ललित है और रघुवंश में कालिदास को बहुत प्रिय है ('कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम्') वह आठ सर्गों में कहीं नहीं आया है और यदि पूरा कुमारसंभव भी कालिदास-रचित मान लिया जाय तो वहाँ भी उसका सर्वथा अभाव है।

(३) विक्रमोर्वशी में भी तीन ही शब्द प्रयुक्त हुए हैं; 'सैनापत्य' तो कुमारसंभव ही का है परंतु 'महासेन' और 'कुमार' नए हैं। शब्दों की संख्या में तो कोई विकास नहीं है जो दोनों ग्रंथों में तीन ही हैं, परंतु दुहराने में विकास है। 'कुमार' शब्द जो कुमारसंभव में प्रयुक्त न था, यहाँ चार बार दुहराया गया है।

(४) रघुवंश पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो वहाँ इन शब्दों का पूरा विकसित रूप पाते हैं। रघुवंश में दस शब्द आए हैं—'स्कंद', 'कुमार,' 'शरजन्मा,' 'गुह,' 'वह्निनिष्ठ्यूतम् तेजः,' 'नगरंध्रक,' 'हरसूनु,' 'षडानन,' 'षण्मुख,' और 'सेनानी,' ये शब्द जहाँ आए हैं वहाँ देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास यह समझते हैं कि बिना इन शब्दों के उन स्थलों पर वह सुंदरता लाना ही असंभव है जो इन शब्दों से आ गई है। देखिए राजा दिलीप और महारानी सुदक्षिणा शिशु रघु को गोद में लिए ऐसे शोभायमान मालूम होते थे जैसे "उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयंतेन शचीपुरंदरौ" या अज के जन्म का वर्णन लीजिए "ब्राह्मे मुहूर्ते किल तस्य देवी कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम्,' ये दस शब्द तेरह बार प्रयुक्त हुए हैं। 'स्कंद' एक बार दुहराया गया है और 'कुमार' तीन बार। दुहराए जानेवाले शब्दों की संख्या में विकास है। विक्रमोर्वशी में एक शब्द दुहराया गया था परंतु यहाँ दो शब्द दुहराए गए हैं। इस ग्रंथ में इन शब्दों का विकास सर्गक्रम से यह है। पहले सर्ग और अंतिम दो सर्गों में यह शब्द बिल्कुल नहीं है। दूसरे और तीसरे सर्ग में इन शब्दों के प्रयोग की पराकाष्ठा है। दोनों सर्गों में तीन तीन शब्द आए हैं और वहाँ ऐसा होना है भी उचित, क्योंकि वे सर्वोत्तम सर्गों में से हैं। आगे के सर्गों में इनके प्रयोग का जोर कम होता चला गया है। उनका प्रयोग बाकी सर्गों में (सर्ग ५, ६, ७, ९, ११, १४, १७) केवल एक ही बार है। यहाँ पहले सात सर्ग के पीछे दो बार एक एक सर्ग का अवसान है और ११ सर्ग के पीछे दो बार दो दो सर्गों का अवसान है।

एक बात यहाँ श्रौर ध्यान देने योग्य है। इन उपमाश्रों का प्रयोग कालिदास उन्हीं राजाश्रों के लिये करते हैं जिनको वे महत्त्व की दृष्टि से देखते हैं। रघुवंश में रघुकुल के १८ छोटे छोटे राजाश्रों का वर्णन भी किया गया है परंतु उनके विषय में इन उपमाश्रों का सर्वथा श्रभाव है। यद्यपि श्री रामचन्द्र जी को वे भगवान् का श्रवतार मानते हैं, जैसा लिखा है 'रामाभिधानो हरिः' (सर्ग १३ श्लोक १) परंतु श्रपने काव्य की दृष्टि से कालिदास जितना महत्त्व रघु तथा श्रज को देते हैं उतना श्रीराम को नहीं देते; 'कुमार' 'शरजन्मा' 'वह्निनिष्ठ्यूततेजः' तीन उपमाएँ पाँच बार रघु के लिये प्रयुक्त हैं जिनमें कुमार तीन बार श्राया है। 'स्कंद' श्रौर 'गुह' दो उपमाएँ केवल एक एक बार, परंतु उत्कर्ष की पराकाष्ठा के सहित, श्रज के लिये प्रयुक्त हैं, श्रीरामचंद्र के लिये केवल दो उपमाएँ 'हरसूनु' श्रौर 'षडानन' श्राई हैं जिनमें श्रज संबंधी उत्कर्ष नहीं है।

एक बात श्रौर ध्यान देने योग्य यह है कि कालिदास उपर्युक्त उपमा का एक शब्द एक ही राजा के लिये नियमित रखते हैं, दूसरे राजा के लिये उसका प्रयोग कभी नहीं करते। कुमार शब्द में संदेह होता है। उसका निवारण यह है कि कुमार शब्द रघु के ही लिये है। श्रज के लिये कुमार नहीं वरन् 'कुमारकल्प' प्रयुक्त है। ईषत् समाप्तौ कल्पम् इस पाणिनीय सूत्र से कल्पम् प्रत्यय सदृश के श्रर्थ में नहीं श्राता वरन् सदृश होते हुए किंचित् न्यूनता प्रकाश करता है श्रौर ऐसा है भी उचित। जब पिता रघु को कुमार के समान ('हरेः कुमारोऽपि कुमारविक्रमः') कहा गया तब श्रज पुत्र को 'कुमारकल्प' कुमार से कुछ न्यून कहना युक्तिसंगत ही है।

मेघदूत में केवल १२० श्लोक हैं। उसमें चार शब्दों—'स्कंद' 'हुतवहमुखे संभृतं तेजः' 'पावकी' श्रौर 'शरवणभव'—का प्रयोग किया गया है। इतने थोड़े श्लोकों में इतने श्रधिक शब्दों के प्रयोग के कारण इन उपमाश्रों के प्रयोग की पराकाष्ठा इसी काव्य में समझनी चाहिए।

स्वामी कार्त्तिकेय के पर्यायवाची शब्दों का सामान्य विकास कालिदास के ग्रंथों में है। संभव है कि किसी को यह आपत्ति हो कि सब शब्दों के प्रयोग सब स्थलों में नहीं हो सकते। ऐसी शंका एक महान् कवि के विषय में वृथा है। उपमा का ठीक प्रयोग करने में कालिदास सिद्धहस्त हैं—यह देखना हो तो केवल एक अठारहवें सर्ग को देखिए। उसमें २१ राजाओं का वर्णन है और प्रत्येक राजा की उपमा उसके नाम में से निकालकर वहीं कालिदास ने बैठा दी है जैसे ध्रुवसंधि को ध्रुव की, पुष्य को पुष्य नक्षत्र की उपमा दी है। उपमाओं के प्रयोग में उनकी कल्पना-शक्ति के चमत्कार का यही उदाहरण पर्याप्त होगा कि इंद्र के पर्यायवाचक ४६ शब्दों का कालिदास ने अपने ग्रंथों में प्रयोग किया है जो कि सब मिलाकर १३८ बार आए हैं (स्थानाभाव से उनकी सूची यहाँ नहीं दी जाती)। रघुवंश के केवल तीसरे सर्ग में ३१ स्थलों पर इंद्र के प्रयोग की आवश्यकता पड़ी है पर वहाँ इंद्र के पर्यायवाचक १६ शब्द प्रयुक्त हैं। अपने ग्रंथों में एक शब्द का उन्होंने ४ या ६ बार से अधिक सामान्यत: प्रयोग नहीं किया है, बहुत साधारण शब्द 'इंद्रि' 'हरि' (इंद्र के अर्थ में) सब ग्रंथों में ९ और १२ से अधिक बार प्रयुक्त नहीं है। केवल एक शब्द 'महेंद्र' एक ही ग्रंथ विक्रमोर्वशी में ११५ बार प्रयुक्त हुआ है और सब ग्रंथों में मिलाकर १९ बार आया है। इसके असाधारण आधिक्य के कारण पर लेखक ने अपना मत आगे दिया है।

कालिदास ने इन शब्दों का प्रयोग क्यों किया, इसको मनोविज्ञान की दृष्टि से विचारना आवश्यक है।

कालिदास ने जितना प्रयोग स्वामी कार्त्तिकेय की उपमा का किया है उतना किसी भी संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषा के एक लेखक की रचनाओं में न मिलेगा। एक विशेष बात ध्यान देने की यह है कि गणेशजी यद्यपि बुद्धि के अधिष्ठाता देव हैं और सभी कवियों की रचनाओं में उनका वर्णन मिलेगा पर जैसा काली का

नाम कालिदास के ग्रंथों में कहीं नहीं है, गणेशजी के नाम का भी उनके ग्रंथों में सर्वथा अभाव है। श्री तुलसीदास जी ने उमा की स्तुति में दोनों देवताओं को लिखा है "जय गजबदन षडाननमाता", इससे यह तो सिद्ध होता है कि कालिदास के हृदय पर स्वामी कार्त्तिकेय का प्रभाव अवश्य विद्यमान था। गुप्त काल के पीछे कार्त्तिकेय की उपासना बहुत कम हो गई और गणेशजी की उपासना सारे भारतवर्ष में आज तक अच्छी तरह प्रचलित है। अतः दो ही बातें हो सकती हैं—या तो एक यह संभव है कि कालिदास स्वयं कार्त्तिकेय के बड़े भक्त रहे हों परंतु शकुंतला में जहाँ शैशव तथा पराक्रम दोनों के दिखाने के लिये अनेक स्थल हैं और जो उनकी सर्वोत्तम कृति है वहाँ उसका नितांत अभाव पाया जाता है, इसलिये यह तर्कना युक्त नहीं जान पड़ती इसलिये दूसरी बात यही ठीक मालूम होती है कि उनके कुछ ग्रंथ, जिनमें यह उपमा विद्यमान है, उस समय लिखे गए जब कार्त्तिकेय को कुछ विशेषत्व अवश्य प्राप्त था। भारत के इतिहास में दो ही राजा, कुमारगुप्त तथा स्कंदगुप्त पिता पुत्र ऐसे हैं जिनके सिक्कों पर स्वामी कार्त्तिकेय तथा उनके वाहन मयूर की मूर्ति है। गुप्तकाल में और विशेषतः उन दोनों के समय में कार्त्तिकेय की प्रधानता अवश्य रही। इन बातों पर विचार करने से यह निर्णय होता है कि—

(१) ऋतुसंहार या तो कालिदासकृत नहीं है, जैसा कुछ लोगों का मत है अथवा वह ऐसे समय में लिखा गया जब कि कालिदास के हृदय पर कार्त्तिकेय का प्रभाव न पड़ा था।

(२) विक्रमोर्वशी में पराक्रम के अनेक स्थल हैं पर उसमें भी कार्त्तिकेय का नितांत अभाव है। इससे यह सिद्ध हुआ कि यह ग्रंथ भी उसी समय लिखा गया जब कालिदास के लिये कार्त्तिकेय का कोई महत्त्व न था अतः ये दोनों ग्रंथ कालिदास की कविता के आरंभिक काल की रचना हैं, जैसा कि बहुत विद्वान् मानते हैं। अतः ऋतुसंहार और मालविकाग्निमित्र दोनों सन् ४०० के लगभग, जब महाराज चंद्रगुप्त राज्य करते थे, लिखे गए।

(३) कुमारसंभव को बहुत से विद्वान् उपर्युक्त दोनों के पीछे का लिखा मानते हैं। यद्यपि पुस्तक के नाम में 'कुमार' है परंतु पुस्तक में 'कुमार' शब्द कहीं नहीं आया इसलिये यह नाम कालिदास ने पीछे रखा होगा जब कि उनको कुमार का प्रयोग अच्छा मालूम होता होगा। ये तीनों पुस्तकें कालिदास के प्रारंभिक कविताकाल की हैं। इनका समय भी सन् ४०० के लगभग होना चाहिए। इस पुस्तक से कार्त्तिकेय की उपमा का प्रभाव कालिदास पर पड़ना आरंभ हुआ है।

(४) विक्रमोर्वशी में उर्वशी के पुत्र को युवराज पदवी दी गई है और कुमार और कुमारवन तथा मयूर की चर्चा बहुत है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि यह पुस्तक सन् ४११ या ४१२ के लगभग लिखी गई होगी जब कुमारगुप्त युवराज बनाए गए होंगे।

(५) रघुवंश इन उपमाओं से खचाखच भरा हुआ है। उसमें प्रथम बार 'कुमार' और 'स्कंद' दोनों शब्द साथ साथ अत्यंत उत्कृष्ट रीति से प्रयुक्त हैं। कुमार जिन श्लोकों में प्रयुक्त हुआ है वे पहले आ चुके हैं। स्कंद का लालित्य 'स्कंदस्य मातुः पयसां रसज्ञः'(सर्ग २ श्लो० ३६) और 'स्कंदेन साक्षादिव देवसेनाम्' (सर्ग ७ श्लो० १) में देखिए। अपने हृदय में विचार कीजिए कि क्या कालिदास मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशी, कुमारसंभव तथा शकुंतला में जहाँ दूसरे शब्दों का आश्रय लेते हैं, 'स्कंद' से ललित शब्द का प्रयोग नहीं कर सकते थे। बहुत संभव है कि रघुवंश लिखते समय 'कुमार' और 'स्कंद' दोनों के जीवित होने से कुमार और स्कंद कालिदास के लिए विशेषताप्रद हो गए हों। अतः लेखक की सम्मति में रघुवंश उस समय लिखा गया जब कुमारगुप्त तथा स्कंदगुप्त दोनों जीवित थे (४२०–४५५)।

(६) इसी विचारधारानुसार हम मेघदूत में केवल स्कंद शब्द होने से और उनका वाहन मयूर (श्लो० ४५–४६) भी होने से यह समझते हैं कि वह स्कंदगुप्त के समय में सन् ४५५–४६० में लिखा गया होगा।

(७) शकुंतला में, जो कालिदास की सर्वोत्तम कृति है, इन शब्दों का नितांत अभाव होना एक बड़ी कठिनाई थी पर उसका निवारण इस प्रकार हो जाता है। वहाँ आवश्यकता होने पर भी, इन राजाओं की तरफ कोई संकेत न हो, इसलिये जानते हुए कालिदास ने इन शब्दों का प्रयोग नहीं किया। और ऐसा संभव भी है। शेक्सपियर का महारानी तथा छठे जेम्स से घनिष्ठ संबंध था। वे उनके दर्बार में नाटक करते थे। उनके चार बड़े नाटक हैं 'मेकबेथ, ओथेलो, किंग लियर और हैम्लेट।' स्पष्ट रीति से तो उन्होंने कहीं अपनी महारानी तथा सम्राट् का नाम नहीं लिखा परंतु पहले दोनों ग्रंथों में श्लेष में कई जगह साफ संकेत कर दिया है जैसा विद्वानों ने लिखा है। देखिए मेकबेथ (अंक ४ दृश्य १ पंक्ति १२०—१२१) और ओथेलो (But our heraldry is hand not hearts) परंतु किंग लियर और हैम्लेट जो उनके सर्वोत्तम नाटक हैं उनमें किंचिन्मात्र भी महारानी या सम्राट् की ओर संकेत नहीं है। अतः यही कालिदास ने किया है ऐसा प्रतीत होता है। लेख के अधिक बड़े हो जाने से इतने ही पर समाप्ति उचित जान पड़ती है। इन प्रमाणों की पुष्टि बृहत् लेख में एक एक ग्रंथ को लेकर बहुत से दूसरे प्रमाणों से की गई है। उदाहरणार्थ महेंद्र शब्द का असाधारण आधिक्य एक ही पुस्तक विक्रमोर्वशी में १५ बार है इस पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि डालिए। इतना अधिक प्रयोग कालिदास के नियम के सर्वथा विरुद्ध है। प्रश्न यह है कि उन्होंने अपना नियम क्यों तोड़ा ?

कुमारगुप्त का पूरा नाम कुमारगुप्त महेंद्र आदित्य था जैसे उसके पिता का नाम चंद्रगुप्त विक्रमादित्य था। कुमारगुप्त के सिक्कों की कोई पुस्तक उठाइए। उसके अनेक प्रकार के सिक्के मिलेंगे परंतु उसके सिक्कों पर 'महेंद्र सिंहो जयति' या 'श्रीमहेंद्र' या 'महेंद्रादित्य' लिखा हुआ प्रायः मिलता है। 'विक्रमोर्वशी' में उर्वशीकुमार के युवराज पदवी धारण करने में कुमारगुप्त के यौवराज्यप्राप्ति की ओर संकेत होना महेंद्र शब्द के विक्रमोर्वशी में असाधारण आधिक्य से प्रतीत होता है।

(२८) स्त्रीशिक्षा

प्राचीन तथा अर्वाचीन शिक्षा-पद्धति का भेद

[लेखिका—श्रीमती अन्नपूर्णा देवी जी]

भारतवर्ष में वैदिक काल ही से शिक्षा की महिमा गाई जाती है, और वेद वेदांग इत्यादि ग्रंथों के प्रमाणों से यही विदित होता है कि उस समय स्त्री तथा पुरुषों को समान शिक्षा दी जाती थी।

शिक्षा का क्षेत्र बहुत ही विस्तीर्ण है। पुरातन काल से लेकर आज तक बहुत से विद्वानों ने अपनी अपनी सम्मति इस विषय पर प्रकट की है और इस विषय में नित्य नए नए आविष्कार होते जा रहे हैं। नवीन प्रणाली के शिक्षकों का यही मत है कि जैसी शिक्षा प्रदान करनी चाहिए वैसी अभी तक पाठशालाओं में नहीं दी जाती। परंतु मेरा विषय प्राचीन तथा अर्वाचीन शिक्षा-पद्धति के भेद का कुछ वर्णन करना है। यह विषय बहुत ही विस्तीर्ण है और इसके भिन्न भिन्न भागों पर विद्वानों ने कितनी ही विचारपूर्ण पुस्तकों की रचना की है। यहाँ मैं यथाशक्ति सूक्ष्म रूप से हर एक प्रणाली का वर्णन करूँगी।

मैं प्राचीन शिक्षा-पद्धति के विषय पर विचार करने के लिये इतिहास की सहायता लूँगी क्योंकि भविष्य के कामों में सम्मति स्थिर करने के लिये इतिहास प्रधान सहायक है। ऐतिहासिक घटनाएँ ही विचारों को पुष्ट करती हैं। इसलिये प्राचीन शिक्षा के विषय में जहाँ तक प्राचीन से प्राचीन घटनाएँ मुझे मिलेंगी उन्हीं से मैं संक्षिप्त प्रमाण दूँगी।

सबसे प्रथम मैंने अपने विषय को तीन मुख्य कालों में विभाजित कर दिया है। (१) प्राचीन काल (२) मध्यम काल, जिस समय महात्मा तुलसीदासजी का जन्म हुआ था और भारत पर उनके पूर्व मुसलमानी राजाओं का राज्य था, (३) अर्वाचीन काल अथवा बीसवीं शताब्दी।

प्राचीन काल के भी तीन ऐतिहासिक विभाग हो सकते हैं। यथा (१) वैदिक और ऐतिहासिक काल (२) पौराणिक काल (३) बौद्ध काल।

मेरा मुख्य विषय शिक्षा-प्रणाली है परंतु इस विषय पर विचार करने के प्रथम देश की सामाजिक दशा की ओर दृष्टि डालनी होगी क्योंकि समाज तथा शिक्षा का परस्पर संबंध है। यदि किसी देश के स्त्री तथा पुरुष शिक्षित हैं तो वह देश अवश्य ही सामाजिक उन्नति करेगा। इसलिये सर्वप्रथम मैं यही प्रमाण दिखलाऊँगी कि प्राचीन काल में भारतवर्ष की सामाजिक दशा क्या थी। इससे स्वयं ही विदित हो जायगा कि उस समय शिक्षा किस प्रकार की दी जाती थी। रमेशचंद्र दत्त ने अपने 'प्राचीन भारत की सभ्यता के इतिहास' में लिखा है कि वैदिक काल में स्त्रियों का स्थान पुरुषों से किसी प्रकार कम न था। जिस प्रकार बालक यज्ञोपवीत के पश्चात् विद्याभ्यास के लिये गुरुकुल में प्रवेश करते थे उसी प्रकार बालिकाएँ भी विद्याभ्यास के लिये गुरुकुल में जातीं और ब्रह्मचारिणी होने का अधिकार रखती थीं। एक स्थान पर तो यह भी मिलता है कि जिस प्रकार बालकों का यज्ञोपवीत संस्कार होता था उसी प्रकार कन्याओं का भी होता था। वैदिक काल में उन स्त्रियों का वर्णन भी मिलता है जो स्वयं ऋषि थीं और पुरुषों की नाईं सूक्त बनातीं तथा हवन करती थीं। उस समय की स्त्रियों को सामाजिक उन्नति में बाधा डालनेवाले बंधन नहीं थे और न उनको अशिक्षिता रखने की प्रथा ही थी। जिस प्रकार बालकों के गुरुकुल होते थे उसी प्रकार कन्याओं के लिये भी थे। हम लोगों को कुछ ऐसी स्त्रियों के नाम भी मिलते हैं जो धार्मिक सूक्त रचती थीं और ऋग्वेद की ऋषि थीं। उस समय कोई धर्म-संबंधी आवश्यकता भी न थी कि प्रत्येक कन्या का विवाह हो। इसके विपरीत हमें ऐसी अविवाहित कन्याओं के भी वर्णन मिलते हैं जिन्होंने आजन्म गुरुकुलों में रहकर दूसरों को शिक्षा प्रदान की है।

प्राचीन काल में बालविवाह तथा पर्दे की कुरीति का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता परंतु इसके विपरीत ये प्रमाण मिलते हैं कि स्त्रियाँ पुरुषों की सभाओं में जाती तथा उनसे शास्त्रार्थ भी करती थीं। याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी की कथा से प्रतीत होता है कि स्त्रियों को ब्रह्मज्ञानी होने का भी पूर्ण अधिकार था। क्या महाराज जनक की सभा में जो गार्गी ने याज्ञवल्क्य मुनि से प्रश्न किए थे वे इस बात की पुष्टि नहीं करते कि स्त्रियाँ बड़ी बड़ी सभाओं में पुरुषों से प्रश्न कर सकती थीं?

वैदिक तथा ऐतिहासिक काल में स्त्रियों को सब प्रकार की विद्या सीखने का पूर्ण अधिकार था। महाराज मनु एक स्थान पर कहते हैं कि स्त्री नाना प्रकार के शिक्षण ग्रहण कर सकती है। इस बात की पुष्टि एक ऐतिहासिक घटना द्वारा होती है। जिस समय महाराज दशरथ युद्ध पर गए थे उस समय कैकेयी ही ने अपने बुद्धि-बल से रथ को ठीक किया था। इन सब सामाजिक प्रमाणों से यही प्रकट होता है कि इन कालों में स्त्रियों तथा पुरुषों को विद्या संबंधी समान अधिकार थे।

उस समय बालक तथा बालिकाओं को गुरुकुल में शिक्षा दी जाती थी। वे गुरुकुल नगर से दूर ऐसे स्थानों में निर्माण किए जाते थे जहाँ बालक तथा बालिकाएँ प्रकृति देवी की गोद में खेलते हुए सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त कर सकें। गुरुकुलों के संचालक महान ऋषि तथा ऋषि-पत्नियाँ होती थीं। उस समय अध्यापक धन के लिये विद्या की बिक्री नहीं करते थे। गुरुकुल राजाओं तथा धनवानों की सहायता से चलते थे। जिस प्रकार बालक अपने माता पिता के साथ प्रेम से रहते हैं उसी प्रकार गुरुकुलों में भी अध्यापक तथा उनकी पत्नियों के साथ रहते थे। गुरुकुल एक बड़े कुटुंब के समान होता था जिसमें बालक की शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा की ओर ध्यान दिया जाता था, न कि केवल मानसिक शिक्षा की ओर। उस समय बालक को ताड़ना देने की भी प्रथा

थी और विद्यार्थी के चरित्र को सब प्रकार उत्तम बनाने की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। जब बालक की शिक्षा पूर्ण हो जाती थी तब वह गुरुदक्षिणा देकर अपने लालायित संबंधियों के पास लौट जाता था।

इन बड़े बड़े गुरुकुल तथा परिषदों के अतिरिक्त एक एक शिक्षक भी छोटी छोटी पाठशालाएँ स्थापित करते थे जिनकी तुलना आजकल के प्राइवेट स्कूलों से दी जा सकती है, और इनमें बहुधा देश के भिन्न भिन्न भागों से विद्यार्थी एकत्र होते थे। जो विद्वान् वृद्धावस्था में वानप्रस्थ तथा संन्यास लेकर वनों तथा नदियों के किनारे एकांत स्थान में रहते थे उनके पास भी बालक शिक्षा ग्रहण करने के लिये एकत्र हो जाते थे। उस समय अधिक शिक्षा मौखिक दी जाती थी जिसको शिष्य गुरु के पश्चात् उच्चारण करते हुए कंठस्थ करते थे जिससे वेदों की शुद्धता बनी रहे। पुस्तकों की प्राप्ति के सरल साधन भी न थे। वेद, अष्टाध्यायी, महाभाष्य इत्यादि को कंठस्थ करने की रीति प्रचलित थी। इसी प्रकार आर्य लोगों द्वारा बहुत काल तक विद्या की उन्नति और वेदों की रक्षा हुई है। इन लोगों में जितना विद्या तथा ज्ञान का मान होता था उतना किसी दूसरी जाति में प्राचीन तथा नवीन समय में भी नहीं हुआ। शिक्षा की उन्नति की यह स्थिति वैदिक तथा ऐतिहासिक काल में थी। काव्यकाल में भी स्त्रियों की बड़ी प्रतिष्ठा थी और उस समय भी उनमें विद्या की उन्नति उच्च कोटि की थी।

उस काल में बालक तथा बालिकाओं को निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा दी जाती थी। मनु महाराज ने कहा है कि राजा को योग्य है कि सब कन्या तथा बालकों को उक्त समय से उक्त समय तक ब्रह्मचर्य में रखकर विद्वान् बनावे। राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् बालक तथा बालिका किसी के घर में न रहने पावें परंतु आचार्यकुल में रहें। इससे पूर्णतया विदित हो जाता है कि देश के राजा का कर्तव्य था कि अपनी प्रजा को विद्यादान करावे।

अब मैं वैदिक तथा ऐतिहासिक काल की शिक्षापद्धति के विषय में अधिक उल्लेख न करूँगी, क्योंकि उक्त प्रमाणों से यह स्पष्टतया विदित हो गया कि उस काल में स्त्री तथा पुरुषों का शिक्षासंबंधी समान पद था और दोनों ही विद्या रूपी निधि के समान अधिकारी थे। इन कालों में अर्थात् वेदों में अविद्या की निंदा बहुत मिलती है और विद्यादान ही सब दानों से श्रेष्ठ माना गया है।

पौराणिक काल में भी शिक्षा की उन्नति कुछ कम न थी। उस समय भी बालक तथा बालिकाओं को समान शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार था। स्त्रियाँ गानविद्या, चित्रकारी इत्यादि के साथ-साथ संस्कृत भी पढ़ती थीं जैसा कि पुरुष बहुधा और विद्याओं के साथ साथ गानविद्या सीखते थे। उस समय लिपि का प्रचार अधिक हो गया था इस कारण मुखस्थ शिक्षा न्यून होने लगी थी तो भी कंठस्थ करने की प्रथा पूर्वकाल के समान प्रचलित थी और मनोरमा, सारस्वत, कौमुदी इत्यादि वेदों के साथ साथ मुखस्थ कराए जाते थे। वेदों के अर्थज्ञान की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। चित्रकारी की विद्या के पुरुषों तथा स्त्रियों दोनों के जानने का उल्लेख मिलता है।

पौराणिक काल में भी ऐसी स्त्रियों के उल्लेख मिलते हैं जो पुरुषों के समान विदुषी थीं। दिग्विजयी शंकराचार्य को मंडन मिश्र की स्त्री ही ने शास्त्रार्थ में परास्त किया था। दूसरा उदाहरण महाकवि कालिदास की स्त्री विद्योत्तमा का मिलता है जिससे सब विद्वानों ने हार मानी थी। इन प्रमाणों से भी यही प्रगट होता है कि उस काल में भी दोनों को शिक्षा उच्च श्रेणी की दी जाती थी।

बौद्ध काल की ओर दृष्टि डालने से भी यही प्रगट होता है कि उस समय भी बालक तथा बालिका को समान धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। जिस प्रकार बौद्ध धर्म के भिक्षुक अपना जीवन संघों में रहकर व्यतीत करते थे उसी प्रकार स्त्रियों को भी भिक्षुणी होने

का पूर्ण अधिकार था। वे भी भिक्षुकों की नाईं संघों में रहकर अपना जीवन व्यतीत करती हुईं बौद्ध धर्म का ज्ञान प्राप्त करती थीं। इसके उदाहरण भी मिलते हैं। जिस समय महात्मा गौतम बुद्ध अपने पिता के राज्य कपिलवस्तु में गए उस समय पुरुषों के साथ साथ उनकी विमाता प्रजापति गौतमी तथा उनकी पत्नी यशोधरा ने भी गौतम के स्थापित किए हुए मार्ग को ग्रहण करने का अनुरोध किया था। उस समय गौतम बुद्ध के शिष्य आनंद ने उनसे पूछा, "हे प्रभु, क्या स्त्रियाँ सब गृहस्थ धर्म को छोड़ दें और धर्म के परिवर्तन अथवा मुमुक्षु होने का फल प्राप्त कर सकें ?" उस पर महात्मा बुद्ध ने यही उत्तर दिया, "हे आनंद, वे सब योग्य हैं।" उसके पश्चात् स्त्रियाँ भिक्षुओं के संप्रदाय में ले ली गईं और वे भी संघों में रहने लगीं। चाणक्य-नीति में लिखा है कि वे माता पिता जिन्होंने अपनी संतान को शिक्षा न दी, उनके पूर्ण वैरी हैं। दूसरा उदाहरण महाराज अशोक का मिलता है जिन्होंने अपने पुत्र महिंद तथा कन्या संहमिता को लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार करने को भेजा। वहाँ उन्होंने अध्ययन के लिये एक बहुत बड़ी गुफा खुदवाई। इन प्रमाणों से भी इसी बात की पुष्टि होती है कि उस काल में भी स्त्री तथा पुरुषों का शिक्षा-संबंधी समान पद था और उनकी शिक्षा में भी कोई भिन्नता न थी।

ईसा मसीह के जन्म के पूर्व ही बौद्धों ने भारतवर्ष में बड़े बड़े विहार तथा विश्वविद्यालयों (युनिवर्सिटीज़) की भी स्थापना की जिनके नाम नालंद और तक्षशिला विश्वविद्यालय थे। उनकी स्थापना आजकल की युरोपियन युनिवर्सिटीज् से कहीं पूर्व हुई थी। वहाँ हजारों विद्यार्थी साथ रहकर शिक्षा ग्रहण करते थे।

अब मैं प्राचीन काल की शिक्षापद्धति के विषय में अधिक न कहकर मध्य काल की ओर ध्यान आकर्षित करूँगी क्योंकि प्राचीन काल के शिक्षा संबंधी विषय में विद्वानों ने बृहद् ग्रंथ रचे हैं जो विद्वानों से छिपे नहीं हैं। इतिहास के मध्य काल से

मेरा तात्पर्य उस काल से है जिस समय भारतवर्ष पर मुगलों का आक्रमण तथा राज्य स्थापित हुआ। उसी काल में महाकवि तुलसीदासजी का जन्म हुआ था। यह बात सब को विदित है कि यवनों के भीषण अत्याचार ही के कारण उस समय देश की सामाजिक दशा शोचनीय हो गई और पर्दा बालविवाह इत्यादि कुरीतियों का पदार्पण समाज में हुआ। इतिहास में उस समय कहीं भी गुरुकुलों का उल्लेख नहीं मिलता। उस काल में पुरुषों की दृष्टि में स्त्रियों का पद निकृष्ट हो गया। महात्मा तुलसीदासजी ने रामायण में एक स्थान पर लिखा है "ढोल, गँवार, सूद्र, पसु, नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी।" इसमें तुलसीदासजी का कोई दोष नहीं है क्योंकि उस समय समाज की दशा ही ऐसी थी और उनके ऊपर उसका प्रभाव पड़े बिना न रहा। यवनों के अत्याचार के कारण शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन होने लगा और माता पिता स्वतंत्रतापूर्वक बालक तथा बालिकाओं को गुरुकुलों में शिक्षा न दे सकते थे और तभी से गुरुकुल-प्रणाली का भी पतन हुआ।

प्राचीन शिक्षा-प्रणाली पर विवेचन करने से यही विदित होता है कि बालक तथा बालिकाओं की शिक्षा उपनयन संस्कार के पश्चात् अथवा आठ वर्ष के पश्चात् आरंभ होती थी और अधिकांश शिक्षा कंठस्थ दी जाती थी। यद्यपि पुरातन काल में जन्म के पूर्व ही से शिक्षा संबंधी संस्कार बालक के हृदय पर अंकित करने का नियम रहा है तथापि आठ वर्ष के पहले की समस्त शिक्षा गृह ही में माता पिता द्वारा होती थी। वर्तमान काल में पुरातन प्रणाली का लोप होने पर भी आर्य समाज ने गुरुकुल इत्यादि की स्थापना करने का उद्योग किया है।

अर्वाचीन प्रणाली—आजकल विलायत तथा अमेरिका आदि देशों में नित्य नए शिक्षासंबंधी अनुसंधान तथा आविष्कार हो रहे हैं और विद्वान् शिक्षक नवीन पुस्तकें हर एक प्रणाली पर रच रहे हैं। उनकी सम्मति है कि बालक को दो या ढाई वर्ष की आयु से ही उचित शिक्षा देनी चाहिए।

लगभग अर्ध शताब्दी के पूर्व लोगों का यह विचार था कि बच्चे का मस्तिष्क एक मिट्टी के लोंदे के समान है और जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी से घड़े, खिलौने इत्यादि जो चाहे बना लेता है उसी प्रकार माता, पिता तथा अध्यापक भी अपने इच्छानुसार बच्चे के मस्तिष्क को मोड़ सकते हैं। परंतु आधुनिक अनुभवी विद्वान् शिक्षकों की सम्मति इसके विपरीत है। वे कहते हैं कि बच्चे की मानसिक शक्तियाँ उसके पूर्व जन्म के संस्कारों पर निर्भर हैं और वह प्रवृत्तियों के सहित उत्पन्न होता है। हमारे यहाँ अब यह सिद्धांत केवल नाम मात्र ही रह गया है। अध्यापक संसार में एक अनुभवी भाई के सदृश है और उसका केवल इतना ही कर्तव्य है कि बालक को उसकी शक्तियों का विकास करने में सहायता दे। इसी उद्देश्य पर मनन करते हुए छोटे छोटे बच्चों के लिये कई शिक्षा-प्रणालियों का आविष्कार हुआ है। अब भारतवर्ष में भी किसी किसी पाठ-शाला ने उन प्रणालियों पर ध्यान देना आरम्भ किया है और क्रमशः सफलता भी प्राप्त हुई है। उन मुख्य प्रणालियों के नाम ये हैं—(१) किंडरगार्टन अथवा फ्रोबल-प्रणाली, (२) मांटिसरी प्रणाली, (३) डेल्टन प्रणाली। तीनों प्रणालियों का उद्देश्य यही है कि बालक तथा बालिकाओं की शक्ति को जागृत करें और उनको इस प्रकार की शिक्षा दें जिसमें भविष्य में वे अपना व्यक्तित्व न खोवें। इन प्रणालियों द्वारा रटने के बोझ तथा ताड़न की रीति का विरोध किया जाता है।

हम लोगों की साधारण पाठशालाओं में बालकों को एक साथ समूह में शिक्षा दी जाती है। उसका परिणाम यह होता है कि वे अपनी व्यक्तिता को जागृत करने के बदले उसको नष्ट कर देते हैं और बड़े होकर, कुछ प्रतिभाशालियों को छोड़कर, किसी भी कार्य में श्रेष्ठता नहीं पाते। वर्तमान शिक्षाविषयक विद्वानों की यह सम्मति है कि यदि किसी देश की शिक्षा की ओर उचित ध्यान दिया जाय तो जेल, न्यायालय इत्यादि की कठिन समस्याएँ आपही

सुलझ जायँगी। इन्हीं सब उद्देश्यों को मनन करते हुए विद्वान् तथा विदुषियों ने नाना प्रकार के शिक्षासंबंधी नए नए आविष्कार किए हैं और वे अधिकांश सफलीभूत भी हुए हैं।

अब मैं इन तीनों प्रणालियों का वर्णन अलग अलग सूक्ष्म रीति से करूँगी क्योंकि प्रत्येक प्रणाली बहुत ही विस्तृत है और जब तक उसको प्रयोग करते समय अवलोकन न किया जाय तब तक पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है।

किंडर-गार्टन अथवा फ़ोबल प्रणाली—शिक्षा की नवीन प्रणालियों के अन्वेषणों में सबसे प्रथम इस प्रणाली का आविष्कार एक जर्मन विद्वान् मि० फ्रेडरिक फ़ोबल द्वारा हुआ। यह प्रणाली तीन से लेकर सात वर्ष के बच्चों के लिये है। उनका मत था कि बालक का जीवन अलग अलग भागों में विभक्त है और उनका परस्पर संबंध है, इसलिये यदि आप उसे श्रेष्ठ बनाना चाहते हैं तो बाल्यकाल ही से उसे उचित शिक्षा देनी चाहिए। कुछ लोग कहते हैं कि बालक की प्रारंभिक शिक्षा उसके माता पिता द्वारा ही होनी चाहिए, परंतु उनकी सम्मति थी कि बच्चों को पूर्णतया शिक्षा विदुषी माता भी नहीं दे सकती, क्योंकि बच्चे को उसी के समकालीन बच्चों के साथ रखकर समाज के लिये तैयार करना है और उसी के उपयुक्त उसे शिक्षा देनी चाहिए।

बच्चे का विशेष लक्षण चंचलता है जैसे शारीरिक चंचलता जिसमें अंगों को हिलाने डुलाने में उसे प्रसन्नता होती है; और दूसरी मानसिक चंचलता जिसमें वह प्रत्येक वस्तु को स्पर्श करना चाहता है और उसी के द्वारा उस वस्तु का ज्ञान प्राप्त करता है। बच्चा केवल वस्तु को स्पर्श करने ही से संतुष्ट नहीं होता परंतु वस्तु को तोड़कर उसकी सूरत बदलने में भी उसे विशेष आनंद आता है। इस कार्य से यह प्रगट होता है कि वह वस्तु को एक स्थिति में नहीं रखना चाहता। इसी अवस्था में बच्चे में मित्रता, प्रेम, चरित्रगठन इत्यादि की उत्पत्ति होती है। इस कारण इसी अवस्था में ऐसी शिक्षा

देनी चाहिए जिसमें ये गुण दृढ़ तथा उत्तम हो सकें। इस अवस्था में उसे बेडोर का नहीं छोड़ देना चाहिए परंतु उसे खेल ही के द्वारा शिक्षा देनी उचित है। इसलिये फ्रोबल साहब ने ऐसे खेलों का निर्माण किया जिसमें खेल के साथ ही साथ बच्चे को शिक्षा मिले। इस प्रणाली में सब कार्य बच्चे साथ साथ खेल ही द्वारा करते हैं और उनकी व्यक्तिता पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। वे बहुत से ऐसे छोटे छोटे खेल खेलते हैं जिनमें मनोरंजन के साथ साथ वे छोटी छोटी कविताएँ भी गाते तथा सीखते हैं। मिट्टी, कागज इत्यादि से खिलौने बनाने में उन्हें विशेष आनंद आता है।

जिस प्रकार माता पिता तथा परिवार का अधिकार बच्चे पर होता है उसी प्रकार समाज का भी उस पर स्वत्व है इस कारण बचपन ही से बालक को कुछ घंटे अपने समवयसी बच्चों के साथ खेलकर व्यवहार करना सीखना चाहिए। यह विचारकर उन्होंने ऐसी कक्षाओं की स्थापना की, और उनका नाम पाठशाला न रख किंडर-गार्टन रक्खा जिसके अर्थ बच्चों का 'उद्यान' है। जिस प्रकार किसी उद्यान में निपुण माली की सहायता से एक कोमल पौधा बढ़ता है उसी प्रकार एक निपुण अध्यापिका की सहायता से मानव पौधे की रक्षा इस बच्चों के उद्यान में होती है। मैंने यहाँ 'अध्यापिका' शब्द का प्रयोग इसलिये किया कि स्वभाव ही से स्त्रियों को बच्चों के ज्ञान का अनुभव प्राप्त है और वे ही बाल्यकाल में बच्चों को यथोचित तथा उपयुक्त शिक्षा दे सकती हैं। मैंने किंडर-गार्टन प्रणाली के मुख्य उद्देश्यों को ही यहाँ कहा है क्योंकि विषय बहुत ही गूढ़ है और बहुत विस्तार के साथ कहा जा सकता है।

मांटिसरी प्रणाली—इस प्रणाली का आविष्कार इटली की एक सुप्रसिद्ध विदुषी डाक्टर मांटिसेरी ने १८९८ ईसवी में किया था। वे एक अस्पताल में डाक्टर थीं और केवल ऐसे बच्चों की शुश्रूषा किया करती थीं जिनमें मानसिक विकार होता था। उन्होंने कुछ ऐसे

यंत्र बनाए जिनके प्रयोग से उन बच्चों में मानसिक परिवर्तन होने लगा। यह देख उन्होंने विचार किया कि जब ये बालक इस प्रणाली से लाभ उठा सकते हैं तो साधारण बच्चों पर इसका प्रयोग क्यों न किया जाय? पश्चात् उन्होंने इस वैज्ञानिक प्रणाली की उन्नति में तन, मन अर्पण किया और छोटे बच्चों की एक पाठशाला भी खोली। मांटिसरी प्रणाली दो वर्ष की अवस्था से लेकर आठ या दस वर्ष के बालक और बालिका के लिये है। डाक्टर मांटिसरी का मत यह है कि बालक एक व्यक्ति है और जिस प्रकार सात वर्ष के पश्चात् उसकी मानसिक शक्तियों का विकास होता है उसी प्रकार दो से सात वर्ष के भीतर उसकी चेतना शक्ति का विकास होता है। इसी प्रणाली द्वारा बालक की स्पर्श शक्ति, घ्राण शक्ति, रसना शक्ति, श्रवण शक्ति तथा दर्शन शक्ति के विकास में सहायता दी जाती है जिसमें बड़े होने पर बालक की सब शक्तियाँ सूक्ष्मदर्शी तथा निर्मल हों। इन शक्तियों के विकास के लिये भिन्न भिन्न सामग्रियाँ हैं जिनसे मनोविनोद के साथ साथ उसकी शक्तियों का विकास होता है। इस अवस्था में बालक की मानसिक शक्ति की उतनी जागृति नहीं होती जितनी चेतना-शक्ति की और यदि उसे एक पेंसिल देकर लिखवाया जाय तो जितनी कठिनाई उसे होगी उसका अनुभव हम नहीं कर सकते। इसी अवस्था में बालक की स्पर्श शक्ति की जागृति होती है और यही कारण है कि वह सब वस्तुओं को स्पर्श करने का प्रयत्न करता है परन्तु घर के बड़े लोग उसकी इस शक्ति की अवहेलना करते हुए सर्वदा यही कहते रहते हैं "यह मत छूओ, वह मत छूओ।" ऐसा सुनते सुनते बच्चा अपनी स्वाभाविकता को खो देता है।

इन शक्तियों के शिक्षण के लिये सदा बालक के चारों ओर सुंदर तथा उसकी शारीरिक शक्तियों के अनुसार वस्तुएँ रखनी चाहिएँ जिसमें वह अपने को उस गृह का स्वामी समझे और वस्तुओं को सुगमता से उठाकर उनका प्रयोग कर सके। पाठ-

शाला में ऐसी छोटी छोटी चौकियाँ, दरियाँ इत्यादि सामग्रियाँ होनी चाहिएँ जिनको बालक बिना किसी शारीरिक कठिनाई के इधर उधर कर सके। ऐसा करने से बालक उन वस्तुओं का ठीक तथा सुंदर उपयोग करना सीखेगा। इस प्रकार वह अपनी शक्तियों का विकास करता हुआ उनको स्वाभाविकता से प्रगट कर सकेगा। इसी विचार पर ध्यान देते हुए उन्होंने ऐसे यंत्र बनाए जिनका प्रयोग बालक सुगमता से कर सके और खेल के साथ साथ शिक्षा प्राप्त करे जिसमें बड़ा होकर अपने विचारों तथा शक्तियों को प्रगट करते हुए अपना शिक्षण अपने ही हाथों में ले लेवे। शिक्षक का कर्तव्य तो केवल इतना ही है कि बालक को अनुकूल सामग्री तथा स्थान देकर उसकी शक्ति के विकास का निरीक्षण करता रहे, और फिर बालक के व्यक्तित्व की उन्नति में सहायता दे न कि सर्वदा अपने विचारों का कोड़ा उस पर जमावे।

मांटिसरी सामग्रियों का निर्माण बालक की आयु के अनुसार हुआ है और उनका पारस्परिक संबंध है। दो या ढाई वर्ष के बालक में स्पर्श शक्ति की उत्तेजना अधिक होती है इसलिये उसके लिये ऐसे छोटे छोटे खिलौने रूपी यंत्र बनाए हैं जिनके द्वारा स्पर्श शक्ति की उन्नति हो। इस प्रकार आयु के अनुकूल जिस शक्ति के विकास की आवश्यकता हो उसी के लिये यंत्र बने हैं।

इस प्रणाली के तीन मुख्य उद्देश्य हैं—(१) स्वतंत्रता, (२) व्यक्तिगत कार्य (इंडिविजुवल वर्क) और (३) स्वकीय उद्योग।

यद्यपि बालक के व्यक्तित्व पर इतना अधिक ध्यान दिया जाता है तथापि शिक्षण में यह बात नहीं भुला दी जाती कि प्रत्येक स्त्री तथा पुरुष को संसार रूपी बृहद् परिवार में रहकर एक दूसरे की सहायता करना है। इसलिये व्यवस्थित बंधन की उत्पत्ति सर्वदा स्वतंत्रता से ही होनी उचित है। स्वतंत्रता के यह अर्थ नहीं हैं कि बालक कक्षा में जो चाहे करे। अध्यापक को उचित है कि बच्चे की स्वतंत्रता में तब बाधा डाले जब वह दूसरे बालक को हानि पहुँचाता

हो अथवा उसमें नम्रता तथा प्रेम का अभाव हो। बाल्यकाल से ही बालक तथा बालिकाओं को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए कि जिस प्रकार वस्तुओं पर उनका अधिकार है उसी प्रकार उन्हीं वस्तुओं पर दूसरों का भी स्वत्व है इसलिए सर्वदा दूसरों का ध्यान तथा उनका मान करना चाहिए। यह विचार बालक में तभी उत्पन्न होगा जब अध्यापक तथा अध्यापिकागण उनके मान तथा मर्यादा की ओर ध्यान देंगे। जिस प्रकार प्रकृति में भगवान् भास्कर का आगमन कोमल उषा से प्रगट होता है और पुष्प का कार्य उस समय परिपूर्ण होता है जब उसकी सुकोमल पँखड़ियाँ प्रथम बार एक एक करके खुलती हैं, उसी प्रकार मानव समाज का विकास तथा उसके कार्य की पूर्ति बच्चे के नन्हें नन्हें तथा सुंदर कार्यों में प्रगट होती है; और बालक अपनी शक्तियों का प्रकाश तभी कर सकता है जब वह स्वतंत्र हो।

व्यक्तिगत कार्य का अर्थ यह है कि कक्षा में कार्य करने के समय बालक जो चाहे स्वतंत्रतापूर्वक करे। यदि आप किसी मांटिसरी कक्षा में प्रवेश करें तो आप आश्चर्यान्वित हो जायँगे कि किस स्वतंत्रता तथा प्रसन्नता से प्रत्येक बालक तथा बालिका अपने अपने कार्य में लीन हैं और उनको आपके आगमन की भी सुधि नहीं है। एक बालिका आपको चित्र बनाती दिखलाई देगी, तो कुछ बालक पौधों में पानी देते हुए; कुछ गणित करते तो कुछ पढ़ते या लिखते दिखलाई देंगे। पृथक् पृथक् अपना अपना कार्य करने पर भी संपूर्ण कक्षा में शांति प्रगट होगी, क्योंकि प्रत्येक बालक कक्षा की शांतिरक्षा की ओर ध्यान देगा। यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि क्या कभी बालकों को एकत्र करके समूह में शिक्षा नहीं दी जाती? हाँ, दिवस में एक बार पूर्ण कक्षा के बालक तथा बालिकाओं को एकत्र करके शिक्षा दी जाती है जिसमें वे संसार में परस्पर मिलकर भी कार्य करना सीखें।

स्वकीय उद्योग—इसके यह अर्थ हैं कि बच्चा स्वतंत्रतापूर्वक अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करे जिसमें वह अपनी शक्तियों को प्रगट कर सके।

मांटिसरी पाठशाला किसी चित्रकार की चित्रशाला के सदृश है जहाँ बच्चे अपनी शक्ति के अनुसार परस्पर सलाह लेते हुए अथवा एक दूसरों के विचारों का आदर करते हुए अपनी चित्र-शाला के स्वामी हैं। प्रत्येक माता पिता तथा अध्यापक और अध्यापिका को सर्वदा इस विचार पर ध्यान रखना चाहिए कि बच्चा उनकी पूर्णाधिकृत संपत्ति अथवा दास नहीं है कि आपने जिस समय चाहा उसे ताड़ना दी और जब चाहा प्यार किया। जिस प्रकार संसार में हमें अपना कर्तव्य पूर्ण करना है उसी प्रकार वह भी भविष्य का एक नागरिक है और उसे भी अपने छोटे छोटे कार्यों द्वारा अपना कर्तव्य करना है। इस प्रणाली में भी स्त्रियाँ ही अधिकांश अध्यापिका होती हैं और बालक तथा बालिकाओं को साथ साथ शिक्षा दी जाती है। इससे बालकों में जो कन्याओं को निरादर करने का भाव होता है वह दूर हो जाता है और वे एक दूसरे का आदर करना तथा उनके गुणों का मान करना सीख जाते हैं और कन्याओं की स्वाभाविक कोमलता का प्रभाव बालकों के हृदय पर पड़ता है।

मैंने मांटिसरी प्रणाली के मुख्य मुख्य उद्देश्य यहाँ कहे हैं क्योंकि यह विषय बहुत विस्तीर्ण है और बिना इसका अध्ययन किए पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

ये दो मुख्य प्रणालियाँ तो बालक तथा बालिकाओं के बाल्य काल में उनकी क्रीड़ाओं के अवलोकन के साथ साथ शिक्षा प्रदान करने की हुई। अब जिस बालक तथा बालिका ने प्रारंभ से किंडर-गार्टन अथवा मांटिसरी प्रणाली द्वारा शिक्षा प्राप्त की है, उसको उच्च शिक्षा के लिये साधारण कक्षा में, जहाँ पुरानी रीति के अनुसार शिक्षा दी जाती है, प्रवेश करना कठिन हो जायगा और उसको कष्ट भी प्राप्त होगा। इस विचार पर ध्यान देते हुए एक और प्रणाली की स्थापना हुई है जिसका नाम डाल्टन प्रणाली है। इस प्रणाली की स्थापना मिस हेलेन पैस्कर्स्ट नामक अमे-

रिकन विदुषी के द्वारा हुई है। उनका भी यही विचार है कि विद्यार्थी को उसकी प्रवृत्ति के अनुसार शिक्षा देनी उचित है। जिनका कभी विद्यार्थियों से संपर्क रहा है उनके सम्मुख बहुधा विद्यार्थी संबंधी ऐसी कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं जिन पर निर्णय करना दुष्कर हो जाता है। उदाहरणार्थ—एक विद्यार्थी सब विषयों में परिपक्व तथा एक विषय में असमर्थ है, अथवा किसी विद्यार्थी ने अपने स्वास्थ्य अथवा कोई और कारणवश सब विषय समाप्त नहीं किए और कोई विद्यार्थी देर से पाठशाला में प्रविष्ट हुआ इत्यादि कितनी ही गूढ़ समस्याएँ अध्यापक के सम्मुख आ जाती हैं। डाल्टन प्रणाली ने इन कठिनाइयों को दूर कर दिया है। इस प्रणाली द्वारा विद्यार्थी अपनी शक्ति के अनुसार अध्ययन करता हुआ विषय में सफलता प्राप्त करता है। इस प्रणाली द्वारा ऐसी सुगमता से शिक्षा दी जाती है कि विद्यार्थी जिस विषय में असमर्थ हो उसमें अधिक समय व्यतीत करके सफलीभूत होता है।

प्रत्येक अध्यापक तथा अध्यापिका को पहली बात यह माननी ही पड़ेगी कि प्रत्येक विद्यार्थी की मानसिक योग्यता समान नहीं होती। कोई किसी विषय में निपुण होता है और कोई किसी में, इसी लिये सबको समान शिक्षा देना सर्वथा अनुचित है। दूसरी बात यह माननी होगी कि एक समय पर समस्त कक्षा एक विषय में ध्यान नहीं लगा सकती। कोई विद्यार्थी पाठशाला खुलने के प्रथम घंटे में कठिन विषय करना चाहता है और कोई सरल करना चाहता है। तीसरी बात यह है कि कुछ विद्यार्थी नित्य का कार्य तो बड़ी योग्यता से करते हैं परंतु परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाते हैं और कोई इसके विपरीत होते हैं। ये समस्त कठिनाइयाँ इस प्रणाली द्वारा दूर हो गई हैं।

डाल्टन प्रणाली से शिक्षक प्रत्येक विद्यार्थी की उन्नति की ओर ध्यान दे सकता है और विद्यार्थी भी अपनी शक्ति के अनुसार अपनी उन्नति में आनंद लेता हुआ अध्ययन का मूल्य समझता है।

अब मैं कुछ इस प्रणाली के कार्यक्रम के विषय में कहूँगी। इस पद्धति के संचालन के पूर्व पाठशाला में प्रत्येक विषय में उत्तम पुस्तकालय तथा हर विषय के विशेषज्ञ भी होने चाहिएँ। पश्चात् प्रत्येक विषय के अनुसार "सब्जेक्ट रूम" अर्थात् विषय-गृह भी नियुक्त कर देना चाहिए, जहाँ विद्यार्थी जाकर पुस्तकालय और विशेषज्ञ दोनों की सहायता से उन्नति कर सके।

दूसरे विद्यार्थी को पूर्ण स्वतंत्रता देनी चाहिए कि अध्ययन के घंटों में वह अपने इच्छानुसार जो काम चाहे प्रथम करे। इससे यह लाभ होगा कि वह अपने समय का कार्य-विभाग आप करना सीखेगा और जिस जिस विषय में उसे कठिनता होगी उसमें अधिक समय व्यतीत कर सकेगा। विद्यार्थी को अपने नित्य के कार्य की डायरी अर्थात् दिनचर्या रखनी होती है और प्रत्येक सप्ताह में वह उसे अपने शिक्षक को दिखलाता है जिससे दोनों को ज्ञात हो जाता है कि कितनी उन्नति हो रही है। साथ ही साथ अध्यापक को भी एक दिनचर्या रखनी होती है जिसमें वह प्रत्येक विद्यार्थी के विषय में निरीक्षण संबंधी अनुमति लिखता है। इससे दोनों में संबंध हो जाता है।

डाल्टन प्रणाली में कक्षाएँ नहीं होतीं—परंतु बालकों की उन्नति के अनुसार प्रत्येक विषय में श्रेणियाँ होती हैं जिससे जो विद्यार्थी जिस श्रेणी के योग्य है वह उसी का कार्य करेगा। जैसे यदि एक विद्यार्थी गणित में असमर्थ हो तो वह तीसरी श्रेणी का कार्य करेगा और मातृभाषा में निपुण हो तो छठी श्रेणी का कार्य कर सकता है।

हर एक विषय-श्रेणी आठ मास के कार्य में विभक्त की जाती है जिन्हें असाइनमेंट (अर्थात् पाठ्य-क्रमावधि) कहते हैं। पश्चात् वे प्रत्येक सप्ताह के कार्य में विभाजित कर दिए जाते हैं, जिससे प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि उसको दूसरी उच्च श्रेणी में पदार्पण करने के पहले इतना कार्य समाप्त करना है। उसको पूर्ण अधिकार है कि वह

जितनी शीघ्रता से चाहे अपनी शक्ति के अनुसार पाठ्य-क्रम समाप्त कर सकता है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि इतनी स्वतंत्रता देने से विद्यार्थी को जिस विषय में रुचि होगी वही वह सीखेगा, परंतु यह बात नहीं है। हर एक मास की पाठ्य-क्रमावधि की समाप्ति तथा नए पाठ्यक्रम को लेने के प्रथम उसे अपने शिक्षक के पास जाकर प्रत्येक विषय की सूचना देनी पड़ती है। यहाँ अध्यापक को देखना चाहिए कि उसने सब विषय पूर्णतया समाप्त किए अथवा नहीं। यदि न किए हों तो उसे समाप्त किए विषय में दूसरा पाठ्य-क्रम नहीं मिलता। इससे यह लाभ है कि वह जिस विषय में निपुण है उसे शीघ्रता से समाप्त कर दूसरे कठिन विषयों में अपना समय व्यतीत करता है।

डाल्टन-प्रणाली में नित्य कुछ घंटे तो स्वाध्ययन के लिये बाँट दिए जाते हैं और कुछ घंटे संपूर्ण कक्षा को साथ शिक्षा दी जाती है जिसे कान्फरेंस पीरियड अथवा ग्रूप वर्क अर्थात् "समूह-कार्य" कहते हैं। इनमें अध्यापक विद्यार्थी की कठिनाइयों को सुलझाते तथा आगामी पाठ पढ़ाते हैं।

अब आप लोग समझ ही गए होंगे कि इस प्रणाली द्वारा वार्षिक परीक्षा की कोई आवश्यकता नहीं है। जैसे ही विद्यार्थी जिस विषय की पाठ्यक्रमावधि को समाप्त कर लेता है, उसे दूसरी उच्च श्रेणी में प्रवेश करने का अधिकार है।

वर्तमान काल में शिक्षा देने की ये तीन मुख्य पद्धतियाँ प्रचलित हैं। युरोप तथा अमेरिका में तो इन प्रणालियों का प्रचार बहुतायत से हो रहा है परन्तु भारतवर्ष में गिनती की पाठशालाओं तथा शिक्षकों ने अभी इस ओर ध्यान दिया है। आशा है कि वे भी इन प्रणालियों में अनुभूति प्राप्त करते हुए नए नए शिक्षा संबंधी आविष्कार करेंगे। जिन बालक तथा बालिकाओं को इन पद्धतियों द्वारा शिक्षा दी जायगी वे विद्यारूपी निधि को ग्रहण करने में आनंद प्राप्त करते हुए यथाशक्ति उद्योग करेंगे और भविष्य में अपने व्यक्तित्व को न खोते हुए विचारवान् बनेंगे।

पद्धति-भेद—प्राचीन काल में प्रारंभ ही से बालक तथा बालिकाओं को भिन्न भिन्न संस्थाओं में शिक्षा दी जाती थी और आजकल नवीन पद्धतियों द्वारा उनको "को-एडुकेशन" अर्थात् साथ साथ शिक्षा देने का प्रयत्न हो रहा है। यह विषय बड़ा ही जटिल है और इसमें अनुभवी विशेषज्ञ ही अपनी अनुमति दे सकते हैं। प्राचीन काल में कंठस्थ कराने की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। इसकी पुष्टि में विद्वानों की सम्मति थी कि वैदिक काल में लिपि का निर्माण नहीं हुआ था। वेदों का ज्ञान प्रारंभ में बिना लिपि के ऋषियों को प्राप्त हुआ और इसी कारण समस्त शिक्षा मुखस्थ दी जाती थी, परंतु श्रीमान् रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझाजी ने अपने अनुसंधान तथा अनेक प्रमाणों से पुरातत्ववेत्ताओं को चकित कर दिया है। उनकी सम्मति है कि वैदिक काल ही में लिपि का निर्माण हो गया था, तब भी वेदों को सुरक्षित रखने तथा उच्चारण को शुद्ध रखने के लिये कंठस्थ करने की प्रथा प्रचलित थी; परंतु नवीन पद्धति के अनुसार इस रीति का विरोध किया जाता है। परंतु बिना समझे रटाने से बुद्धि के विकास में न्यूनता आ जाती है अर्थात् मुखस्थ किए विषय का ज्ञाता तो वह अवश्य हो जाता है परंतु संसार में उसकी बुद्धि की तीव्रता तथा उसके विस्तीर्ण ज्ञान में न्यूनता आ जाती है।

प्राचीन काल में बालक तथा बालिकाओं की आठ वर्ष से पूर्व की प्रारंभिक शिक्षा गृहों में माता पिता ही द्वारा होती थी। उपनयन संस्कार के पश्चात् गुरुकुलों में प्रवेश करने पर छात्र की रुचि के अनुसार शिक्षा नहीं दी जाती थी, वरंच निश्चित पद्धति के अनुसार ही प्रत्येक विद्यार्थी को अध्ययन करना पड़ता था, परंतु छात्र को योग्यता प्राप्त करने के पश्चात् रुचि के अनुसार गुरु ब्रह्मज्ञान तथा शस्त्रविद्या की शिक्षा देते थे। अब वर्तमान काल में दो या ढाई वर्ष की अवस्था ही से बच्चे की शिक्षा पाठशालाओं में आरंभ होती है और बालक के सम्मुख ऐसे साधन रखे जाते हैं

जिसमें वह अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को प्रगट कर सके। पश्चात् उसकी रुचि के अनुसार उसे शिक्षा दी जाती है।

पुरातन काल में बच्चे को ताड़ना देने की प्रथा भी प्रचलित थी, परंतु वर्तमान काल में बालक की मानसिक उन्नति के लिये शारीरिक दंड न देकर ऐसी रीतियों का प्रयोग किया जाता है जिसमें वे स्वयं अपनी भूलों का ज्ञान प्राप्त कर सकें। शारीरिक दंड देने से यह प्रमाणित हुआ है कि बच्चे तुतलाते, डरपोक तथा हठी हो जाते हैं, और उनकी प्राकृतिक बाढ़ में बाधा पड़ती है जिससे उनकी स्वाभाविकता भी नष्ट हो जाती है।

जिस प्रकार प्राचीन काल में बालक तथा बालिकाओं की शिक्षा में कोई अंतर नहीं था उसी प्रकार वर्तमान काल में भी उसमें कोई विशेष भेद नहीं है।

भारतवर्ष में आजकल सामाजिक कुरीतियों के कारण स्त्रियों का शिक्षा संबंधी पद पुरुषों से कम हो गया है परंतु आशा है कि शीघ्र ही भविष्य में वे दोनों समान पद के अधिकारी होंगे, और प्राचीन तथा अर्वाचीन पद्धतियों पर मनन करते हुए विशेषज्ञ गण राष्ट्र की संतानों की उन्नति के लिये उपयुक्त शिक्षापद्धतियों का अनुसंधान करेंगे।

(२६) लंका की स्थिति पर विचार

[लेखक—श्री हरिचरणसिंह चौहान]

आजकल भारतवर्ष के कुछ विद्वानों को अधिक विद्या पढ़ने से अजीर्ण सा होता जा रहा है। वे बिना संकोच और बिना विचारे प्राच्यविद्याविशारदों की लीक पर चलने लग गए हैं। प्राच्य-विद्याविशारद जो कुछ खोज हमारे देश में करते हैं, वे अपनी प्राच्य बुद्धि से करते हैं-हिंदुस्थानियों को अपने देश की खोज अपनी हिंदु-स्थानी बुद्धि और हिंदुस्थानी सिद्धांत के अनुसार करनी चाहिए।

कुछ काल से प्राचीन इतिहास और प्राचीन नगरों की खोज का सिलसिला जारी है। बहुतेरे लोग तो अपने गुरु युरोपीय प्राच्यविद्या-विशारदों की लीक व लीक चलने में अपना सौभाग्य समझते हैं और कुछ लोग वास्तविक खोज प्राचीन लेखों, सिक्कों (मुद्राओं) और प्राचीन चिह्नों (भूगर्भ से प्राप्त) के आधार पर करते हैं। और यही खोज, खोज समझी जा सकती है। अतः इसी विषय पर आज हम अपने कुछ विचार प्रगट करते हैं।

कुछ वर्ष पूर्व किसी महाशय ने मानव द्वीप का वर्णन करने में अपने पांडित्य का परिचय दिया था। उन महाशय ने आर्य्यावर्त को भारतवर्ष से खैंचकर पारस देश में जा पटका है। इसी प्रकार सुमेरु पर्वत को अरब देश में, खांडव वन को बसरा में, मथुरा को पारस की खाड़ी के पास उमान प्रांत में, और गिरिव्रज (मगध की राजधानी) को उसके पश्चिमोत्तर में जा फेंका है। उक्त महाशय ने जैसे उमान प्रांत को उमा (पार्वती) के नाम में परिवर्तन करके तोड़ मरोड़ की है वैसे ही पाश्चात्य विद्वानों के आधार पर प्रत्येक स्थान के नाम में भी खींचातानी की है। मथुरा को गोकुल से इतनी दूर पहुँचाने में जो उन्होंने स्वामी दयानंद सर-

स्वती के भागवत के नाम से नवीन गढ़ंत श्लोक* का सहारा लिया है, कि अक्रूर का रथ वायुवेग से सबेरे का चला शाम को गोकुल पहुँचा, ठीक नहीं है, क्योंकि, रथ का नाम वायुवेग था जैसे आजकल मोटरों के नंबर उनके नाम हैं। भागवत में वर्णित कृष्ण-जन्म की कथा में स्पष्ट लिखा है कि, वसुदेवजी आधी रात के समय कृष्ण को लेकर गोकुल गए और उन्हें यशोदा की खाट पर सुलाकर और उनकी सद्य:प्रसूता कन्या को लेकर उल्टे पैर मथुरा चले आए, और दिन निकलने से पहले अपने बंदीगृह में पहुँच गए। इससे गोकुल की दूरी का पता अच्छे प्रकार लग सकता है पर विचार करे कौन ? खैर इस विषय को यहाँ ही छोड़ना उचित है।

अब कुछ दिनों से कुछ विद्वानों को लंका की खोज की भी जरूरत पड़ी है। वे भी इसी प्रकार खींचातानी कर अपनी अट-कलपच्चू दलीलों के आधार पर लंका को समुद्र में से घसीटकर भारतवर्ष के विविध प्रांतों में बताने लगे हैं। यही नहीं बल्कि वाल्मीकि रामायण के कुछ असंबद्ध श्लोकों का सहारा लेकर अपने सिद्धांत की पुष्टि भी करने लगे हैं।

स्मरण रहे कि वाल्मीकिजी ने जो रामायण बनाई वह श्री रघु-नाथजी के साथ साथ स्वयं भ्रमण करके नहीं बनाई थी कि, जिससे सब स्थानों का ठीक ठीक पता लग सके। इसी लिये श्रीरामचंद्र आदि के भ्रमण के स्थानों में दिन रात का फरक आता है। यदि उसे विचार के साथ देखा जाय तो वे स्थान क्रमबद्ध कहीं न मिलेंगे—विश्वामित्र के यज्ञ की पूर्ति कराकर श्रीराम लक्ष्मण को मिथिला पहुँचाने में पहले गंगा को और फिर सोननद को पार उतारा गया है; जो बिल्कुल विप-रीत मार्ग है। इसी प्रकार भरतजी का उनके नाना के वहाँ केकय देश में आने जाने का मार्ग भी है। हमारे शोधकों को हिंदुस्थान का नकशा सामने रखकर रामायण के मार्गों का विचार करना चाहिए, तब सहज ही पता लग जायगा कि वे मार्ग ठीक नहीं हैं।

---

* रथेन वायुवेगेन जगाम गोकुलं प्रति।—भागवत।

इसके सिवाय रामायण एक काव्य ग्रंथ है जो रामरावण-युद्ध के रूप में बनाया गया है। हम आस्तिक लोग भगवान् राम को ईश्वर का अवतार और रामायण को अपने पूर्वजों की कीर्ति मानकर अभिमान कर सकते हैं, और उसके अनुसार आचरण कर सन्मार्ग प्राप्त कर सकते हैं—परंतु ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो राम और रावण का समय एक नहीं माना जा सकता; क्योंकि, रावण ब्रह्मा जी की चौथी पीढ़ी में हुआ था अर्थात् ब्रह्मा का पुत्र पुलस्त्य, इसका विश्रवा और विश्रवा का पुत्र रावण हुआ, इधर ब्रह्मा का पौत्र कश्यप और कश्यप के पुत्र सूर्य से लगभग ६० पीढ़ी में श्री रघुनाथ-जी हुए। इसलिये दोनों के समय में दिन रात का अंतर है। अतः हमारे शोधक लोगों को चाहिए कि लंका का पता लगाने के बनिस्बत पहले राम और रावण की उम्र का तो पता लगा लें। वे कहाँ तक समकालीन सिद्ध होते हैं।

रामायण के आधार पर राम रावण के युद्ध का समय निश्चय किया जाय और राय बहादुर बाबू हीरालालजी के लिखे अनुसार त्रेता युग का अंतिम समय भी मान लिया जाय, तो भी युगमान के अनुसार द्वापर युग के ८६४००० वर्ष और कलियुग के आज तक ५०२६ वर्ष और दोनों का योग हुआ ८६६०२६ वर्ष। इतने वर्षों के बने हुए स्थानों का पता लगाना आकाश-पुष्प के समान है। तब सहसा यह अनुमान कर लेना कि अमरकंटक के पहाड़ पर लंका गढ़ के खँडहर तथा लक्ष्मणेश्वर का मंदिर मौजूद है, केवल कल्पना मात्र ही है। यदि लक्ष्मणेश्वर का मंदिर और अमरकंटक के पहाड़ पर लंका गढ़ के खँडहर मौजूद हैं तो सूखे हुए समुद्र के दलदल पर श्रीरामचंद्र जी का बनवाया हुआ सेतु का चिह्न भी अवश्य होना चाहिए, और रामेश्वर जिसकी स्थापना का रामायण में वर्णन है, उसके होने में तो शंका करना व्यर्थ ही है—वह तो होना ही चाहिए। क्या इन्हें वहाँ शोधकों ने शोध निकाला है अथवा नहीं ?

इसी प्रकार गोंड़ों को रावण के वंशधर मान लेना भी भूल ही है, क्योंकि बालकपन से सुनते चले आते हैं कि—"इक लख पूत सवा लख नाती। वा रावण घर दिया न बाती।" कवि गंग ने भी लिखा है कि "टूट गई लंका फूट मिलो विभीषण आय रावण समेत वंश आसमान को गयो।" फिर रामायण से यह भी पता चलता है कि रावण का कुटुंब सहित नाश हो गया, उसका और उसके वंशजों का अंत्येष्टि कर्म भी श्रीरामचंद्रजी की आज्ञा से विभीषण ने किया था, तब उसका वंश कहाँ से चला? संभव है रावण नाम का कोई व्यक्ति गोंड़ों के पूर्वजों में भी हुआ हो, और गोंड़ उसके वंशज हों, परंतु जिस रावण का रामायण में वर्णन है वह रावण अपने सब बेटे पोतों का नाश कराकर अंत में रामचंद्रजी के हाथ से मारा गया था, ऐसी अवस्था में गोंड़ों को उसका वंशज मानना भूल ही है।

याकोबी साहब किसी महेंद्र पर्वत के आधार पर लंका को आसाम में ले गए हैं। अलवर इतिहास कार्य्यालय के भूतपूर्व स्वर्गवासी हाकिम राजरत्न मुंशी जगमोहनलालजी साहब अलवर गिरदुर्ग के पीछे रावण देवरा नामक एक खँडहर खेड़े को रावण का जन्मस्थान मानते थे। वे वहीं के रेणी नामक एक छोटे से कसबे को रेणुका आश्रम और उसकी पहाड़ी को रेणागिर, तथा परशुराम जी का जन्मस्थान बतलाते थे; और कहते थे कि राजपूताने में पहले समुद्र था जो सूख गया; यहीं पर लंका थी। अब भी स्वर्णगिर पर्वत सिरोही राज्य में है। कुछ लोग जावा, सुमात्रा, लका (लंका) द्वीप, मालद्वीप, मलाया प्राय:द्वीप, आदि को लंका अनुमान करते हैं। राव बहादुर किबे महोदय ने अमरकंटक की चोटी पर लंका गढ़ का होना और वहाँ के एक बड़े दलदल को प्राचीन सागर मानकर छत्तीसगढ़ के जिले में लंका का अनुमान किया है। ऊपर लिखे हुए महाशयों के ये अनुमान ही अनुमान थे, पर अब राय-बहादुर बाबू हीरालालजी साहब ने छत्तीसगढ़ के जिले में लंका

का होना दृढ़ निश्चय कर नागरीप्रचारिणी सभा के 'कोशोत्सवस्मारक-संग्रह' में अपना लेख छपाया है।

वे लिखते हैं कि "इसके उत्तरी छोर पर अयोध्या और दक्षिणी छोर पर अमरकंटक है जो बघेलखंड के अंतर्गत है। अमरकंटक के परे छत्तीसगढ़ का प्रांत है जो प्राचीन काल में महाकोशल कहलाता था। त्रेतायुग में राम उत्तर कोशल के छोर से पैदल चलकर दक्षिण या महाकोशल की सीमा पर पहुँचे और उन्होंने उस सम्राट् को, जिसने उनकी प्रिय पत्नी का हरण कर लिया था, हराकर विजय का डंका बजाया और उभय कोशलों का आधिपत्य प्राप्त कर प्रजापालन और शासन का वह नमूना दिखला दिया जो "रामराज" शब्द के उच्चारण करते ही प्रत्येक हिंदू के हृदय में आदर्श का चित्र खड़ा कर देता है।" "रावणीय लंका के अमरकंटक होने का दावा दृढ़तर है।"

रायबहादुर बाबू हीरालालजी के उपर्युक्त नोटों से साबित है कि, दक्षिण कोशल में रावण का राज्य था और वहीं लंका थी। सामुद्रीय लंका अर्थात् सीलोन (सिंहल द्वीप) को लंका से पृथक् बतलाने में उन्होंने कवि राजशेखर* के बालरामायण नामक नाटक के आधार पर सीतास्वयंवर के समय राजशेखर नामक सिंहल के राजा का वहाँ उपस्थित होना मानकर रावण द्वारा राजशेखर को इस प्रकार ताना मारकर—"रावण, सिंहलपते किमिदं संदिह्यते। न च संदेहो वीरवृत्त-निर्वाहः।" लंका को सिंहल से पृथक् सिद्ध किया है। पर बाबू साहब ने कवि राजशेखर के काव्य को तो इतना प्रामाणिक मान लिया कि जिसके आधार पर लंका का सिंहल से पृथक् होते ही उसको समुद्र में से निकालकर दक्षिण कोशल में ला पटका, और रामायण बालकांड के पुत्रेष्टि यज्ञ के प्रकरण में राजा दशरथ द्वारा

* राजशेखर का समय दसवीं शताब्दी के आस पास है।

निमंत्रण किए हुए नरेशों में कोशल देश और उसके राजा भानुमंत का स्पष्ट नाम रहते भी, उसका नाम उसके देश से मिटा दिया और रावण को लंका सहित कोशल का राजा बना डाला। अतः इस रामायण बालकांड के नीचे लिखे हुए श्लोक* से रावणीय लंका का अमरकंटक में होने का उनका माना हुआ दृढ़ दावा कावा खा जाता है।

आपकी एक दलील यह भी है कि बड़े बड़े तालाब सागर कहलाते हैं और दंडकारण्य ऐसे सागरों से भरा हुआ था, वहाँ अभी तक बड़े बड़े तालाबों की बहुतायत है तथा वे दंडक शब्द का शावरी भाषा के अनुसार "जलमय" या "जलप्लावित" अर्थ करते हैं। परंतु देशकाल-भेद से दंडक के कई अर्थ होते हैं। इधर ग्वालियर राज्य और कोटा राज्य के शाहबाद जिले में डाँग है जो दडक वन का ही रूप है। वहाँ पहाड़ी भूमि में बड़े बड़े खार और खड्डे हैं जिनमें हाथी तक गायब हो जाते हैं। तब "दंडक" शब्द का जलमय भूमि का अर्थ कहाँ रहा? इसी प्रकार सागर और तालाबों का वर्णन हर एक प्रांत में आपको मिल सकता है। फिर आपने यह निश्चय कैसे कर लिया कि उस प्रांत के बड़े बड़े तालाब—जिनको आप सागर की पदवी से संबोधन करते हैं—राम और रावण के जमाने के ही कुदरती बने हुए हैं, कृत्रिम नहीं हैं, और सागर जिला क्या वास्तव में सागरों के कारण ही सागर कहलाया है अथवा दूसरा कारण किसी नामविशेष से है? कीर्तिसागर, लछमनसागर, आदि नामों से तो यही प्रतीत होता है कि ये सागर किसी विशेष मनुष्य के बनवाए हुए हैं, जैसे राजपूताने में आना सागर, जयसमुद्र, राजसमुद्र, जैतसागर, जोधसागर, आदि आदि। राम के जमाने में लंकातटस्थ जलाशय का विस्तार सौ योजन बतलाया गया है परंतु आप शत योजन शब्द को अनुमान का संकेत मानते हैं और लिखते हैं कि

* "तथा कोशलराजानं भानुमंतं सुसत्कृतम्। मगधाधिपतिं शूरं सर्वशास्त्रविशारदम् ॥"—श्लोक २६ सर्ग १३ बालकांड।

उससे इतना ही बोध होता है कि उसका विस्तार अन्य तालावों से बड़ा था। इस बड़े शब्द से शायद आपका अनुमान दो चार मील से हो, क्योंकि, मामूली तालाब एक आध मील से अधिक नहीं हो सकते; और जब सागर का विस्तार दो चार मील माना जाय तो उसके बीच का टापू अधिक से अधिक एक मील हो सकता है, परंतु रामायण में लंका गढ़ का विस्तार १०० × ३० योजन लिखा है*। इसको भी आपके लिखे अनुसार दुर्गों (गढ़ों, किलों) से बड़ा मान लें तो भी अमरकंटक के दलदलवाले गढ़ से कहीं अधिक बड़ा हो सकता है। शत योजन शब्द से तो आपने अन्य से बड़ा मान लिया, परंतु यहाँ साथ में ३० और सौ योजन का विस्तार है जो अनुमान का संकेत नहीं करता, सीमा बाँधता है—जिसका समावेश अमरकंटक के दलदल के बीच में नहीं माना जा सकता।

इसके सिवाय रामायण में लंकापुर के निवासियों की संख्या विभीषण के कथन से इस प्रकार मालूम होती है कि मांस रुधिर भक्षण करनेवाले दश करोड़ हजार राक्षस लंकापुर में निवास करते थे†। रामायण के इस कथन की पूर्त्ति वे अमरकंटकी लंका में किस प्रकार बैठाल सकेंगे? विभीषण के अलावा हनुमानजी ने भी लंकागढ़ के उत्तर द्वार के राक्षसों की संख्या दश अर्बुद बतलाई है‡। इन संख्याओं को भी आपके पूर्व लिखे अनुसार अनुमान का ही संकेत मान लेवें, तब भी लाखों की संख्या तो माननी ही पड़ेगी। क्या अमरकंटकवाले लंकागढ़ में इन लाखों की संख्या का समावेश हो सकता है? चाहे दो चार १० लाख जनसंख्या इस समय उक्त प्रांतों की हो सकती है सही, पर न तो उसका समावेश दल-

---

* शकुनैरपि दुष्प्रापे टंकच्छिन्नचतुर्दिशि। त्रिंशद्योजनविस्तीर्णा शतयोजनमायता ॥ २४ ॥—उत्तरकांड ५ वाँ सर्ग।

† दशकोटिसहस्राणि रक्षसां कामरूपिणाम्। मांसशोणितभक्षाणां लंकापुरनिवासिनाम् ॥

‡ न्यर्बुदं रक्षसामत्र उत्तरद्वारमाश्रितम् ॥२७॥—युद्धकांड तीसरा सर्ग।

दली लंका में ही हो सकता है और न अमरकंटक के पहाड़ी किले के खँडहरों पर ही।

प्राचीन लेखों में लंका की स्थिति लवणसागर में बतलाई गई है। लवणसागर का अर्थ ही खारा समुद्र है जो सिवाय समुद्र के और कहीं नहीं हो सकता, पर राम की दैवी शक्तियों का मनन करके रायबहादुर बाबू हीरालालजी साहब ने अमरकंटक के दक्षिण में लवण नामक परगना भी ढूँढ़ ही निकाला जिसकी भूमि आस पास की भूमि से कुछ नीची होने के कारण प्राचीन काल में पानी भरा रहने की उसमें उनको संभावना करनी पड़ी। भरतपुर राज्य की भूमि अभी तक इतनी नीची है कि कोसों तक पानी ही पानी दृष्टिगत होता है, और यदि किसी पहाड़ या ऊँचे स्थान से देखा जाय तो, वास्तव में वह समुद्र ही जान पड़ता है, और केवल यही नहीं उस जमीन में खार भी इतना है कि जिसके कारण लाखों मन खारी नमक बनता था जो अब बंद है और जिसके हर्जाने के पाँच सौ मन नमक के सिवाय १५००००) डेढ़ लाख रुपए भारत गवर्मेंट भरतपुर राज्य को प्रति वर्ष देती है। ऐसी दशा में तो भरतपुर राज्य के भी उस भूभाग में लवणसागर मानकर वहाँ भी लंका को ला पटका जा सकता है, क्योंकि यहाँ भी लक्ष्मणजी के मंदिर मौजूद हैं और साँभर नामक झील है और उसके बीच का टापू जिस पर शाकंभरी देवी का मंदिर है लंका मानी जा सकती है।

रायबहादुर बाबू हीरालालजी साहब खरोद गाँव के लक्ष्मणेश्वर के मंदिर का आधार लेकर रामेश्वर के मंदिर के वहाँ होने की भी भावना उत्पन्न करके लिखते हैं कि "उसके आस पास रामेश्वर मंदिर भी कहीं रहा होगा। उसको उस स्थल पर होना चाहिए जहाँ पर से राम ने सेतु बाँधने का काम आरंभ किया था—कालांतर में सेतु तथा जलाशय आदि के मिट जाने पर क्या मंदिर का मिट जाना कोई आश्चर्य की बात है, हम कहते हैं कोई नहीं। पर आश्चर्य की बात तो लक्ष्मणेश्वर जी के मंदिर के अब तक विद्यमान

रहने की है; क्योंकि कालांतर में सेतु तथा जलाशय और राम के मंदिर मिट जा सकते हैं पर लक्ष्मणेश्वर का मंदिर नहीं।"

राय बहादुर साहब की एक दलील यह भी है कि "आर्य लोगों ने वायव्य की ओर से इस देश में प्रवेश किया और ज्यों ज्यों वे आगे बढ़ते गए, त्यों त्यों वे जंगली मूल-निवासियों को हटाते गए।" "जान पड़ता है कि रामचंद्र के होने तक उन्होंने विंध्य के उत्तरीय प्रांतों में अधिकार जमा लिया था। इसके पश्चात् उन्होंने आगे बढ़ने का विचार किया, और मार्ग खोलने के लिये विंध्य के पार निविड़ जंगलों में ऋषि मुनियों को मिशनरियों की भाँति पठवाना आरंभ किया, परंतु मूल-निवासियों ने इसको अपने अधिकार पर आक्रमण समझा, बहुतेरों को उन्होंने मार भी डाला आदि।" राय बहादुर साहब का इससे तात्पर्य यही है कि आर्य लोग वायव्य कोण से भारतवर्ष में आए, और रामचंद्रजी के समय तक विंध्य के आगे नहीं बढ़ सकते थे, क्योंकि इनको वे राक्षस (मूल-निवासी) खा जाते थे। खेद इस बात का है कि आजकल के विद्वान् लोग अपने पाश्चात्य गुरुओं के वाक्यों के आधार पर आर्यों को वायव्य कोण से आया हुआ विदेशी सिद्ध करते हैं और यहाँ के मूल-निवासयों को शूद्र राक्षस दैत्य आदि बतलाने में संकोच नहीं करते; पर आज तक किसी विद्वान् ने यह सिद्ध नहीं किया कि, अमुक अमुक नामधारी आर्यों ने सबसे प्रथम भारतवर्ष में प्रवेश किया था। जैसे कि यवनों में सिकंदर, मुसलमानों में खलीफाओं के सेनापतियों के नाम पाए जाते हैं, वैसे ही किसी आर्य का नाम भी तो होना चाहिए—पर कोई बतला नहीं सकता। इसके विपरीत हमारे यहाँ पुराणों, स्मृतियों और काव्यों आदि में सृष्टि के विकास का इतिहास भरा पड़ा है। उससे तो यही प्रकट होता है कि आर्यों के अमुक अमुक नरेशों की अमुक अमुक संतान ने उदीच्यादि देशों में अपना वंशविस्तार कर वहाँ अपना आधिपत्य जमाया। तब वायव्य कोण से भारतवर्ष में लाकर आर्यों को बसाना केवल

पाश्चात्य विद्वानों का आर्यों को अपने माफिक विदेशी बताकर उन (आर्यों) के मौरूसी अधिकारों को अपहरण करना है और बिना विचारे हम लोग भी उन्हीं की लकीर के फकीर बनते जाते हैं।

राय बहादुर साहब को स्मरण रखना चाहिए कि सबसे पहले अगस्त्यजी ने विंध्य पर्वत को उल्लंघन कर दक्षिण समुद्र के तट पर अपना धर्मकृत्य किया था, और ये मित्रावरुण के पुत्र थे और श्रीरामचंद्रजी से दीर्घ काल पहले हुए थे। रावण स्वयं बड़ा पंडित और ब्रह्मा के पुत्र पुलस्त्य का पोता था, जिसने दक्षिण समुद्र में अपना राज्य स्थापित किया था। फिर जिनको दक्षिण के मूल-निवासी बतलाकर बहुधा लोग अनार्य्य की पदवी देते हैं, उनकी उत्पत्ति भी किसी ने आर्यों से पहले सिद्ध नहीं की है, तब सृष्टि की उत्पत्ति से पहले ये अनार्य्य लोग कहाँ से पैदा हो गए? पहले आर्य शब्द है फिर इस आर्य शब्द में अन् प्रत्यय लगने से अनार्य शब्द बनता है। तब यही सिद्ध होता है कि सृष्टि के आदि में आर्यों की सृष्टि हुई थी। जैसे जैसे सृष्टि बढ़ती गई वैसे वैसे ही पूर्वजों ने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से वर्णव्यवस्था नामक एक व्यवस्था बाँध दी। आचार-विचार-भेद के कारण देवता, राक्षस, दानव आदि और फिर कर्मभेद से उन्हीं के वंशजों की अनेक जातियाँ बनीं जो आज समस्त पृथ्वी पर विद्यमान हैं, अतः भारतवर्ष के मूल-निवासी आर्य हैं, न कि अनार्य। आज जिनको अनार्य कहा जाता है, वे भी आर्य ही हैं—जैसे आजकल दक्षिण भारत में ब्राह्मण और अब्राह्मण भेद बन गया है वैसे ही पूर्व काल में आर्य और अनार्य दो भेद बन गए थे; अतः आर्य लोग सृष्टि की उत्पत्ति से ही भारतवर्ष में बसते चले आ रहे हैं और दक्षिण के निवासी भी आर्य थे और रामचंद्रजी से पूर्व विंध्याचल के दक्षिण में उनका आना जाना बराबर बना था।

राय बहादुर बाबू हीरालालजी साहब ने फिर लिखा है कि राम ने गोंड़ों के विपक्षी उरावों और शबरों को अपने पक्ष में मिला

लिया और उनकी सहायता से विजय पाई। "यही उराव प्राचीन काल में वानर कहलाते थे, शवरों की कदाचित् रीछ संज्ञा रही हो।" आजकल उनके हिसाब से शवरों की संख्या ६ लाख और उरावों की ९ लाख है। रामायण में उराव शब्द का प्रयोग कहीं नहीं आया है, तिस पर भी बाबू साहब ने उराव शब्द को बनराव में खींचकर उसका वानर बना डाला, और शवर जाति को, जिसकी एक स्त्री शवरी का वर्णन रामायण में मौजूद है, रीछ जाति अनुमान कर लिया। आजकल के इस मनुष्यदेहधारी जनसमुदाय को रीछ वानर करार देकर राम की सेना मान लेना शोधक विद्वानों का ही काम है।

बाबू साहब ने मनुष्यजाति के उराव तथा शवरों को तो वानर तथा रीछ स्वीकार कर जानवर बना डाला और गोंड़ों को राक्षस—पर बिचारे जटायु ने क्या बिगाड़ किया कि उसे पक्षी (जानवर) जाति से मनुष्यजाति में परिवर्तन नहीं किया और उसे पक्षी ही रहने दिया कि, जिसने सीता के रोदन करने पर रावण जैसे बलशाली से घंटों युद्ध कर उसे मूर्च्छित तक कर दिया, और अंत में वीरगति पाई कि जिसका अंतिम संस्कार श्री रघुनाथजी ने अपने कर-कमलों से किया था।

रामायण में लिखा है और सब हिंदू मानते भी हैं कि राम ने संसार में अवतार लेकर नरलीला की। बाबू हीरालाल जी साहब के लिखे अनुसार राम ने प्रतिदिन १५, २० मील ही चलकर मुकाम किया सही, पर १४ वर्ष उन्होंने केवल चित्रकूट और पंचवटी के और पास में ही (जिन्हें आप रावण के राज्य में बतलाते हैं) नहीं बिताए। आज जिस स्थान पर चित्रकूट है क्या उस समय भी इसी स्थान पर था? उसका क्या प्रमाण? जैसे आपने लंका को समुद्र में से निकालकर छत्तीसगढ़ के जिले में, कि जहाँ पर उस समय में भानुमंत राजा का राज्य था, ला बसाया तो कोई दूसरा मनुष्य चित्रकूट को और कहीं घसीट ले जाकर कोई नवीन

कल्पना कर सकता है। चाहे आप जंगली द्रविड़ लोगों की भाषा के आधार पर प्रत्येक गोदारि (नदीवाचक) को गोदावरी मानकर प्रत्येक गोदारि पर पृथक् पृथक् पंचवटी बना लें पर राम की पंचवटी दक्षिण हैदराबाद में ही मानी जायगी।

आपकी प्रत्येक दलील पर विचार करने की जब आवश्यकता होगी तब आप दक्षिण कोसल के राजा भानुमंत का, कि जिसका वर्णन रामायण बालकांड के पुत्रेष्टि यज्ञ के संबंध में आया है, अस्तित्व मिटा देवेंगे।

यह पहले वर्णन कर आए हैं कि, वाल्मीकि जी ने राम के साथ साथ दौड़कर रामायण नहीं लिखी थी कि जिसके कारण सब स्थानों का ठीक ठीक पता लगाया जा सके। लंका के विषय में भी वही बात है। उसकी लंबाई, चौड़ाई तथा समुद्र की दूरी केवल अनुमान मात्र हैं, रामावतार के समय रावण की राजधानी लंका थी। इसी लंका को बौद्धों के समय में सिंहल, और अब अँगरेजों के जमाने में, सीलोन कहने लगे पर लंका नाम उसका सदैव अमिट रहा। राजशेखर के काव्य तथा पुराणों के आधार पर लंका से पृथक् सिंहल का अस्तित्व सिद्ध कर लंका को समुद्र से हटाना किसी प्रकार ठीक नहीं माना जा सकता; क्योंकि ये ग्रंथ रामावतार के बहुत वर्ष पीछे के बने हैं, फिर दक्षिण समुद्र में नल-नील के बनाए हुए पाषाण-सेतु के चिह्न अभी तक वर्तमान हैं और वे उसी जमाने के माने जा सकते हैं। संभव है, रामेश्वर का मंदिर बौद्धों के समय के आस पास का बना हो, रामावतार के समय का नहीं, क्योंकि इतना पुराना मंदिर कोई भी पृथ्वी पर रह नहीं सकता।

कुछ लोगों के सिद्धांत से लंका (सिंहल = सीलोन) में रावण और राघव की जितनी सेना का वर्णन आया है उतनी इस लंका में समा नहीं सकती। वास्तव में उनका कहना ठीक ही है क्योंकि एक उत्तर द्वार पर ही रामायण के अनुसार दश अर्बुद रक्षक और

कुल रावण की सैन्य-संख्या दश कोटि सहस्र थी। इसके सिवाय राघव के रीछ बंदरों की सैन्य-संख्या का अनुमान लगाया जाय तो विचारे लंका, सिंहल और छत्तीसगढ़ की तो क्या चले, समस्त भारतवर्ष में भी उसका समा जाना मानने के लिये कोई तैयार न होगा, अतः रामायण अथवा पुराणों में कथित विस्तार तथा संख्या बहुसंख्यावाची होने से बहुत अधिक का बोध कराते हैं—और काव्यों में इस प्रकार की अत्युक्ति बहुधा बनी रहती है।

(३०) आधुनिक हिंदी नाटक

[लेखक—श्री देवेंद्रनाथ शुक्ल एम० ए०]

हर्ष का विषय है कि हिंदी संसार के विद्वानों का ध्यान अब नाटकों की ओर भी जाने लगा है। नाटक समाज के कल्याण के लिये अत्यंत लाभकर साधन है। कविता मनोरंजन की एक उत्कृष्ट सामग्री है। वही कविता अधिक रोचक तथा हृदयग्राही होगी जो कल्पना से अधिक ओतप्रोत होगी। उपदेशमूलक कविता को काव्य-कला-कौशल की दृष्टि से अधिक ऊँचा स्थान नहीं दिया जा सकता। क्योंकि उसमें कवि की कल्पना का तथा उसके रसों का, जो कविता के दो प्रधान अंग हैं, उतना अधिक समावेश नहीं हो सकता जितना स्वच्छंद काल्पनिक तथा भावमयी कविता में हो सकता है। हम यह कह सकते हैं कि कविता मनोरंजन की सामग्री है। सामाजिक सुधार उसका प्रत्यक्ष लक्ष्य नहीं है। अनधिकारचेष्टा करने से वह स्वयं अपने उच्च आसन से च्युत हो जाती है। हमारा अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि उपदेशमूलक रचना अच्छी हो ही नहीं सकती। वह अच्छी हो सकती है और यदि उसका लेखक विशेष प्रतिभावान् हुआ तो उसकी रचना में विशेष चमत्कार भी आ सकता है। परंतु वह मनोरंजन के साथ साथ अपना काम तभी भली भाँति निबाह सकेगी जब वह उपदेश देने के लिये न लिखी गई हो। यद्यपि यह कथन देखने में असंगत सा प्रतीत होता है, परंतु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। गोस्वामीजी का रामचरितमानस कविता का सर्वोत्तम ग्रंथ माना जाता है। उसमें उपदेश भी कूट कूटकर भरे हुए हैं। परंतु क्या हम उस ग्रंथ की श्रेष्ठता का एक मात्र कारण उसके उपदेशों को ही बता सकते हैं? एक अच्छे काव्य से उपदेश प्राप्त हो सकता है, और अवश्य प्राप्त होगा यदि काव्य अच्छा है; परंतु उपदेश की

दृष्टि से लिखी हुई रचना सर्वथा अच्छा काव्य नहीं हो सकती है। "कबीर-ग्रंथावली" भले ही उपदेश का एक अच्छा ग्रंथ हो परंतु उसे एक उत्कृष्ट काव्य मानने के लिये सब कोई प्रस्तुत नहीं है। अँगरेजी साहित्य में विलियम वड्‌सवर्थ का बहुत ऊँचा स्थान है। वे रोमैंटिक स्कूल के आदि प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके पहले टामसन तथा यंग और कूपर की कविता में भी रोमैंटिक साहित्य के गुण आंशिक मात्रा में वर्तमान हैं फिर भी समुचित रूप से उसका आकार प्रकार निर्धारित करनेवाले कोलरिज तथा वड्‌सवर्थ ही माने जाते हैं। इन लोगों ने १७९८ में जब अपनी स्फुट कविताएँ "लिरिक लवैलेड" के नाम से प्रकाशित करवाईं तब उसकी भूमिका में उन्होंने कविता का यथार्थ स्वरूप जैसा समझा था, प्रकट किया। इसी भूमिका में अपने कविता के स्कूल-विशेष की घोषणा करते हुए वड्‌सवर्थ ने लिखा है कि "कवि का प्रथम् कर्तव्य उपदेशक होना है।" परंतु आश्चर्य इस बात का है कि वड्‌सवर्थ उसी स्थल पर सफल हुए जहाँ उन्होंने अपने इस नियम की प्रत्यक्ष अवहेलना की है। अँगरेजी के नाटकाचार्य जार्ज बर्नर्ड शा इस समय अँगरेजी साहित्यज्ञों में शीर्षस्थान प्राप्त कर चुके हैं। परंतु आपकी रचनाओं में भी प्रत्यक्ष डाइडैक्टिसिज्म (उपदेश) का दोष प्रचुरता से भरा है और यही कारण है कि गैल्सवर्थ तथा अन्य रियलिस्ट नाटककारों की तुलना में इस दोषविशेष के कारण बर्नर्ड शा महोदय को कुछ अप्रतिभ भी होना पड़ता है। हमारे इस कथन का अभिप्राय केवल इतना ही है कि उपदेश देने का लक्ष्य करके लिखी हुई कविता सर्वथा प्रशंसनीय नहीं हो सकती।

परंतु उपदेश और मनोरंजन दोनों को एक साथ ही प्राप्त करने के लिये साहित्य में अन्य मार्ग भी हैं। वे हैं नाटक और उपन्यास। दोनों का प्रधानतः एक ही उद्देश्य है—समाज के उस चित्र को मनुष्यों के सामने रखना जिसको यद्यपि वह नित्य देखता है तथापि जिससे वह प्रभावान्वित नहीं हो सकता। इस

कर्तव्य को जितनी सफलता तथा प्रभावोत्पादकता से नाटक संपादित करता है उतनी ही मात्रा में उपन्यास नहीं कर सकता। रंगमंच की सजावट तथा अन्य उपकरणों के प्रभाव के अभाव को यद्यपि उपन्यासकार अपने वर्णनकौशल से पूरा करने का प्रयत्न कर सकता है तथापि वह बात उसमें कदापि नहीं आ सकती जो उन वस्तुओं की उपस्थिति से मनुष्य के विचारों में उत्पन्न होती है ? वह सहज प्रभाव जो बाह्य चक्षु द्वारा प्राप्त हो सकता है कल्पना द्वारा उतनी सुंदरता तथा सफलता से नहीं प्रकट किया जा सकता। इस बात पर विचार करते समय हमें इसका भी ध्यान रखना चाहिए कि उपन्यासकार का क्षेत्र जितना विस्तृत है उतना विस्तृत नाटककार का नहीं है। जो नाटक अभिनय की दृष्टि से लिखे जाते हैं—और "जो नाटक" ही क्यों सभी नाटकों को अभिनीत किए जाने के ही विचार से लिखा जाना चाहिए—उनके लिये यह नियंत्रण बड़े महत्त्व का है। वे नाटक के नायक के जीवन भर का इतिहास कुछ नियमित समय अर्थात् ३-४ घंटों में भली भाँति नहीं अभिव्यक्त कर सकते। इस नियम के पालन की शिथिलता हमें प्राचीन संस्कृत नाटकों में बहुधा दिखाई देती है। हिंदी के नाटकों में भी यह दोष प्रत्यक्ष है।

अँगरेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार टामस हार्डी का, जिनका अवसान अभी गत वर्ष ही हुआ है, "डाइनैस्ट" नाटक भी इसी श्रेणी का है। उसको नाटक कहा जाय अथवा महाकाव्य इसमें भी लोगों को संदेह है। इससे नाटक की सुंदरता बहुत कुछ घट जाती है; क्योंकि पहली बात नाटक के संबंध में जो कही जा सकती है वह यह है कि "नाटक दृश्य काव्य है न कि श्रव्य।" नाटककार बहुत सी ऐसी बातों का समावेश अपनी रचना में नहीं कर सकता जिनकी पूर्ति बाह्य साधनों द्वारा ही की जा सकती है। अतएव नाटक की सफलता रंगमंच की सफलता तथा अभिनय-कौशल पर निर्भर है। नाटक के संबंध का दूसरा प्रतिबंध उसका

आकार है। नाटक के लिये यह आवश्यक है कि वह नियमित समय में ही अभिनीत हो सके। इस नियम के कारण नाटककार नाटक के वस्तुविन्यास के घटाने बढ़ाने में स्वतंत्र नहीं है।

समाज के जीते जागते चित्र के प्रत्यक्षीकरण में ही नाटक अपने अस्तित्व की उपयोगिता प्रमाणित कर सकता है। यदि वह इसी काम में सफल न हो सका तो उसका महत्त्व ही क्या रह जायगा? आज-कल लोगों की यह बड़ी पुकार है कि वर्तमान समाज के ही चित्र का दर्शन हमें रंगमंच पर होना चाहिए। बात ठीक है, और यह आवश्यक भी है कि ऐसे नाटक अभिनीत किए जायँ। पाश्चात्य साहित्य में आधुनिक काल के नाटकों के प्रवर्तक इब्सन माने जाते हैं। इनका इस बात का प्रयत्न, कि नाटकों में "रियलिज्म" यथार्थवाद की परिपुष्टि हो, बड़े महत्व का है। इँगलैंड में नाटकाचार्यशिरोमणि शा महोदय ने इनका अनुकरण किया है।

वर्तमान समाज की अनेक कुरीतियाँ आपके नाटकों के वस्तु-विन्यास की सामग्री बनी हैं। "गैलसवर्दी" महोदय का रियलिज्म तो और भी ऊँचे दरजे का है। डेढ़ डेढ़ अथवा दो दो पन्ने की भूमिका तो रंगमंच की सजावट की बारीकियों के ही संबंध की प्रति अंक के साथ लगाई जाती है। कितने ही अनपेक्षित नियम जो अभी तक नाटकों के लेखकों के सुरक्षित अधिकार समझे जाते थे अब नाटक के लिये दोष समझे जाते हैं। इसी 'रियलिज्म' की माँग हमारा हिंदी नाटक का प्रेमी समाज लेखकों के सम्मुख उपस्थित करता है। अँगरेजी नाटकों को देखकर ही हमारे साहित्य में भी इसकी आवश्यकता प्रतीत हुई है। परंतु इस सुधार के लिये यही आवश्यक नहीं है कि हम सामयिक सामाजिक नाटकों की ही रचना करें। पौराणिक तथा ऐतिहासिक घटनाचक्र नाटक के वस्तुविन्यास के लिये उतने ही उपयुक्त हो सकते हैं जितना बीसवीं शताब्दी का भारत। सामयिक घटनाओं पर यदि किसी

नाटक का आधार है तो संभव है २० वर्ष में उसका महत्त्व घट जाने से वह रद्दी की टोकरी में डाल देने के योग्य हो जाय। अमर-रचना ध्रुव सत्य पर अवलंबित होनी चाहिए, न कि क्षणिक काल पर। रामलीलाएँ तथा कृष्णलीलाएँ किसी कालविशेष की घटनाएँ नहीं हैं। वे तो हिंदू संस्कृति तथा उसके जीवन से संबंध रखती हैं। वे कभी पुरानी नहीं हो सकतीं।

नाटक का स्थान तथा उसका कर्तव्य संक्षेप में देखकर यदि हम आधुनिक हिंदी नाटकों पर सरसरी निगाह डालें तो कदाचित् अनुचित न होगा। आधुनिक हिंदी नाटकों के प्रधान आचार्य हैं भारतभूषण भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र। आपने अन्य भाषाओं के नाटकों का अनुवाद करते हुए सुंदर मौलिक नाटकों का भी पर्याप्त संख्या में निर्माण किया है। भारतेंदुजी की रचनाएँ काव्यमयी तो हैं ही, कहीं कहीं पर तो वे उसके अतिरिक्त और कुछ रह ही नहीं जातीं। वे पढ़ने की सामग्री हैं न कि देखने की। यह दोष उनके किसी रचना-विशेष का नहीं है, प्राय: उनके समस्त नाटक तथा नाटिकाएँ चाहे वे अनुवादित हों चाहे मौलिक इस दोष के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। उनकी कृतियों को रंगमंच पर अभिनीत करने का न तो कोई व्याव-सायिक कंपनी ही साहस करती है और न कोई अव्यावसायिक मंडली ही इनके खेलने की क्षमता दिखाती है? इसमें इन दोनों में से किसी का दोष नहीं है, दोष है स्वयं इन नाटकों का। अभी तक इन नाटकों का कोई ऐसा संस्करण नहीं निकला जो अभिनय के उपयुक्त हो? संभव है, इस क्षेत्र में हिंदी साहित्य के किसी महारथी के अब तक अवतीर्ण न होने का कारण स्वाभाविक संकोच हो, अथवा इतने बड़े मस्तिष्क की कृति में हस्तक्षेप करने के लिये साहस का अभाव हो। कारण चाहे जो कुछ भी क्यों न हो, अभाव आपके सम्मुख है। उसकी पूर्ति करना आपका कार्य है।

भारतेंदुजी की रचनाओं में सत्यहरिश्चंद्र नाटक का विशेष स्थान है। नाटक में आया हुआ यह दोहा कि—

चंद टरै सूरज टरै, टरै जगत् व्यवहार।
पै दृढ़व्रत हरिचंद को, टरै न सत्य विचार॥

उनके आत्मजीवन पर भी कुछ प्रकाश डालता है।

इसमें करुण रस का ऐसा स्रोत बहा है कि कदाचित् ही कोई पाठक ऐसा होगा जिसने शैव्या के विलापस्थल अथवा राजा हरिश्चंद्र के मर्घट के कर्तव्यपालनवाले अंक को पढ़कर दो आँसू न निकाले हों! चंद्रावली नाटिका सुंदर ब्रजभाषा का एक काव्य है। वास्तव में यही ज्ञात होता है कि चंद्रावली के लिखते समय भारतेंदुजी की काव्यश्री का विशेष विकास हुआ था। "जिन आँखिन में तव रूप बस्यो तिन आँखिन सों अब देखिय का" अथवा "रावरे विरह में ये अँखियाँ खुली ही रह जायँगी" आदि पंक्तियाँ किसी साहित्य के कोशागार को प्रकाशित करने में समर्थ हैं। इस नाटिका में तो हरिश्चंद्र ने अपना हृदय ही खोलकर रख दिया है। भावुकता का इससे अधिक परिचय कदाचित् ही कहीं और मिल सकता है। मुद्राराक्षस नाटक यद्यपि अनुवाद है फिर भी भाषासौष्ठव का श्रेय हरिश्चंद्र का ही है और ऐसा सुंदर अवतरण हिंदी भाषा में तो कदाचित् ही और कोई कर सकता है। "अंधेर-नगरी" प्रहसन तो अत्यंत लोकप्रिय हुआ। परंतु हरिश्चंद्रजी के नाटकों के संबंध में सर्वदा इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि ये नाटक अभिनयों में सफलता कभी नहीं पा सकते। इनकी अस्वाभाविकता या लंबी चौड़ी बातचीत कभी किसी दर्शक को प्रिय हो ही नहीं सकती। फिर भी सत्य हरिश्चंद्र का अभिनय तो काशी की भारतेंदु नाटक-मंडली ने कुछ काट छाँट के साथ किया ही था। भारतेंदुजी की रचनाओं का एक संस्करण श्रद्धेय गुरुवर बाबू श्यामसुंदरदासजी ने अभी हाल में प्रयाग के इंडियन प्रेस से निकलवाया है। अब एक ऐसे संस्करण की आवश्यकता है जिससे उन नाटकों के अभिनय उपस्थित करने में मंडलियाँ क्षमताशील हों।

भारतेंदु जी ने अपने "नाटक" नामक ग्रंथ के अंत में एक तालिका उन नाटकों की दी है जो उस ग्रंथ के लिखे जाने के काल तक हिंदी भाषा में लिखे जा चुके थे। उस तालिका को देखने से यह पता लग सकता है कि उस समय तक हमारे नाटक साहित्य की क्या अवस्था थी।

१ नहुष नाटक	श्रीगिरधरदास
२ शकुंतला	राजा लक्ष्मणसिंह
३ "	श्रीफ्रेडरिक पिंकाट
४ बूढ़े मुँह मुहासे लोग चले तमासे "बूढ़ो शालिकेर" का अनुवाद	बाबू गोकुलचंद
५ अद्भुत चरित्र वा गृहचंडा	श्रीमती .....(?)
६ तप्ता संवरण	ला० श्रीनिवासदास
७ रणधीर प्रेममोहिनी	" " "
८ कंटो कृतांत	श्रीतोताराम भारतबंधु संपादक
९ सज्जादसंबुल	श्रीकेशोराम भट्ट विहार " "
१० शमसाद सौसन	" " " " "
११ जय नारसिंहकी	पं० देवकीनंदन तिवारी (प्रयाग समाचार संपा०)
१२ होली खगेश	" "
१३ चक्षुदान	" "
१४ पद्मावती	पं० बालकृष्ण भट्ट हिंदी प्रदीप सं
१५ शर्मिष्ठा	" "
१६ चंद्रसेन	" "
१७ सरोजिनी	पं० गणेशदत्त
१८ "	पं० राधाचरण गोस्वामी भारतेंदु संपादक
१९ मृच्छकटिक	पं० गदाधर भट्ट मालवीय

२० मृच्छकटिक—	पं० दामोदर शास्त्री
२१ "	बा० ठाकुरदयालसिंह
२२ वारांगना-रहस्य	पं० बदरीनारायण चौधरी, संपादक आनंद-कादंबिनी
२३ विज्ञान विभाकर	पं० जानी बिहारीलाल
२४ ललिता नाटिका	साहित्याचार्य पं० अंबिकादत्त व्यास, वैष्णवपत्रिका और पीयूषप्रवाह के संपादक
२५ देवपुरुष दृश्य	
२६ वेणीसंहार नाटक	
२७ गो संकट	
२८ जानकी-मंगल	पं० शीतलप्रसाद त्रिपाठी
२९ दुःखिनी बाला	बा० राधाकृष्णदास
३० पद्मावती	" "
३१ महाराणा प्रताप	" "
३२ महारास	म० कु० खड्गबहादुरमल्ल युवराज मँझौली
३३ रामलीला सात कांड	पं० दामोदर शास्त्री विद्यार्थी संपादक
३४ बाल खेल	
३५ राधा-माधव	
३६ वेनिस नगर का सौदागर	बा० बालेश्वरप्रसाद "काशी" पत्रिका के संपादक
३७ " "	बा० ठाकुरदयालसिंह

इन नाटकों के अतिरिक्त इस तालिका में भारतेंदु जी के स्वरचित ग्रंथों का भी नामोल्लेख है। यही 'कुल निधि हम हिंदी-वालों की ग्यारह सौ वर्ष की साहित्यसेवा के उपरांत नाटकागार' में थी। वास्तव में इनमें उज्वल रत्न भी हैं और उनकी ज्योति सर्वदा अपना प्रकाश फैलाया करेगी, परंतु इन रत्नों का उपयोग हम लोग सब स्थान पर और सब काल में नहीं कर सकते। इनमें

से अधिकांश ही क्या प्राय: सबके सब उन्हीं दोषों से भरे हैं जिनका उल्लेख भारतेंदुजी की कतिपय रचनाओं के संबंध में निर्दिष्ट किया जा चुका है।

कालिदासकृत अभिज्ञान शाकुंतल का अनुवाद कर राजा लक्ष्मणसिंह ने हिंदी-साहित्याकाश में अपना एक अमर स्थान प्राप्त कर लिया है। अनुवाद तो यह कहने भर को है। इससे अधिक मौलिकता क्या हो सकती है? नाटक सजीव है। संस्कृत श्लोकों का जो अनुवाद इस नाटक में राजा साहब ने हिंदी के छंदों में किया उससे आपकी अपूर्व काव्य-शक्ति का परिचय मिलता है। प्राय: सभी हिंदी के विद्वान् मुक्तकंठ से इसकी प्रशंसा करते हैं और राजा साहब के लिये हिंदी साहित्य के इतिहास में एक सुरक्षित स्थान रखते हैं।

बाबू राधाकृष्णदास का नाम भी आज हिंदी-साहित्यसेवियों में श्रद्धा के साथ लिया जाता है। इनकी प्रसिद्धि में इनके नाटक महाराणा प्रताप ने कुछ कम भाग नहीं लिया है। बहुत दिनों तक हिंदी रंगमंच के सामने सत्यहरिश्चंद्र तथा राणा प्रताप को छोड़कर और कोई नाटक ही अभिनय के लिये नहीं था। न जाने कितनी अव्यावसायिक मंडलियों तथा स्कूल और कालेज की छात्रसमितियों ने कितने ही दर्शकों का मनोरंजन इन्हीं अभिनयों से किया है। मुझे स्मरण है कि पुराने सेंट्रल हिंदू स्कूल तथा कालेज की छात्रसमिति के लिये राणा प्रताप का एक परिष्कृत संस्करण अभिनय की दृष्टि से स्वयं बाबू श्यामसुंदरदासजी ने तैयार किया था। इस नाटक में हिंदुत्व की भावना को जागृत करने के लिये यथेष्ट सामग्री है। राणा प्रताप का चरित्र हिंदू जनता के लिये गौरव का विषय है। जिस प्रकार प्रिंस आर्थर के चरित्र को अँगरेजी साहित्य में अनेक रूपों में प्रदर्शित किया गया है उसी प्रकार राणा प्रताप के चरित्र ने हिंदीवालों को अनेक ग्रंथों का मसाला दिया है। एक समय तो ऐसा आ गया था जब "राणा प्रताप" के अभिनीत किए जाने के लिये जिलाधीश की आज्ञा की अपेक्षा करनी पड़ती थी।

सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन किया जाय तो यह नाटक भी निर्दोष नहीं है। परंतु इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि औरों की अपेक्षा इसमें रंगमंच की दृष्टि से कम दोष है।

पंडित सत्यनारायण कविरत्न जी ने भवभूति पर कृपा की है। "मालतीमाधव" तथा "उत्तररामचरित" के अनुवाद भी हिंदी नाटकों के विकास के इतिहास में अपना विशेष स्थान रखते हैं। 'मालतीमाधव' में भवभूति ने जिस समाज का चित्र खींचा है उसमें तांत्रिक माहात्म्य के प्राबल्य तथा बौद्ध सत्ता के ह्रास का परिचय मिलता है। विदूषक को नाटक में स्थान नहीं दिया गया है परंतु इससे नाटककार की हास्यप्रियता पर कोई आक्षेप नहीं पड़ता। इस अभाव की पूर्ति उन्होंने अन्य रूप से कर दी है। शृंगार, वीभत्स तथा करुण ही रसों का प्राधान्य इसमें है। भारतेंदुजी के ज्येष्ठ भ्रातुष्पुत्र श्रीकृष्णचंद्रजी ने, भी उत्तररामचरित का एक अच्छा अनुवाद किया है। ऊपर की तालिका में शेक्सपियर कृत "मर्चेंट आव् वेनिस" के दो अनुवादों का उल्लेख है। तीसरा अनुवाद स्वयं भारतेंदुजी ने 'दुर्लभ बंधु' के नाम से किया है। इनके अतिरिक्त शेक्सपियर के अन्य नाटकों के भी अनुवाद अब हिंदी में प्राप्त हैं। "टू जेंटलमेन आव वेरोना" "हैम्लेट" तथा "मैकबेथ" और "किंग लियर" के अनुवाद तो मैंने भी देखे हैं। "हैम्लेट" का अनुवाद जयंत, अथवा "बलभद्रदेश का राजकुमार" नाम से पं० गणपतिकृष्ण गुर्जर ने किया है और "मैकबेथ" का "साहसेंद्र साहस" नाम से मिर्जापुर के चौधरी मथुराप्रसाद उपाध्याय ने किया है। इन नाटकों में पात्रों तथा स्थानों के नाम बदलकर उनको भारतीय परिधान पहनाने का प्रयत्न किया गया है। परंतु इस दृष्टि से ये नाटक सफल नहीं हुए। इन नाटकों में दूसरे ही समाज का चित्र है जो केवल नामपरिवर्तन से ही पूर्ण रूप से दूसरे ढांचे के उपयुक्त नहीं हो सकता। इनका वातावरण ही बिना बदले इनका भारतीयकरण कठिन है।

आजकल के उच्च कोटि के नाटककारों में श्रीयुत जयशंकर प्रसाद, प्रोफेसर बदरीनाथ भट्ट तथा श्रीयुत जी० पी० श्रीवास्तव हैं। बाबू जयशंकर प्रसाद हिंदी संसार के चिर सुपरिचित कवि तथा काशी के प्रसिद्ध रईस हैं। आपने "अजातशत्रु", "जनमेजय का नागयज्ञ", "कामना" इत्यादि नाटक लिखकर हिंदी नाट्य साहित्य की अच्छी सेवा की है। हाल में आपने "स्कंदगुप्त" लिखकर उपर्युक्त नामावली में एक और वृद्धि की है। आपके नाटक ऐतिहासिक हैं। प्राचीन भारत का इतिहास हिंदुओं के उत्कर्ष का इतिहास है। आधुनिक काल के इतिहासकार प्राचीन भारत का नियमित इतिहास शिशुनाग वंश से आरंभ करते हैं। इस शिशुनाग वंश के ही छठें राजा महाराज अजातशत्रु हुए। इन्हीं का वर्णन इस नाटक में हुआ है। अजातशत्रु के राजकाल के आठवें वर्ष में भगवान् बुद्ध के निर्वाण पद प्राप्त करने की बात प्रसिद्ध ही है। अतएव इस नाटक का चित्र ईसा के पूर्व छठीं शताब्दी का ही समझना चाहिए। जनमेजय के नागयज्ञ की कथा पौराणिक आधारों पर अवलंबित है। स्कंदगुप्त नाटक के नायक तो परमवैष्णव परमभट्टारक महाप्रबल गुप्तवंश के पंचम सम्राट् कुमारगुप्त के पुत्र सम्राट् स्कंदगुप्त विक्रमादित्य हैं। "प्रसाद" जी ने उस काल की रहन-सहन वेषभूषा तथा उस समय के वायुमंडल का विशेष रूप से अध्ययन किया है और उसके स्पष्ट चित्रण में आप भले प्रकार सफल भी हुए हैं। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता विद्वद्वर्य आचार्य राखालदास वंद्योपाध्याय के "करुणा" तथा "शशांक" उपन्यासों की स्पष्ट झलक से बाबू साहब का "स्कंदगुप्त" अंकित है। यथार्थतया आचार्य महोदय के दोनों ही उपन्यास अद्वितीय कृतियाँ हैं और उक्त काल के इतिहास का उपयोग करके जो कोई भी साहित्यसेवी कुछ लिखेगा वह अवश्य आपका ऋणी रहेगा; चाहे वह स्वीकार करे अथवा नहीं। बाबू जयशंकर प्रसादजी के नाटकों की भाषा नाटकों के उपयुक्त नहीं होती। नाटक की भाषा सर्वथा बोलचाल की होनी

चाहिए। साहित्यिक बनावटी शैली नाटकों के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है। समझ में नहीं आता कि नाट्यशास्त्र के ऐसे उत्कट विद्वान् होते हुए भी प्रसादजी निरंतर वही शैली क्यों पसंद करते हैं। यह सब होते हुए भी ये नाटक साहित्यिक हैं और इतना गुण ही इन्हें अमरत्व प्राप्त कराने के लिये पर्याप्त है।

लखनऊ विश्वविद्यालय के हिंदी के अध्यापक पंडित बदरीनाथ भट्ट भी हिंदी नाटकों के सुलेखकों में से हैं। आपकी रचनाएँ भावपूर्ण तथा सुंदर हैं। भाषा भी श्री जयशंकर प्रसाद की भाषा की अपेक्षा सरलतर है। लेखकजी के उद्योग से आपके कुछ छात्रों ने आपके संतोषार्थ आपकी "दुर्गावती" का अभिनय किया था, परंतु "नाटक के कुछ अंतर्हित दोषों के कारण" वह सफल न हो सका। अभिनय की दृष्टि से "प्रसादजी" अथवा "भट्टजी" किसी की रचना दोषमुक्त नहीं है।

हास्यरस के प्रसिद्ध लेखक श्रीयुक्त जी० पी० श्रीवास्तव के प्रहसन बड़े ही मनोरंजक हैं। आपने प्रसिद्ध फ्रेंच कमीडियन मोलियर का ही अनुकरण करने का प्रयत्न किया है परंतु आपके प्रहसनों तथा मोलियर की कामेडियों में बड़ा अंतर है। उस अंतर का कारण है दृष्टिकोण का पार्थक्य। युरोपीय साहित्य में "कामेडी" का स्थान "ट्रैजिडी" से किसी भाँति कम नहीं है परंतु भारतीय साहित्य में कोरी "ट्रैजेडी" के अभाव में "कामेडी" ही एकमात्र नाटक का स्वरूप बन बैठी। ये "कामेडियाँ" (सुखांत नाटक) जीवन की गंभीर समस्याओं पर भी जब प्रकाश डालने लगीं तो स्वभावतः साधारण कोटि के संस्कारों के व्यक्तियों के मनोरंजनार्थ उनसे कुछ उतरकर प्रहसनों की सृष्टि की गई। अँगरेजी में इन्हीं प्रहसनों के रूप को फार्स कहते हैं। हमारे श्रीवास्तवजी भी प्रायः इसी प्रकार के हास्य का अवतारण करते हैं। आपका हास्य, विषय तथा भाव को विद्रूप करने में उतना समर्थ नहीं है जितना कि भाषा को विद्रूप करने में। आपके हास्यरस के विषय

में एक बात और विचारणीय है। आपके हास्यरस का विषय आपको प्राय: जीवन की कुछ विशेष परिस्थितियों में ही प्राप्त हो सकता है। उदाहरणार्थ आपका स्कूल जीवन का चित्र रखा जा सकता है। जैसे सफल आप इस जीवन के चित्रण में हुए हैं उतना, मेरे विचार से तो, कदाचित् ही कहीं और आप सफल हुए हैं।

परंतु उच्च कोटि का साहित्यिक नाटक जो अभिनय की दृष्टि से भी सफल हुआ हो मेरे विचार में तो प्रयाग के पंडित माधव शुक्ल का "महाभारत" ही अब तक प्रकाशित हुआ है। भाषा चलती, मुहावरेदार तथा गठी हुई, भाव उच्च तथा गंभीर, कविता मनोहारिणी और विनोद शिष्ट सौम्य तथा मुस्क्यान लानेवाला है। अभिनय में भी यह सर्वथा सफल रहा है। वास्तव में इस समय हिंदी में हमें ऐसे ही नाटकों की आवश्यकता है। कुछ लोगों का विचार है कि पौराणिक काल के नाटकों से हमारा क्या लाभ हो सकता है, हमें तो इस युग में रहना है और इसी समाज का चित्र हमें सुधारने में समर्थ हो सकता है। इनके इस कथन में सार अवश्य है परंतु क्या हम उनसे यह पूछ सकते हैं कि क्या पतित-पावन भगवान् रामचंद्र तथा कृष्णचंद्र की जीवनियों से कुछ भी प्रभाव इस देश में उनके काल के बाद नहीं पड़ा? क्या कृष्ण और राम किसी काल-विशेष की ही निधियाँ हैं? ये हमारे चरित्र को शुद्ध बनाने तथा उसको शक्ति प्रदान करने में समर्थ हैं। उनका आदर्श हमें अपने जीवन के आदर्श पर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ रहने का साहस प्रदान करता है। उन्हीं के आधार पर हम आज अपना जीवन चला रहे हैं। भला ऐसे पावन चरित का अभिनय हमारे चित्त को कभी उबा सकता है?

इन नाटकों के अतिरिक्त लाला भगवानदीनजी का "सोनारानी" तथा प्रसिद्ध उपन्यासकार श्रीयुक्त प्रेमचंदजी का "कर्बला" भी आधुनिक नाटकावली में अपना स्थान रखते हैं। परंतु खेद के साथ कहना पड़ता है कि ये दोनों ही कृतियाँ इन धुरंधर आचार्यों की

लेखनी के उपयुक्त नहीं हैं। अध्यापक रामदास गौड़ का "ईश्वरीय न्याय" तथा पंडित गोविंद शास्त्री दुगवेकर का "सुभद्राहरण" तथा "हर हर महादेव" भी अच्छी कृतियाँ हैं। भारतेंदुजी के ही सम-कालीन पटनावाले पंडित विजयानंदजी त्रिपाठी ने महाकवि भास-प्रणीत "स्वप्न-वासवदत्ता" का हिंदी में अच्छा गद्यात्मक अनुवाद किया है। पांडेय बेचन शर्मा उग्र ने इधर कुछ क्रांतिकारी उपन्यास निकाले हैं परंतु इस ख्यातिलाभ के पूर्व आपने 'महात्मा ईसा' लिखकर शहीदों में अपना नाम लिखा लिया। आपने अभी अपना "चुंबन" देने की घोषणा की है परंतु अभी तक वह प्राप्त नहीं हुआ है।

इन साहित्यिक नाटकों के अतिरिक्त आजकल कुछ नाटक-लेखक स्टेज के उपयुक्त नाटक लिखा करते हैं। ऐसे नाटककारों में निम्नलिखित सज्जनों ने यथेष्ट प्रशंसा प्राप्त की है। श्री राधे-श्याम कथावाचक, आगा हश्र, श्री तुलसीदत्त शैदा, श्री हरिकृष्ण जौहर तथा श्री नारायणप्रसाद बेताब। इन्हीं महानुभावों के अध्यवसाय का यह फल है कि आज दिन पारसी स्टेज पर भी हम हिंदी नाटकों का अभिनय देख सकते हैं। परंतु यहाँ पर कदा-चित् एक बात कहना अनुचित न होगा। वह यह कि यद्यपि इन लोगों ने नाटकों को हिंदी का रूप तो दे दिया है परंतु उसकी वह "पारसी" आदत नहीं दूर कर सके। इससे जहाँ पर मातृभाषा के लिये हम इनके कृतज्ञ होते हैं वहाँ उसी के उस विद्रूप पर हमें लज्जित होना पड़ता है। इस समय पारसी स्टेज पर हिंदी के नाटक वैसे ही जँचते हैं जैसे किसी मुसलमान के सर पर चंदन का त्रिपुंड्र। पारसी स्टेजों के अभिनेता उर्दू के नाटकों का तो जैसा तैसा अभिनय कर भी लेते थे परंतु इनके नाटकों के लिये तो ये सर्वथा अनुपयुक्त हैं। इन नाटकों में न तो वह विशद चरित्र-चित्रण है, न मानसिक भावों के घात प्रतिघात ही हैं जो किसी ग्रंथ को साहित्य में ऊँचा स्थान दिला सकते हैं। ये नाटक स्थायी साहित्य का निर्माण कदापि नहीं कर सकते।

आधुनिक हिंदी नाटकों का यह संक्षिप्त परिचय देने के बाद वर्तमान स्टेज पर भी एक दृष्टि डालना कदाचित् अनुचित न होगा। उत्तर भारत में हिंदी नाटकों के अभिनय करनेवाली जितनी कम्पनियाँ हैं वे सभी पारसी महानुभावों द्वारा संचालित तथा पारसी अभिनेताओं से ही भरी हुई हैं। इनकी विशेषता इनके कृत्रिम अभिनय में ही लक्षित होती है। "पारसी ऐक्टिंग" का अर्थ ही आज कृत्रिमतापूर्ण ऐक्टिंग है। अभिनय-कला का मुख्य उद्देश्य किसी कालविशेष के कुछ व्यक्तिविशेषों के घटनाचक्र का चित्र उपस्थित करना है। इस काम में वही सफलता प्राप्त कर सकता है जो स्टेज पर उन पात्रों के भावों की यथार्थ अभिव्यंजना कर सके। यद्यपि अभिनेता में उस व्यक्ति के यथार्थ भावों का, जिसका वह अभिनय करता है, उद्रेक नहीं हो सकता किंतु उसका बनावटी प्रदर्शन तो हो सकता है। इसी प्रदर्शन की सफलता पर अभिनय की सफलता निर्भर है। दर्शकों को जब यह धोखा हो जाय कि क्या वास्तव में यह वही व्यक्ति है जिसका यह अभिनय करता है तभी अभिनय की यथार्थ सफलता प्रतीत हो सकती है। परंतु दुर्भाग्य से आधुनिक भारतीय अभिनय कला में अभिनेताओं को केवल इस बात की शिक्षा दी जाती है कि सुग्गे की भाँति वे अपना पार्ट रट डालें और स्टेज पर आकर कुछ विशेष प्रकार से हाथ पैर फटकारें। यही उनका अभिनय-कौशल है। पुत्र-शोक का संवाद लाते हुए भी ये उतने ही ज़ोर से गर्जते हैं जितना युद्धक्षेत्र में वैरी को सामने देखकर। अपनी प्रेमिका से प्रेमालाप करते हुए भी यही ज्ञात होता है मानो साल्ट टैक्स का विरोध करते हुए ये राष्ट्रसभा में व्याख्यान दे रहे हैं। यही सब कृत्रिमता नाटक को घृणास्पद बना देती है।

आधुनिक अभिनयों का दूसरा मुख्य दोष है संगीत-बाहुल्य। पति-वियोग-कातरा विधवा दुःख प्रकाश करते हुए पहले तो गद्य में ही एक लंबी स्पीच दे डालती है जो स्वयं ही कुछ कम

अस्वाभाविक नहीं है, तदुपरांत हारमोनियम बजने लगता है और संगीत का रोना प्रारंभ होता है। एक व्यक्ति पहले दूसरे व्यक्ति से जूती पैजार करता है और बाद में दोनों गाने लगते हैं। कितना उपहासास्पद अभिनय हो जाता है? हम यह मानते हैं कि अभिनय में कृत्रिमता का एक प्रधान भाग है परंतु भारतीय नाट्यकला में ही इसकी इतनी अधिक प्रचुरता क्यों? भावों का प्रदर्शन करते समय स्पष्टता पर अधिक ध्यान देना चाहिए, आवश्यकता हो तो काव्यमय भावुक रचनाओं का भी समावेश किया जाय किंतु इसकी क्या आवश्यकता है कि वे वाद्ययंत्रों द्वारा ही व्यक्त किए जायँ। इनसे स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है। शेक्सपियर के नाटकों में कुसमय गायन का आयोजन कभी नहीं होता। शा या गैल्सवर्दी भी कभी इस बात की आवश्यकता नहीं प्रतीत करते कि बिना बेअंदाज गायनों को भरे उनका नाटक अच्छा न हो सकेगा। या तो कभी आमोद प्रमोद का कोई विशेष सीन होता है जहाँ गाना रखा जाता है अथवा जब विदूषक आदि से गाने का आदेश किया जाता है तब हारमोनियम बजता है। हमें दूर जाने की आवश्यकता नहीं। हमें यही देखना चाहिए कि हम जीवन के किस अवसर पर स्वयं गाते हैं और किस समय पर औरों को गाते हुए देखते हैं। वहाँ यह नहीं है कि जब कभी नाटककार को सनक आ गई, उसने तुरंत रख दिया एक गाना।

इन अभिनयों में एक दोष जो सबसे अधिक खलता है, वह है इन लोगों का अस्वाभाविक बोलचाल का ढंग। राधेश्यामजी ने इस तुकबंदी बोलचाल की हद ही कर दी है। अन्य लोग भी कुछ इससे बचे नहीं हैं। आजकल के पाश्चात्य रियलिस्ट स्कूल के नाटककारों ने "स्वगत भाषण" की तो एक प्रकार से प्रथा ही उठा दी और यह सर्वथा उचित भी है। इससे अस्वाभाविक और क्या हो सकता है कि हम इस बात की कल्पना कर सकें कि जो कुछ हम कहते हैं वह हमारे बिलकुल पास खड़ा हुआ व्यक्ति नहीं सुन रहा

है। आजकल की पारसी कंपनियों ने तो नाटकों को तय्यार करने का खर्च इतना बढ़ा दिया है कि साधारण पैसेवाली समितियाँ इस काम को उठा ही नहीं सकतीं।

इन दोषों की लोग उपेक्षा भी कर देते यदि ये दोष निकृष्ट श्रेणी की कुछ ऐसी कंपनियों में पाए जाते जो अशिक्षित तथा मूर्ख दर्शकों के सामने अपना अभिनय करती होतीं, परंतु जब हम देखते हैं कि यह दोष शिक्षित मंडलियों में भी उसी मात्रा में है तो लज्जा से आँख नीची हो जाती है। इस बात की आवश्यकता है कि शिक्षित समुदाय द्वारा एक आंदोलन किया जाय जिससे इन त्रुटियों का संशोधन हो और हिंदी साहित्य में भी नाटकों को वह स्थान प्राप्त हो जो अन्य साहित्यों में उसको प्राप्त है।

(३१) वीर निर्वाण संवत् और जैन काल-गणना

[लेखक—श्री मुनि कल्याणविजय]

महावीर जिन निर्वाण संवत् और जैन कालगणना का अभेद्य संबंध है। निर्वाणसंवत् के संबंध में विचार करते समय विचारक जैन काल-गणना-पद्धतियों को अछूता नहीं छोड़ सकता, इसलिये हम इन दोनों बातों का साथ में विचार करेंगे।

समकालीन व्यक्ति

महावीर के समय-विचार में इनके समकालीन व्यक्तियों की चर्चा करना प्रासंगिक ही नहीं, आवश्यक भी है; क्योंकि इस प्रकार एक दूसरे के सत्तासमय का समन्वय किए बिना हम अपने इष्ट विषय को पुष्ट और सर्वग्राह्य नहीं बना सकते।

यों तो महावीर के समय में अनेक उल्लेखनीय व्यक्ति हो गए हैं, पर हमें यहाँ पर राजा श्रेणिक (बिंबसार), कूणिक (अजातशत्रु), महात्मा गौतम बुद्ध और मंखलि गोशालक के उल्लेख से ही प्रयोजन है; इनका समय-विचार ही प्रस्तुत विवेचन का समर्थक हो सकता है।

बौद्धों के पाली और संस्कृत साहित्य में हमें इस प्रकार वर्णन मिलता है—

'मगध का राजा बिंबसार और भगवान् बुद्ध समवयस्क थे।'

'बुद्ध के उपदेश से बिंबसार बौद्ध धर्म का अनुयायी हुआ।'

'बुद्ध की वृद्धाऽवस्था में बिंबसार को मारकर उसका पुत्र अजातशत्रु मगध का राजा हुआ।'

'पितृहत्या से संतप्त हो अजातशत्रु बुद्ध के पास गया और उनका उपदेश सुनकर वह बौद्ध हो गया।'

'अजातशत्रु के राज्याभिषेक के आठवें वर्ष में महात्मा बुद्ध का निर्वाण हुआ।'

श्रेणिक के साथ महावीर का वयोविषयक क्या संबंध था इस विषय का कोई भी उल्लेख जैन ग्रंथों में हमारे देखने में नहीं आया, पर कितने ही प्रसंगों से ज्ञात होता है कि महावीर से अवस्था में श्रेणिक अधिक थे।

जैनग्रंथकार लिखते हैं कि 'श्रेणिक का पहले नंदा नामक एक श्रेष्ठिपुत्री से पाणिग्रहण हुआ था और उस रानी से उसके अभयकुमार नामक एक पुत्र भी हुआ था।'

'जिस समय राजकुमार अभय अपने पिता श्रेणिक के प्रधान मंत्री के पद पर था उस वक्त राजा श्रेणिक ने अपने लिये वैशाली के राजा चेटक से उनकी पुत्री की माँग की, पर चेटक ने उसको स्वीकार नहीं किया जिससे श्रेणिक निराश हो उदासीन रहने लगा।

'मंत्री अभय ने राजा को धीरज दिया और वह खुद इस कार्य के लिये कोशिश करने लगा। व्यापारी के वेष में वह वैशाली में जाकर रहा और अनेक प्रपंचों के बाद उसने चेटक की सबसे छोटी राजकुमारी चेल्लना का अपहरण किया और श्रेणिक के साथ उसका विवाह करा दिया।'

'चेटकपुत्री चेल्लना जैन थी और श्रेणिक बौद्ध। अपने पति को जैन धर्म में ले जाने के लिये चेल्लना अनेक उपाय करती थी पर राजा बौद्ध धर्म को छोड़कर जैन होने को तैयार नहीं हुआ।'

'एक बार श्रेणिक उद्यान यात्रार्थ बाहर गया, जहाँ एक युवक जैन श्रमण का तप और त्याग देखकर वह जैन धर्म का श्रद्धालु हो गया।'

इन सब प्रसंगों के बाद 'श्रेणिक को भगवान् महावीर का उपदेश मिला और वह दृढ़ जैनधर्मी हो गया।'

राजा श्रेणिक विषयक उपर्युक्त जैन कथाओं का सारांश यही बताता है कि श्रेणिक को पहले बुद्ध का उपदेश मिला था और अपनी पिछली अवस्था में महावीर के उपदेश से वह जैन हुआ था।

यदि उपर्युक्त घटना के सत्य होने में कोई भी बाधक प्रमाण नहीं है तो इसका अर्थ यही हो सकता है कि करीब ४२

वर्ष की अवस्था में केवल ज्ञान प्राप्त कर भगवान् महावीर जब राजगृह नगर में गए उस समय राजा श्रेणिक वृद्धावस्था को पहुँच चुका था।

जैन सूत्रों में महावीर के साथ श्रेणिक-विषयक जितने प्रसंग उपलब्ध होते हैं उनसे कहीं अधिक उल्लेख अभयकुमार और कूणिक संबंधी मिलते हैं, इससे भी यही ध्वनित होता है कि महावीर का केवली जीवन श्रेणिक ने अधिक समय तक नहीं देखा।

इसी के संबंध में अब हम बौद्धग्रंथों के उल्लेखों पर विचार करेंगे।

बौद्ध साहित्य में बुद्ध के प्रतिस्पर्द्धी तीर्थंकरों का जहाँ जहाँ उल्लेख हुआ है वहाँ वहाँ सर्वत्र निर्ग्रंथ ज्ञातपुत्र का नाम सबके पीछे लिखा गया है[1]। इसका शायद यही कारण हो सकता है कि उनके प्रतिस्पर्धियों में ज्ञातपुत्र—महावीर सबसे पीछे के प्रतिस्पर्धी थे।

---

१ निम्न-लिखित नाम के ६ तीर्थंकर बुद्ध के प्रतिस्पर्द्धी थे, ऐसा बौद्ध लेखक लिखते हैं—१ पूरणकाश्यप, २ मस्करी गोशालक, ३ संजय वैरट्टी पुत्र, ४ अजित केशकंबल, ५ ककुद कात्यायन और ६ निर्ग्रंथ ज्ञातपुत्र।

दिव्यावदान में इस विषय का उल्लेख इस प्रकार है—

"तेन खलु समयेन राजगृहे नगरे षट् पूर्णाद्याः शास्तारोऽसर्वज्ञाः सर्वज्ञमानिनः प्रतिवसंति स्म। तद्यथा—पूरणः काश्यपो मस्करी गोशालिपुत्रः संजयी वैरट्टीपुत्रोऽजितः केशकम्बलः ककुदः कात्यायनो निर्ग्रंथो ज्ञातपुत्रः।"

—दिव्यावदान १२—१४३—१४४।

यही बात क्षेमेंद्र ने "अवदानकल्प-लता" में इस प्रकार कही है—

"पुरे राजगृहाभिख्ये, बिम्बसारेण भूभुजा।
पूज्यमानं जिनं दृष्ट्वा, स्थितं वेणुवनाश्रमे ॥ २ ॥
मात्सर्यविषसंतप्ता मूर्खाः सर्वज्ञमानिनः।
न सेहिरे तदुत्कर्षं, प्रकाशमिव कौशिकाः ॥ ३ ॥

× × × ×

मस्करी संजयी वैरैरजितः ककुदस्तथा।
पूरणज्ञातिपुत्राद्या मूर्खाः क्षपणकाः परे ॥ ५ ॥"

—अवदानकल्पलता, पल्लव १३, ४११।

अजातशत्रु से जिन तीर्थंकरों की मुलाकात हुई थी उनके वर्णन में पालि ग्रंथ 'दीघनिकाय' में महावीर के संबंध में अजातशत्रु के अमात्य के मुख से इस प्रकार वर्णन कराया गया है—

"अञ्ञतरो पि खो राजामच्चो राजानं मागधं अजातसत्तुं वेदेहीपुत्तं एतदवोच 'अयं देव निगंठो नातपुत्तो संघी चेव गणी च गणाचारियो च ञातो यसस्सी तित्थकरो साधुसंमतो बहुजनस्स रत्तस्सू (?) चिरपव्वजितो अद्धगतो वयो अनुपत्ता ति[२]।"

अर्थात् 'उनमें से एक मंत्री वैदेहीपुत्र मगधपति राजा अजातशत्रु से बोला—महाराज ! ये निर्ग्रंथ ज्ञातपुत्र आ गए, ये संघ और गण के मालिक हैं, गण के आचार्य और प्रख्यात कीर्तिमान् तीर्थंकर हैं, सज्जनमान्य और बहुत लोगों के श्रद्धास्पद (?) होने के उपरांत ये चिरदीक्षित और अवस्था में अधेड़ हैं।'

यदि यह मान लिया जाय कि उपर्युक्त तीर्थंकरों की मुलाकात का प्रसंग अजातशत्रु के राज्य के प्रथम वर्ष में हुआ तो उस समय महात्मा बुद्ध की उम्र ७२ वर्ष से कम नहीं हो सकती, क्योंकि अजातशत्रु के राजत्वकाल के आठवें वर्ष में वे अस्सी वर्ष की अवस्था में निर्वाण को प्राप्त हुए थे।

इसी प्रसंग पर महावीर को "अर्धगतवयाः" लिखा है, इस उल्लेख से उस समय भगवान् महावीर की अवस्था ५० वर्ष के आसपास होने की सूचना मिलती है।

यदि अनंतरोक्त बौद्ध-उल्लेख और हमारा अनुमान ठीक मान लिया जाय तो यह सिद्ध होगा कि अजातशत्रु के राज्य के बाईसवें वर्ष में भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ क्योंकि महावीर की संपूर्ण आयु ७२ वर्ष की थी और अजातशत्रु के राज्यारंभ के वर्ष में वे ५० वर्ष से ज्यादा उमर के नहीं थे। इस हिसाब से महात्मा बुद्ध के निर्वाण से लगभग १४ वर्ष पीछे महावीर का निर्वाण हुआ होगा।

---

२ दी० नि० पी० टी० रास, भाग १, पृष्ठ ४८—४९।

ऊपर कहा गया है कि बौद्ध लेखकों ने ऐसा लिखा है कि अजातशत्रु के आठवें वर्ष में भगवान् बुद्ध का निर्वाण हुआ तो अब यह देखना चाहिए कि अजातशत्रु के राज्यकाल के साथ महावीर निर्वाण का संबंध भी जैन सूत्रों से सूचित होता है या नहीं, और यदि होता है तो कब।

जैनसूत्रों में लिखा है कि श्रेणिक की मृत्यु के बाद कूणिक और उसके भाई हल्ल और विहल्ल का आपस में, चनक नामक हाथी की मालिकी के बारे में, झगड़ा हुआ। तब हल्ल और विहल्ल हाथी को लेकर अपने नाना राजा चेटक के पास चले गए। कूणिक ने अपने भाइयों को हाथी के साथ वापिस भेज देने का संदेशा देकर चेटक के पास दूत भेजा, पर वैशालीपति ने मगधराज की प्रार्थना स्वीकृत नहीं की। परिणाम-स्वरूप कूणिक ने चेटक पर धावा बोल दिया और घमासान युद्ध करके वैशाली को बरबाद कर दिया। इस युद्ध का जैनसूत्र भगवती, निरयावली आदि में "महाशिला कंटक" नाम से वर्णन है[३]।

अब महावीर और गोशालक के उस झगड़े की ओर ध्यान दीजिए, जिसका भगवती सूत्र के १५ वें शतक में विस्तृत वर्णन दिया है।

'गोशालक श्रावस्ती के उद्यान में तप कर रहा है, उसी अवसर पर महावीर भी श्रावस्ती के कोष्टक चैत्य में जाते हैं। उपदेश सुनने के लिये सभा एकत्र होती है और महावीर धर्मोपदेश करते हैं। उपदेश की समाप्ति पर महावीर के मुख्य शिष्य इंद्रभूति गौतम गोशालक की सर्वज्ञता के संबंध में महावीर से प्रश्न करते हैं, जिसके उत्तर में महावीर गोशालक की सर्वज्ञता का खुल्लमखुल्ला खंडन करते हैं। बात गोशालक के कानों तक पहुँचती है और वह अपने भिक्षुसंघ के

३ भगवती सूत्र के ७ वें शतक के ९ वें उद्देश में (पत्र ३१५—३२१) "महाशिला कंटक" और "रथ मूसल" नामक दो संग्रामों का वर्णन है। इन संग्रामों में कोणिक और इसके सहायक वृजिक लोगों का जय और चेटक तथा उनके मददगार काशी कोशल के गणराजाओं का पराजय हुआ था।

साथ महावीर के पास आकर अपनी तरफ से सफाई देता है पर महावीर उसकी एक नहीं सुनते। गोशालक क्रुद्ध होकर महावीर को जलाकर भस्म कर देने के लिये अपनी तेज:शक्ति का प्रयोग करता है, पर इसमें वह सफल नहीं होता। उसकी तैजसशक्ति महावीर के चारों ओर चक्कर लगाकर पीछे उसी के शरीर में प्रवेश करती है। इससे गोशालक व्याकुल होता है और झुँझलाकर महावीर को कहता है "मृत्युप्रार्थी काश्यप मेरे इस तपस्तेज से ग्रस्त हो छः मास में ही तू पित्तज्वर से मर जायगा"[४]।

इस आक्रोश के उत्तर में महावीर उसे कहते हैं—"गोशाल ! मैं तेरी इस शक्ति से नहीं मरूँगा, मैं अभी १६ वर्ष तक इस पृथ्वी पर विचरूँगा, पर गोशालक ! तू खुद ही अपनी इस तेजोलेश्या से दग्ध होकर आज से सात दिन के भीतर मरणवश होगा।"[५] इसके बाद गोशालक बीमार हो जाता है और सातवें दिन वह सख्त बीमार होकर सान्निपातिक अवस्था के निकट पहुँच जाता है। उस अवस्था में गोशालक अपने शिष्यों को कुछ नई बातें कहता है जिनमें आठ चरिमों की प्ररूपणा मुख्य है। इन आठ चरिमों में गोशालक "महाशिलाकंटक" युद्ध को सातवें नम्बर पर रखता है[६]।

---

४ भगवती के मूल शब्द ये हैं—

"तुमं णं आउसो कासवा ! ममं तवेणं तेएणं अन्नाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं मासाणं पित्तज्जरपरिगयसरीरे दाहवक्कंतीए छउमत्थे चेव कालं करेस्ससि।"

—भगवती श० १५, ६७८—६७९।

५ मूल शब्द इस प्रकार हैं—

"नो खलु अहं गोसाला तव तवेणं तेएणं अन्नाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं जाव कालं करेस्सामि, अहन्नं अन्नाइं सोलसवासाइं जिणे सुहत्थी विहरिस्सामि, तुमं णं गोशाला अप्पणा चेव सएणं तेएणं अन्नाइट्ठे समाणे अंतो सत्त रत्तस्स पित्तज्जरपरिगयसरीरे जाव छउमत्थे चेव कालं करेस्ससि।"

—भगवती श० १५, ६७८—६७९।

६ आठ चरिमों (अंतिम पदार्थों) के प्ररूपणा संबंधी भगवती के शब्द इस प्रकार हैं—

हमारे इस विवेचन का प्रयोजन यह है कि अजातशत्रु के मगध का राज्यसिंहासन प्राप्त करने के बाद "महाशिला कंटक" युद्ध हुआ और उसके बाद गोशालक का मरण हुआ, क्योंकि मरते समय कहे हुए आठ चरिमों में वह इस युद्ध को भी गिनाता है, और गोशालक के मरण के उपरांत करीब १६ वर्ष तक महावीर जीवित रहे। इसका तात्पर्य यह निकला कि भगवान् महावीर अजातशत्रु की राज्यप्राप्ति के १६ वर्ष से भी अधिक समय तक जीवित रहे थे और बुद्ध उसके राज्यकाल के ८ वें वर्ष में ही देहमुक्त हो चुके थे।

बुद्ध की जीवित अवस्था में ज्ञातपुत्र के कालधर्म-सूचक बौद्ध उल्लेख भी मिलते हैं। उन्हें भी देखना चाहिए।

ऊपर देखा गया है कि महावीर का निर्वाण बुद्ध निर्वाण के पीछे हुआ था, परंतु बौद्धों के "दीघनिकाय" और "मज्झिमनिकाय" में कुछ ऐसे उल्लेख भी पाए जाते हैं, जो बुद्ध के जीवित समय में ही ज्ञातपुत्र महावीर के निर्वाण की ओर संकेत करते हैं। हम उन पाली शब्दों को यहाँ उद्धृत करके देखेंगे कि इनका तात्पर्य क्या है।

मज्झिमनिकाय में लिखा है—

"एकं समयं भगवा सक्केसु विहरति सामगामे। तेन खो पन समयेन निग्गन्थो नातपुत्तो पावायं अधुना कालकतो होति। तस्स कालकिरियाय भिन्ननिग्गंथद्वेधिक जाता, भंडनजाता, कलहजाता, विवादापन्ना, अण्णमण्णं मुखसत्तीहिं वितुदता विहरंति[७]।"

अर्थात् 'एक समय भगवान् (बुद्ध) शाक्य देश के सामगाम में थे तब (उन्होंने सुना कि) पावा में निर्ग्रंथ ज्ञातपुत्र ने काल

" × × × इमाइं अट्ठ चरिमाइं पन्नवेति, तंजहा—चरिमे पाणे, चरिमे गेये, चरिमे नट्टे, चरिमे अंजलिकम्मे, चरिमे पोक्खलसंवट्टए महामेहे, चरिमे सेयणए गंधहत्थी, चरिमे महासिला कंटए संगामे अहं च णं इमीसे ओसप्पीणीए चउवीसाए तित्थकराणं चरिमे तित्थकरे सिज्झिस्सं जाव अंतं करेस्संति।"

—भगवती १५, पृ० ६८०।

७. मज्झिमनिकाय भाग २, पृष्ठ १४३।

किया और (उसके शिष्य) निर्ग्रंथों में दो दल हो गए हैं। यही नहीं, वे आपस में लड़ते-झगड़ते हैं, और मुँह से एक दूसरे को भला बुरा भी कहते फिरते हैं।'

इसी आशय का पाठ 'दीघनिकाय' के पासादिक सुत्तंत में भी है और वहाँ पर निर्ग्रंथ किस तरह एक दूसरे का खंडन करते हैं इसका वर्णन भी दिया है।

इन उल्लेखों के ही आधार पर डा० विंसेंट स्मिथ आदि अनेक विद्वानों का कथन है कि महात्मा बुद्ध की जीवित दशा में ही महावीर का निर्वाण हो चुका था।

डा० जेकोबी कहते हैं—बौद्ध लेखक जिस पावा में महावीर का काल प्राप्त होना लिखते हैं, वह स्थान महावीर की निर्वाणभूमि से भिन्न है, इसलिये इस विषय में यह उल्लेख प्रामाणिक नहीं हो सकता।

डा० जेकोबी जिस कारण से इन उल्लेखों को गलत समझते हैं उसी कारण से मैं इन्हें ठीक समझता हूँ। बौद्धों के ये गलत उल्लेख ही बुद्ध और महावीर के निर्वाण समय के वास्तविक अंतर को प्रदर्शित करने में सहायक हो रहे हैं। क्योंकि उक्त उल्लेखों का संबंध महावीर के निर्वाण के साथ नहीं पर उस बीमारी के साथ है जो गोशालक के साथ झगड़ा होने के बाद शुरू हुई थी और छः मास तक रही थी। महावीर की इस बीमारी का अंतिम स्वरूप बड़ा भयंकर था। लोगों को उनके बचने की आशा कम हो गई थी। जो कोई उनकी बीमारी की हालत देखता और सुनता वह गोशालक के भविष्य कथन को याद करता और कहता "सचमुच ही श्रमण भगवान् महावीर मंखलि गोशालक के तपस्तेज से व्याप्त हुए हैं, और छः मास के भीतर ही पित्तज्वर से काल कर जायँगे[८]।"

---

[८] महावीर की इस बीमारी के हाल और जनप्रवाद का भगवती में नीचे लिखा वर्णन दिया है—

एक बार मेंढियगाम-निवासी प्रजा इस प्रकार कल्पना करती हुई महावीर के पास से अपने स्थान की ओर जा रही थी। मार्ग के निकट मालुका कच्छ के पास तप करते हुए महावीर-शिष्य सिंहमुनि ने यह जन-संवाद सुना और उनका ध्यान विचलित हो गया। इतना ही नहीं, तपोभूमि से निकलकर वे बच्चे की भाँति जोर से रो पड़े[६]। गाँव की ओर जाते हुए जन समवाय ने सिंहमुनि के इस रुदन को सुनकर "महावीर कालप्राप्त हो गए" यह मान लिया हो, और आगे से आगे उड़ती हुई यह अफवाह बुद्ध के कानों तक पहुँच गई हो तो इसमें आश्चर्य क्या है। मेंढियगाम पावा के पास ही होगा इस कारण से मेंढियगाम को लोगों ने पावा मान लिया हो, अथवा

"तएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स सरीरगंसि विउले रोगायंके पाउब्भूए उज्जले जाव दुरहियासे पित्तजरपरिगयसरीरे दाहवक्कंतीए यावि होत्था। अवियाइ लोहियवच्चाइं पकरेइ। चाउवन्नं वागरेति एवं खलु समणे भगवं महावीरे गोशालस्स मंखलिपुत्तस्स तवेणं तेएणं अन्नाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं मासाणं पित्तज्जर परिगयसरीरे दाहवक्कंतीए छउमत्थे चेव कालं करेस्सति।"

—भगवती १५, ५८६।

६ महावीर के शिष्य सिंह अनगार को महावीर की अंतिम बीमारी कैसी भयंकर जान पड़ी थी और वे इसकी चिंता से बच्चे की तरह किस तरह रो पड़े थे इसका वर्णन भी दर्शनीय है—

"तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी सीहे नामं अणगारे पगइभद्दए जाव विणीए मालुया कच्छस्स अदूरसामंते छट्ठं छट्ठेणं अनिक्खित्तेणं २ तवो कम्मेणं उड्ढं बाहा जाव विहरति। तएणं तस्स सीहस्स अणगारस्स झाणंतरियाए वट्टमाणस्स अयमेयारूवे जावसमुप्पज्जित्था—एवं खलु ममं धम्मायरियस्स धम्मोवदेसगस्स समणस्स भगवओ महावीरस्स सरीरगंसि विउले रोगायंके पाउब्भूए उज्जले जाव छउमत्थे चेव कालं करिस्सति, वदिस्संति य णं अन्नतित्थिया छउमत्थे चेव काल गए, इमेणं एयारूवेणं महया मणोमाणसिएणं दुक्खेणं अभिभूए समाणे आयावणभूमीओ पच्चोरुभइ आया० जेणेव मालुयाकच्छए तेणेव उवा २ मालुयाकच्छगं अंतो २ अणुपविसइ मालुया० २ महया २ सद्देणं कुहुकुहुस्स परुन्ने।"

—भगवती १५, ५८६।

महावीर का पावा में निर्वाण होने से पिछले बौद्ध लेखकों ने इन उल्लेखों में 'पावा' शब्द लिख दिया हो तो आश्चर्य नहीं है। कुछ भी हो, उक्त उल्लेखों का कारण-विषय महावीर का निर्वाण नहीं पर उनकी सख्त बीमारी के समय की इस प्रकार की कोई अफवाह हो है।

हमारे इस अनुमान के समर्थक इन्हीं उल्लेखों के पिछले वे शब्द हैं जो महावीर के शिष्यों में झगड़ा होने की सूचना देते हैं।

महावीर की विद्यमानता से लेकर आज तक जैन श्रमणसंघ में जो जो छोटे बड़े मतभेद हुए हैं, उन सबका इतिहास और स्मृतियाँ जैन सूत्रग्रंथों में दी हुई मिलती हैं[१०]।

महावीर को केवल ज्ञान हुए १४ वर्ष बीत चुके थे तब सबके पहले निर्ग्रंथ जमालि ने महावीर के साथ विरोध खड़ा किया और वह उनसे अलग हो गया था, जिसका जैनग्रंथों में विस्तृत वर्णन है।

महावीर के केवलि जीवन के सोलहवें वर्ष में भी तिष्यगुप्त नामक एक साधु ने कुछ मतभेद खड़ा किया था, जिसका सविस्तर वर्णन जैन लेखकों ने किया है।

महावीर की जीवित अवस्था में उपर्युक्त दो साधु उनसे विरुद्ध हुए थे, और इनके निर्वाण के बाद भी २१४, २२०, २२८, ५४४, ५८४ इन वर्षों में क्रमशः आषाढ़, अश्वमित्र, गांगेय, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल ये पाँच पुरुष जैन प्रवचन में भेद करनेवाले हुए जिन्हें जैन शास्त्रकारों ने "निह्नव" नाम से उद्घोषित किया है।

यदि महावीर के निर्वाण के अनंतर ही निर्ग्रंथ श्रमणसंघ में जबरदस्त मतभेद पड़ा होता—जैसा कि बौद्धों ने लिखा है—तो जैन ग्रंथों में इसका अवश्य ही उल्लेख होता, पर जैन ग्रंथों में इस

---

१० जमालि संबंधी संपूर्ण वृत्तांत भगवती सूत्र के नवें शतक के ३३ वें उद्देश में दिया है और आवश्यक नियुक्ति विशेषावश्यक भाष्य, आवश्यक चूर्णि तथा उत्तराध्ययनवृत्ति आदि प्राचीन ग्रंथों में जमालि से लेकर गोष्ठामाहिल पर्यंत के ७ निह्नवों की उत्पत्ति लिखी है। स्थानांग और औपपातिक मूल सूत्र में भी इन सात निह्नवों के नाम लिखे मिलते हैं।

विषय की सूचना तक नहीं है, इससे विपरीत जैन साहित्य में निर्वाण से १६० वर्ष पर्यंत महावीर की निर्ग्रंथ-परंपरा में परम-शांति और सुलह रहने के उल्लेख मिलते हैं,[११] इसलिये हम बौद्धों

---

[११] स्थविर यशोभद्र पर्य्यंत महावीर का धर्मशासन एकाचार्य्य की सत्ता में ही रहा। स्थविर यशोभद्र निर्वाण संवत् १४८ में संभूतिविजय और भद्रबाहु नामक अपने दो शिष्यों को उत्तराधिकारी बनाकर स्वर्गवासी हुए। तब से कभी कभी एक पाट पर दो दो आचार्य्य होने की प्रवृत्ति चली, पर इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि वे दोनों उत्तराधिकारी आपस में निरपेक्ष हो जाते थे। बात यह थी कि जब तक बड़ा पट्टधर जीवित रहता, छोटे पट्टधर का संघ के कार्य्य में हस्तक्षेप नहीं होता था। यशोभद्र के दो पट्टधरों में संभूतिविजय जब तक जीते थे, भद्रबाहु का संघ के कार्य्य में कुछ भी अधिकार नहीं था। नि० सं० १५६ में जब संभूतिविजयजी स्वर्गवासी हुए तभी भद्रबाहु को संघस्थविर का पद प्राप्त हुआ। नि० सं० १६० के आसपास पाटलिपुत्र में संघ एकत्र हुआ और भद्रबाहु को संघ समवसरण में बुलाया गया, पर उन्होंने इनकार कर दिया। इस पर संघ ने भद्रबाहु को न केवल धमकी ही दी बल्कि उनका अल्प समय के लिये बहिष्कार तक कर दिया, पर स्थविरजी जल्दी सम्हल गए और संघ से समझौता हो गया। इसके सिवा भद्रबाहु के समय में जैन श्रमण संघ में कोई झगड़ा नहा हुआ। इस समय में दक्षिण के और उत्तर के जैन साधुओं में भिन्नता पड़ने की बात कही जाती है पर इसका कोई प्रमाण नहीं है। दिगंबरीय साहित्य में भद्रबाहु के दक्षिण में जाने और स्थूलभद्रादि कतिपय साधुओं के न जाने की जो कथाएँ लिखी गई हैं वे केवल अर्वाचीन कल्पनाएँ हैं। इस विषय में आधारभूत मानी जाती दिगम्बरीय बातें कैसी अव्यवस्थित और लचर हैं यह नीचे के विवरण से ज्ञात होगा।

श्रवण बेलगोल की पार्श्वनाथ बस्ती के शक संवत् ५२२ के आसपास लिखे हुए एक शिलालेख में भद्रबाहु के वचन से उत्तरापथ से दक्षिणापथ की ओर जैनसंघ के जाने का उल्लेख मिलता है, पर उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि भविष्यवेदी भद्रबाहु भी उसके साथ दक्षिण में गए थे। इसके उपरान्त उस लेख में रामल्य, स्थूलभद्र या भद्राचार्य्य का उल्लेख भी नहीं है।

इसके बाद इस प्रसंग का उल्लेख शक सं० ८५३ में रचे हुए हरिषेण के 'बृहत्कथाकोष' में इस प्रकार मिलता है—'एक समय विहार करते हुए भद्र-बाहु उज्जैनी नगरी में पहुँचे और शिप्रा नदी के तीर उपवन में ठहरे। इस समय उज्जैनी में जैन धर्मावलंबी राजा चंद्रगुप्त अपनी रानी सुप्रभा सहित राज्य करता था। जब भद्रबाहु स्वामी आहार के निमित्त नगरी में गए तब

के प्रस्तुत उल्लेख महावीर के निर्वाण से नहीं पर उनकी उक्त बीमारी और जमालीवाली तकरार से संबंधित मानते हैं। निर्ग्रंथों

एक गृह में झूले में झूलते हुए बालक ने चिल्लाकर उन्हें निकल जाने को कहा। इस निमित्त से आचार्य्य ने जाना कि बारह वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़नेवाला है। इस पर उन्होंने संघ को बुलाकर सब हाल निवेदन किया और कहा कि अब तुम लोगों को दक्षिण देश को चले जाना चाहिए, मैं स्वयं यहीं ठहरूँगा, क्योंकि मेरी आयु अब क्षीण हो चुकी है (अहमत्रैव तिष्ठामि, क्षीणमायुर्ममाऽधुना)।'

इसी कथाकोष में चंद्रगुप्त का भद्रबाहु के पास दीक्षा लेकर विशाखाचार्य्य के नाम से प्रसिद्ध होना और गुरु के आज्ञानुसार संघ को लेकर दक्षिण के पुन्नाट देश में जाना लिखा है। साथ ही रामिल्ल, स्थूलवृद्ध और भद्राचार्य्य को अपने अपने संघों सहित सिंधु आदि देशों में भेजने का वर्णन है। और इसके बाद भद्रबाहु के अवन्ती के भाद्रपद नामक स्थान पर समाधिमरण करने का उल्लेख किया गया है।

"प्राप्य भाद्रपदं देशं श्रीमदुज्जयनीभवम्।
चकाराऽनशनं धीरः स दिनानि बहून्यलम्॥
समाधिमरणं प्राप्य भद्रबाहुर्दिवं ययौ॥"

भट्टारक रत्ननंदि-निर्मित भद्रबाहुचरित्र में, जो अनुमानतः विक्रम की पंद्रहवीं या सोलहवीं सदी का ग्रंथ है, लिखा है कि 'निमित्त ज्ञान से भावी द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष को जानकर भद्रबाहु अपने बारह हजार संघ के साथ दक्षिण देश में चले गए, पर रामल्य, स्थूलभद्रादि बारह हजार साधु उज्जैनी के श्रावक संघ के आग्रह से दुर्भिक्ष के समय वहीं ठहर गए। दुर्भिक्ष के अंत में दक्षिण देश से भद्रबाहु के पट्टधर विशाखाचार्य्य कान्यकुब्ज के उद्यान में आए, तब रामल्य स्थूलभद्रादि ने अपने साधुओं को उनके पास भेजा। साधुओं ने उनकी भक्तिपूर्वक वंदना की, पर विशाखाचार्य्य ने उनको वस्त्रधारी देखकर प्रति-वंदना नहीं की। साधु लज्जित हो अपने स्थान पर गए। रामल्य, स्थूलभद्र और स्थूलाचार्य्य इकट्ठे होकर विचार करने लगे कि अब क्या करना चाहिए। वृद्धस्थूलाचार्य्य ने कहा—"दुर्भिक्ष के वश जो आचार में शिथिलता आ गई है उसे अब छोड़ देना चाहिए और मूल मार्ग को स्वीकार कर लेना चाहिए।" इस पर कितनेक भव्यात्माओं ने तो मूल मार्ग स्वीकार कर लिया पर कितनेक युवा साधुओं को वृद्ध की यह सलाह अच्छी नहीं लगी, और वे कहने लगे कि इस पंचम काल में अब चौथे काल की दुष्कर क्रिया नहीं पाली जा सकती। इसलिये जो मार्ग स्वीकार किया है वही योग्य है। स्थूलाचार्य्य के ज्यादा

के द्वैधीभाव और एक दूसरे की खटपट का बौद्धों ने जो वर्णन दिया है वह भगवती सूत्र में वर्णित जमालि और गौतम इंद्र-भूति के विवाद का विकृत स्वरूप है ।[१२]

कहने पर वे उन स्थविर पर एकदम क्रुद्ध हुए और दंडों से मारकर उन्होंने स्थूलाचार्य्य को फेंक दिया । •

शक सं० १७३१ में बने हुए देवचंद्र के राजावली कथा नामक कन्नड ग्रंथ में भी भद्रबाहु और चंद्रगुप्त की कथा है, जो कि उपर्युक्त भद्रबाहुचरित्र के समान ही है । हाँ, इसमें कुछ कुछ नए संस्कार भी हैं, जैसे—भद्रबाहु-चरित्र में उज्जैनी के राजा चंद्रगुप्त को सोलह स्वप्न होते हैं, पर राजावली कथा के लेखक ने वे ही सोलह स्वप्न पाटलिपुत्र के राजा चंद्रगुप्त को दिखाए हैं । इन एक दूसरे से भिन्न कथानकों को देखते हुए हमें यही कहना पड़ता है कि भद्रबाहु की प्रमुखता में दक्षिण में जाने के बाद स्थानिक श्रमणसंघ के वस्त्र-धारण कर लेने से दोनों पार्टियों के भिन्न हो जाने की जो विद्वानों की सम्मति है वह केवल आधुनिक दंतकथाओं के ऊपर अवलंबित है । जैन संघ के दक्षिण में जाने का सबसे पुराना उल्लेख पार्श्वनाथ बस्ती के उक्त लेख में है, पर उसमें भद्रबाहु के दक्षिण में जाने का कोई उल्लेख नहीं है । और उसमें उल्लिखित भद्रबाहु श्रुतकेवली नहीं पर उनके परंपराभावी दूसरे नैमित्तिक भद्रबाहु हैं ।

विक्रम की दशम सदी के बृहत्कथाकोष के ग्रंथकार भद्रबाहु को श्रुतकेवली तो लिखते हैं पर उनके दक्षिण में जाने से साफ इनकार कर देते हैं और वे चंद्रगुप्त को ही विशाखाचार्य के नाम से भद्रबाहु के संघ का मुखिया बनाकर दक्षिण में और रामिल्ल, स्थूलवृद्ध तथा भद्राचार्य को अपने अपने संघ के साथ सिंधु आदि देशों में भेजवाते हैं ।

भद्रबाहु-चरित्रकार इससे भी आगे बढ़कर स्थूलवृद्ध को स्थूलभद्र और भद्राचार्य को स्थूलाचार्य बना लेते हैं और भद्रबाहु को दक्षिण में पहुँचाकर अनशन कराते हैं ।

राजावली कथाकार रत्ननंदि की सब बातों को स्वीकार कर लेने के उपरांत चंद्रगुप्त को पाटलिपुत्र का राजा ठहराने की चेष्टा करता है । इस प्रकार आगे से आगे बढ़ाई हुई बातों को हम 'प्रमाण' न कहकर दंतकथा मात्र या मनगढ़ंत कल्पना ही कह सकते हैं ।

१२ चंपा के पूर्णभद्र चैत्य में महावीर के सामने आकर जिस समय जमालि आप केवली होने की शेखी हाँक रहा था उस समय महावीर के मुख्य शिष्य

गोशालक की तैजस शक्ति-जनित महावीर की सख्त बीमारी, जमालि का महावीर से विरुद्ध होकर जुदा होना, जमालि के ५०० शिष्यों में दो मत होकर आधे का जमालि को छोड़कर महावीर के पास जाना,[१२] जमालि का महावीर के पास जाकर आत्मश्लाघा

इंद्रभूति-गोतम ने उससे जो प्रश्नोत्तर किए थे उनका वर्णन भगवती में इस प्रकार है—

"तएणं भगवं गोयमे जमालिं अणगारं एवं वयासीणो खलु जमाली ! केवलिस्स णाणे वा दंसणे वा सेलंसि वा थंभंसि वा थूभंसि वा आवरिज्जइ वा णिवारिज्जइ वा जइ णं तुम्मं जमाली उपण्णणाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली भवित्ता केवलीअवक्कमणेणं अवक्कंते ता णं इमाइं दो वागरणाइं वागरेहि सासए लोए जमाली, असासए लोए जमाली ?, सासए जीवे जमाली, असासए जीवे जमाली ? । तएणं से जमाली अणगारे भगवया गोयमेणं एवं वुत्ते समाणे संकिए कंखिए ० जाव कलुससमावण्णे जाएयाविहोत्था, णो संचाएइ भगवओ गोयमस्स किंचिवि पामोक्खमाइक्खित्तए तुसणीए संचिट्ठइ ।"

बौद्ध लेखकों ने निर्ग्रंथों के विषय में जो लिखा है कि वे एक दूसरे के साथ लड़ते भिड़ते हैं, वह इसी विवाद की विकृत सूचना है ।

१२ जमालि की नवीन मतकल्पना को कितनेक साधुओं ने तो स्वीकार कर लिया पर कितनेकों ने उसे स्वीकार नहीं किया । जिन्होंने जमालि के नए मत को मंजूर नहीं किया था वे जमालि को छोड़कर महावीर के पास चले गए थे । इस विषय का भगवती का उल्लेख इस प्रकार है—

"तएणं तस्स जमालिस्स अणगारस्स एवमाइक्खमाणस्स ० जाव परूवेमाणस्स अत्थे गइया समणा णिग्गंथा एयमट्ठं सद्दहंति पत्तियंति रोयंति अत्थे गइया समणा णिग्गंथा एयमट्ठं णो सद्दहंति णो पत्तियंति णो रोयंति, तत्थ णं जे समणा णिग्गंथा जमालिस्स अणगारस्स एयमट्ठं सद्दहंति पत्तियंति रोयंति ते णं जमालिं चेव अणगारं उपसंपज्जिता णं विहरंति । तत्थ णं जे ते समणा णिग्गंथा जमालिस्स अणगारस्स एयमट्ठं णो सद्दहंति णो पत्तियंति णो रोयंति ते णं जमालिस्स अणगारस्स अंतियाओ कोट्ठयाओ चेइयाओ पडिणिक्खमंति पडिणिक्खमइत्ता पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दुइज्जमाणे॰ जेणेव चंपाणयरी जेणेव पुण्णभद्दे चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं वंदंति णमंसंति वंदित्ता णमंसित्ता समणं भगवं महावीरं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति ।"

—भगवती ९—३३ ।

करना और इंद्रभूति गौतम का उसके साथ विवाद ये सब भगवान् महावीर के केवलिजीवन के १४ वें वर्ष के अंत में बनी हुई कल्पनाएँ हैं, और इन्हीं सब कल्पनाओं की विकृत सूचना पालिग्रंथों के उक्त उल्लेखों में संगृहीत है।

'जिस वर्ष में ज्ञातपुत्र के मरण (मरण की अफवाह) के समाचार सुने उसके दूसरे ही वर्ष बुद्ध का निर्वाण हुआ' बौद्धों के इस आशय के लेख से हम बुद्ध और महावीर के निर्वाण समय के अंतर को ठीक तौर से समझ सकते हैं।

केवल ज्ञान के चौदहवें वर्ष के मार्गशीर्ष मास में श्रावस्ती के सालकोष्टक उद्यान में महावीर और गोशालक के बीच झगड़ा हुआ और वैशाख मास में जब महावीर मेंढियगाम के सालकोष्टक चैत्य में थे तब सख्त बीमार होकर उनके मरण की अफवाह उड़ी, और करीब इसी अर्से में शिष्य जमालि ने श्रावस्ती के कोष्टक चैत्य में महावीर

इसी संबंध में आवश्यक निर्युक्तिकार ने लिखा है कि आखिर में ढंक श्रावक के समझाने पर जमालीमतावलंबी सब साधु-साध्वी जमालि को छोड़कर महावीर के पास चले गए थे, इस विषय की संग्रह गाथा यह है—

"जिट्ठा सुदंसण जमालिणोऽज्ज सावत्थितिंदुगुज्जाणे।
पंचसया य सहस्सं ढंकेण जमालि मोत्तूणम्॥ २३०७॥"

खुद जमालि के लिये भगवती में लिखा है कि जमालि मिथ्या आग्रह और असत्कल्पनाओं से अपनी आत्मा को और दूसरों को बहकाता हुआ बहुत वर्षों तक श्रामण्य पालता रहा। (बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिणिवेसेहिं य अप्पाणं च परं च तदुभयं च वुग्गाहेमाणे वुप्पाएमाणे बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणइ)—भगवती ९—३३।

एक जगह लिखा है, 'जमालि अनगार अपने आचार्य और उपाध्याय का प्रत्यनीक—शत्रु—हुआ, वह अपने आचार्य उपाध्याय का अपयश करनेवाला हुआ। (जमाली णं अणगारे आयरियपडिणीए उवज्झायपडिणीए आयरियउवज्झायाणं अयसकारए)—भगवती ९, ४८९।

इन जैन उल्लेखों से यह बात सिद्ध है कि जमालि के मतभेद से निर्ग्रंथ संघ में एक अनिष्ट-चर्चा खड़ी हो गई थी। इसी चर्चा और भिन्नता को लक्ष्य करके निर्ग्रंथों के विषय में "भिन्नानिग्गथद्वेधिक जाता" ये शब्द बौद्ध पिटकों में लिखे गए हैं जो खास करके जमालि के शिष्यों पर घटित होते हैं।

के वचन का उत्थापन किया[१४] और उसके साधुओं में दो पार्टियाँ हुईं। इसके बाद ठीक एक वर्ष में वैशाख सुदि १५ के दिन महात्मा बुद्ध ने देह छोड़ा। अब तक महावीर को केवल ज्ञान हुए पंद्रह वर्ष संपूर्ण होकर सोलहवें वर्ष के ५ दिन व्यतीत हुए थे। इसके बाद

---

१४ जैन मत में भेद डालनेवाले जो सात निह्नव हुए उन सब में पहला 'जमालि' था, यह बात पहले ही कह दी है। जमालि ने जो मत निकाला था उसका नाम 'बहुरत' था। इस बहुरत मत की उत्पत्ति का निरूपण करते हुए आवश्यक नियुक्तिकार लिखते हैं—'महावीर को केवल ज्ञान उत्पन्न हुए १४ वर्ष हुए तब श्रावस्ती में 'बहुरत' दर्शन की उत्पत्ति हुई।' देखो गाथा—

"चोद्दस वासाणि तया, जिणेण उप्पाडियस्स नाणस्स।
तो 'बहुरयाण' दिट्ठी, सावत्थीए समुप्पन्ना ॥ २४१ ॥"

महावीर का केवली जीवन सौरगणनानुसार २९ वर्ष ५ मास और २७ दिन का था। इस हिसाब से जमालि के मतभेद के बाद महावीर १५ वर्ष ५ मास २७ दिन तक जीवित रहे। उधर भयंकर बीमारी से अनिष्ट कल्पना करते और रोते हुए सिंह अनगार को अपने पास बुलाकर आश्वासन देते हुए महावीर कहते हैं 'हे सिंह! तू मेरे मरण की कल्पना कर क्यों दुःख करता है? मैं इस समय नहीं मरूँगा, अभी मैं साढ़े पंदरह वर्ष तक इस पृथिवी पर विचरूँगा।' ("तंनो खलु अहं सीहा! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स तवेणं तेएणं अन्नाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं मासाणं कालं जावं कालं करेस्सं, अहंनं अन्नाइं अद्धसोलसवासाइं जिणे सुहत्थी विहरिस्सामि।")

—भगवती १५,६८६।

इन शास्त्रीय लेखों से सिद्ध होता है कि जमालि का मतभेद और महावीर की भयंकर बीमारी ये दोनों घटनाएँ समकालीन थीं।

भगवान् महावीर गोशालक के साथ झगड़ा होने के बाद १६ वर्ष तक जीवित रहे। भगवती के इस सोलह वर्ष के उल्लेख का जो अर्थ 'बराबर सोलह' वर्ष किया जाय तो निर्वाण के पहले के सतरहवें वर्ष के कार्त्तिक मास में झगड़े वाला प्रसंग आता है, पर हम देखते हैं कि केवल ज्ञान होने के बाद महावीर ने श्रावस्ती में एक भी चातुर्मास्य नहीं किया था इसलिये यह प्रसंग चौमासे में तो नहीं बना, पर चौमासा उतरते ही महावीर मिथिला अथवा वैशाली से श्रावस्ती गए हैं और झगड़ा लगभग मार्गशीर्ष में ही हो गया है, इसी लिये महावीर उस समय अपना १६ वर्ष का जीवित रहना बताते हैं।

महावीर १४ वर्ष ५ मास और १५ दिन जीवित रहे[१५]। बुद्ध का ८० वर्ष की वय में निर्वाण हुआ और उसके बाद करीब साढ़े चौदह वर्ष में महावीर का ७२ वर्ष की उमर में निर्वाण हुआ। बुद्ध और महावीर, दोनों ने ३०-३० वर्ष की उमर में दीक्षा ली। बुद्ध ने अपनी ३६ वर्ष की अवस्था में बोधि प्राप्त करके धर्मप्रचार करना शुरू किया, तब महावीर ने अपनी ४२ वर्ष से भी अधिक अवस्था में केवल ज्ञान प्राप्त कर धर्मोपदेश देना प्रारंभ किया। इन सब प्रसंगों से हम इस प्रकार निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

बुद्ध २२ वर्ष के हुए तब महावीर का जन्म हुआ।

३० वर्ष की अवस्था में जब बुद्ध ने प्रव्रज्या ग्रहण की तब महावीर ८ वर्ष के होकर पाठशाला में अध्ययनार्थ गए।

३६ वर्ष की अवस्था में बोधि प्राप्त कर बुद्ध ने बौद्ध धर्म का प्रचार शुरू किया उस समय महावीर १४ वर्ष के थे।

बुद्ध ५२ वर्ष के हुए तब महावीर ने ३० वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण की।

बुद्ध ६५वें वर्ष में थे तब महावीर को ४३ वें वर्ष में केवल ज्ञान प्राप्त हुआ।

बुद्ध को ८६वाँ वर्ष चलता था तब महावीर की अवस्था ५६ वर्ष और ६ मास के आसपास थी और इन्हें केवल ज्ञान हुए प्राय: १३ वर्ष और ७ मास हुए थे। इस समय में महावीर और गोशालक के बीच झगड़ा हुआ और इसके बाद ५ मास के अर्से में जमालि ने मतभेद खड़ा किया और गोशालक की तेजोलेश्या-जनित ताप के असर से महावीर सख्त बीमार हुए।

१५ वैशाख सुदी दशमी को महावीर को केवल ज्ञान हुआ और कार्तिक बदि अमावस्या को उनका निर्वाण हुआ, इस सामान्य गणना से महावीर का केवलीजीवन २६ वर्ष ५ मास और २० दिन का मानकर आयुष्य के संबंध में यहाँ उल्लेख किए गए हैं।

८० वर्ष की अवस्था में महात्मा बुद्ध का देहांत हुआ तब महावीर को ५८वाँ वर्ष चलता था। बुद्ध का देहांत वैशाख सुदि १५ पूर्णिमा को हुआ था और महावीर का कार्तिक वदि अमावस्या को। इस हिसाब से बुद्ध-निर्वाण के बाद बराबर १४ वर्ष ५ मास और १५ दिन में महावीर का निर्वाण हुआ।

बौद्ध और पौराणिक कालगणना

बुद्ध-निर्वाण-समय का प्रतिपादन करते हुए बौद्ध पालिग्रंथ 'महावंश' और 'दीपवंश' में मगध के शैशुनाग, नंद और मौर्य राजाओं के राजत्वकाल की अवधियाँ दी हैं और बुद्ध-निर्वाण के २१८ वें वर्ष में अशोक का राज्याभिषेक होना ठहराया है।

पुराणकारों ने भी शैशुनाग, नंद और मौर्य राजाओं के राजत्व काल का वर्णन किया है। अजातशत्रु से अशोक के अभिषेक तक की उक्त अवधियाँ इस प्रकार हैं—

बौद्धगणना[१६]—		पुराणगणना—[१७]	
अजातशत्रु	३२	अजातशत्रु	३७
उदायिभद्द	१६	वंशक	२४
अनुरुद्ध-मुंड	८	उदायी	३३
नागदासक	२४	नंदिवर्द्धन	४२
सुसुनाग	१८	महानंदी	४३
कालासोक	२८	नव नंद	१००
कालासोकपुत्र	२२	चंद्रगुप्त	२४
नव नन्द	२२	बिंदुसार	२५
चंद्रगुप्त	२४		
बिंदुसार	२८		
अनभिषिक्त अशोक	३		
	२२५		३२८

१६ बौद्ध ग्रंथों में अजातशत्रु का राजत्व काल ३२ वर्ष का लिखा है।

इससे मालूम होगा कि बौद्ध अवधियों के अनुसार अजातशत्रु के राज्याभिषेक से अशोक के राज्याभिषेक पर्यंत सिर्फ २२५ वर्ष व्यतीत

और बाकी के मागध राजाओं के राजत्व काल का प्रतिपादन करनेवाली 'महावंश' की निम्नलिखित गाथाएँ हैं—

"अजातसत्तुपुत्तो तं, घातेत्वादायभद्दको ।
रज्जं सोळसवस्सानि, कारेसि मित्तदुब्भिको ॥ १ ॥
उदयभद्दपुत्तो तं, घातेत्वा अनुरुद्धको ।
अनुरुद्धस्स पुत्तो तं, घातेत्वा मुण्डनामको ॥ २ ॥
मित्तद्दुनो दुम्मतिनो, ते पि रज्जं अकारयुं ।
तेसं उभिन्नं रज्जेसु, अट्ठवस्सानतिक्कमुं ॥ ३ ॥
मुण्डस्स पुत्तो पितरं, घातेत्वा नागदासको ।
चतुवीसति वस्सानि, रज्जं कारेसि पापको ॥ ४ ॥
पितुघातकवंसोयं, इति कुद्धाथ नागरा ।
नागदासकराजानं, अपनेत्वा समागता ॥ ५ ॥
सुसुनागोति पञ्ञातं, अमच्चं साधुसंमतं ।
रज्जे समभिसिञ्चिंसु, सब्बेसं हितमानसा ॥ ६ ॥
सो अट्ठारस वस्सानि, राजा रज्जं अकारयि ।
कालासोको तस्स पुत्तो, अट्ठवीसति कारयि ॥ ७ ॥
अतीते दसमे वस्से, कालासोकस्स राजिनो ।
संबुद्ध परिनिब्बाणा, एवं वस्ससतं अहु ॥ ८ ॥

—महावंश परिच्छेद ४ ।

काळासोकस्स पुत्ता तु, अहेसुं दस भातुका ।
द्वावीसति ते वस्सानि, रज्जं समनुसासिसुं ॥ १४ ॥
नव नंदा ततो आसुं, कमेनेव नराधिपा ।
ते पि द्वावीस वस्सानि, रज्जं समनुसासिसुं ॥ १५ ॥
मोरियानं खत्तियानं वंसे जातं सिरीधरं ।
चंदगुत्तोति पञ्ञातं, चाणक्को ब्राह्मणो ततो ॥ १६ ॥
नवमं धननंदं तं, घातेत्वा चंडकोधवा ।
सकले जंबुदीपस्मिं, रज्जे समभिसिञ्चि सो ॥ १७ ॥
सो चतुवीस वस्सानि, राजा रज्जं अकारयि ।
तस्स पुत्तो बिंदुसारो, अट्ठवीसति कारयि ॥ १८ ॥
बिंदुसारसुता आसुं, सतं एको च विस्सुता ।
असोको आसि तेसं तु, पुञ्ञतेजोबलिद्धिको ॥ १९ ॥

हुए थे, और पुराणों की गणना अजातशत्रु के अभिषेक से ३२६ वर्ष बीतने पर अशोक का राज्याभिषेक ठहराती है। इस प्रकार १००

वेमातिके भातरो सो, हन्त्वा एकूनकं सतं।
सकले जंबुदीपस्मिं, एकरज्जं अपापुणि ॥ २० ॥
जिननिव्वाणतो पच्छा, पुरे तस्साभिसेकतो।
साट्ठारसं वस्ससत-द्वयं एवं विजानियं ॥ २१ ॥
पत्वा चतुहि वस्सेहि, एकरज्जं महायसो।
पुरे पाटलिपुत्तस्मिं, अत्तानं अभिसेचयि ॥ २२ ॥

—महावंश परिच्छेद ५।

१७ विष्णु, मत्स्य, ब्रह्मांड, वायु और श्रीमद्भागवत इन ५ पुराणों में यह कालगणना दी हुई है, जिसमें विष्णुपुराण और भागवत में प्रत्येक राजा का 'राजत्व काल' नहीं दिया, सिर्फ उनके नाम और उनके वंश का राजत्व काल मात्र बता दिया है। बाकी के ३ पुराणों में प्रत्येक व्यक्ति के नाम के साथ उनके राजत्व काल के वर्ष भी दिए हैं, पर इनमें भी अनेक नामों में और राज्य-काल के वर्षों में एक दूसरे के साथ भिन्नता हो गई है, इसलिये हमने किसी एक ही पुराण के अनुसार कालगणना न देकर सबके ऊपर से अवतारित करके यह सूची दी है। पुराणों के मूलश्लोक इस प्रकार हैं—

"अजातशत्रुर्भविता, सप्तत्रिंशत् समा नृपः।
चतुर्विंशत्समा राजा, वंशकस्तु भविष्यति ॥ ६ ॥

—मत्स्यपुराण अध्याय २७२।

"उदायी भविता तस्मात्त्रयस्त्रिंशत्समा नृपः।
स वै पुरवरं रम्यं, पृथिव्यां कुसुमाह्वयम् ॥
गङ्गाया दक्षिणे कूले, चतुर्थेऽब्दे करिष्यति ॥ ३१३ ॥
द्वाचत्वारिंशत्समा भाव्यो, राजा वै नन्दिवर्द्धनः।
चत्वारिंशत्त्रयं चैव, महानन्दी भविष्यति ॥ ३१४ ॥"

—वायुपुराण उत्तरखंड अध्याय ३७ प० १७५, १७६।

"महानन्दिसुतश्चापि, शूद्रायाः कालसंवृतः।
उत्पत्स्यते महापद्मः, सर्वक्षत्रान्तकृन्नृपः ॥ १३९ ॥
ततःप्रभृति राजानो, भविष्याः शूद्रयोनयः।
एकराट् स महापद्म, एकच्छत्रो भविष्यति ॥ १४० ॥
अष्टाशीतिं तु वर्षाणि, पृथिवीं पालयिष्यति।
सर्वक्षत्रं समुद्धृत्य, भाविनोऽर्थस्य वै बलात् ॥ १४१ ॥

से भी अधिक वर्ष के अंतर के कारण ये स्मृतियाँ कितनी अव्यवस्थित हैं यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है।

जैन ग्रंथों से मालूम होता है कि राजा कूणिक (अजातशत्रु) ने चंपा को अपनी राजधानी बनाया था,[१८] तो अजातशत्रु जब चंपा में गया होगा, अवश्य ही अपने किसी भाई भतीजे को राज-

---

तत्पश्चात्तत्सुता ह्यष्टौ, समा द्वादश ते नृपाः।
महापद्मस्य पर्याये, भविष्यन्ति नृपाः क्रमात् ॥ १४२ ॥
उद्धरिष्यति तान्सर्वान्, कौटिल्यो वै द्विजर्षभः।
भुक्त्वा महीं वर्षशतं, नरेन्द्रः स भविष्यति ॥ १४३ ॥
चन्द्रगुप्तं नृपं राज्ये, कौटिल्यः स्थापयिष्यति।
चतुर्विंशत्समा राजा, चन्द्रगुप्तो भविष्यति ॥ १४४ ॥
भविता भद्रसार (वि० पु० बिन्दुसार) स्तु पञ्चविंशत्समा नृपः।
षट्त्रिंशत्तु समा राजा, अशोकानां च तृप्तिदः ॥ १४५ ॥"

—ब्रह्मांडपुराण म० भा० उपोद्घा० ३ अ० ७४ प० १८५।

१८ कोणिक राजगृह से चंपा में अपना राज्यकार्य क्यों ले गया इसका विस्तृत वर्णन आवश्यक वृत्ति में दिया है, उसका सारांश यह है कि—'एक बार कोणिक ने अपनी माता से पूछा कि जितना मुझे अपने पुत्र से स्नेह है उतना और किसी को होगा? माता ने कहा—तेरे पिता को तेरे ऊपर इतना स्नेह था कि वे तेरी सड़ी गली दुर्गंधित अँगुली को मुँह में रखकर तुझे रोने से फुसलाते थे। कोणिक को यह सुनकर बहुत पश्चात्ताप हुआ और कुल्हाड़ी लेकर पिंजरे से श्रेणिक को निकालने के लिये दौड़ा, पर श्रेणिक ने समझा कि यह मेरा वध करने को आ रहा है, इससे वह आत्मघात करके मर गया। कोणिक को इस घटना से बड़ा दुःख हुआ और वह श्रेणिक के स्मारकों को देख देखकर सदा उदासीन रहने लगा। आखिर उसने इस चिंता से मुक्त होने के लिये राजगृह को छोड़कर चंपा में जाकर निवास किया।'

आवश्यक वृत्ति के इस विषय के प्रारंभिक शब्द इस प्रकार हैं—

"अण्णया तस्स (कोणियस्स) पउमावईए देवीए पुत्तो उदायितकुमारो जेमंतस्स उच्छंगे ठिओ, सो थाले मुत्तेति, न चालेइ, मा दुमिज्जिहित्ति। (जत्तिए) मुत्तियं तत्तियं कूरं अवणेइ, मायं भणति—अम्मो अण्णस्सवि कस्सवि पुत्तो एप्पिओ अत्थि? मायाए सो भणिओ—दुरात्मन्! तव अंगुली किमिए वमंती पिया मुहे काऊण अच्छियाइओ, इयरहा तुमं रोवंतो अच्छियाइओ।"

आवश्यक वृत्ति, प० ६८३।

गृह में वहाँ के शासक के तौर पर रखकर गया होगा, जैसा कि उसने अपने वैमातृक भाइयों से श्रेणिक को पदच्युत करने के पहले स्वीकार किया था।[१९]

अजातशत्रु का उत्तराधिकारी उदायी भी पाटलिपुत्र नगर बसाकर अपना राज्यकार्य वहाँ ले गया था, इस आशय का जैन ग्रंथों और पुराणों में लेख है।[२०] इससे संभव है कि अजातशत्रु के

---

१९ श्रेणिक (बिंबसार) को कैद करने के पहले कोणिक (अजातशत्रु) ने अपने वैमातृक दश भाइयों को यह कहकर उभाड़ा था कि 'श्रेणिक हम लोगों की स्वतंत्रता का बाधक है इस वास्ते हम सब मिलकर इसको कैद कर दें और राज्य को ११ हिस्सों में बांट लें।' भाइयों ने कोणिक की सलाह मान ली और श्रेणिक को कैद करके राज्य को बांट लिया। इस बात का निरयावली में इस प्रकार वर्णन किया है—

"अभयंमिगहियव्वए अन्नया कोणिओ कालाईहिं दसहिं कुमारेहिं समं मंतेइ—सेणियं सेच्छाविग्घकारयं बंधित्ता एक्कारसभारा रज्जं करेमोत्ति। तेहिं पडिस्सुयं। सेणिओ बद्धो। पुव्वण्हे अवरन्हे य कससयं दवावेइ।"

—निरयावली वर्ग १ अध्याय १ पृ० ६।

"तते णं कूणिए राया अन्नया कयाइ कालादीए दस कुमारे सद्दावेति २ रज्जं च जाव जणवयं च एक्कारसभाए विरिंचति २ सयमेव रज्जसिरिं करेमाणे पालेमाणे विहरति।"

—निरयावली वर्ग १ अध्याय १ पेज १४।

२० पाटलिपुत्र की उत्पत्ति का सविस्तर वर्णन 'आवश्यक चूर्णि (लिखित पत्र २४८) और आवश्यक वृत्ति (पत्र ६८९) में दिया है। आवश्यक वृत्ति के थोड़े से अवतरण हम नीचे देते हैं—

"ताहे रायाणो उदाइं ठावेंति। उदाइस्स चिंता जायाएत्थ णयरे मम पिया आसि, अद्धितीए अण्णं नयरं कारावेमि, मग्गह वत्थुं ति पेसिया × × × ×

—आवश्यक वृ० पृ० ६८७।

"तं किर वीयणगसंठियं नयरं, णयराभिए य (?)
उदाइणा चेइहरं काराविय़ं, एसा पाडलिपुत्तस्स उप्पत्ती।"

—आ० वृ० पृ० ६८९।

" सो उदाई तत्थठिओ रज्जं भुंजइ।"

—आ० वृ० पृ० ६९०

इस बात का पुराणों से भी समर्थन होता है। ब्रह्मांड और वायुपुराण

समय से ही राजगृह में इस वंश की कोई छोटी राज्य-शाखा कायम हो गई हो और उसमें बौद्धों के नागदासक और पौराणिकों के दर्शक वा हर्षक वगैरह राजा पैदा हुए हों[21] और इन दोनों शाखाओं के राजाओं के राजत्व काल को गड़बड़ करके बौद्धों और पौराणिकों ने गलत वंशावलियाँ तैयार कर ली हों। इन दोनों सूचियों में निश्चित भूल कहाँ है यह जानना कठिन है; पर जहाँ तक मैं समझता हूँ, पुराणों की सूची में दर्शक के २४ वर्ष अधिक हैं।

में उदायी ने कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) बसाया इस बात के समर्थक निम्नलिखित श्लोक मिलते हैं—

"उदायी भविता तस्मात्त्रयस्त्रिंशत्समा नृपः ।
स वै पुरवरं राजा, पृथिव्यां कुसुमाह्वयम् ॥ १३२ ॥
गंगाया दक्षिणे कूले, चतुर्थेऽह्नि करिष्यति ।"

—ब्रह्मांड० म० भा० उपो० ३ अध्याय ७४ ।

"उदायी भविता तस्मात्त्रयस्त्रिंशत्समा नृपः ।
स वै पुरवरं राजा, पृथिव्यां कुसुमाह्वयम् ॥
गंगाया दक्षिणे कूले, चतुर्थेऽब्दे करिष्यति ॥ ३१३ ॥"

—वायुपुराण उत्त० अ० ३७ ।

२१ ऊपर देख आए हैं कि उदायी ने पाटलिपुत्र को अपनी राजधानी बनाया था, उदायी जैनों और बौद्धों के कथनानुसार अजातशत्रु, कोणिक का पुत्र था, जैन उल्लेखों के अनुसार उदायी के बाद मगध की राजधानी नंद के हाथ में गई थी, पुराण उदायी के बाद नंदिवर्द्धन और महानंदि का मगध पर राज्याधिकार बताते हैं, जो वास्तव में नंद ही हैं। परन्तु पुराणकार अजातशत्रु और उदायी के बीच में वंशक अथवा दर्शक को मगध का राजा बताते हैं जो स्पष्ट भूल है। यद्यपि दर्शक शैशुनाग वंश का ही राजवंशी पुरुष था, पर वह मगध का मुख्य राजा नहीं किंतु मगध की पुरानी राजधानी राजगृह की शाखा का मांडलिक था।

महाकवि भास के 'स्वप्नवासवदत्त नाटक' के निम्न उद्धृत उल्लेखों से भी दर्शक राजगृह का राजा था यही ध्वनित होता है। देखो—

"काञ्चुकीयः—भोः श्रूयताम्। एषा खलु गुरुभिरभिहितनामधेयास्माकं महाराजदर्शकस्य भगिनी पद्मावती। सैषा नो महाराजमातरं महादेवीमाश्रमस्थामभिगम्यानुज्ञाता तत्रभवत्या राजगृहमेव यास्यति।"

—स्वप्नवासवदत्त, अंक १ पृष्ठ १४।

इन्हें निकाल देने से पौराणिक और जैन गणनाएँ मौर्य राज्य के अंत में जाकर मेल खा जाती हैं।

बौद्ध ग्रंथ 'दीपवंश' में नंदों का नामोल्लेख तक नहीं है और 'महावंश' में नव नंदों का राज्यकाल सिर्फ २२-वर्ष लिखा है, यह स्पष्ट भूल है। नंदों के समय में बौद्ध लेखकों ने बहुत गड़बड़ कर दिया है और इसी कारण से इनकी सूचियों में से नंदसंबंधी अधिक समय छूट गया है। पुराणकार नंदों का राजत्व काल १०० वर्ष का लिखते हैं और जैन ग्रंथकार १५० वर्ष तक मगध पर नंदों का शासन हुआ बताते हैं। हमारी समझ में जैनों का कथन ही इस विषय में ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि पुराण-कारों ने नंदिवर्धन और महानंदि को शैशुनागवंश्य मानकर इनका राजत्व-काल शैशुनाग की वंशावली में गिन लिया है, पर वस्तुतः नंदिवर्धन और महानंदि नव नंदों से भिन्न नहीं हैं। इस-लिये इनका राजत्वकाल नंदकाल में लेना चाहिए और ऐसा करने पर पौराणिक गणना से नंदों के १८५ वर्ष आएँगे जो कि जैन गणना से ३५ अधिक हैं। जैन गणना मौर्यकाल १६० वर्ष का मानती है और पुराणकार इसको १३७ वर्ष से अधिक नहीं मानते। उधर नंदिवर्धन और महानंदि के वर्ष नंदों के काल में ले लेने से पौराणिक गणना में शैशुनागों के ९४ वर्ष बचेंगे, इनमें से दर्शक को राजगृह शाखा का मान के इसके २४ वर्ष भी निकाल दिए जायँ तो शैशुनागों के राजत्वकाल के वर्ष ७० बचेंगे और मौर्यांत समय ७० + १८५ + १३७ = ३९२ वर्ष का होगा। जैन गणनानुसार भी मौर्यांत समय ८२ + १५० + १६० = ३९२ वर्ष के बराबर ही होता है।

ऐसा मालूम होता है कि बौद्धों ने बहुत समय तक राजगृहवाली सत्ताहीन राज्य-परंपरा को ही पकड़ रक्खा था, अन्यथा वे क्यों नंदों का नामोल्लेख न करें और नव नंदों का सिर्फ २२ वर्ष का अल्प समय बतावें। इसका और क्या कारण हो सकता है?

हमने ऊपर देखा कि जैन और पौराणिक गणनाएँ किसी तरह मौर्यकाल के अंत में जाकर मिल जाती हैं, पर बौद्ध गणना किसी तरह मेल नहीं खाती। संभवतः इसमें से नंदों के राजत्व काल के बहुत वर्ष छूट गए हैं, और शायद इसी कमी को ठीक करने के इरादे से पिछले बौद्ध लेखकों ने उदायिभद्द मुंड और अनुरुद्ध इनमें से प्रत्येक का १८—१८ वर्ष का राजत्व काल गिनकर और बिंदुसार के ५८ वर्ष मानकर उक्त गणना में करीब ६० वर्ष बढ़ाने की चेष्टा की होगी। कुछ भी हो, बौद्धों की कालगणना दूषित अवश्य है। इस अव्यवस्थित गणना के आधार पर महावीर के निर्वाण समय का विचार करना उचित नहीं है।

अजातशत्रु अंत तक महावीर का अनुयायी था,[२२] उदायी भी परम जैन था।[२३] उदायी के उत्तराधिकारी नंद[२४] और उनका

---

२२ अजातशत्रु (कोणिक) महावीर का परम अनुयायी था, यह बात औपपातिक आदि जैनसूत्रों से सिद्ध होती है।

२३ उदायी महावीर का परम भक्त व्रतधारी श्रावक था। इसने अपनी राजधानी पाटलिपुत्र में जैन-चैत्य बनवाया था और यह अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्व तिथियों में पौषध-उपवास भी करता था—ऐसा आवश्यक चूर्णि और आवश्यक वृत्ति में लिखा है। देखो आवश्यक वृत्तिपत्र ६८९—६९०।

२४ राजा पद्मनंद और इसके उत्तराधिकारी दूसरे नंद किस धार्मिक मत को माननेवाले थे इसका कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता तथापि कतिपय पुराणों और इतर ग्रंथों के लेखों से नंदों का जैन धर्मानुयायी होना सिद्ध होता है।

विष्णुपुराणकार नंद के संबंध में लिखते हैं 'महानंदि का पुत्र शूद्रा-गर्भजात अति लोभी और अति बली परशुराम की तरह सब क्षत्रियों का नाश करनेवाला महापद्म नामक नंद होगा और तब से इस भारत-भूमि पर शूद्र राजा होंगे।'

"महानंदिनस्ततश्शूद्रागर्भोद्भवोऽतिलुब्धोऽतिबलो महापद्मनामा नंदः परशुराम इवाऽपरोऽखिलक्षत्रान्तकारी भविष्यति ॥ २० ॥ ततःप्रभृति शूद्रा भूपाला भविष्यन्ति ॥ २१ ॥

—विष्णुपुराण।

यही बात मत्स्यपुराण के २७२वें अध्याय के १७वें और १८वें श्लोकों में, ब्रह्मांडपुराण म० भा० उपो० पा० ३ के अध्याय ७४ के ३९वें और ४०वें श्लोकों में और वायुपुराण उत्त० अध्याय ३७ के ३२०वें तथा ३२१वें श्लोकों में दुहराई है।

श्रीमद्भागवत द्वादश स्कंध के १ अध्याय के ८वें श्लोक में लिखा है—क्षत्रियों का नाश करनेवाला महापद्मपति नाम का कोई नंद होगा और तब से शूद्रप्राय अधार्मिक राजा होंगे—

"महापद्मपतिः कश्चिन्नंदः क्षत्रविनाशकृत्।
ततो नृपा भविष्यंति, शूद्रप्रायास्त्वधार्मिकाः॥"

भागवत द्वादश स्कंध के २ अध्याय के ३२वें श्लोक में लिखा है—'जब मघा से पूर्वाषाढ़ा तक सप्तर्षि पहुँचेंगे तब नंद का समय होगा और तब से कलियुग का प्रभाव बढ़ेगा।'

"यदा मघाभ्यो यास्यन्ति, पूर्वाषाढां महर्षयः।
तदा नन्दात्प्रभृत्येष, कलिर्वृद्धिं गमिष्यति॥"

पुराणों के इन उल्लेखों से यह पाया जाता है कि नंद राजा के समय में ब्राह्मण धर्म, 'राज्यधर्म' इस बिरुद को खो चुका था। यों तो प्रद्योतों और शैशुनागों के समय में ही जैन और बौद्ध धर्म की उन्नति के साथ वैदिक धर्म पिछड़ने लग गया था पर फिर भी कभी कभी उसे राज्यसत्ता का सहारा मिल जाता था। पर मालूम होता है, नंद और मौर्य्य साम्राज्यकाल में वह सर्वथा राज्यसहाय से रहित हो गया था। यही कारण है कि ब्राह्मणों ने नंद के समय से कलियुग के प्रभाव की वृद्धि बताई है और राजाओं को शूद्र लिखा है। इससे यह बात तो निश्चित है कि नंद राजा और उसके उत्तराधिकारी वैदिक धर्म के अनुयायी नहीं थे। तो अब यह देखना रहा कि नंद जैन था या बौद्ध?

जहाँ तक हमने देखा है, बौद्ध लेखक नंदों से बिलकुल अपरिचित हैं। दीपवंश में जहाँ सीलोन के राजाओं के साथ साथ मगध के राजाओं का समय बताया है, वहाँ नंदों का नामोल्लेख ही नहीं किया, और महावंश में नंदों का उल्लेख तो है, पर वहाँ सिर्फ २२ वर्ष ही उनके राजत्वकाल के दिए हैं। इससे ज्ञात होता है, बौद्ध लेखकों को नंदों का वास्तविक परिचय नहीं था। अगर नंद बौद्ध धर्मी होते तो बौद्ध लेखक उनसे इतने अनभिज्ञ नहीं रहते। इससे जाना जाता है कि नंद और उसके वंशज जैन धर्म के अनुयायी होंगे।

'तित्थोगाली पइन्नय' और 'दीपमाला-कल्प' आदि में लिखा है कि 'एक बार नगरचर्या करते हुए कल्की (पुष्यमित्र) ने पाँच स्तूप देखे और उनके संबंध में पूछा तब उत्तर में मनुष्यों ने कहा—नंद राजा ने जो बड़ा धनवान्,

मंत्रिवंश भी जैन था.[२५] मौर्य राजा भी जैन धर्म के पोषक और

रूपवान् और यशस्वी था यहाँ बहुत काल तक राज्य किया था। उसी ने ये स्तूप बनवाए हैं और इनमें अपार सुवर्णराशि गाड़ी है जिसे अन्य कोई राजा ग्रहण नहीं कर सकता।' यह सुनकर कल्की ने उन स्तूपों को खुदवाया और नंद राजा का वह सुवर्ण ले लिया। देखो नीचे की गाथाएँ—

"सो अविणयपज्जत्तो, अण्णनरिंदे तणं पिव गणंतो।
नगरं आहिंडंतो, पेच्छीहि पंचथूभे उ॥ ६३६॥
पुट्ठा य बेंति मणुआ, नंदो राया चिरं इहं आसि।
बलितो अत्थसमिद्धो, रूवसमिद्धो जससमिद्धो॥ ६३७॥
तेण उ इहं हिरण्णं निहिक्खित्तं, सि बहु (?) बलमत्तेणन्।
न य णं तरंति अण्णे, रायाणो दाणि घित्तुं जे॥ ६३८॥
तं वयणं सोऊणं खणेहीति समंततो ततो थूभे।
नंदस्स संतियं तं पडिवज्जइ सो अह हिरण्णं॥ ६३९॥"

यही हाल दीपमाळा कल्पों में भी लिखा है जिसका यहाँ उल्लेख करने की जरूरत नहीं है। बौद्धों को इन नंदकारित सुवर्णस्तूपों का परिचय न होने से यही कहना उपयुक्त होगा कि पाटलिपुत्र के उक्त स्तूप जैन धर्म के स्मारक होंगे। हाथीगुंफा के कलिंगराज खारवेल के लेख के एक उल्लेख भी नंद राजा का जैन धर्मानुयायी होना साबित होता है।

खारवेल अपने राज्याभिषेक के बारहवें वर्ष के कामों का उल्लेख करता हुआ लिखता है कि 'बारहवें वर्ष में...से उत्तर देश के राजाओं को भयभीत किया, मगध के निवासियों पर धाक जमाते हुए उसने अपने हाथियों को गंगा में जलपान कराया, मगधराज बृहस्पति मित्र को अपने पैरों में गिराया और राजा नंद द्वारा ले जाई गई कलिंग की जिन मूर्ति को...और गृहरत्नों को लेकर प्रतिहारों द्वारा अंग-मगध का धन ले आया।' देखो नीचे का अवतरण—

"—बारसमे च वसे......सेहि वितासयति उतरापथराजानो...मगधानं च विपुलं भयं जनेतो हथिसु गंगाय पाययति [।] मागधं च राजानं वहसतिमितं पादे वंदापयति [।] नंदराजनीतं च कालिंग-जिन-संनिवेसं गहरतनान पडिहारेहि अंगमागध-वसुं च नेयाति [।]"

इस प्रकार नंद द्वारा जिन मूर्ति का ले जाना भी यही सूचित करता है कि वह जैन धर्म का अनुयायी होगा अन्यथा उसे जिन मूर्ति ले जाने का कोई प्रयोजन नहीं था।

२५ प्रथम नंद का मंत्री कल्पक ब्राह्मण था, जो कट्टर जैन धर्मी था। इसके वंश में नवम नंद के मंत्री शकटाल तक के सब पुरुष जैन धर्मी ही हुए।

कितनेक कट्टर जैन थे,[२६] इस परिस्थिति को ध्यान में रखकर यह कहा

शकटाल के पुत्र स्थूलभद्र, श्रीयक और यक्षा आदि सात पुत्रियों ने जैनधर्म की दीक्षा अंगीकार की थी। शकटाल खुद भी परम जैन श्रावक था और इसी कारण से वह ब्राह्मणों के द्वेष का पात्र हुआ था। देखो आवश्यक चूर्णि परिशिष्ट पर्व आदि जैन ग्रंथ।

२६ परिशिष्ट पर्व में आचार्य्य हेमचंद्र ने लिखा है—'ब्राह्मण चाणक्य परम जैन श्रावक था और वह चंद्रगुप्त को भी जैन-धर्मी बनाना चाहता था। यद्यपि राजा उसके हरएक वचन को स्वीकार करता था, पर चाणक्य ने राजा को युक्तिपुरस्सर जैन धर्म में दृढ़ करने का विचार किया और जैनेतर सब दर्शन के साधुओं को राजा को धर्म सुनाने के लिये आने का आमंत्रण दिया। सब दर्शनी नियत समय के पहले ही नियत स्थान पर आ डटे, पर राजा उनके पास समय पर नहीं गया। दर्शनी लोग जब तक राजा नहीं आया उस एकांत स्थान में इधर से उधर घूमते फिरते रहे, कोई कहीं चढ़ता उतरता तो कोई महलों की जालियों से जनाने में ही नजर झुकाता।'

अंत में सबको बिदा करने के बाद चाणक्य ने राजा से कहा—'ये कैसे चंचल-प्रकृति और विषयों के लोलुप हैं, जालियों से आपके अंतःपुर तक को देखना नहीं चूके। देखिए इनके रेती में पड़े हुए ये पदचिह्न।' यह कहकर उसने उनके इधर उधर भटकने और चढ़ने उतरने के सूक्ष्म रज में पड़े हुए पदचिह्न दिखाए।

इस दृश्य से चंद्रगुप्त की सब दर्शनियों पर से श्रद्धा कम हो गई।

उसी प्रकार दूसरे दिन जैन साधुओं को भी उसने बुलाया। साधु समय पर आकर नियत स्थान पर बैठ गए और जब तक राजा नहीं आया उसी स्थान पर बैठे रहे। राजा ने उनसे भी धर्म सुना और उन्हें बिदा किया। पीछे से चाणक्य ने कहा—'देखिए ये कैसे शांत और जितेंद्रिय साधु हैं? अपना स्थान और ध्यान छोड़कर इन्होंने कहीं भी पैर नहीं रखा। चंद्रगुप्त की भक्ति जैन साधुओं की ओर झुकी। इतना ही नहीं बल्कि वह जैन धर्म का पक्का अनुयायी हो गया।' इससे ज्ञात होता है कि चाणक्य की प्रेरणा और जैन साधुओं के उपदेश से चंद्रगुप्त आखिर में जैन हो गया था।

चंद्रगुप्त जैन था इस विषय में जैनेतर विद्वानों के मत भी देखने योग्य हैं। टामस साहब अपनी एक पुस्तक (जैनिज्म और दी अर्ली लाइफ आफ अशोक—पेज २३) में लिखते हैं कि 'चंद्रगुप्त जैन समाज का व्यक्ति था यह जैन ग्रंथकारों ने एक स्वयंसिद्ध और सर्वप्रसिद्ध बात के रूप से लिखा है, जिसके लिये कोई अनुमान प्रमाण देने की आवश्यकता ही नहीं थी। इस

जाय कि बौद्ध और पौराणिक गणनाओं की अपेक्षा जैन कालगणना ही इस विषय में ठीक हो सकती है तो कुछ भी अनुचित नहीं होगा।

जैन कालगणना

जैनों में कालगणना की दो पद्धतियाँ बनी हुई हैं—पहली प्रसिद्ध राजाओं के राजत्वकाल की गणना से और दूसरी स्थविरों के युगप्रधानत्व काल की गणना पर। इन दोनों पद्धतियों का प्रारंभ भगवान् महावीर के निर्वाणकाल से होता है।

विषय में लेखों के प्रमाण बहुत प्राचीन और साधारणतः संदेहरहित हैं। मैगास्थनीज के कथनों से भी झलकता है कि चंद्रगुप्त ने ब्राह्मणों के सिद्धांतों के विपक्ष में श्रमणों (जैन मुनियों) के धर्मोपदेशों को अंगीकार किया था।

इसके उपरांत टामस साहब यह भी सिद्ध करते हैं कि चंद्रगुप्त-मौर्य्य के पुत्र बिंदुसार और पौत्र अशोक भी जैन धर्मावलंबी थे। इसके लिये उन्होंने मुद्राराक्षस, राजतरंगिणी तथा आइने अकबरी के प्रमाण दिए हैं।

इनके अतिरिक्त डा० ल्यूमन, हार्नले, स्मिथ, मि० राइस और श्रीयुत जायसवाल भी चंद्रगुप्त को जैन धर्मावलंबी मानते हैं, लेकिन ये सभी विद्वान् चंद्रगुप्त को श्रुत-केवली भद्रबाहु का शिष्य मानते हैं, इसके साथ हम सहमत नहीं हो सकते। हमने जहाँ तक इस विषय का अन्वेषण किया है, चंद्रगुप्त के समय में भद्रबाहु का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। चंद्रगुप्त के राज्यकाल में जब दुर्भिक्ष पड़ा उस समय पाटलिपुत्र में सुट्ठिय (सुस्थित) नामक वृद्ध आचार्य के होने के प्राचीन लेख तो मिलते हैं, पर भद्रबाहु-चंद्रगुप्त का गुरुशिष्य संबंध बतानेवाला उल्लेख विक्रम की दशवीं सदी के पहले के किसी भी लेख या ग्रंथ में हमारे देखने में नहीं आया।

इसका पुत्र बिंदुसार किस धर्म का अनुयायी था, इस बात का अभी तक कोई निश्चय नहीं है। चंद्रगुप्त का उत्तराधिकारी होने से, टामस साहब के कथनानुसार, यह जैन हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। पर बौद्धों के कुछ ऐसे भी उल्लेख हैं जिनसे इसका ब्राह्मणभक्त होना भी ध्वनित होता है।

अशोक बौद्ध होने के पहले जैन था ऐसा कतिपय विद्वानों का कथन है।

अशोक का उत्तराधिकारी संप्रति अथवा संपदी कट्टर जैन था इस प्रसिद्ध बात के लिये शायद ही प्रमाण देने की जरूरत होगी।

संप्रति के बाद के मौर्य्य राजाओं का जैन ग्रंथकारों को अधिक परिचय नहीं है, इसका कारण संभवतः उनकी धार्मिक मंदता हो सकती है।

पहले हम राजत्व कालगणना पर ही विचार करेंगे।

"तित्थोगाली पइन्नय" नामक प्राचीन जैन प्रकरण ग्रंथ में[२७] महावीर-निर्वाण से शक संवत्सर के प्रारंभ तक के ६०५ वर्ष और ५ मास की कालगणना नीचे अनुसार गाथाबद्ध की है—

"जं रयणिं सिद्धिगओ, अरहा तित्थंकरो महावीरो।
तं रयणिमवंतीए, अभिसित्तो पालओ राया ॥ ६२० ॥
पालगरण्णो सट्ठी, पुण पण्णसयं वियाणि णंदाणम्।
मुरियाणं सट्ठिसयं, पणतीसा पूसमित्ताणम् (त्तस्स) ॥६२१॥

---

२७ 'तित्थोगाली' प्रकरण के कर्त्ता का अथवा इसके रचना-समय का इस ग्रंथ में कहीं भी उल्लेख नहीं है। वैसे ही कहीं भी इसके संबंध में विशेष उल्लेख न होने से इसका वास्तविक निर्माणकाल बताना कठिन है तो भी कुछ ऐसे उल्लेख इसमें मौजूद हैं जिनके आधार पर हम इस ग्रंथ को विक्रम की पाँचवीं सदी के आसपास पाटलिपुत्र में बना हुआ अनुमान कर सकते हैं।

कल्की राजा की उत्पत्ति के संबंध में इसमें एक गाथा इस प्रकार है—

"जं एयं वरनगरं, पाडलिपुत्तं तु विस्सुअं लोए।
एत्थ होही राया, चउमुहो नाम नामेण ॥ ६२९ ॥"

—तित्थोगाली पइन्नय पृ० २८

इस गाथा के 'एयं' और 'एत्थ' शब्द-प्रयोगों से जाना जाता है कि लेखक ने पाटलिपुत्र में रहते हुए ही यह प्रकरण बनाया होगा।

राजवंशों की समाप्ति-सूचक एक गाथा इसमें इस प्रकार है—

"ता एवं सगवंसो य नंदवंसो य मरुयवंसो य।
सयराहेण पणट्ठा, समयं सज्झाणवंसेण ॥ ७०९ ॥"

—तित्थोगाली पृ० २३।

इसमें नंद, मौर्य और शक वंश के अंत का निर्देश है। विक्रम की चौथी सदी के पूर्वार्ध में ही शक साम्राज्य का अंत और गुप्त साम्राज्य का उदय हो चुका था। प्रकरणकार शक वंश के नाश का उल्लेख तो करते हैं, पर उसके नाशक गुप्त राजवंश के बारे में कुछ भी इशारा नहीं करते। इससे मालूम होता है कि उनके समय में गुप्तवंश तरक्की कर रहा होगा। दूसरे भी कितनेक ऐसे आंतर प्रमाण हैं जिनसे विक्रम की चौथी सदी के अंत में और पाँचवीं के आदि में इस ग्रंथ की रचना होने का अनुमान किया जा सकता है।

बलमित्त-भाणुमित्ता, सट्ठा चत्ताय होंति नहसेणे।
गद्दभसयमेगं पुण,.पडिवन्नो तो सगो राया ॥ ६२२ ॥
पंच य मासा पंच य, वासा छच्चेव होंति वाससया।
परिनिव्वुअस्सऽरिहतो, तो उप्पन्नो (पडिवन्नो) सगो राया ६२३''

अर्थात् 'जिस रात में अर्हन् महावीर तीर्थंकर निर्वाण हुए उसी रात (या दिन ?) में अवंति में पालक का राज्याभिषेक हुआ।

६० वर्ष पालक के, १५० नंदों के, १६० मौर्यों के, ३५ पुष्यमित्र के, ६० बलमित्र-भानुमित्र के, ४० नभःसेन के और १०० वर्ष गर्दभिल्लों के बीतने पर शक राजा का शासन हुआ।

अर्हन् महावीर को निर्वाण हुए ६०५ वर्ष और ५ मास बीतने पर शक राजा उत्पन्न हुआ[२८]।

२८ हमारे पास एक पुस्तक है, जिसे दुःषिमगंडिका और युगप्रधान गंडिका का 'सार' कह सकते हैं. इसके प्रथम पत्र के दूसरे पृष्ठ में जैन कालगणना-संबंधी वे गाथाएँ हैं जिनकी आचार्य मेरुतुंग ने 'विचारश्रेणि' नामक टीका लिखी है। उसमें पालक का राज्य २० वर्ष का लिखा है और नंदों का १५८ वर्ष का, मौर्यों का १०८, पुष्यमित्रों का ३०, बलमित्र-भानुमित्र का ६०, दधिवाहन का ४०, गर्दभिल्लों का ४४, शकों का ५०, विक्रम का ९७ वर्षों का और ३८ वर्ष शून्य वंश का राज्यकाल बताकर ६०५ में शक संवत्सर का प्रारंभ बताया है। पाठकों के अवलोकनार्थ हम उन मूल पंक्तियों को नीचे उद्धृत करते हैं—

''श्रीवीरनिर्वाणात् विशालायां पालकराज्यं २० वर्षाणि। एतेन सहितं सर्वनंदराज्यं १७८। १०८ वर्षाणि मौर्यराज्यं, वर्ष ३० पुष्यमित्राणां, बलमित्र-भानुमित्रराज्यं ६० वर्षाणि। दधिवाहनराज्यं ४०। तदा ४१६। तदा च देवपत्तने चंद्रप्रभजिनभुवनं भविष्यति। अथ गर्दभिल्लराज्यं वर्ष ४४, तदनु वर्ष पं० ५० शकवंशा राजानो जीवदयारता जिनभक्ताश्च भविष्यंति। श्री वीरात्। पू० ४७०।

कालंतरेण केणवि, उप्पाडित्ता सगाण तं वंसं।
हो ही मालवराया नामेणं विक्कमाइच्चो ॥ १ ॥
तो सत्त नवइ वासा ९७ पालेही विक्कमो रज्जं (?)।
अरिणत्तणेण सो विहु, विहए संवच्छरं निययं ॥ २ ॥
संवच्छरं तु लत्तं (?) तंमि सययंमि गणनाइ ॥

कोई कोई विद्वान् इस राजत्व कालगणना के यथार्थ होने में यह कहकर संदेह करते हैं कि यह किसी एक ही स्थान के राजाओं की वंशावली नहीं है, किंतु अनेक स्थानों के अनेक राजाओं के राजत्व-काल का संमिश्रण है।

हम मानते हैं कि इस पद्धति में अन्यान्य स्थानीय राजाओं का राजत्वकाल जोड़ा हुआ है, और इसी कारण से इस परंपरा को "राज्यवंशावली" अथवा 'राज्यपदावली" न कहकर हम 'राजत्व कालगणना' कहते हैं।

एक राजवंश का विच्छेद होने पर उस वंश का राजत्वकाल नए राजवंश के साथ जुड़ सकता है, अथवा, स्थान-परिवर्तन में प्रथम स्थानीय समयगणना नए स्थान के राजत्वकाल के साथ ली जा सकती है,[२९] तब क्या कारण है कि भ्रमणशील जैन साधुओं की इस प्रकार की राजत्वकाल-शृंखला की सत्यता में संदेह किया जाय?

श्री वीरनिर्वाणात् ४१० विक्रमवंशस्तदनु वर्ष ३८ शून्यो वंशः। श्री वीरात् ६०५ शक संवत्सरः॥"

२९ पुराणों में परीक्षित के जन्म से महापद्मनंद के अभिषेक पर्यंत के १०५० वर्षों की गणना दी है, जिसमें न एक स्थान का पता है और न एक राजवंश का ही। गणना परीक्षित के जन्म-स्थान से शुरू होकर अवन्ति, गिरिव्रज होती हुई पाटलिपुत्र में समाप्त होती है। इसमें एक राजवंश का भी कुछ हिसाब नहीं है, परीक्षित, बार्हद्रथ, प्रद्योत, शैशुनाग प्रभृति अनेक राजवंशों के राजत्वकाल को एकत्र जोड़कर पुराणकारों ने—

"यावत् परीक्षितो जन्म, यावन्नंदाभिषेचनम्।
एतद्वर्षसहस्रं तु, ज्ञेयं पञ्चाशदुत्तरम्॥ १०४॥"

—वि० पु० अंश ४ अध्या० २४ पृ० १९९-२०२।

यह १०५० वर्ष का लेखा दिया है। और जहाँ तक मैं जानता हूँ एक स्थान और एक राजवंश से संबंधित न होने के कारण मात्र से इस गणना की सत्यता के विषय में आज तक किसी ने शंका प्रकट नहीं की। जैन गणना भी करीब इसी ढंग पर ऐतिहासिक व्यक्तियों के समय के आधार पर की गई है। उसकी सत्यता में संदेह करने का कोई कारण नहीं है।

जिस रात में भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ उसी दिन अवन्ति में राजा पालक का राज्याभिषेक हुआ था इसलिये निर्वाण के साथ बराबर संबंध जुड़ जाने से इस राजत्व काल को जैनाचार्यों ने अपनी गणना-श्रृंखला का पहला आँकड़ा बना लिया।

पालक वंश के राज्य-काल के सात वर्ष पूरे होते ही उदायी का मरण हुआ, इसके साथ ही मगध के प्रख्यात शैशुनाग वंश का अंत हुआ। मगध के राज्य पर नंद का राज्याभिषेक[30] हुआ और नव पीढ़ी तक नंद के वंशजों ने १५० वर्ष पर्यंत मगध का साम्राज्य भोगा। जैनों ने इस दीर्घ काल को अपनी गणना-श्रृंखला का दूसरा आँकड़ा बना लिया।

वीर निर्वाण को २१० वर्ष पूरे हुए ही थे कि नंदों का राज-सिंहासन डोला, चाणक्य ब्राह्मण ने अंतिम नंद को पदच्युत करके चंद्रगुप्त मौर्य को मगध का महाराजा बना लिया।

मगध और आसपास के प्रदेशों में विचरते हुए जैनाचार्य इस मौर्य साम्राज्य काल को स्मरण में रखते गए और मौर्य काल के १६० वर्षों से अपनी गणना-श्रृंखला का तीसरा आँकड़ा पूरा कर वीर निर्वाण से ३७० वर्ष तक आ पहुँचे।

अंतिम मौर्य राजा बृहद्रथ को मारकर उसके सेनानी पुष्य-मित्र ने मगध की राज्य-धुरा अपने कंधे पर ले ली।

---

३० युगप्रधानस्तोत्रयंत्र के पत्र में एक गाथा लिखी हुई मिलती है जिसका भाव यह है कि 'महावीर निर्वाण की रात में अवंति में पालक राजा होगा, जो अपुत्र उदायी का मरण होने पर पाटलिपुत्र का स्वामी होगा।'

मूल गाथा यह है—

"मह निव्वाणनिसाए, गोयम पालयनिवो अवंतीए।
होहीइ पाडलीअ पहू, सो असुयउदाय (इ) निव मरणे ॥१॥"

इसके आगे "पालगरण्णो सट्ठी" इत्यादि प्रसिद्ध गाथाएँ दी हैं। पर हम इस गाथा के उत्तरार्ध के उल्लेख पर विश्वास नहीं कर सकते कि उदायी की मृत्यु के बाद पालक पाटलिपुत्र का राजा हुआ हो, क्योंकि अन्य सब जैन उल्लेख नंद को ही उदायी का उत्तराधिकारी बताते हैं।

पुष्यमित्र केवल वैदिक धर्मानुयायी ही नहीं, अपने इष्ट धर्म की वृद्धि के लिये अन्यधर्म-नाशक धर्मांध राजा था। नंद और मौर्य वंश्य राजाओं की तरह अपने मान्य धर्म के पोषण के साथ साथ अन्य धर्मों का उचित सत्कार करने की जगह उनका विनाश करना ही इसने ठीक समझा। अशोक और संप्रति सरीखे धार्मिक मौर्य राजाओं की छत्रछाया में फूले फले बौद्ध और जैन धर्मारामों के लिये पुष्यमित्र प्रचंड दावानल रूप साबित हुआ। नंदकालीन कीमती जैन स्तूपों और बौद्धों के संघारामों (विहारों) का नाश कर हजारों बौद्ध भिक्षुओं और जैन निर्ग्रंथों के वेष इसने जबरदस्ती उतरवा लिए[३१]।

३१ महायानिक बौद्धों के 'दिव्यावदान' ग्रंथ के २९ वें अवदान में लिखा है कि पुष्यधर्मा के पुत्र पुष्यमित्र ने अपने मंत्रियों से पूछा—ऐसा कौन उपाय है जिससे हमारा नाम हो ? मंत्रियों ने कहा—महाराज ! आपके वंश में राजा अशोक हुआ जिसने ८४००० धर्मराजिका स्थापित करके अपनी कीर्त्ति अचल की जो जहाँ तक भगवान् (बुद्ध) का शासन रहेगा वहाँ तक रहेगी। आप भी ऐसा कीजिए ताकि आपका नाम अमर हो जाय। पुष्यमित्र ने कहा—राजा अशोक तो बड़ा था। हमारे लिये कोई दूसरा उपाय है ? यह सुनकर उसके एक अश्रद्धावान् ब्राह्मण ने कहा—देव ! दो कारणों से नाम अमर होगा × × × × राजा पुष्यमित्र चतुरंग सेना को सज्जित न करके भगवच्छासन का नाश करने की बुद्धि से कुकुंटाराम की ओर गया, पर द्वार पर जाते ही घोर सिंहनाद हुआ जिससे भयभीत होकर राजा वापिस पाटलिपुत्र को चला आया। दूसरी और तीसरी बार भी यही बात हुई। आखिर में राजा ने भिक्षु और संघ को अपने निकट बुलाकर कहा—मैं बुद्धशासन का नाश करूँगा। तुम क्या चाहते हो, स्तूप या संघाराम ? भिक्षुओं ने (स्तूपों को ?) ग्रहण किया। पुष्यमित्र संघाराम और भिक्षुओं का नाश करता हुआ शाकल तक पहुँच गया। उसने यह घोषणा कर दी कि जो मुझे श्रमण (साधु) का मस्तक देगा उसको मैं सोने की सौ मुहर दूँगा। × × × बड़ी संख्या में शिर देना आरंभ किया सुनकर वह अर्हत् (अर्हत् प्रतिमा ?) का घात करने लगा, पर वहाँ उसका कोई प्रयत्न सफल नहीं हुआ। सब प्रयत्न छोड़कर वह कोष्टक में गया। उस समय दंष्ट्राविनाशी यक्ष सोचता है कि यह भगवच्छासन का नाश हो रहा है, पर मैंने यह शिक्षा ग्रहण की हुई है कि 'मैं किसी का अप्रिय नहीं

करूँगा'। उस यक्ष की पुत्री की कृमीसेन यक्ष याचना करता था पर उसे पापकर्मी समझकर वह अपनी पुत्री को नहीं देता था, पर उस समय उसने भगवच्छासन की रक्षा के निमित्त अपनी पुत्री कृमीसेन को दे दी।

पुष्यमित्र को एक बड़े यक्ष की मदद थी, जिससे वह किसी से मारा नहीं जाता था।

दंष्ट्राविनाशी यक्ष पुष्यमित्र संबंधी यक्ष को लेकर पहाड़ों में फिरने को चला गया। इधर कृमीसेन यक्ष ने एक बड़ा पहाड़ लाकर सेना सहित पुष्यमित्र को रोक लिया।

उस (पुष्यमित्र) का 'मुनिहत' ऐसा नाम स्थापित किया।

जब पुष्यमित्र मारा गया तब मौर्यवंश का अंत हुआ।

जिसका आशय ऊपर दिया गया है वह दिव्यावदान का मूल पाठ नीचे दिया जाता है—

"× × × पुष्यधर्मणः. पुष्यमित्रः, सोऽमात्यानामंत्रयते कः उपायः स्याद् यद् अस्माकं नाम चिरं तिष्ठते। तैरभिहितं देवस्य च वंशादशोको नाम्ना राजा बभूवेति, तेन चतुरशीतिधर्मराजिकासहस्रं प्रतिष्ठापितं यावद्-भगवच्छासनं प्राप्यते तावदस्य यशः स्थास्यति, देवोऽपि चतुरशीतिधर्मराजिका-सहस्रं प्रतिष्ठापयतु। राजाह। महेशाख्यो राजाऽशोको बभूव; अन्यः कश्चिदुपाय इति। तस्य ब्राह्मणपुरोहितः पृथग्जनोऽश्राद्धः, तेनाभिहितं देव! द्वाभ्यां कारणाभ्यां नाम चिरं स्थास्यति × × × यावद्राजा पुष्यमित्रः चतुरंगबलकायं संनाहयित्वा भगवच्छासनं विनाशयिष्यामीति कुक्कुटारामं निर्गतः। द्वारे च सिंह-नादो मुक्तः, यावत्स राजा भीतः पाटलिपुत्रं प्रविष्टः, एवं द्विरपि त्रिरपि, यावद् भिक्षूंश्च संघमाहूय कथयति भगवच्छासनं नाशयिष्यामीति किमिच्छथ स्तूपं संघारामान् वा? भिक्षुभिः परिगृहीता यावत्पुष्यमित्रो यावत्संघारामं भिक्षूंश्च प्रघातयन् प्रस्थितः स यावत् शाकलमनुप्राप्तः। तेनाभिहितं यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याऽहं दीनारशतं दास्यामि। धर्मराजिका बार्हद्वृद्धया शिरो दातुमा-रब्धं श्रुत्वा च राजाऽर्हंत् प्रघातयितुमारब्धः, स च निरोधं संपन्नः, तस्य परोपक्रमो न क्रमते, स यत्नमुत्सृज्य यावत् कोष्ठकं गतः, दंष्ट्राविनाशी यक्षश्चिन्तयति इदं भगवच्छासनं विनश्यति, अहं च शिक्षां धारयामि 'न मया शक्यं कस्यचिदप्रियं कर्तुं, तस्य दुहिता कृमिसेन यक्षेण याच्यते न चानुपर्यच्छति त्वं पापकर्मकारीति, यावत्सा दुहिता कृमिसेनस्य दत्ता, भगवच्छासनपरित्राणार्थं परिग्रहपरिपालनार्थं च, पुष्यमित्रस्य राज्ञः पृष्ठतः यक्षो महान् प्रमाणे यूयं (?) तस्यानुभावात् स राजा न प्रतिहन्यते यावद् दंष्ट्राविनाशी यक्षस्तं पुष्यमित्रानुबन्धयक्षं गृहीत्वा पर्वतचर्येऽचरत् यावद्दक्षिणमहासमुद्रं गतः, कृमिसेनेन च यक्षेण महान्तं पर्वतं

आनयित्वा पुष्यमित्रो राजा सबलवाहनोऽवष्टब्धः, तस्य 'मुनिहत' इति संज्ञा व्यवस्थापिता, यदा पुष्यमित्रो राजा प्रघातितस्तदा मौर्यवंशः समुच्छिन्नः।''

—दिव्यावदान २९ पृ० ४३०—४३४।

बौद्धों के इस लेख से ज्ञात होता है कि धर्मांध पुष्यमित्र ने पाटलिपुत्र से साकल (स्यालकोट—पंजाब) तक के बौद्ध विहारों का नाश कर दिया था और बौद्ध भिक्षुओं को मरवाया था।

जैन धर्म और जैन श्रमणों के ऊपर पुष्यमित्र ने क्या अत्याचार किया था इसका स्पष्ट लेख यद्यपि जैन ग्रंथों में नहीं मिलता तथापि महानिशीथ, तित्थोगाली पइन्नय आदि जैन ग्रंथों में जो कल्की राजा के अत्याचारों का वर्णन उपलब्ध होता है, वह मेरे खयाल से पुष्यमित्र के कर्तव्यों का ही अन्योक्तिक वर्णन है। इस बात को समझने के लिये यहाँ हमको कल्की संबंधी पुराणों तथा जैन ग्रंथों के लेख विचारने होंगे।

कल्कि के संबंध में 'पुराणकार' इस प्रकार लिखते हैं—'

'जब कलियुग पूरा होने लगेगा तब धर्मरक्षण के लिये शंभल गाम के मुखिया विष्णुयश ब्राह्मण के यहाँ भगवान् विष्णु कल्कि के रूप में अवतार लेंगे।

'कल्कि देवदत्त नामक तेज घोड़े पर सवार हो के खड्ग से दुष्टों और राजवेश में रहते हुए सब लुटेरों का नाश करेगा। जो म्लेच्छ हैं, जो अधार्मिक और पाषंडी हैं वे सब कल्कि से नष्ट किए जायँगे।'

पाठकों के अवलोकनार्थ हम पुराणों के उन श्लोकों को यहाँ उद्धृत करते हैं जिनमें कल्कि के कर्तव्यों का वर्णन है।

''इत्थं कलौ गतप्राये, जनेषु खरधर्मिणि।
धर्मत्राणाय सत्वेन, भगवानवतरिष्यति ॥ १६ ॥
चराचरगुरोर्विष्णोरीश्वरस्याखिलात्मनः।
धर्मत्राणाय साधूनां, जन्मकर्मापनुत्तये ॥ १७ ॥
शंभलग्राममुख्यस्य, ब्राह्मणस्य महात्मनः।
भवने विष्णुयशसः, कल्किः प्रादुर्भविष्यति ॥ १८ ॥
अश्वमाशुगमारुह्य, देवदत्तं जगत्पतिः।
असिनाऽसाधुदमनमष्टैश्वर्यसमन्वितः ॥ १९ ॥
विचरन्नाशुना क्षोण्यां, हयेनाऽप्रतिमद्युतिः।
नृपलिंगच्छदो दस्यून्कोटिशो निहनिष्यति ॥ २० ॥''

—श्रीमद्भागवत १२ स्कंध, अ० २, पृ० १०३०—१०३४।

''कल्किना व्याहताः सर्वे, म्लेच्छा यास्यन्ति संक्षयम् ॥ २०६ ॥
अधार्मिकाश्च येऽत्यर्थं पाखण्डाश्चैव सर्वशः ॥''

—ब्रह्माण्डपुराण म० भा० उपो० पा० ३ अ० ७४ पृ० १८९—१८८।

पुराणों के इन लेखों से यह तो स्पष्ट है कि कल्कि वैदिक धर्म का उद्धारक होगा। इतना ही नहीं बल्कि वह अधर्मी और पाषंडियों (अन्य दार्शनिकों) का नाश करनेवाला होगा।

अब इसी कल्कि के संबंध में जैनों की क्या मान्यता है सो भी देखिए—

(१) तित्थोगाली में लिखा है—

'शक से १३२३ (वीर निर्वाण १६२८) वर्ष व्यतीत होंगे तब कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) में दुष्टबुद्धि कल्कि का जन्म होगा।'

(२) कालसप्ततिका प्रकरण में लिखा है—

'वीर निर्वाण से १६१२ वर्ष और ५ मास बीतने पर पाटलिपुत्र नगर में चंडाल के कुल में चैत्र की अष्टमी के दिन श्रमणों (साधुओं) का विरोधी जन्मेगा जिसके तीन नाम होंगे—१ कल्की, २ रुद्र और ३ चतुर्मुख।'

(३) दीपमाला कल्प में जिनसुन्दर सूरि लिखते हैं—

'वीर निर्वाण के १६१४ वर्ष व्यतीत होंगे तब पाटलिपुत्र में म्लेच्छ कुल में यश की स्त्री यशोदा की कुक्षि से चैत्र शुक्ल ८ की रात में कल्कि का जन्म होगा।'

(४) उपाध्याय क्षमाकल्याण अपने दीपमाला कल्प (पृष्ठ ४५) में लिखते हैं—

'मुझसे (वीर निर्वाण से) चार सौ पचहत्तर (४७५) वर्ष बीतने पर विक्रमादित्य नाम का राजा होगा। उसके बाद करीब १२४ वर्ष के भीतर (निर्वाण संवत् ५९९ में) पाटलिपुर नामक नगर में × × × चतुर्मुख (कल्कि) का जन्म होगा।'

(५) दिगंबराचार्य नेमिचंद्र अपने 'तिलोयसार' नामक ग्रंथ में लिखते हैं—

'वीर निर्वाण से ६०५ वर्ष और ५ मास बीतने पर 'शक राजा' होगा और उसके बाद ३९४ वर्ष और ७ मास में अर्थात् निर्वाण संवत् १००० में कल्की होगा।'

कल्की के समय के संबंध में जैन आचार्यों की जो भिन्न भिन्न मान्यताएँ हैं उनका निर्देश ऊपर कर दिया। अब हम कल्की के समय में बनी हुई घटनाओं का संक्षिप्त वर्णन करेंगे जो 'इस विषय के सबसे प्राचीन ग्रंथ तित्थोगाली पइन्नय तथा महानिशीथ सूत्र में दिया हुआ है।'

(६) तित्थोगाली पइन्नय में लिखा है—

'कल्कि का जन्म होगा तब मथुरा में राम और कृष्ण के मंदिर गिरेंगे और विष्णु के उत्थान (कार्तिक शुदि ११) के दिन वहाँ जनसंहारक घटना होगी।'

(७) इस जगत्प्रसिद्ध पाटलिपुत्र नगर में ही 'चतुर्मुख' नाम का राजा होगा। वह इतना अभिमानी होगा कि दूसरे राजाओं को तृण समान गिनेगा। नगरचर्या में निकला हुआ वह नंदों के पाँच स्तूपों को देखेगा और उनके संबंध में पूछताछ करेगा, तब उसे उत्तर में कहा जायगा कि यहाँ पर बल, रूप, धन और यश से समृद्ध नंद राजा बहुत समय तक राज कर गया है, उसी के बनवाए हुए ये स्तूप हैं। इनमें उसने सुवर्ण गाड़ा है जिसे दूसरा कोई राजा ग्रहण नहीं कर सकता। यह सुन कल्की उन स्तूपों को खुदवाएगा और उनमें का तमाम सुवर्ण ग्रहण कर लेगा। इस द्रव्य-प्राप्ति से उसकी लालच बढ़ेगी और द्रव्यप्राप्ति की आशा से वह सारे नगर को खुदवा देगा। तब जमीन में से एक पत्थर की गौ निकलेगी जो 'लोणदेवी' कहलाएगी।

लोणदेवी आम रास्ते में खड़ी रहेगी और भिक्षा निमित्त जाते आते साधुओं को मार गिरावेगी, जिससे उनके भिक्षा-पात्र टूट जायँगे, तथा हाथ पैर और शिर भी फूटेंगे और उनको नगर में चलना फिरना मुश्किल हो जायगा।

तब महत्तर (साधुओं के मुखिया) कहेंगे—श्रमणो! यह अनागत दोष की—जिसे भगवान् वर्द्धमान स्वामी ने अपने ज्ञान से पहले ही देखा था—अग्र सूचना है। साधुओ! यह गौ वास्तव में अपनी हितचिन्तिका है। भावी संकट की सूचना करती है, इस वास्ते चलिए, जल्दी हम दूसरे देशों में चले जायँ!

गौ के उपसर्ग से जिन्होंने जिन-वचन सत्य होने की संभावना की वे पाटलिपुत्र को छोड़कर अन्य देश को चल गए। पर बहुतेरे नहीं भी गए।

गंगाशोण के उपद्रव विषयक जिन-वचन को जिन्होंने सुना वे वहाँ से अन्य देश को चले गए और कई एक नहीं भी गए।

'भिक्षा यथेच्छ मिल रही है, फिर हमें भागने की क्या जरूरत है?' यह कहते हुए कई साधु वहाँ से नहीं गए।

दूर गए भी पूर्वभविक कर्मों के तो निकट ही हैं।' नियमित काल में फलनेवाले कर्मों से कौन दूर भाग सकता है? मनुष्य समझता है, मैं भाग जाऊँ ताकि शांति प्राप्त हो, पर उसे मालूम नहीं कि उसके भी पहले कर्म वहाँ पहुँचकर उसकी राह देखते हैं।

वह दुर्मुख और अधर्म्मंमुख राजा चतुर्मुख (कल्की) साधुओं को इकट्ठा करके उनसे कर माँगेगा और न देने पर श्रमणसंघ तथा अन्य मत के साधुओं को कैद करेगा। तब जो सोना चाँदी आदि परिग्रह रखनेवाले साधु होंगे वे सब 'कर' देकर छूटेंगे। कल्की उन पाखंडियों का जबरन् वेष छिनवा लेगा।

लोभग्रस्त होकर वह साधुओं को भी तंग करेगा। तब साधुओं का मुखिया कहेगा—'हे राजन् ! हम अकिंचन हैं, हमारे पास क्या चीज है जो तुझे कर स्वरूप दी जाय ?' इस पर भी कल्की उन्हें नहीं छोड़ेगा और श्रमण-संघ कई दिनों तक वैसे ही रोका हुआ रहेगा। तब नगरदेवता आकर कहेगा—'अये निर्दय राजन् ! तू श्रमण-संघ को हैरान करके क्यों मरने की जल्दी तैयारी करता है, जरा सबर कर। तेरी इस अनीति का आखिरी परिणाम तैयार है।' नगरदेवता की इस धमकी से कल्की घबरा जायगा और आर्द्र वस्त्र पहिनकर श्रमणसंघ के पैरों में पड़कर कहेगा 'हे भगवन् ! कोप देख लिया अब प्रसाद चाहता हूँ।' इस प्रकार कल्की का उत्पात मिट जाने पर भी अधिकतर साधु वहाँ रहना नहीं चाहेंगे, क्योंकि उन्हें मालूम हो जायगा कि यहाँ पर निरंतर घोर वृष्टि से जलप्रलय होनेवाला है।

तब वहाँ नगर के नाश की सूचना करनेवाले दिव्य आंतरिक्ष और भौम उत्पात होने शुरू होंगे कि जिनसे साधु साध्वियों को पीड़ा होगी। इन उत्पातों से और अतिशायी ज्ञान से यह जानकर कि—'सांवत्सरिक पारणा के दिन भयंकर उपद्रव होनेवाला है'—साधु वहाँ से विहार कर चले जायँगे। पर उपकरण मकानों और श्रावकों का प्रतिबंध रखनेवाले तथा भविष्य पर भरोसा रखनेवाले साधु वहाँ से जा नहीं सकेंगे।

तब सत्रह रात दिन तक निरंतर वृष्टि होगी जिससे गंगा और शोण में बाढ़ आएँगी। गंगा की बाढ़ और शोण के दुर्धर वेग से यह रमणीय पाटलिपुत्र नगर चारों ओर से बह जायगा। साधु जो धीर होंगे वे आलोचना प्रायश्चित्त करते हुए और जो श्रावक तथा वसति के मोह में फँसे हुए होंगे वे सकरुण दृष्टि से देखते हुए मकानों के साथ ही गंगा के प्रवाह में बह जायँगे। जल में बहते हुए वे कहेंगे—'हे स्वामि सनत्कुमार ! तू श्रमणसंघ का शरण हो, यह वैयावृत्य करने का समय है।' इसी प्रकार साध्वियाँ भी सनत्कुमार की सहायता माँगती हुई मकानों के साथ बह जायँगी। इनमें कोई कोई आचार्य्य और साधु साध्वियाँ फलक आदि के सहारे तैरते हुए गंगा के दूसरे तट पर उतर जायँगे। यही दशा नगरनिवासियों की भी होगी। जिनको नाव फलक आदि की मदद मिलेगी वे बच जायँगे, बाकी मर जायँगे। राजा का खज़ाना पाडिवत आचार्य्य और कल्की राजा आदि किसी तरह बचेंगे पर अधिकतर बह जायँगे। अन्य दर्शन के साधु भी इस प्रलय में बहकर मर जायँगे। बहुत कम मनुष्य ही इस प्रलय से बचने पायँगे।

इस प्रकार पाटलिपुत्र के बह जाने पर धन और कीर्ति का लोभी कल्की दूसरा नगर बसाएगा और बाग बगीचे लगवाकर उसे देवनगर-तुल्य रमणीय

बना देगा। फिर वहाँ देवमंदिर बनेंगे और साधुओं का विहार शुरू होगा। अनुकूल वृष्टि होगी और अनाज वगैरह इतना उपजेगा कि उसे खरीदनेवाला नहीं मिलेगा। इस प्रकार ५० वर्ष सुभिक्ष से प्रजा अमन चैन में रहेगी।

इसके बाद फिर कल्की उत्पात मचाएगा, पाषंडियों के वेष छिनवा लेगा और श्रमणों पर भी अत्याचार करेगा। उस समय कल्पव्यवहारधारी तपस्वी युगप्रधान आचार्य्य पाडिवत तथा दूसरे साधु दुःख की निवृत्ति के लिये छट्ठ अट्ठम का तप करेंगे। तब कुछ समय के बाद नगरदेवता कल्की से कहेगा—'अये निर्दयी! तू श्रमणसंघ को तकलीफ देकर क्यों जल्दी मरने की तैयारी कर रहा है? जरा सबर कर, तेरे पापों का घड़ा भर गया है।' नगरदेवता की इस धमकी की कुछ भी परवाह न करता हुआ वह साधुओं से भिक्षा का षष्ठांश वसूल करने के लिये उन्हें बाड़े में कैद करेगा। साधुगण सहायतार्थ इंद्र का ध्यान करेंगे तब अंबा और यक्ष कल्की को चेताएँगे, पर वह किसी की नहीं सुनेगा। आखिर में संघ के कायोत्सर्ग ध्यान के प्रभाव से इंद्र का आसन कँपेगा और वह ज्ञान से संघ का उपसर्ग देखकर जल्दी वहाँ आएगा। धर्म की बुद्धिवाला और अधर्म का विरोधी वह दक्षिण लोकपति (इंद्र) जिन-प्रवचन के विरोधी कल्की का तत्काल नाश करेगा।

उग्रकर्मा कल्की उग्र नीति से राज करके ८६ वर्ष की उमर में निर्वाण से २००० वर्ष बीतने पर इंद्र के हाथ से मृत्यु पाएगा। तब इंद्र कल्की के पुत्र दत्त को हित शिक्षा दे श्रमण-संघ की पूजा करके अपने स्थान पर चला जायगा।

(८) दीपालिका कल्प में जिनसुंदर सूरि लिखते हैं—

'निर्वाण से २००० वर्ष पूरे होंगे तब भाद्रपद शुदि ८ के दिन इंद्र के चपेट-प्रहार से ८६ वर्ष की उमर में मरकर कल्की नरक में जायगा।'

(९) 'महानिशीथ' सूत्र के ५वें अध्ययन में कल्की के संबंध में गौतम स्वामी का प्रश्नोत्तर है, जिसका सार इस प्रकार है—

गौतम—'भगवन्! श्रीप्रभ नामक अनगार किस समय होगा?'

महावीर—'हे गौतम! जिस वक्त निकृष्ट लक्षणवाला, अद्रष्टव्य, रौद्र, उग्र और क्रोधी प्रकृतिवाला, उग्र दंड देनेवाला, मर्यादा और दयाहीन, अति क्रूर और पापबुद्धि-वाला, अनार्य, मिथ्यादृष्टि ऐसा कल्की नाम का राजा होगा, जो पापी श्रीश्रमणसंघ की भिक्षा के निमित्त कदर्थना करेगा, और उस वक्त जो शीलसमृद्ध और सत्ववंत, तपस्वी साधु होंगे उनकी ऐरावतगामी वज्रपाणि इंद्र आकर सहायता करेगा। उस समय श्रीप्रभ नामक अनगार होगा।'

जिनका सारांश ऊपर दिया गया है, वे तित्थोगाली आदि ग्रंथों के मूल-पाठ क्रमशः नीचे दिए जाते हैं। पाठक महोदय देखेंगे कि कल्की के संबंध में जैन ग्रंथकारों की मान्यता क्या है।

(१) "सगवंसस्स य तेरस—सयाइं तेवीसइं होंति वासाइं।
होही जम्मं तस्स उ कुसुमपुरे दुट्ठबुद्धिस्स ॥ ६२४ ॥"
—तित्थोगाली पइन्नय।

(२) "वीर जिणा गुणवीस-सएहिं पणमासबारवरिसेहिं।
चंडालकुले होही, पाडलपुरि समण पडिकूलो ॥ ४४ ॥
चित्तट्ठमि विट्ठिभवो, कक्की १ रुद्दो २ चउमुह ३ तिनामा" ॥
—धर्मघोषसूरि कृत कालसप्ततिका।

(३) "मन्निर्वृतेर्गतेष्वब्द-शतेष्वेकोनविंशतौ।
चतुर्दशसु चाब्देषु, चैत्रशुक्लाष्टमीदिने ॥ २३१ ॥
विष्टौ म्लेच्छाकुले कल्की, पाटलीपुरपत्तने।
रुद्रश्चतुर्मुखश्चेति धृताऽपराह्वयद्वयः ॥ २३२ ॥
यशोगृहे यशोदायाः, कुक्षौ स्थित्वा त्रयोदश।
मासान् मघौ सिताष्टम्यां, जयश्रीवासरे निशि ॥ २३३ ॥
षष्ठे मकरलग्नांशे, वहमाने महीसुते।
आरे कर्कस्थिते चन्द्रे, चन्द्रयोगे शुभावहे ॥ २३४ ॥
प्रथमे पादेऽश्लेषायाः, कल्किजन्म भविष्यति।"
—जिनसुन्दरसूरि कृत दीपालिकल्प।

(४) "मत्तः पंचसप्तत्यधिकचतुःशता (४७५) ब्दव्यतीते सति विक्रमादित्यनामको राजा भविष्यति। ततः किंचिदूनचतुर्विंशत्यधिकशतवर्षानंतरं पाटलिपुरनाम्नि नगरे × × × चतुर्मुखस्य जन्म भविष्यति।"
—क्षमाकल्याण कृत दीपमालाकल्प।

(५) "पणच्छस्सयवस्स पण मास जुदं गमिय वीरणिव्वुइदो।
सगराजो तो कक्की, तिचदुणवतिमहियसगमासं ॥"
—नेमिचंद्रीय त्रिलोकसार।

(६) "तइया भुवणं पडणस्स (तइया य भुवण पडणं ?)
जंमनगरीए रामकण्हाणं।
घोरं जण घ(ख)य करं, पडिवोहदिणे य विण्हुस्सा ॥ ६२८ ॥"
—तित्थोगाली पइन्नय।

(७) "जं एयं वर नगरं, पाडलिपुत्तं तु विसुए (विस्सु अं) लोए।
एत्थं होही राया, चउमुहो नाम नामेणं ॥ ३९ ॥

सो अविणयपज्जत्तो, अण्णनरिंदे तणं पिव गणंतो ।
नगरं आहिंडंतो, पेच्छीहि पंच थूभेउ ॥ ३६ ॥
पुट्ठा य वेंति मणुया, नंदो ! राया चिरं इहं आसि ।
बलितो अत्थसमिद्धो, रूवसमिद्धो, जससमिद्धो ॥ ३७ ॥
तेण उइहं हिरण्णं निक्खित्तंसि (?) बहुबलपमत्तेणं ।
नय णं तरंति अण्णे रायाणो दाणि घित्तुंजे ॥ ३८ ॥
तं वयणं सोऊणं, खणेहीति समंततो ततो थूभे ।
नंदस्स संतियं तं परि (डि) वज्जइ सो अह हिरण्णं ॥ ३९ ॥
सो अत्थपडिबद्धो अण्णनरिंदे तणेवि अगणिंतो ।
अह सव्वभोमणाह तं (?) खणाविही पुरवरं सव्वं ॥ ४० ॥
नामेण लोणदेवी, गावीरूवेण नाम अहिउत्था ।
धरणिय लाउ जूया, दीसिही सिलामयी गावी ॥ ४१ ॥
सा किर त्तइया गावी, होऊणं राय मग्गमोतिण्णा ॥
साहुजणं हिंडंतं, पाहिट्ठी (?) सुसुणायंती ॥ ४२ ॥
ते भिण्णभिक्खूभायण—विलोलिया भिण्णकोप्परनिडाला ।
भिक्खं पि हुसमणगणा न चयंति हु हिंडिउं नगरे ॥ ४३ ॥
वोच्छंति य मय हरगा, आयरिय परंपरागयं तच्चं ।
एस अणागय दोसो, चिरदिट्ठो बद्धमाणेण ॥ ४४ ॥
अण्णेवि अत्थि देसा, लहुं लहुं ता इतो अवक्कमिमो ।
एसा विहु अणुकंपइ, गावीरूवेण अहिउत्था ॥ ४५ ॥
गावीए उवसग्गा, जिणवरवयणं च जे सुणेहिंति ।
गच्छंति अण्णदेसं, तहवि य बहवे न गच्छंति ॥ ४६ ॥
गंगा सोणुवसग्गं, जिणवर वयणं च जे सुणेहिंति ।
गच्छंति अण्णदेसं, तहवि य बहुया न गच्छंति ॥ ४७ ॥
किं अम्ह पलाएणं, भिरकस्स किमिच्छियाइ लब्भंते ।
एवंति जंपमाणा, तहवि य बहुया न गच्छंति ॥ ४८ ॥
पुव्वभव निम्मियाणं, दूरे नियडे व्व अखियवंताणं ।
कम्माण कोपलायइ, कालतुलासंविभत्ताणं ॥ ४९ ॥
दूरं वच्चइ पुरिसो, तत्थ गतो निव्वुइं लभिस्सामि ।
तत्थवि पुव्वकयाइं, पुव्वगयाइं पडिक्खंति ॥ ५० ॥
अह दाणि सो नरिंदो, चउम्मुहो दुम्मुहो अधम्ममुहो ।
पासंडे पिंडेउं, भणिही सव्वे करं देहा ॥ ५१ ॥

रुद्धो य समणसंघो, अच्छिहीति सेसया य पासंडा ।
सव्वे दाहिंति करं, सहिरण्ण सुवण्णिया जत्था ॥ ५२ ॥
सव्वे य कुपासंडे, मोयावेहि बला सलिंगाइं ।
अइतिव्व लोह घत्थो, समणेवि अभिद्दवेसी य ॥ ५३ ॥
वोच्छंति य मय हरंगा, अम्हं दायव्वयं किंचित्थं ।
जं नाम तुब्भ लब्भा, करेहि तं दायसी राय ॥ ५४ ॥
रोसेण सूसयंतो, सो कइत्रि दिणा तहेव अच्छिही ।
अह नगरदेवया तं, अप्पणिया भणिही राय ॥ ५५ ॥
किं तूरसि मरिउं जे, निसंस किं बाहसे समणसंघं ।
सज्जंते पज्जत्तं, नणु कइदीहं पडिच्छाहि ॥ ५६ ॥
उल्लपडसाडओ सो, पडिओ थाएहि (पाएसु) समणसंघस्स
कोवो दिट्ठो भयवं, कुणह पसायं पसाएमि ॥ ५७ ॥
किं अह्म पसाएणं, तहवि य बहुया तहिं न इच्छंति ।
घोरनिरंतरवासं, अह वासं दाई वासिहत्ति ॥ ५८ ॥
दिव्वंतरिक्खभोमा, तइया होहिंति नगरनासाय ।
उप्पाया उ महल्ला, सुसमणसमणीण पीडकरा ॥ ५९ ॥
संवच्छरपारणए, होहि असिवंत्ति तो ततो निंति ।
सुत्तत्थं कुव्वंता, अइसयमादीहिं नऊण ॥ ६० ॥
गंतु पि न चायंति, केइ उवगरणवसहिपडिबद्धा ।
केइ सावगनिस्सा, केइ पुण जंभविस्सा उ ॥ ६१ ॥
तं दाणि समणुबद्धं, सतरसरातिंदियाइँ वासिहीति ।
गंगा सोणा य सरो, उव्वत्तइ तेण वेगेणं ॥ ६२ ॥
गंगाए वेगेण य, सोणस्स य दुद्धरेण सोतेणं ।
अह सव्वओ महंता, वुज्झिही पुरवरं रम्मं ॥ ६३ ॥
आलोइय मयसल्ला, पच्चरकाणेसु धणियमुज्जुत्ता ।
उच्छुप्पिहिंति साहु, गंगाए अग्गवेगेणं ॥ ६४ ॥
केइत्थ साहुवग्गा, उवगरणे धणियरागपडिबद्धा ।
कलुणाई पलोईंता, वसहीसहिया तो वुज्झंति ॥ ६५ ॥
सामिय सरणं कुमारा सरणं ता होहि समणसंघस्स ।
इणमो वेयावच्चं, भणमाणाणं त (न) वट्टिहीति ॥ ६६ ॥
आलोइयतिसल्ला, पच्चरकाणेसु धणिय मुज्जंता ।
उच्छुपिहिंति समणी, गंगाए अग्गवेगेणं ॥ ६७ ॥

काओवि साहुणीओ, उवगरणधणियरागपडिबद्धा ।
कलुण पलोयणियातो, वसही सहीयातो वुज्झंति ॥ ६८ ॥
सामियसणंकुमारा, सरणं ता होहि समणसंघस्स ।
इणमो वेयविच्चं, भणमाणीणं न बट्ठिहीति ॥ ६९ ॥
आलोइय तिसल्ला, समणीउ पच्चक्खाइऊण उज्जुत्ता ।
उच्छिप्पिहिंति धणियं, गंगाए अग्गवेगेणं ॥ ७० ॥
केई फलगविलग्गा, वच्चंति समणसमणीण संघाया ।
आयरियाई य तहा, उत्तिन्ना बीय कूलंमि ॥ ७१ ॥
नगरजणो वियवूढो, केई लहूण फलगखंडाइं ।
समुत्तिन्नो बीय तडं, कोई पुण तत्थ निहणगतो ॥ ७२ ॥
रण्णो य अत्थजायं, पाडिववतो चेव कक्किरायो य ।
एवं हवइ हुबुट्टं, बहुयं वूढं जभोहयणं (?) ॥ ७३ ॥
पासंडा विय वण्हा (?) बूढा वेगेण कालसंपत्ता ।
चोइवरंतिज्जे (?) वा पविरलमणु पुंचसंजाया (?) ॥ ७४ ॥
सो अत्थ पडिबद्धो, मज्झं होही जसो य कित्ती य ।
तंमि य नगरे वूढे, अण्णं नगरं निविसिहीति ॥ ७५ ॥
अह सव्वतो समंता, कारेही पुरवरं महारंमं ।
आरा मुज्जाणजुयं, विरायते देवनगरं व ॥ ७६ ॥
पुणरवि आयतणाइं, पुणरवि साहू य तत्थ विहरंति ।
सम्मं च वुट्ठिकाओ, वासिहिति संती य वट्टिहिति ॥ ७७ ॥
पडिएणवि कुंभेणं, किणंतया य तहिं न होंति ।
पण्णासंवासाइ, होही य समुब्भवो कालो ॥ ७८ ॥
पुणरवि य कुपासंडे, मेल्लाविहिति बला सलिंगाइं ।
अइतिव्व लोहघत्थो, समणेवि अभिद्दवेसी य ॥ ७९ ॥
तइया वि कप्पवहार, धारओ संजतो तवाउत्तो ।
आणादिट्ठी समणो, भावियसुत्तो पसंतमणो ॥ ८० ॥
वीरेण समाइट्ठो, तित्थोगालीए जुगप्पहाणोत्ति ।
सासणउण्णतिजणणो, आयरितो होहिति धीरो ॥ ८१ ॥
पाडिवतो नामेरं, अणगारो तह य सुविहिया समणा ।
दुक्खपरिमोयणट्ठा, छट्ठट्ठमतवे काहिंति ॥ ८२ ॥
रोसेण मिसिमिसंतो, सो कइ दीहं तहेव अच्छी य ।
नगरदेवयाउ, अप्पिणिया चेति वेसीया ॥ ८३ ॥

किं तूरसि मारिउं जे, निस्संस किं बाहसे समणसंघं ।
सव्वं तं पज्जत्तं, नणु कइदीहं पडिच्छाहि ॥ ८४ ॥
तासिंपि य असुणंतो, छट्ठं भिक्खस्स मग्गए भागं ।
काउसग्गं चिट्ठिय, सक्कस्साराहणट्ठारा ॥ ८५ ॥
गोवाडंमि निरुद्धा, समणा रोसेण मिसमिसायंता ।
अेवा जक्खो य भणंति, राय कट्ठेहिं सप्पंति ॥ ८६ ॥
काउसग्गठिएसु, सक्कस्साकंपियं तउट्ठाणं ।
आभोइय ओहीए, खिप्पं ति दसाहि वो राइ ॥ ८७ ॥
सो दाहिणलोगपती, धम्माणुयती अहम्मदुट्ठमती ।
जिणवयणपडिकुट्ठं, नासिहिति खिप्पमेव तयं ॥ ८८ ॥
छासीतीउ समाउ, उग्गो उग्गाइ दंडनीतीए ।
भोत्तुं गच्छति निहयं, निव्वाणसहस्स दो पुन्ने ॥ ८९ ॥
तस्स य पुत्तं दत्तं, इंदो अणुसासिऊण जणमज्भे ।
काऊण पाडिहेरं, गच्छइ समणे पणमिऊणं ॥ ९० ॥"

(८) " इत्युदित्वा स शक्रेण, मम निर्वाणतो गते ।
वर्षसहस्रद्वितये, भाद्रशुक्लाष्टमीदिने ॥ २८४ ॥
ज्येष्ठत्त रविवारे च, चपेटाप्रहतो रुषा ।
षडशीतिसमायुष्कः, कल्कीराड् नरकं गमी ॥ २८५ ॥"

—जिनसुन्दरीय दीपालिकल्प ।

(९) " से भयवं केवइएणं कालेणं से सिरिप्पभे अणगारे भवज्जा ?, गोयमा होही दुरंतपंत लक्खणो अदट्ठव्वे रोद्दे चंडे पयंडे उग्गपयंडदंडे निम्मिरे निक्किवे निग्घिणे नित्तिंसे कूरपरपावमई अणारियमिच्छदिट्ठी कक्की नाम रायाणे से णं पावे पाहुडियं भमाडिउकाये सिरिसमणसघंकयत्थेज्जा जाव णं कयत्थे ताव णं गोयमा जे केई तत्थ सीलट्ठे महाणुभागे अचलियसत्ते तवोहण अणगारे तेसिं च पाडिहेरियं कुज्जा सोहम्मे कुलिसपाणी एरावणगामी सुरवरिंदे ।"

—महानिशीथ ५ । ४६ ।

उपर्युक्त पौराणिक और जैन वर्णनों से यह बात तो प्रायः निश्चित है कि दोनों मतवालों का कथन एक ही व्यक्ति के संबंध में है ।

यद्यपि पुराणकार कल्कि का जन्म कलियुग के अंत में शंभल गाम में बताते हैं और जैन निर्वाण की बीसवीं सदी में पाटलिपुत्र में, तब भी हमें इन बातों की ओर खयाल न करके यही कहना चाहिए कि दोनों धर्मवालों का

कल्कि एक ही है। क्योंकि जो कल्कि का वर्णन पुराणों में है, वही जैन ग्रंथों में भी है। भेद इतना ही है कि पुराणकार उसके कामों को अवतारी पुरुषों के कार्यों में गिनते हैं और जैन एक अन्यायी और अत्याचारी राजा के नाम से उसकी निंदा करते हैं। दोनों का कथन सापेक्ष है, और उसका कारण स्पष्ट है।

अब हम इन कथनों की समालोचना करके देखेंगे कि इनमें कुछ ऐतिहासिक अंश भी है या कल्की विषयक वर्णन निराधार कल्पना ही है।

पुराणकार प्रद्योतों के समय से ही धार्मिकता की अपेक्षा से राजाओं की शिकायत करते मालूम होते हैं। प्रद्योत के लिये तो वे स्पष्ट कहते हैं कि—'वह सामंतों से पूजित होगा, धर्म से नहीं।'

"स वै प्रणतसामन्तो भविष्यो न च धर्मतः।"

—मत्स्यपुराण, अ० २७१।

शैशुनाग वंश के मगध राजाओं को भी पुराणकार 'क्षत्रबंधु' अर्थात् पतित क्षत्रिय कहते हैं—

"शिशुनाका भविष्यंति राजानः क्षत्रबंधवः॥ १२॥"

—मत्स्यपुराण, अ० २७२।

"शिशुनागा दशैवैते राजानः क्षत्रबंधवः।"

—ब्र० म० भा० उ० पा० ३ अ० ७४।

वायुपुराण में तो शैशुनागों के अतिरिक्त दूसरे राजाओं को भी पतित क्षत्रिय कहा है। देखो नीचे का श्लोक—

"शैशुनाका भविष्यंति तावत्कालं नृपाः परे।
एतैः सार्द्धं भविष्यंति, राजानः क्षत्रबांधवाः॥ ३१६॥"

—वायु० पु० उ० अ० ३७।

शैशुनागों के पीछे भारतवर्ष का राजमुकुट नंद के शिर चढ़ता है। नंद को तो पुराणकार शूद्रा का पुत्र कहते ही हैं, परंतु इसके साथ ही वे भविष्य के राजाओं की जाति का भी खुलासा कर देते हैं कि 'तब से शूद्र राजा होंगे।'

पुराणों के इन उल्लेखों का यदि कोई कारण हो सकता है तो यही कि प्रद्योत, शैशुनाग, नंद और मौर्यों के समय में ब्राह्मणों को राज्याश्रय नहीं मिलता था। प्रद्योत और शैशुनाग राजा जैन और बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, और लगभग यही बात नंद और मौर्यों के संबंध में भी थी। इस कारण से ब्राह्मण साम्राज्य कमजोर हो चला था। ठीक इसी समय में शुंग पुष्यमित्र ने मगध की राजगद्दी अपने अधिकार में की और चिर काल से राज्याश्रय से वंचित वैदिक धर्म की एकदम उन्नति करने के लिये उसने अपनी राजशक्ति का यथाशक्य प्रयोग किया। बौद्धों के मठ-मंदिर तोड़े, बौद्ध जैन और इतरधर्मी साधुओं के वेष

छीन छीन उन्हें ब्राह्मण धर्म में जोड़ा। जिन्होंने न माना उनके शिर उड़ाए, और अश्वमेधादि यज्ञ करके कुछ समय से विस्मृत हुई वैदिक क्रियाओं का पुनरुद्धार किया।

पुष्यमित्र के उक्त कामों ने ब्राह्मण समाज को संतुष्ट कर दिया। इतना ही नहीं बल्कि उनके मन में ऐसी भावना का बीज बो दिया जो आगे जाकर अवतार की कल्पना के रूप में प्रगट हुआ। सचमुच ही कल्की का वर्णन एक सत्य घटना का कल्पना-मिश्र इतिहास है।

जैन वर्णनों में तो कतिपय बातें प्रकटतया इस घटना की ऐतिहासिकता के प्रमाण हैं।

गंगा और शोण की बाढ़ों से पाटलिपुत्र के बह जाने की बात हमारी समझ में सत्य घटना है। चंद्रगुप्त के दरबार में रहनेवाले ग्रीक वकील मेगास्थनीज के अपनी 'टा इंडिका' में दिए हुए पाटलिपुत्र के वर्णन और वर्तमान समय में उसके कथनानुसार पाटलिपुत्र के प्राचीन अवशेषों के मिलने से यही अनुमान होता है कि मेगास्थनीज वर्णित पाटलिपुत्र किसी विशेष घटना के परिणामस्वरूप भूमिशायी हो गया था जो खोदने पर अब प्रकट हो रहा है। हमारी राय में चंद्रगुप्त के पाटलिपुत्र को नष्ट करनेवाली यदि कोई घटना हो सकती है तो वह कल्की के समय में होनेवाला जल-प्रलय ही है।

कल्की संबंधी जैन वर्णनों में ध्यान खींचनेवाली दूसरी बात यह है कि कल्कि नंदकारित स्तूपों को देखता है और उसके मनुष्य नंद की समृद्धि का उसके सामने बयान करते हैं। इससे हम यह मान लेने में कुछ भी अनुचित नहीं करते कि कल्कीवाली घटना नंदों के पीछे परंतु उनकी बनवाई हुई इमारतों की मौजूदगी में हो गई थी। यह घटना-काल यदि वीर निर्वाण से ३७५ वर्ष पीछे मान लिया जाय तो वह समय पुष्यमित्र का हो सकता है।

पुराणकार स्पष्ट कह रहे हैं कि कल्की पाखंडियों (अन्य दार्शनिक साधुओं) का नाश करेगा, जैन भी कहते हैं कि कल्की जबरदस्ती साधुओं के वेष छीनेगा और उनको पीड़ा देगा और बौद्ध भी यही पुकारते हैं कि पुष्यमित्र ने बौद्ध धर्म को नष्ट करने का संकल्प करके बौद्ध मठों और भिक्षुओं का नाश किया। इन तीनों मतों के भिन्न भिन्न परंतु एक ही वस्तु का प्रतिपादन करनेवाले वर्णनों को देखकर हमें यही कहना पड़ता है कि पौराणिकों का 'कल्कि अवतार' 'जैनों का कल्कीराज' और बौद्धों का 'पुष्यमित्र' ये तीनों एक ही व्यक्ति के भिन्न भिन्न नाम हैं।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जब पौराणिक और जैनग्रंथकारों का वर्णन भी पुष्यमित्र को ही लक्ष्य कर रहा है तो वह पुष्यमित्र के ही नाम से क्यों न किया गया? अथवा क्या कल्कि और पुष्यमित्र शब्द एकार्थिक हैं? उत्तर यह

है कि 'कल्कि' और 'पुष्यमित्र' शब्द एकार्थक तो नहीं हैं, पर 'कल्कि' यह नाम पुष्यमित्र का विशेषण हो सकता है। दोनों संप्रदायवाले कल्कि का वाहन घोड़ा बताते हैं। पौराणिक उसे 'देवदत्त' और 'आशुग' कहते हैं। जिनसुंदर सूरि प्रमुख जैन लेखक कल्कि के घोड़े को 'अदंत तुरग' कहते हैं।

संभव है कल्कि का यह घोड़ा 'कर्क' (श्वेत) होगा (सितः कर्को, रथ्यो वोढा रथस्य यः—अमरकोश २ कांड क्षत्रिय वर्ग ८)। और कर्क वाहन से उसका सवार 'कर्की' कहलाता होगा। कर्की को प्राकृत में 'कक्की' के रूप में लिखा होगा और पीछे से 'कक्की' का संस्कृत भाषा में 'कल्की' हो गया होगा। इस प्रकार धीरे धीरे विशेष नाम 'पुष्यमित्र' का स्थान 'कर्की' अथवा 'कल्की' ने ले लिया हो तो कुछ भी आश्चर्य नहीं है।

खारवेल के हाथीगुंफा के लेख से ज्ञात होता है कि उसने दो बार मगध के राजा पर चढ़ाई की थी। कल्की भी दो बार धार्मिक विप्लव मचाता है और साधुओं को सताता है। कहने की जरूरत नहीं है कि पुष्यमित्र जैन धर्म का परम विरोधी था और खारवेल परम पोषक, इसलिये कल्की-पुष्यमित्र के दोनों उत्पातों के समय खारवेल ने मगध पर चढ़ाई करके जैन श्रमणों का रक्षण किया था। जैन लेखकों का यह कथन कि 'दक्षिण लोक के स्वामी इंद्र ने आकर कल्की को सजा दी' पूरा पूरा खारवेल की ही ओर संकेत करता है। उस समय खारवेल जैन शासन में देव की योग्यता प्राप्त कर चुका था। हाथी-गुंफा के लेख से ज्ञात होता है कि 'महा मेघवाहन' यह खारवेल की उपाधि थी। 'महा मेघवाहन' कहो या 'महेन्द्र' बात एक ही है। लेखकों ने इंद्र को 'दक्षिण लोकाधिपति' ऐसा विशेषण दिया है, वह भी खारवेल पर ही बैठता है, क्योंकि मगध की अपेक्षा कलिंग करीब दक्षिण दिशा में होने से खारवेल दक्षिण लोक का स्वामी कहा जाता होगा। कल्की को सजा देनेवाले इंद्र को ऐरावतगामी कहा है और खारवेल भी हाथी की सवारी से ही मगध पर चढ़ाई करके आया था, ऐसा उसके लेख से ज्ञात होता है। कल्की के समय में मथुरा में बलदेव और कृष्ण के मंदिर टूटने का 'तित्थोगाली' में उल्लेख मिलता है, खारवेल ने भी मथुरा पर चढ़ाई करके उत्तरापथ के राजाओं को भयभीत किया था यह बात हाथीगुंफा के लेख से ज्ञात होती है।

इन सादृश्यों से मैं इस निर्णय पर आया हूँ कि जैनों का 'कल्की' वास्तव में पुष्यमित्र था जिसने जैन श्रमणों को तकलीफ दी थी और उसको सजा देने के लिये आनेवाला 'इंद्र' था कलिंग चक्रवर्ती 'खारवेल श्री'।

व्यवहार सूत्र के छट्ठे उद्देशे की चूर्णि में निम्नलिखित वाक्य उपलब्ध होता है—

पुष्यमित्र की इस धर्मांधता के कारण कलिंग के सम्राट् खारवेल को दो बार मगध पर चढ़ाई करनी पड़ी थी। पहली चढ़ाई उसने मथुरा से लौटकर की। पुष्यमित्र को योग्य शिक्षा देकर वह लौट गया[३२], पर पुष्यमित्र अपनी धर्मांधता से बाज नहीं आया।

"मुड्डिंवतो आयरितो सुहज्झाणो तस्स पूसमित्तेणं झाण विग्धं कतं।"

अर्थात्—मुड्डिंवत नाम के शुभध्यानी आचार्य थे। उनके ध्यान का पुष्यमित्र ने भंग किया। यदि यह 'मुड्डिंवत' आचार्य ही तित्थोगालीवाले 'पाडिवत' आचार्य हों और 'पुष्यमित्र' को पाटलिपुत्र का राजा मान लिया जाय तो हमारी पूर्वोक्त मान्यता आगम प्रमाण से भी सिद्ध हो सकती है।

तित्थोगाली आदि ग्रंथों में 'पाडिवय' आचार्य को कल्की का समकालीन लिखा है, तब महानिशीथ में 'श्रीप्रभ' अनगार को कल्की के समय का प्रमुख स्थविर बताया है। इससे या तो व्यवहार चूर्णिवाला 'मुड्डिंवत' 'पाडिवत' का अशुद्ध रूप है, अथवा 'पाडिवत' 'मुड्डिंवत' का अशुद्ध रूप। अथवा 'श्रीप्रभ' 'मुड्डिंवत' और 'पाडिवत' ये तीनों ही भिन्न भिन्न स्थविर होंगे जिनको कि कल्की—पुष्यमित्र—ने सताया होगा।

खारवेल ने मगध पर की पहली चढ़ाई अपने राज्य के ८ वें वर्ष में की थी और दूसरी १२ वें वर्ष में। खारवेल अपने राज्य का १३ वर्ष का वृत्तांत लिखाकर लेख को समाप्त करता है और अंत में समय का निर्देश करता हुआ कहता है 'मौर्य काल के १६४ वर्ष व्यतीत हो चुकने पर सब कार्य लिपिबद्ध किए।' (मुरियकाले वोच्छिन्ने च चोयठि अगसतकंतरिये उपादयति।)

मेरे मत से मौर्य राजत्वकाल १६० वर्ष का था और मौर्यकाल के अनंतर ही पुष्यमित्र मगध का राजा हुआ था।

इस हिसाब से खारवेल के राज्याभिषेक का बारहवां वर्ष पुष्यमित्र के चौथे वर्ष में आयगा और खारवेल का ८वाँ वर्ष मौर्यकाल के १६०वें अथवा पुष्यमित्र के १ले वर्ष में निकलेगा।

मौर्य संवत् का १६०वाँ और १६५वाँ वर्ष वीर निर्वाण का ३७०वाँ और ३७५वाँ वर्ष था जो ई० स० पूर्व १५८वें और १५३वें वर्ष में पड़ता था। इससे साबित हुआ कि ई० स० पूर्व १५८वें वर्ष में मौर्य राज्य का अंत करके पुष्यमित्र—कल्की—मगध की राजगद्दी पर बैठा और उसी वर्ष तथा उसके चौथे वर्ष में उसने उपद्रव मचाया जिसको मिटाने के लिये दो बार कलिंग महाराज खारवेल मगध पर चढ़ गया था।

३२ मगध की इस पहली चढ़ाई के विषय में खारवेल के हाथीगुंफावाले लेख में इस प्रकार उल्लेख है—

चार वर्ष के बाद उसने दुबारा पाटलिपुत्र में धार्मिक विप्लव मचाया। वह साधुओं से कर वसूल करने और कर देने से इनकार करनेवाले साधुओं को कैद करके भूखों मारने लगा। जैन संघ ने किसी तरह इस उत्पात के समाचार कलिंग के जैन राजा खारवेल को पहुँचाए, तब वह पुष्यमित्र पर चढ़ आया[३३], और अपार हस्ति-

---

"अठमे च वसे महता सेना......गोरधगिरिं घातापयिता राजगहं उपपीडापयति [।] एतिनं च कंमापदान—संनादेन संवित—सेनवाहनो विपमुंचितु मधुरं अपयातो यवनराज डिमित......"

यह लेख श्री० के० पी० जायसवाल के वाचनानुसार है, और इसका तात्पर्यार्थ यह है कि 'आठवें वर्ष खारवेल बड़ी सेना से मगध पर चढ़ गया और गोरथगिरि नामक किले को तोड़कर राजगृह को घेर लिया। इस हाल को सुनकर यवनराज डिमित मथुरा को छोड़कर अपनी सेना के साथ पीछे हट गया।

परंतु मैं इस लेखांश को इस प्रकार पढ़ता हूँ—

"अठमे च वसे मोरियं राजानं धमगुतं घातापेति पुशमितो घातापयिता राजगहं उपपीडापयति एतिना च कंमपदान—पनादेन संत्रीतसेनवाहिनिं विपमुंचिता मधुरं अपायातो येव बहसदि मितं...... ।"

अर्थात्—'राज्याभिषेक के आठवें वर्ष में मौर्यराजा धर्मगुप्त को मरवाकर पुष्यमित्र राजगृह में आतंक मचा रहा है यह बात सुनकर सेना से घिरी हुई मथुरा को छोड़कर (खारवेल) बृहस्पति मित्र को (शिक्षा देने के लिये राजगृह पर चढ़ आया)।'

इस फिकरे में जो मौर्य राजा का नाम धर्मगुप्त है वह मौर्यराज बृहद्रथ का नामांतर हो सकता है, और 'बृहस्पति मित्र' यह 'पुष्यमित्र' का नामांतर है। यह बात विद्वानों की मानी हुई है।

इससे यही साबित होता है कि बृहद्रथ या धर्मगुप्त मौर्य को मारकर पुष्यमित्र ने राजगृह में मार काट की। उस समय खारवेल मथुरा को घेरे हुए था। जब उसने राजगृह का उत्पात सुना तो एकदम अपनी विशेष सेना के साथ पुष्यमित्र पर चढ़ आया और वहाँ का उपद्रव शांत किया। खारवेल ने उत्तर हिंदुस्थान के देशों पर चढ़ाई की थी, इसकी सूचना खारवेल के लेख में भी है। बारहवें वर्ष के कर्तव्यों के निरूपण में वह लिखता है कि "...हजारों से उत्तरापथ के राजाओं को डराता है" (सहसे हिं वितासयति उत्तरापथ राजानो)।

३३ खारवेल की इस दूसरी चढ़ाई के संबंध में उसके हाथीगुंफावाले लेख में इस प्रकार उल्लेख हुआ है—

सेना से कलिंगराज ने पाटलिपुत्र को घेर लिया। पुष्यमित्र विवश हो खारवेल से संधि करने को तैयार हुआ। खारवेल ने इस जैन-द्वेषी राजा को, चरणों में वंदन करवाके, बहुसंख्यक धन रत्न लेकर छोड़ दिया और आयंदा ऐसा उत्पात होने पर पदच्युत करने की धमकी देकर नंद के द्वारा लाई हुई जिन-मूर्ति को लेके वह अपने देश को लौट गया[३४]।

इसके बाद खारवेल का देहांत हो गया[३५], पुष्यमित्र निरंकुश होकर जैनों और बौद्धों पर उसी धर्मविरोधिनी नीति को बरतने लगा

"बारसमे च वसे .... सहसे हि वितासयति उतरापधराजानो ... मगधानं च विपुलं भयं जनेतो हत्थी सुगंगीय पाययति [।] मागधं च राजानं बहसदिमितं पादे वंदापयति नंदराजनीतं च कालिंगजिनं संनिवेसं ....
गहरतनान पडिहारे हि अंगमागधवसु च नेयाति [।]"

अर्थात्—'बारहवें वर्ष में ... हजारों से उतरापथ के राजाओं को भयभीत किया और मगधवासियों को भयभीत करता हुआ वह अपने हाथी को सुगांगेय (प्रासाद) तक ले गया और मगधराज बृहस्पतिमित्र को पैरों में गिराया, तथा राजा नंद द्वारा ले जाई गई कलिंग की जिन मूर्ति को ...... और गृहरत्नों को लेकर प्रतिहारों द्वारा अंग मगध की संपत्ति ले आया।'

३४ पुष्यमित्र ने मगध पर ३५—३६ वर्ष तक राज्य किया, ऐसे जैन और पौराणिक उल्लेख हैं। यदि खारवेल की पहली चढ़ाई पुष्यमित्र के पहले वर्ष में मान ली जाय तो यह उसकी दूसरी चढ़ाई उसके ४-५ वें वर्ष में हुई यह मानना जरूरी है। और इस हिसाब से इस चढ़ाई के बाद पुष्यमित्र ने कम से कम ३० वर्ष राज्य किया यह मानना भी अनिवार्य है। इसलिये हमने पुष्यमित्र को जीता छोड़कर खारवेल के जाने का इशारा किया है। खारवेल के लेख से भी यही ध्वनित होता है कि मगध के राजा को अपने चरणों में गिराकर जिन मूर्ति के उपरांत धनरत्न लेकर खारवेल अपने देश को चला गया था।

तित्थोगाली पइन्नय आदि ग्रंथों में दूसरी चढ़ाई में महेंद्र—खारवेल—ने कल्की—पुष्यमित्र—को मारकर उसके पुत्र 'दत्त' अथवा 'धर्मदत्त' को पाटलिपुत्र का राज्य दिया, ऐसा लेख है।

३५ खारवेल के राज्यकाल के १३ वर्षों का संक्षिप्त वर्णन उसके लिखाए हुए हाथीगुंफा के लेख में दिया है, पर इसके आगे खारवेल के अस्तित्व का

जो उसने शुरू में अख्तियार की थी। परिणाम यह हुआ कि कम से कम चार सौ वर्ष से महावीर के धर्मप्रचार की क्रीड़ास्थली बनी हुई मगध-भूमि से निर्ग्रंथ श्रमणों के पैर उखड़ने लगे। हजारों जैन साधु मगध देश की अति परिचित भूमि का परित्याग करके चारों ओर विचरने लगे। यों तो मौर्य संप्रति के समय से ही मध्य और पश्चिम हिंदुस्थान में जैन श्रमणों का जमाव होने लगा था[३६], पर पुष्यमित्र की इस धार्मिक क्रांति ने मगध के श्रमणगण को भी इधर खदेड़ दिया। परिणामतः मगध के राजवंश से जैनों का संबंध कम हो गया, परंतु मौर्य वंश के अंत और शुंग पुष्यमित्र के राज्यारंभ के काल को जैन आचार्य भूले नहीं थे। आज कल करते इस बात को ३५ वर्ष हो चुके थे। मगध पर अभी तक पुष्यमित्र का ही अमल था और संभवतः उसकी जिंदगी का यह अंतिम वर्ष था[३७]। ठीक इसी अर्से में लाट देश की राजधानी भरुकच्छ (भरोच) में बलमित्र का राज्याभिषेक हुआ। जैनाचार्यों ने पुष्यमित्र के ३५ वर्षों से ही अपनी गणना-श्रृंखला का चौथा आँकड़ा पूरा कर लिया और आगे वे जैन राजा बलमित्र के राज्यकाल की गणना करने लगे।

कुछ भी पता न होने से विद्वानों का अनुमान है कि उसके बाद वह जीवित नहीं रहा।

३६ संप्रति के समय के पहले से ही आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती अनेक बार मालवे की तरफ विचरे थे और संप्रति के समय में तो उनके शिष्य सौराष्ट्र (काठियावाड़) तक विचरने लगे थे। आर्य सुहस्ती के शिष्य ऋषि गुप्त से निकले हुए 'मानवगण' की ४ शाखाओं में एक शाखा का नाम 'सोरट्ठिया' अर्थात् 'सौराष्ट्रिका' था जो सोरठ अथवा आजकल के काठियावाड़ से निकली थी। इससे यह बात तो निश्चित है कि संप्रति मौर्य के राजत्वकाल में जैन श्रमणों का विहार सौराष्ट्र तक होता था, इतना ही नहीं बल्कि वहाँ श्रमणों का अच्छा प्रभाव हो गया था।

३७ पुराणों में पुष्यमित्र का राजत्वकाल ३६ वर्ष का लिखा है और जैनाचार्यों ने इसके ३५ वर्ष लिखे हैं। मालूम होता है, जैनाचार्यों ने बृहद्रथ का अंतिम वर्ष और पुष्यमित्र का आदि वर्ष एक मान लिया है और पुराणकारों ने उन्हें जुदा जुदा मानके पुष्यमित्र के ३६ वर्ष मान लिए होंगे।

बलमित्र-भानुमित्र के अमल के ४७ वें वर्ष के आसपास उज्जयिनी में एक अनिष्ट घटना हो गई। वहाँ के गर्दभिल्ल वंशीय राजा दर्पण[३८] ने कालकसूरि नाम के जैनाचार्य की बहन सरस्वती साध्वी को जबरन् पड़दे में डाल दिया। आचार्य कालक ने गर्दभिल्ल को बहुत समझाया, उज्जयिनी के जैन संघ ने भी साध्वी को छोड़ देने के लिये विविध प्रार्थनाएँ कीं, पर राजा ने एक भी न सुनी।

कालकसूरि ने निरुपाय हो राजसत्ता की मदद लेनी चाही पर उज्जयिनी के गर्दभिल्ल दर्पण से लोहा लेनेवाला कोई भी राज्य उस समय नहीं था। भरोच के बलमित्र-भानुमित्र कालक और सरस्वती के भानजे थे पर वे भी दर्पण के सामने उँगली ऊँची करने का साहस नहीं कर सके। अंत में कालक ने परदेश जाकर किसी राजसत्ता की सहायता लेने की ठानी और वे पारिसकुल जा पहुँचे।

---

३८ जैन लेखकों का कथन है कि जिस राजा ने कालकाचार्य की बहिन सरस्वती का अपहरण किया था उसका नाम 'दप्पण' (दर्पण) था और किसी योगी की तरफ से गर्दभी-विद्या प्राप्त करने से वह 'गर्दभिल्ल' कहलाता था।

बृहत्कल्प भाष्य और चूर्णि में भी राजा गर्दभ संबंधी कुछ बातें हैं, जिनका सार यह है कि 'उज्जयिनी नगरी में अनिलपुत्र यव नामक राजा और उसका पुत्र गर्दभ युवराज था। गर्दभ के अडोलिया नाम की बहिन थी। यौवनप्राप्त अडोलिया का रूप सौंदर्य देखकर युवराज गर्दभ उस पर मोहित हो गया। उसके मंत्री दीर्घपृष्ठ को यह बात मालूम हुई और उसने अडोलिया को सातवें भूमिघर में रख दिया और गर्दभ उसके पास जाने आने लगा।'

चूर्णि का मूल लेख इस प्रकार है—

"उज्जेणी णगरी, तत्थ अणिलसुतो जवो नाम राया, तस्स पुत्तो गद्दभो णाम जुवराया, तस्स रण्णो धूआ गद्दभस्स भइणी अडोलिया णाम, सा य रूववती तस्स य जुवरण्णो दीहपट्ठो णाम सचिवो (अमात्य इत्यर्थः) ताहे सो जुवराया तं अडोलियं भइणिं पासित्ता अज्झोववण्णो दुबली भवइ। अमच्चेण पुच्छितो णिब्बंधे सिट्ठं अमच्चेण भण्णइ सागारियं भविस्सति तो सत्तभूमीघरे छुभउ तत्थ भुंजाहि ताए समं भोए लोगो जाणिस्सइ सा कहिं पिणट्ठा एवं होउत्ति कतं।"

संभव है, साध्वी सरस्वती का अपहारक गर्दभिल्ल और अडोलिया का कामी यह गर्दभ दोनों एक ही हों।

पारिसकुल में जाकर कालक ने एक शकवंश्य शाह (मंडलिक राजा) के दरबार में जाना शुरू किया। निमित्त ज्ञान के बल से थोड़े ही दिनों में कालक ने शाह के मन को अपने वश में किया और मौका पाकर वह उसे और दूसरे अनेक शाहों को समुद्र-मार्ग से हिन्दुस्थान में ले आया। रास्ते में लाट देश के राजा बलमित्र-भानुमित्र आदि भी शाहों के साथ हो गए[३९]।

कोई ९६ शक मंडलिक और लाट के राजा बलमित्र की संयुक्त सेना ने उज्जयिनी को जा घेरा। घमासान लड़ाई के बाद शक शाहों ने उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया और गर्दभिल्ल को कैद करके सरस्वती साध्वी को छुड़ाया। कालक सूरि की सलाह के अनुसार गर्दभिल्ल को पदच्युत करके जीवित छोड़ दिया गया और उज्जयिनी के राज्यासन पर उस शाह को बिठलाया गया जिसके यहाँ कालक ठहरे थे[४०]।

३९ निशीथ चूर्णि आदि प्राचीन ग्रंथकारों ने इनको वंश से 'सग' और उपाधि से 'साहि' लिखा है। इनका मुखिया 'साहानुसाही' कहलाता था। संस्कृत ग्रंथकार आचार्य हेमचंद्र सूरि आदि ने 'साहि' का अनुवाद 'शाखि' किया है। ये साहि अथवा शक सीथियन जाति के लोग थे और इनका निवासस्थान ईरान अथवा बलख था। आचार्य कालक ९६ साहियों को लेकर काठियावाड़ में उतरे और वर्षाऋतु वहाँ बिता कर लाट के राजा बलमित्र-भानुमित्र को भी साथ लेकर उज्जयिनी पर चढ़ गए थे। देखो निम्नलिखित कथावली का उल्लेख—

"ताहे जे गद्दहिल्लेणावमाणिया लाडरायाणो अण्णेय ते मिलिउं सव्वेहिं पि रोहिया उज्जेणी।"

—कथावली २, २८९।

४० "सूरीजप्पासि ठिओ, आसीसोऽवंतिसामिओ सेसा।
तस्सेवगा य जाया, तओ पउत्तो अ सगवंसो ॥ ८० ॥"

—कालकाचार्य कथा।

इसी प्रकार का उल्लेख निशीथ के १०वें उद्देश की चूर्णि में भी है—

"जं कालगज्जो समल्लीणो सो तत्थ राया अधिवो।
राया ठवितो, ताहे सगवंसो उप्पण्णो ॥"

—निशीथ चू० १० उ० पत्र २३६।

यद्यपि निशीथ चूर्णि के इस उल्लेख का पूर्व संबंध यह है कि 'इन

उक्त घटना बलमित्र के ४८ वें वर्ष के अंत में घटी। यह समय वीर निर्वाण का ४५३ वाँ वर्ष था।

४ वर्ष तक शकों का अधिकार रहने के बाद बलमित्र-भानुमित्र ने उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया[४१] और ८ वर्ष तक वहाँ राज्य

साहियों ने काठियावाड़ को ९६ भागों में बाँट लिया और कालकाचार्य जिसके पास ठहरे थे उस साह को वहाँ का 'राजाधिराज' बनाया।' पर वस्तुतः इन दोनों उल्लेखों में कोई विरोध नहीं है, जो सौराष्ट्र का राजाधिराज हुआ होगा वह अवंति का स्वामी तो हुआ ही होगा, क्योंकि चढ़ाई का मुख्य उद्देश्य तो अवंति को सर करके साध्वी को छोड़ाने का ही था।

४१ मेरुतुंग की विचारश्रेणि में दी हुई गाथा में "सगस्स चऊ" अर्थात् उज्जयिनी में शक का ४ वर्ष तक राज्य रहा। इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि उज्जयिनी का कब्जा शकों के हाथ में ४ वर्ष तक ही रहा था। कालकाचार्यकथा की—

"बलमित्त भाणुमित्ता, आसि अवंतीइ रायजुवराया।
निय भाणिज्जत्ति तया, तत्थ गओ कालगायरिओ ॥ ८४ ॥"

इस गाथा में और निशीथ चूर्णि के—

"कालगायरिओ विहरंतो उज्जेणिं गतो। तत्थ वासावासं ठितो। तत्थ णगरीए बलमित्तो राया, तस्स कनिट्ठो भाया भाणुमित्तो जुवराया + +"
—इस उल्लेख में बलमित्र को उज्जयिनी का राजा लिखा है। इससे यह निश्चित होता है कि जिस समय सरस्वती साध्वी के छुटकारे के लिये कालकाचार्य शकों की सेना उज्जयिनी पर ले आए उस समय उज्जयिनी को सर करने के बाद उन्होंने वहाँ के तख्त पर शक मंडलिक को बिठाया था, पर बाद में उसकी शक्ति कम हो गई थी। शक मंडलिक और उस जाति के अन्य अधिकारी पुरुषों ने अवंति के तख्तनशीन शक राजा का पक्ष छोड़ दिया था। देखो व्यवहार चूर्णि का निम्नलिखित पाठ—

"उज्जेणीए गाहा। यदा अज्ज कालएण सगा आणीता सो सगराया उज्जेणीए राय हाणीए तस्संगणिज्जगा 'अम्हं जाती ए सरिसो' त्ति काउं गव्वेणं तं रायं ण सुट्ठु सेवंति। राया तेसिं वित्तिं ण देति। अवित्तीया तेण्णं आढत्तं काउं, ते णाउं बहुजणेण विण्णविएण ते णिव्विसता कता, ते अण्णं रायं ओलग्गणट्ठाए उवगता।"

—व्यवहार चूर्णि उद्देशक १० पत्र १०९।

उज्जयिनी के शक राजा की इस कमजोर हालत में करीब चार वर्ष के बाद भरोच के बलमित्र-भानुमित्र ने उज्जयिनी पर अपना अधिकार जमा लिया और उसे अपनी राजधानी बनाके वे वहाँ रहने लगे। बलमित्र-भानुमित्र कहीं भरोच के और कहीं उज्जयिनी के राजा कहे गए हैं, उसका कारण यही है कि वे पहले भरोच के राजा थे पर शक को हराकर उज्जयिनी को प्राप्त करने के बाद वे उज्जयिनी या अवन्ति के भी राजा बने थे। इस वस्तु-स्थिति को न समझकर मेरुतुंग ने अपनी विचारश्रेणि में लिखा है कि—

"बलमित्रभानुमित्रौ राजानौ (६०) वर्षाणि राज्यमकार्ष्टाम्। यौ तु कल्पचूर्णौ चतुर्थीपर्वकर्तृकालकाचार्यनिर्वासकौ उज्जयिन्यां बलमित्र-भानुमित्रौ तावन्यावेव।

आचार्य्य के उपर्युक्त लेख का सार यह है कि ६० वर्ष राज्य करनेवाले बलमित्र-भानुमित्र से चतुर्थी के दिन सांवत्सरिक पर्व करनेवाले कालकाचार्य्य को निर्वासन करनेवाले उज्जयिनी के बलमित्र-भानुमित्र भिन्न थे।

मेरुतुंग सूरि के इस उल्लेख का कारण मेरे विचार से निम्नलिखित गाथा हो सकती है—

"तेणउअनवसएहिं, समइक्कंतेहिं वद्धमाणाओ।
पज्जोसवणचउत्थी, कालगसूरीहिंतो ठविआ॥"

इस गाथा में वीर निर्वाण से ९९३ में कालकाचार्य्य से चतुर्थी का पर्युषणा पर्व स्थापित होने का कथन है। मेरुतुंग की गणना में ६० वर्ष राज्य करनेवाले बलमित्र-भानुमित्र का समय निर्वाण से ३५४ से ४१२ तक था इसलिये ये राजा ९९३ में चतुर्थी को पर्युषणा करनेवाले कालकाचार्य्य के समकालीन नहीं हो सकते थे। इस असंगति के चक्र में पड़के आचार्य्य को कहना पड़ा कि 'उज्जयिनी के बलमित्र-भानुमित्र अन्य थे।'

अब हमें इस गाथा की मीमांसा करनी चाहिए कि यह गाथा है कहाँ की, और इसका कथन विश्वासयोग्य है भी या नहीं।

आचार्य्य जिनप्रभ 'संदेहविषौषधि' नामक अपनी कल्पसूत्र टीका में कहते हैं कि यह गाथा 'तित्थोगाली पइन्नय' की है। परंतु वर्तमान 'तित्थोगाली पइन्नय' में यह गाथा उपलब्ध नहीं होती। हाँ, देवेंद्र सूरि शिष्य धर्मघोष सूरि कृत कालसप्तति में उक्त गाथा दृष्टिगत अवश्य होती है और वहाँ इसका गाथांक ४१ दिया हुआ है।

इसी गाथा के संबंध में टीका करते हुए उपाध्याय धर्मसागरजी 'कल्पकिरणावली' में लिखते हैं कि 'तीर्थोद्गार में यह गाथा देखने में नहीं आती और 'कालसप्ततिका' में यद्यपि यह देखी जाती है, पर उसमें कई एक क्षेपक

गाथाएँ भी मौजूद हैं, और अवचूर्णिकार ने भी इसकी व्याख्या नहीं की, इससे मूल ग्रंथकार की यह गाथा हो ऐसा संभव नहीं है।' धर्मसागरजी का यह अभिप्राय उन्हीं के शब्दों में नीचे दिया जाता है—

"इति गाथाचतुष्टयं तीर्थोद्गाराद्युक्तसम्मतितया प्रदर्शितं तीर्थोद्गारे च न दृश्यते इत्यपि विचारणीयम्। यद्यपि "तेणउअनवसएहिं" इति गाथा 'काल-सप्ततिकायां' दृश्यते परं तत्र प्रक्षेपगाथानां विद्यमानत्वेन तदवचूर्णावव्याख्यात-त्वेन चेयं न सूत्रकृत्कर्तृकेति संभाव्यते।"

—कल्पकिरणावली १३१।

आचार्य्य मेरुतुंग ने भी अपनी विचारश्रेणि में 'तदुक्तम्' कहकर ९९३ में चतुर्थी पर्युषणा होने के विषय में इस गाथा का प्रमाण की भाँति अवतरण दिया है।

कालकाचार्य्य कथा में इस गाथा का अवतरण देते हुए लिखा है—

"उक्तं च प्रथमानुयोगसारोद्धारे द्वितीयोदये—तेणउअ०"

अर्थात् 'प्रथमानुयोग के दूसरे उदय में 'तेणउ अनवसएहिं' यह गाथा कही है', परंतु प्रथमानुयोगसारोद्धार का इस समय कहीं भी अस्तित्व न होने से यह कहना कठिन है कि प्रथमानुयोगसारोद्धार की ही यह गाथा है या दूसरे ग्रंथ की। क्या आश्चर्य्य है कि जिनप्रभ ने जैसे इसको तित्थोगाली के नाम पर चढ़ाया वैसे ही कालकाचार्य्य कथालेखक ने इस पर प्रथमानुयोग-सारोद्धार की मुहर लगा दी हो? कुछ भी हो, इन भिन्न भिन्न उल्लेखों से इतना ही सिद्ध होता है कि विक्रम की तेरहवीं सदी के पहले की उक्त गाथा अवश्य है, पर यह किस मौलिक ग्रंथ की है इसका कोई निश्चय नहीं होता।

अब हमें यह देखना है कि 'निर्वाण से ९९३ में चतुर्थी पर्युषणा स्थापित हुई' यह गाथोक्त बात वास्तव में सत्य है या नहीं।

हम देखते हैं कि निशीथ चूर्णि आदि सब प्राचीन चूर्णियों और कथाओं में एक मत से यह बात मानी गई है कि 'प्रतिष्ठानपुर के राजा सातवाहन के अनुरोध से कालकाचार्य्य ने चतुर्थी के दिन पर्युषणा की।' और जब हमने यह मान लिया कि सातवाहन के समय में ही हमारा पर्युषणा पर्व चतुर्थी को हुआ तो पीछे यह मानना असंभव है कि वह समय निर्वाण का ९९३ वाँ वर्ष होगा, क्योंकि निर्वाण का ९९३वाँ वर्ष विक्रम का ५२३वाँ और ई० स० का ४६६वाँ वर्ष होगा जो सातवाहन के समय के साथ बिलकुल नहीं मिल सकता। इतिहास से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि ई० स० की तीसरी शताब्दी में ही आंध्रराज्य का अंत हो चुका था, इसलिये पर्युषणा चतुर्थी का जो गाथोक्त समय है वह बिलकुल कल्पित है। मेरा तो अनुमान है कि जब से

किया; भरोच में ५२ वर्ष और उज्जैन में ८ वर्ष, सब मिलकर ६० वर्ष तक बलमित्र-भानुमित्र ने राज्य किया। यही जैनों का बलमित्र पिछले समय में 'विक्रमादित्य' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसकी सत्ता के ६० वर्षों से ५वाँ आँकड़ा पूरा हुआ।

बलमित्र-भानुमित्र के बाद उज्जयिनी के राज्यसिंहासन पर नभः-सेन बैठा[४२]।

नभःसेन के पाँचवें वर्ष में शक लोगों ने फिर मालवा पर हल्ला किया जिसका मालव प्रजा ने बहादुरी के साथ सामना किया और विजय पाई। इस शानदार जीत की यादगार में मालव प्रजा ने 'मालव संवत्' नामक एक संवत्सर भी चलाया जो पीछे से 'विक्रम संवत्' के नाम से प्रसिद्ध हुआ[४३]।

१२वीं सदी में चतुर्थी से फिर पंचमी में पर्युषणा करने की मान्यता होने लगी थी उसी समय में चतुर्थी पर्युषणा को अर्वाचीन ठहराने के इरादे से किसी ने उक्त गाथा रच डाली है और गतानुगतिकतया पिछले समय में ग्रंथकारों ने अपने ग्रंथों में उसे उद्धृत कर लिया है। चतुर्थी पर्युषणा का समय हमारी मान्यतानुसार निर्वाण से ४५३ और ४६५ के बीच में है, क्योंकि ४५३ के बाद बलमित्र-भानुमित्र का उज्जयिनी में राज्य हुआ और ४६५ के अंत में उसका अंत, इसलिये इस समय के बीच में किसी समय बलमित्र के कारण से कालकाचार्य्य उज्जैन से निकले और प्रतिष्ठान में जाकर सातवाहन के कहने से पंचमी से चतुर्थी में पर्युषणा की। सातवाहन का समय भी इस घटना के साथ ठीक मिल जाता है।

४२ विचारश्रेणि आदि में जो संशोधित गाथाएँ हैं उनमें इसका नाम 'नहवाहन' लिखा है जो गलत है। तित्थोगाली में बलमित्र-भानुमित्र के बाद उज्जयिनी का राजा नभःसेन लिखा है। नहवाहन, जिसके नामांतर 'नरवाहन' और 'दधिवाहन' भी मिलते हैं, भरोच का राजा था। सिक्कों पर इसका नाम 'नहपान' भी मिलता है। प्रतिष्ठान के सातवाहन ने इसके ऊपर अनेक बार चढ़ाइयाँ की थीं। संभव है, बलमित्र-भानुमित्र के उज्जैन में चले जाने के बाद यह नहवाहन भरोच का मंडलिक राजा रहा होगा।

४३ 'मालव संवत्' अथवा 'मालवगण संवत्' का नामांतर 'कृतसंवत्' भी है। यह संवत् किस कारण से प्रचलित हुआ इसका स्पष्ट खुलासा अभी तक देखने में नहीं आया परंतु हमारे मत से इसका कारण विदेशियों को जीत-

कर मालवगण की स्वतंत्रता-प्राप्ति के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता। इस संवत् संबंधी निम्नलिखित उल्लेख विद्वानों ने ढूँढ़ निकाले हैं—

(१) मंदसौर से मिले हुए नरवर्मन् के समय के लेख में—

"श्रीर्म्मालवगणाम्नाते, प्रशस्ते कृतसंज्ञिते।
एकषष्ट्यधिके प्राप्ते, समाशतचतुष्टये [॥]
प्रावृक्का(ट्का)ले शुभे प्राप्ते।"

(२) राजपूताना म्यूजिअम (अजमेर) में रखे हुए नगरी (मध्यमिका, उदयपुर राज्य में) के शिलालेख में—

"कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वेकाशीत्युत्तरेष्वस्यां मालवपूर्वायां [४००] ८०१ कार्तिकशुक्लपंचम्याम्।"

(३) मंदसौर से मिले हुए कुमारगुप्त (प्रथम) के समय के शिलालेख में—

"मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये।
त्रिनवत्यधिकेब्दानाम्रि(मृ)तौ सेव्यघनस्त(स्व)ने॥
सहस्यमासशुक्लस्य प्रशस्तेह्नि त्रयोदशे॥"

(४) मंदसौर से मिले हुए यशोधर्मन् (विष्णुवर्द्धन) के समय के शिलालेख में—

"पंचसु शतेषु शरदां यातेष्वेकान्नवतिसहितेषु
मालवगणस्थितिवशात्कालज्ञानाय लिखितेषु।"

(५) कोटा के पास कणस्वा के शिवमंदिर में लगे हुए शिलालेख में—

"संवत्सरशतैर्यातैः सपञ्चनवत्यर्गलैः [।]
सप्तभिर्मालवेशानां।"

—भारतीय प्रा० लिपिमाला १६६।

(६) "कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वष्टाविंशेषु ४०० २०८
फाल्गुण (न) बहुलस्या पञ्चदश्यामेतस्यां पूर्वायां।"

—फ्लीट; गु० ई०, पृ० २५३।

(७) "यातेषु चतुर्षु क्रि(कृ)तेषु शतेषु सौम्ये (म्यै)
ष्वा (ष्टा) शीतसोत्तरपदेष्विह वत्स [रेषु]
शुक्ले त्रयोदशदिने भुवि कार्तिकस्य
मासस्य सर्वजनचित्तसुखावहस्य।"

—फ्लीट; गु० ई०, पृ० ७४।

इन उल्लेखों में कहीं भी विक्रम के नाम का निर्देश नहीं है। धौलपुर से मिले हुए चाहमान (चौहान) चंड महासेन के विक्रम संवत् ८९८ (ई०

इस तरह वीर निर्वाणाब्द ४५३ के अंत में उज्जयिनी में शक राज्य हुआ। निर्वाणाब्द ४५७ के अंत में बलमित्र (प्रसिद्ध नाम विक्रमादित्य) ने उज्जयिनी से शकों को निकालकर अपना अधिकार जमाया और इसके बाद १३वें वर्ष के अंत में अर्थात् वीर निर्वाणाब्द ४७० के अंत में मालव संवत् प्रचलित हुआ। यही बात निम्नलिखित प्राचीन गाथा से प्रतिध्वनित होती है।

"विक्कमरज्जाणंतर, तेरसवासेसु वच्छरपवित्तो।
सुन्नमुणिवेयजुत्तो, विक्कमकालाश्रो जिणकालो॥"

नभःसेन के राज्य के ४० वर्षों से गणना-शृंखला का छठा आँकड़ा पूरा हुआ और इसके साथ ही वीर निर्वाणाब्द ५०५ पूरे हुए।

इसके बाद उज्जयिनी में पूरी एक शताब्दी तक गर्दभिल्लीय राज्यवंश की सत्ता रही। जैनाचार्यों की गणना-शृंखला का यह ७वाँ और अंतिम आँकड़ा था। इस शताब्दि की पूर्णता के साथ निर्वाण संवत् ६०५ तक आ पहुँचा।

इसी अर्से में मालवा पर फिर शकों का आक्रमण हुआ। डेढ़ सौ वर्ष से भी अधिक समय तक भारतवर्ष की सभ्यता और शिक्षा का अनुभव करने के बाद का शकों का यह आक्रमण मालवी सेना से नहीं रोका जा सका। परिणामस्वरूप गर्दभिल्ल साम्राज्य का अंत करके शकों ने मालवा पर पूर्ण अधिकार जमा लिया और इस महत्त्वपूर्ण विजय के उपलक्ष्य में उन्होंने भी एक संवत् प्रचलित किया जो आज तक शक संवत् अथवा शालिवाहन शाका के नाम से प्रचलित है[४४]

स० ८४१) के शिलालेख में पहले पहल इस संवत् के साथ विक्रम का नाम जुड़ा हुआ मिलता है। वह लेख-खंड इस प्रकार है—

"वसु नव [अ] ष्टौ वर्षागतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य।
वैशाखस्य सिताया (यां) रविवारयुतद्वितीयायाम्॥"

—भारतीय प्राचीन लिपिमाला।

४४ इस दूसरी बार के आक्रमण के समय शकों का मुखिया कौन था, इस बात का यद्यपि पूर्ण निश्चय नहीं हुआ तो भी संभवतः सत्रप चष्टन इस लड़ाई का सूत्रधार हो सकता है। चष्टन के शक संवत् ४६—७२ तक के

युगप्रधानत्व काल-गणना-पद्धति

युगप्रधानत्व काल-गणना से तात्पर्य उन संघस्थविरों के काल-निरूपण से है, जो अपने समय में सर्वश्रेष्ठ और जैन श्रमण संघ के प्रमुख हो गए हैं।

भगवान् महावीर के निर्वाण से शक संवत्सर पर्यंत ६०५ वर्ष में क्रमशः संघस्थविर-पद-प्राप्त २० महापुरुष हुए हैं जिनके गार्हस्थ्य, सामान्य श्रमणत्व और युगप्रधानत्व पर्याय काल का निरूपण "स्थविरावली" अथवा "युगप्रधानपट्टावली" में किया है। यहाँ पर हम स्थविरावलो की उन गाथाओं को अवतरित करेंगे, जिनमें क्रमशः युगप्रधानों के नाम और उनके युगप्रधानत्व पर्याय का समय-निरूपण है।

वे गाथाएँ इस प्रकार हैं—

"सिरि वीराउ सुहम्मो, वीसं चउचत्तवासजंबुस्स।
पभवेगारस सिज्जं-भवस्स तेवीस वासाणि॥
पन्नास जसोभद्दे, संभूइस्सट्ठ भद्दबाहुस्स।
चउद्दस य थूलभद्दे, पणयालेवं दुपन्नरस॥
अज्जमहागिरि तीसं, अज्जसुहत्थीण वरिस छायाला।
गुणसुंदर चउआला, एवं तिसया पणत्तीसा॥
तत्तो इगचालीसं, निगोय वक्खाय कालिगायरिओ।
अट्ठत्तीसं खंदिल (संडिल), एवं चउसय चउद्दस य॥
रेवइमित्ते छत्तीस, अज्जमंगू अ वीस एवं तु।
चउसय सत्तरि चउसय, तिपन्ने कालगो जाओ॥
चउवीस अज्ज धम्मे, ए गुणचालीस भद्दगुत्ते अ।
सिरिगुत्ति पनर वइरे, छत्तीसं एव पणचुलसी॥

सिक्कों से ज्ञात होता है कि उसने गुजरात काठियावाड़ के उपरांत मालवा पर भी अपना अधिकार जमाया था और उज्जयिनी को अपनी राजधानी बनाया था, जो अंत तक इसके वंशजों की भी राजधानी रही। विशेष संभव है कि चष्टन के इस विजय के उपलक्ष्य में ही 'शक संवत्' चलाया गया हो।

तेरस वासा सिरि अज्ज-रक्खिए वीस पूसमित्तस्स ।
इत्थय पणहिअ छसरासु सागसंवच्छरुप्पत्तो ॥"

अर्थात् 'श्रीमहावीर के निर्वाण के बाद सुधर्मा २०, जंबू ४४, प्रभव ११, शय्यंभव २३, यशोभद्र ५०, संभूतिविजय ८, भद्रबाहु १४ और स्थूलभद्र ४५ वर्ष तक क्रमशः युगप्रधान पद पर रहे, यहाँ तक वीर निर्वाण को २१५ वर्ष हुए[४५]।'

---

४५ निर्वाण से २१५ वर्ष के अंत में स्थूलभद्र का युगप्रधानत्व पर्याय काल पूरा होता है और इसी समय में पट्टावलिकार उनका स्वर्ग-वास भी बताते हैं, परंतु मेरी समझ में युगप्रधानत्व की समाप्ति के साथ ही उनके आयुष्य की समाप्ति मान लेना ठीक नहीं है। जहाँ तक मैं समझता हूँ, आर्य्य स्थूलभद्र ने निर्वाण संवत् २१५ में ८९ वर्ष की वृद्धावस्था में युगप्रधानत्व पद अपने मुख्य शिष्य आर्य्य महागिरि को सुपुर्द कर दिया होगा और इसके बाद १० वर्ष तक जीकर २२५ में ९९ वर्ष की अवस्था में वे स्वर्गवासी हुए होंगे। मेरे इस अनुमान के कारण निम्नलिखित हैं—

(१) यदि २१५ वर्ष में स्थूलभद्र का स्वर्गवास माना जायगा तो उनकी दीक्षा १४६ में माननी पड़ेगी, क्योंकि उन्होंने ३० वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली थी और ९९ वर्ष तक वे जीए थे। इस प्रकार यदि १४६ में स्थूलभद्र दीक्षित हो गए होते तो करीब १० वर्ष तक ये संभूतविजय के पास अध्ययन कर सकते थे, परंतु पठन पाठन के संबंध में सर्वत्र भद्रबाहु-स्थूलभद्र का ही गुरु शिष्यभाव देखा जाता है। इससे मालूम होता है कि स्थूलभद्र की दीक्षा के बाद आर्य संभूतविजय अधिक समय नहीं जीए होंगे। १५६ वें वर्ष के अंत में आर्य संभूतविजयजी का स्वर्गवास हुआ था, और संभवतः इसी वर्ष में स्थूलभद्र की दीक्षा भी हुई होगी।

(२) आर्य सुहस्ती स्थूलभद्र के हस्त-दीक्षित शिष्य थे। उन्होंने ३० वर्ष की उमर में स्थूलभद्र के पास दीक्षा ली थी और १०० वर्ष की अवस्था में निर्वाण से २९१ वें वर्ष के अंत में उनका स्वर्ग-वास हुआ था। इससे यह सिद्ध होता है कि आर्य सुहस्ती की दीक्षा निर्वाण से २२१ वें वर्ष में हुई। सोचने की बात यह है कि यदि २१५ में ही स्थूलभद्र स्वर्गवासी हो गए होते तो २२१ में उनके पास आर्य्य सुहस्ती की दीक्षा कैसे हो सकती थी? इससे मानना होगा कि स्थूलभद्र का स्वर्गवास २१५ में नहीं पर २२१ के बाद हुआ था। स्थूलभद्र ने आर्य्य सुहस्ती को जुदा गण दिया था, ऐसा 'निशीथ चूर्णि' आदि में लेख है। इससे ज्ञात होता है कि स्थूलभद्र के स्वर्गवास के समय

में सुहस्ती का कम से कम ४-५ वर्ष का तो दीक्षा पर्याय होगा ही, अन्यथा स्थूलभद्र उनको पृथक् गण प्रदान नहीं करते, इन सब बातों के पर्यालोचन से यही सिद्ध होता है कि स्थूलभद्र का २१५ में नहीं पर २२५ में स्वर्गवास हुआ था।

इसी प्रकार आर्य्य महागिरि का युगप्रधानत्व-काल निर्वाण संवत् २४५ में पूरा होता है और कतिपय पट्टावली-लेखकों ने इसी अर्से में आर्य्य महागिरिजी का स्वर्ग-वास होना भी लिखा है पर मेरे विचारानुसार युगप्रधानत्व काल के बाद भी वे अधिक समय तक जीवित रहे।

आर्य महागिरिजी के संबंध में यह बात सुप्रसिद्ध है कि उन्होंने पिछले समय में अपना साधु समुदाय आर्य सुहस्ती को सुपुर्द कर दिया था और आप गच्छ की निश्रा में रहते हुए भी जिनकल्प का अनुकरण करते थे। इससे यह अवश्य मानना पड़ेगा कि उन्होंने गण समर्पण के साथ ही अपना युगप्रधान-पद भी आर्य सुहस्ती को समर्पित किया होगा। क्योंकि ऐसा किए बगैर वे किसी तरह जिनकल्प की तुलना कर ही नहीं सकते थे।

आवश्यक चूर्णि आदि ग्रंथों में जो आर्य महागिरिजी के जीवन के प्रसंग उल्लिखित हैं उनसे भी आर्य महागिरि के पिछले जीवन की केवल निःसंगता ही टपकती है। इससे यह बात अवश्य मानने योग्य है कि आर्य महागिरिजी ने पिछले समय में गच्छ और संघ के कार्यों से अपना संबंध छोड़ दिया था, और गच्छ-संघ के कामों का प्रपंच छोड़कर वे किसी हालत में संघस्थविर के पद पर नहीं रह सकते थे। इससे सिद्ध होता है कि आर्य महागिरि ने पिछले समय में युगप्रधान पद छोड़ दिया होगा।

संप्रति के जीवद्रमक को कोशांबाहार में आर्य्य सुहस्ती ने दीक्षा दी उस समय आर्य्य महागिरिजी जीवित थे, और उस समय मगध की राज-गद्दी पर मौर्य्य अशोक था, क्योंकि द्रमक साधु उसी दिन मरकर राज-कुँवर कुनाल का पुत्र संप्रति हुआ माना गया है। अशोक का राजत्व काल निर्वाण से २५६ से शुरू होकर २६५ में पूरा हुआ था, इससे यह बात अवश्य विचारणीय है कि आर्य्य महागिरि यदि २४५ में ही स्वर्गवासी हो गए होते तो अशोक के समय में द्रमक के दीक्षा प्रसंग पर उनकी विद्यमानता के उल्लेख नहीं मिलते। इससे यह तो प्रायः निश्चित है कि आर्य्य महागिरिजी का २४५ में नहीं पर २५६ के बाद स्वर्गवास हुआ था, पर २५६ के बाद वे कब स्वर्गवासी हुए इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है।

मेरे पास के एक युगप्रधान यन्त्र में स्थूलभद्र के अनंतर के युगप्रधान का पर्याय काल ४६ वर्ष का लिखा हुआ है। इससे यदि यह अनुमान कर लिया

आगे आर्य महागिरि ३०, आर्य सुहस्ती ४६ और गुणसुंदर ४४ वर्ष तक युगप्रधान रहे, एवं निर्वाण को ३३५ वर्ष व्यतीत हुए।

उसके बाद निगोद व्याख्याता कालकाचार्य[४६] ४१ वर्ष और सांडिल्य ३८ वर्ष युगप्रधान रहे और निर्वाण के ४१४ वर्ष पूरे हुए।

जाय कि ये २४६ वर्ष स्थूलभद्र के पीछे उनके शिष्य महागिरि की जीवित दशा के सूचक हैं तो इसका अर्थ यह होगा कि आर्य्य महागिरि का स्वर्गवास निर्वाण संवत् २६१ के अंत में हुआ था। मेरी इस मान्यता के अनुसार आर्य्य स्थूलभद्र, महागिरि और सुहस्ती के भिन्न भिन्न प्रसंगों का काल-सूचक कोष्टक नीचे लिखे अनुसार बन सकता है—

निर्वाण से (गतवर्ष)		जन्म	दीक्षा	यु० प्र० पद	यु० प्र० पद निक्षेप	स्वर्ग०
१	स्थूलभद्र	१२६	१५६	१७०	२१५	२२५
२	आर्य्य महागिरि	१६१	१६१	२१५	२४५	२६१
३	आर्य्य सुहस्ती	१६१	२२१	२४५	०	२६१

४६ कहते हैं कि ये कालकाचार्य्य निगोद के जीवों के संबंध में अच्छा व्याख्यान कर सकते थे, जिससे एक बार इंद्र ने ब्राह्मण के वेश में इनके पास आकर निगोद का व्याख्यान सुना था और इनकी स्तुति की थी। निगोद के व्याख्यान में कुशल होने से ये निगोद-व्याख्याता के नाम से प्रसिद्ध थे। कालकाचार्य्य नाम के अनेक आचार्यों के हो जाने से व्यवच्छेदार्थ यहाँ पर "निगोदवक्खाय" यह विशेषण ग्रहण किया है। इनको निर्वाण से ३३५ वें वर्ष के अंत में युगप्रधान पद मिला और ४१ वर्ष तक ये इस पद पर रहे, जैसा कि स्थविरावली की गाथा में कहा है। परंतु विचारश्रेणि के परिशिष्ट में एक गाथा है जो इनका ३२० में होना प्रतिपादित करती है। पाठकों के विलोकनार्थ वह गाथा नीचे उद्धृत की जाती है—

"सिरिवीरजिणिंदाओ, वरिससया तिन्निवीस (३२०) अहियाओ।
कालयसूरी जाओ, सक्को पडिबोहिओ जेण ॥ १ ॥"

मालूम होता है, इस गाथा का आशय कालक सूरि के दीक्षा समय को निरूपण करने का होगा।

"उज्जेणिकालखमणा, सागरखमणा सुवन्नभूमीए।
पुच्छा अउय सेसं, इंदो सादिव्वकरणं च ॥"

—उत्तराध्ययन निर्युक्ति।

इस गाथा में सागर के दादागुरु कालकाचार्य्य के साथ इंद्र का प्रश्न आदि होना लिखा है, गर्दभिल्लोच्छेदक, चतुर्थी पर्युषणाकारक और अविनीत शिष्य परिहारक एक ही कालकाचार्य्य थे, जो ४५३ में विद्यमान थे और श्यामाचार्य्य

रेवतीमित्र ३६ वर्ष और आर्यमंगू २० वर्ष तक युगप्रधान रहे। तब तक निर्वाण को ४७० वर्ष हो गए।

की अपेक्षा दूसरे थे। प्रस्तुत स्थविरावलि की गाथा में प्रथम कालकाचार्य्य को निगोद व्याख्याता लिखा है जो कि इस विषय का एक स्पष्ट मतभेद है।

रत्नसंचय में ४ संगृहीत गाथाएँ हैं, जिनमें निर्वाण से ३३५, ४५४, ७२०, और ९९३ में कालकाचार्य्य नामक आचार्यों के होने का निर्देश है। इनमें से पहले और दूसरे समय में होनेवाले कालकाचार्य्य क्रमशः निगोद व्याख्याता और गर्दभिल्लोच्छेदक कालकाचार्य्य हैं। इसमें तो कोई संदेह नहीं है पर ७२० वर्षवाले कालकाचार्य्य के अस्तित्व के संबंध में अभी तक दूसरा कोई प्रमाण नहीं मिला।

दूसरे इस गाथोक्त कालकाचार्य्य को शक्र-संस्तुत लिखा है जो ठीक नहीं, क्योंकि शक्र-संस्तुत और निगोद-व्याख्याता कालकाचार्य्य तो एक ही थे, जो पन्नवणाकर्ता और शामाचार्य्य के नाम से भी प्रसिद्ध थे, और उनका समय ३३५ से ३७६ तक निश्चित है। इससे इस गाथोक्त समय के कालकाचार्य्य के विषय में पूर्ण संदेह है।

९९३ में कालकाचार्य्य होने और चतुर्थी को पर्युषणा करने के संबंध में लिखी हुई यह गाथा अनेक जगह मिलती है पर उस समय में सांवत्सरिक पर्व संबंधी घटना बनी नहीं थी। इसलिये ये गाथावाले कालकाचार्य्य भी वास्तव में हुए या नहीं यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते। पर हाँ, युगप्रधान-पट्टावलियों में एक 'कालक' नाम के युगप्रधान का उल्लेख है, और उनका युगप्रधानत्व समय भी उन पट्टावलियों की प्रचलित गणनानुसार वीर संवत् ९८१ से ९९३ पर्यंत का है। यदि ९९३ वाले कालक ये ही मान लिए जायँ तो कोई विरोध नहीं है। जिन गाथाओं का ऊपर निर्देश किया है, वे नीचे दी जाती हैं—

"सिरिवीराओ गएसु, पणतीसहिएसु तिसय (३३५) वरिसेसु।
पढमो कालगसूरी, जाओ सामज्जनामुत्ति ॥ ५५ ॥
चउसयतिपन्न (४५३) वरिसे, कालगगुरुणा सरस्सरी गहिआ।
चउसयसत्तरि वरिसे, वीराओ विक्कमो जाओ ॥ ५६ ॥
पंचेव य वरिससए, सिद्धसेणो दिवायरो जाओ।
सत्तसयवीस (७२०) अहिए, कालिगगुरू, सक्कसंथुणिओ ॥ ५७ ॥
नवसयतेण उएहिं (९९३), समइक्कंतेहिं वद्धमाणाओ।
पज्जोसवणचउत्थी, कालिकसूरीहिंतो ठविआ ॥ ५८ ॥

—रत्नसंचयप्रकरण पत्र ३२।

इसी बीच में ४५३ में कालकाचार्य हुए[४७]।

इसके बाद आर्यधर्म २४, भद्रगुप्त ३९, श्रीगुप्त १५ और वज्र ३६ वर्ष युगप्रधान पद पर रहे। इस तरह निर्वाण को ५८४ वर्ष हुए।

वज्र के बाद आर्यरक्षित १३ और पुष्यमित्र २० वर्ष युगप्रधान रहे। इसी अर्से में वीर निर्वाण से ६०५ वर्ष बीतने पर शक संवत्सर की उत्पत्ति हुई।

संगति

अब हमें यह देखना है कि उक्त दोनों जैन गणना-पद्धतियाँ परस्पर संगत हैं या नहीं, तथा अन्य ऐतिहासिक जैन परंपराओं से उनका मेल खाता है या नहीं ?

४७ '४५३ में कालकाचार्य्य हुए' यह उल्लेख कालकाचार्य्य द्वारा किए गए गर्दभिल्ल के उच्छेदवाली घटना का स्मारक है। मेरुतुंग सूरि का यह कथन कि 'इस वर्ष में कालकाचार्य्य की आचार्य्य पद-स्थापना हुई (अस्मिंश्च वर्षे गर्दभिल्लोच्छेदकस्य श्रीकालकाचार्य्यस्य सूरिपदप्रतिष्ठाऽभूत्।' विचार-श्रेणि पृ० ३) ठीक नहीं है। "गर्दभिल्लवाली घटना के बहुत पहले ही कालक को आचार्य्य पद प्राप्त हो गया था। आचार्य्य कालक के संबंध में लिखा गया है कि पारिस कुल में जाकर उन्होंने निमित्त के बल से साहि राजा को वश किया था। कालक के निमित्त अध्ययन के संबंध में पंचकल्प चूर्णि में लिखा है कि 'वे (कालक) ऐसे विद्वान् होने पर भी ऐसा मुहूर्त नहीं जान सके कि जिसमें दीक्षा देने से शिष्य स्थिर हों। इस निर्वेद से उन्होंने आजीवकों के पास निमित्त पढ़ा।'

चूर्णि का निम्नलिखित उल्लेख देखिए—

"लो गणुओगे अज्जकाल गा। सज्जेतवासिणा (?) एत्तिउं पढिउं सो न नाओ मुहुत्तो जत्थ पव्वाविओ थिरो होज्जा। तेण निव्वेएण आजीवगाण सगासे निमित्तं पढियं।"

—पञ्चकल्पचूर्णि, पृ० २४।

इससे यह बात स्पष्ट होती है कि आचार्य्य होने के बाद अपने शिष्यों का अस्थैर्य्य देखकर उन्होंने निमित्त पढ़ा, फिर वे पारिस में गए और उसके बाद ४५३ में गर्दभिल्ल का उच्छेदन कराया। इस प्रकार ४५३ के बहुत पहले ही कालक की आचार्य्य पद स्थापना हो चुकी थी।

जहाँ तक मेरा अनुमान है, इन दोनों गणनाओं में पारस्परिक कोई विरोध नहीं है। दोनों का विषय भिन्न भिन्न होने से इनमें विरोध होने का कारण भी नहीं है।

स्थविर गणनानुसार स्थविर भद्रबाहु का स्वर्गवास निर्वाण से १७० वें वर्ष में आता है और राजत्वकाल-गणना का प्रतिपादक "तित्थोगाली पइन्नय" भी भद्रबाहु का स्वर्गवास निर्वाणाब्द १७० में ही बताता है[४८]। इससे १७० तक तो ये दोनों पद्धतियाँ बराबर संगत हैं।

दोनों पद्धतियाँ निर्वाण और शक संवत्सर का अंतर ६०५ वर्ष प्रतिपादित करती हैं। इससे भी इनका आपस का मेल स्पष्ट हो जाता है।

परंतु हाँ, कतिपय ऐतिहासिक जैन परंपराएँ ऐसी भी हैं, जिनका प्रथम गणना से ठीक मेल नहीं खाता, और जब तक इन बेमेल परंपराओं से उपस्थित होते हुए विरोध का परिहार न होगा तब तक उक्त गणना की निर्दोषिता का सिद्ध होना कठिन है, और इस प्रकार शंकित गणना के आधार पर की गई निर्वाण संवत्सर-गणना का भी निश्शंकित होना असंभव है।

भद्रबाहु और चंद्रगुप्त

सूचित जैन परंपराओं में एक परंपरा स्थविर भद्रबाहु और मौर्य सम्राट् चंद्रगुप्त की समानकालीनता संबंधी है।

(१) चंद्रगुप्त के राजत्वकाल में जब बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ा उस समय और उसके पीछे भी बहुत दिनों तक भद्रबाहु जीवित रहे।

४८ यद्यपि तित्थोगाली में भद्रबाहु का १७० में स्वर्गवास होने का नाम-पूर्वक उल्लेख नहीं है, तथापि १७० में स्थूलभद्र की विद्यमानता में चौदपूर्व के विच्छेद होने का उल्लेख स्पष्ट है, इसलिये वास्तव में यह उल्लेख चौदपूर्वों का विच्छेद बताने के बहाने भद्रबाहु के स्वर्गगमन के समय की ही सूचना देता है। इस वस्तुस्थिति की प्रतिपादिका गाथा यह है—

"चौदसपुव्वच्छेदो, वरिससते सत्तरे विणिद्दिट्ठो।
साहूम्मि थूलभद्दे, अन्ने य इमे भवे भावा ॥ ७०१ ॥"

—तित्थोगाली पइन्नय।

(२) चंद्रगुप्त को एक समय १६ अनिष्ट स्वप्न आए। राजा ने स्थविर भद्रबाहु के पास जाकर उनका फल पूछा। इसके उत्तर में स्थविरजी ने दुष्षमाकाल के भावी अनर्थों का वर्णन किया।

(३) चंद्रगुप्त भद्रबाहु से जैन-दीक्षा ग्रहण कर उनके साथ दक्षिण देश की ओर चला गया।

ऊपर की दंतकथाएँ भद्रबाहु और चंद्रगुप्त की समकालीनता की द्योतक हैं। यदि इन प्रवादों को ठीक मान लिया जाय तो चंद्रगुप्त का सत्ता-समय जिन-निर्वाण से १७० वर्ष के अनंतर नहीं हो सकता।

अब राजत्वकाल-गणना का हिसाब देखिए। वह चंद्रगुप्त के समय का प्रारंभ निर्वाण से २१० (६० + १५० = २१०) वर्ष पीछे बताती है। यह बात इस गणना में शंका उत्पन्न करनेवाली है। संभव है, उक्त दंतकथाओं को सत्य मानकर ही आचार्य हेमचंद्रजी ने परिशिष्ट पर्व में विचारपूर्वक ही निर्वाण के १५५वें वर्ष में चंद्रगुप्त का राजा होना लिखा होगा[४९]।

परंतु, जहाँ तक मैंने देखा है, भद्रबाहु-चंद्रगुप्तवाली उक्त कथाओं के लिये प्राचीन जैनसाहित्य में कोई स्थान नहीं है। प्रथम कथा-निर्माण का कोई भी कारण हो तो यही हो सकता है कि भद्रबाहु और चंद्रगुप्त—इन दोनों के समय में भिन्न भिन्न दुर्भिक्ष पड़े थे, जिनको पिछले लेखकों ने एक मान लिया। इसके परिणाम स्वरूप भद्रबाहु और चंद्रगुप्त के समसामयिक होने की किंवदंतियाँ प्रचलित हो चलीं।

आवश्यक चूर्णि, तित्थोगाली पइन्नय प्रमुख प्राचीन जैन ग्रंथों से प्रमाणित होता है कि भद्रबाहु के समय में जब दुर्भिक्ष पड़ा और उसके अंत में पाटलिपुत्र नगर में श्रमण संघ ने एकत्र हो ग्यारह अंगों की व्यवस्था की तथा बारहवाँ अंग पढ़ने के लिये स्थूलभद्र प्रमुख साधुओं को भद्रबाहु के समीप भेजा तब तक पाटलिपुत्र में

४९ "एवं च श्रीमहावीर-मुक्तेर्वर्षशते गते।
पंचपंचाशदधिके, चंद्रगुप्तोऽभवन्नृपः ॥ ३३९ ॥"
—हेमचंद्र सूरि कृत, परिशिष्ट पर्व सर्ग ८ पृ० ९२।

नंद का ही राज्य था। चंद्रगुप्त का इस घटना के साथ कहीं भी नामोल्लेख तक नहीं है[१०]।

हाँ, निशीथचूर्णि आदि ग्रंथों में चंद्रगुप्त के समय में दुष्काल पड़ने का उल्लेख अवश्य मिलता है, पर इससे यह कैसे मान लिया जाय कि भद्रबाहु के समय का और यह दुर्भिक्ष एक ही था ?

भद्रबाहु से स्वप्नों का फल पूछनेवाली कथा का भी किसी प्राचीन जैन ग्रंथ में उल्लेख नहीं है। षोडशस्वप्नाधिकार, भद्रबाहु-चरित और इसी कोटि के अर्वाचीन ग्रंथों में यह कथा अवश्य उपलब्ध होती है। पर अर्वाचीन दंतकथाओं के[११] आधार पर भद्रबाहु और चंद्रगुप्त को समकालीन मानना युक्तिसंगत नहीं है।

---

१० यद्यपि संघ एकत्र होने के संबंध में नंदराज्य का स्पष्टोल्लेख नहीं है, पर अनुवृत्ति से अधिकार नंद का ही चल रहा है, चंद्रगुप्त का प्रसंग उसके बहुत पीछे आता है, इससे सिद्ध है कि पाटलिपुत्र में जब जैन संघ की पहली सभा हुई उस समय वहाँ नंद का ही राज्य था।

११ सोलह स्वप्न-संबंधी कथा की नूतनता उसकी भाषा से तो सिद्ध होती ही है प्रत्युत उसके अभ्यंतर तथ्य से भी यह बात कल्पित साबित होती है। यहाँ पर उसमें से कुछ वृत्तांत के अंश दिए जाते हैं, जिनसे पाठकगण को विश्वास हो जायगा कि वस्तुतः स्वप्न संबंधी कथा आधुनिक कल्पना है।

(१) "संभूयविजयस्स सीसे जुगप्पहाणे भद्दबाहुनामं अणगारे।"

(२) "अज्जपभइ कोवि राया संजमं न गिण्हिस्सइ।"

(३) "केवलनाणं वोच्छिज्जिस्सई"।

(४) "चेइदव्वआहारिणो मुणी भविस्संति। लोभेणं मालारोवणउवहाणाइमाईणि बहवो तत्थ पभावा पयाइस्संति।"

(५) "वइस्स हत्थे मो (?) भविस्सइ तेणं वाणीयगा अणेगमग्गे गिण्हिस्संति।"

(६) "खत्तियकुमारा राय भठ्ठा भविस्संति जवणा सव्वं गिन्हिसंति।"

(७) "तं सुच्चा राया निव्विन्नकामो पुत्तं रज्जे ठविऊण विरागभावे चारित्तं पालिऊणं देवलोयं गओ।"

पहले अवतरण में भद्रबाहु को संभूतविजयजी का शिष्य लिखा है जो कि जैन ग्रंथों से सम्मत नहीं है। भद्रबाहु यशोभद्र के शिष्य और संभूतविजयजी के गुरुभाई थे।

अब रही भद्रबाहु के पास मौर्य चंद्रगुप्त के दीक्षा लेने की बात, सो यह बात भी दंतकथा से बढ़कर अधिक मूल्य की नहीं है। इस कथा का श्वेतांबर जैन साहित्य में तो उल्लेख नहीं है, पर प्राचीन

दूसरे में कहा गया है कि 'अब से कोई राजा दीक्षा नहीं लेगा।' परंतु आगे जाकर चंद्रगुप्त को ही दीक्षा दिलाई गई है, जो कि 'वदतो व्याघात' है। दूसरे श्वेतांबर साहित्य में यह भविष्यवाणी महावीर के मुख से ही प्रकाशित कराई गई है। अभयकुमार के पूछने पर महावीर ने फरमाया था कि राजा उदायन के बाद कोई मुकुटधारी राजा संयम नहीं लेगा। देखो आवश्यक चूर्णि का निम्नलिखित पाठ—

"अभओ किर सामिं पुच्छति 'को अपच्छिमो रायरिसित्ति' सामिणा भणितं उद्दायणो, अतो परं बद्धमउडो न पव्वयति।"

इससे स्पष्ट है कि भद्रबाहु की यह भविष्यवाणी वास्तव में जैन मान्यता से विरुद्ध अर्वाचीन कल्पना है।

तीसरे अवतरण में भद्रबाहु के मुख से कहलाया है कि 'अब से केवल ज्ञान का विच्छेद होगा' परंतु जैन सिद्धांत में जंबुस्वामी के साथ ही केवल ज्ञान का विच्छेद होना लिखा है। इसलिये भद्रबाहु के मुख से केवल ज्ञान का विच्छेद कहलाना अर्थशून्य कल्पना है।

चैाथे अवतरण में कहा है कि 'देवद्रव्य खानेवाले साधु होंगे। वे लोभ से मालारोपण उपधान आदि अनेक बातें प्रकाशित करेंगे।'

इस उक्ति से स्पष्ट होता है कि यह कथन चैत्यवास की उत्पत्ति के बाद की स्थिति की सूचना देता है।

पाँचवें अवतरण में कहा गया है कि 'अब से धर्म वैश्य जाति के हाथ में जायगा। बनिए अनेक मार्ग ग्रहण करेंगे।'

इस वाक्य से मालूम होता है कि जैन धर्म के जाति-धर्म बनने के बाद का यह उल्लेख है।

छठे अवतरण में कहा गया है कि 'क्षत्रिय कुमार राज्यभ्रष्ट होंगे और सब यवनों के हाथ में चला जायगा।' इससे भी यह ध्वनित होता है कि हिंदुस्तान में मुसल्मानों की सत्ता होने के बाद की यह रचना होनी चाहिए।

सातवें अवतरण में चंद्रगुप्त के दीक्षा लेने की बात है, जो कि श्वेतांबर ग्रंथों के विरुद्ध है। परिशिष्ट पर्व आदि में चंद्रगुप्त के जैन होने की बात अवश्य है, पर वहाँ गृहस्थधर्म में रहते हुए उसका अंतकाल होना लिखा है। दीक्षा लेने की कोई बात नहीं है।

दिगंबर जैन साहित्य भी इसका समर्थन नहीं करता। इस कथा का दिगंबरीय ग्रंथों में जिस ढंग से वर्णन किया है उसे देखकर यही कहना पड़ता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु और मौर्य चंद्रगुप्त का इसके साथ कुछ भी संबंध नहीं है। प्राचीन लेखों में इस कथा के नायक भद्रबाहु को कहीं भी श्रुतकेवली नहीं लिखा है, प्रत्युत उन्हें निमित्त-वेत्ता लिखा है, जो कि दिगंबरों के ही कथनानुसार दूसरे ज्योतिषी भद्रबाहु हो सकते[५२] हैं।

---

५२ श्रवण बेलगोल के चंद्रगिरि पर्वत पर एक शिलालेख में भद्रबाहु और चंद्रगुप्त का उल्लेख है। इस लेख के शक संवत् ५७२ के आस पास के होने का अनुमान किया जाता है। यदि यह अनुमान ठीक मान लिया जाय तो यह कहना अनुचित नहीं होगा कि विक्रम की आठवीं सदी के प्रारंभ में ही चंद्र-गुप्त के भद्रबाहु का दीक्षित शिष्य होने की मान्यता दिगंबर संप्रदाय में हो चली थी। परंतु यह बात भी भूलने योग्य नहीं है कि इस लेख में न तो भद्रबाहु को श्रुतकेवली लिखा है और न चंद्रगुप्त को मौर्य्य।

दिगंबर साहित्य में इस विषय का सबसे प्राचीन उल्लेख हरिषेण कृत 'बृहत्कथा कोष' में पाया जाता है। यह ग्रंथ शक संवत् ८५३ का रचा हुआ है। इसमें श्रुतकेवली भद्रबाहु के मुख से दुर्भिक्ष संबंधी भविष्यवाणी सुनकर उज्जयिनी के राजा चंद्रगुप्त के दीक्षा लेने का उल्लेख है। आगे चलकर चंद्रगुप्त के दशपूर्वधर विशाखाचार्य्य के नाम से संघ का नायक बनने का उल्लेख भी इस कथा ग्रंथ में किया है। यह सब होते हुए भी चंद्रगुप्त को उज्जयिनी का राजा कहकर कथाकार ने इस कथा की वास्तविकता की सूचना तो कर ही दी। भद्रबाहु के दक्षिण देश में जाने संबंधी और चंद्रगुप्त के उज्जयिनी का राजा होने संबंधी तथ्य से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ये भद्रबाहु श्रुतकेवली-भद्रबाहु से भिन्न थे, और चंद्रगुप्त भी पाटलिपुत्र के मौर्य चंद्रगुप्त से भिन्न था।

पार्श्वनाथ वस्ति में लगभग शक संवत् ५२२ के आसपास का लिखा हुआ एक शिलालेख है। उसमें भद्रबाहु की सूचना से संघ के दक्षिण में जाने का उल्लेख है, पर उस लेख से यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि जिनकी दुर्भिक्षसंबंधी भविष्यवाणी से जैन संघ दक्षिणापथ को गया था वे भद्रबाहु श्रुतकेवली नहीं पर श्रुतकेवली की शिष्य-परंपरा में होनेवाले दूसरे भद्रबाहु थे जिनकी निमित्तवेत्ता के नाम से प्रसिद्धि हुई थी। देखो उक्त लेख का एक खंड—

चंद्रगुप्त को भी मौर्य अथवा पाटलिपुत्र का राजा न लिखकर उसे उज्जयिनी का राजा लिखा है[५३]।

इस घटना का समय भी विक्रम की पहली या दूसरी शताब्दी के आसपास लिखा है[५४]।

"+ + + महावीरसवितरि परिनिर्वृते भगवत्परमर्षि गौतमगणधरसाक्षाच्छिष्यलोहार्य - जम्बु-विष्णुदेवापराजित-गोवर्द्धन-भद्रबाहु-विशाख-प्रोष्ठिल-कृत्तिकार्य - जयनाम-सिद्धार्थ-धृतिषेण-बुद्धिलादि-गुरु-परम्परीणक्क(क)माभ्यागत-महापुरुषसंततिसमवद्योतितान्वय-भद्रबाहुस्वामिना उज्जयन्यामष्टांगमहानिमित्ततत्त्वज्ञेन त्रैकाल्यदर्शिना निमित्तेन द्वादशसंवत्सरकालवैषम्यमुपलभ्य कथिते सर्व्वसंघ उत्तरापथाद्दक्षिणापथं प्रस्थितः।"

५३ देखो भद्रबाहुचरित्र का निम्नलिखित पाठ—

"अवंतीविषयेऽत्राथ, विजिताखिलमंडले।
विवेकविनयानेक-धनधान्यादिसंपदा ॥ ५ ॥
अभादुज्जयिनी नाम्ना, पुरी प्राकारवेष्टिता।
श्रीजिनागारसागार-मुनिसद्धर्ममंडिता ॥ ६ ॥
चंद्रावदातसत्कीर्त्तिश्चं द्रवन्मोदकर्तृ(कृन्नृ)णाम्।
चंद्रगुप्तिर्नृपस्तत्राऽचकच्चारुगुणोदयः ॥ ७ ॥

—भट्टारक रत्नानंदि कृत भद्रबाहुचरित्र २ परिच्छेद।

५४ दिगंबराचार्यों के लेखों के आधार पर द्वितीय भद्रबाहु का सत्ता-समय विक्रम की दूसरी सदी के आसपास प्रमाणित होता है। 'अंगपन्नत्ति' के कर्त्ता भट्टारक शुभचंद्र इन द्वितीय भद्रबाहु को प्रथमांगधर (आचारांगवेत्ता) लिखते हैं। देखो पन्नत्ति की यह गाथा—

"अग्गिम अंगि सुभद्दो, जसभद्दो भद्दबाहुपरमगणी।
आयरियपरंपराइ, एवं सुदणाणमावहदि ॥ ४७ ॥"

—अंगपन्नत्ति।

परंतु ब्रह्म हेमचंद्र ने अपने श्रुतस्कंध में अंगश्रुत की परंपरा विच्छिन्न होने के बाद में द्वितीय भद्रबाहु की सत्ता का निर्देश किया है। जिन-निर्वाण पीछे केवली वर्ष ६२, श्रुतकेवली वर्ष १००, दश पूर्वधर वर्ष, १८३ एकादशांगधर वर्ष २२०, एकांगधर और अंगदेशधर वर्ष ११८ तक रहे। इस प्रकार अंगश्रुत की प्रवृत्ति निर्वाण से ६८३ वर्ष पर्यंत रहकर विच्छिन्न हुई। यह ६८३ वर्ष का इतिहास लिखने के बाद हेमचंद्र द्वितीय भद्रबाहु के संबंध में 'श्रुतस्कंध' में नीचे मुजब उल्लेख करते हैं—

"आयरिओ भद्दबाहू, अट्ठंगमहणिमित्तजाणयरो ।
णिण्णासइ कालवसे, स चरिमो हु णिमित्तिओ होदि ॥८०॥"

—अब शुभचंद्र के कथनानुसार यदि भद्रबाहु को प्रथमांगधर मान लिया जाय तब तो उनका अस्तित्व विक्रम की प्रथम शताब्दी में मानना ही संगत हो सकता है, परंतु अब हेमचंद्र आदि का कथन ठीक मानकर यदि भद्रबाहु का समय अंगज्ञान के विच्छेद होने के बाद का मान लें तो इसका अर्थ यही होगा कि वीरनिर्वाण ६८३ (विक्रम २१२) के बाद ये नैमित्तिक भद्रबाहु हुए, परंतु दिगंबर विद्वानों के लेखों से पाया जाता है कि द्वितीय भद्रबाहु—जिनसे सरस्वती गच्छ की नंदि आम्नाय की पट्टावली प्रारंभ होती है—ईसवी सन् से ५३ वर्ष और शक संवत् से १३१ वर्ष पूर्व हुए। पट्टावली में इनके शिष्य का नाम गुप्तिगुप्त लिखा है। डा० फ्लीट का मत है कि दक्षिण की यात्रा करनेवाले ये ही द्वितीय भद्रबाहु थे और 'चंद्रगुप्त' उनके शिष्य गुप्तिगुप्त का ही नामांतर है। हमारा भी यही मत है कि यदि भद्रबाहु ने दक्षिण की यात्रा की हो तो वे द्वितीय भद्रबाहु ही हो सकते हैं, परंतु द्वितीय भद्रबाहु का जो अस्तित्व-समय माना गया है वह ठीक नहीं जँचता। हेमचंद्र के उक्त लेख के अनुसार भद्रबाहु का समय विक्रम की तीसरी सदी का प्रारंभकाल मान लिया जा सकता है परंतु उसमें यह स्पष्ट नहीं लिखा है कि अंगश्रुत का विच्छेद होने के बाद तुरंत ही भद्रबाहु हुए थे। उस उल्लेख का तात्पर्य इतना ही हो सकता है कि अंगश्रुत का अंत होने के बाद के प्रसिद्ध आचार्यों में प्रथम पुरुष भद्रबाहु थे, पर इससे यह मानने में क्या बाधक है कि ये भद्रबाहु अंगश्रुत की प्रवृत्ति-विच्छेद होने के बाद करीब ढाई तीन सौ वर्ष के बाद हुए हों? इनके नंदि आम्नाय के आदि पुरुष होने की मान्यता से भी यही सिद्ध होता है कि ये भद्रबाहु विक्रम की छठी सदी के पहले के नहीं हो सकते। यद्यपि इन भद्रबाहु को नंदिसंघ की पट्टावली में आचार्य्य कुंदकुंद का पुरोगामी लिखा है, परंतु इस पट्टावली-लेख को प्रामाणिक मानने के पहले बहुत सोचने की जरूरत है, क्योंकि प्राचीन लेखों में आचार्य्य कुंदकुंद को ही मूल संघ का नायक लिखा है। देखो श्रवण बेलगोल की कत्तिले वस्ती के एक स्तंभ पर के शिलालेख का निम्नलिखित श्लोक—

"श्रीमतो वर्द्धमानस्य, वर्द्धमानस्य शासने ।
श्री कोंडकुंद नामाभून्मूलसंघाग्रणीगणी ॥३॥"

अर्थात् "श्रीमान् वर्द्धमान स्वामी के शासन में मूल संघ के नायक कोंडकुंद नामक आचार्य हुए।"

इन सब बातों को ध्यान में लेने पर यही कहना होगा कि इस कथा का श्रुतकेवली भद्रबाहु और मौर्य चंद्रगुप्त के साथ कोई संबंध नहीं हो सकता। संभव है, गुप्तों के समय में चंद्रगुप्त नामक किसी गुप्तवंशीय व्यक्ति ने वराहमिहिर के भाई भद्रबाहु नामक जैन आचार्य से जैन दीक्षा ली हो जिसे पिछले लेखकों ने अविवेक से श्रुतकेवली भद्रबाहु और मौर्य चंद्रगुप्त के नाम के साथ लगा दिया।

चंद्रगुप्त को लेकर भद्रबाहु का दक्षिणापथ की तरफ जाना भी यही बतलाता है कि ये भद्रबाहु प्रतिष्ठानपुर के ज्योतिषी वराहमिहिर के भाई दूसरे भद्रबाहु ही थे[५५], क्योंकि श्रुतकेवली भद्रबाहु के

और, दूसरे दिगंबरीय संघ गण गच्छ और शाखाएँ इसी मूल संघ का विस्तार होने से नंदि शाखा भी इस मूलसंघ और इसके अग्रणी आचार्य कोंड-कुंद के पीछे की ही हो सकती है। और जब नंदि शाखा कुंदकुंद के बाद के समय की है तब इसके प्रवर्तक भद्रबाहु भी कुंदकुंद से अर्वाचीन ही हो सकते हैं। इसलिये हमारे विचार से ये द्वितीय भद्रबाहु विक्रम की छठी या पाँचवीं शताब्दी के पहले के नहीं हो सकते। श्वेतांबर ग्रंथकार जिन भद्रबाहु को वराहमिहिर का भाई लिखते हैं वे ये ही द्वितीय भद्रबाहु हो सकते हैं।

५५ श्वेतांबर जैन ग्रंथों में भद्रबाहु को ज्योतिषी वराहमिहिर का भाई लिखा है। देखो नीचे लिखा हुआ उल्लेख—

"प्रतिष्ठानपुरे वराहमिहिरभद्रबाहुद्विजौ बांधवौ प्रव्रजितौ। भद्र-बाहोराचार्यपददाने रुष्टः सन् वराहो द्विजवेषमादत्य वाराहीसंहितां कृत्वा निमित्तैर्जीवति।"

—कल्पकिरणावली १६३।

परंतु इन्हीं भद्रबाहु को श्वेतांबर लेखक श्रुतकेवली कहते हैं। यह ठीक नहीं है, क्योंकि ज्योतिषी वराहमिहिर शक संवत् ४२७ में विद्यमान था ऐसा पंचसिद्धांतिका की निम्नलिखित आर्या से निश्चित है—

"सप्ताश्विवेदसंख्यं, शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ।
अर्द्धास्तमिते भानौ, यवनपुरे सौम्यदिवसाद्ये ॥ ८ ॥"

—पञ्चसिद्धान्तिका।

जब वराहमिहिर का अस्तित्व शक संवत् ४२७ (निर्वाण १०३२) में निश्चित है तब उसके भाई भद्रबाहु श्रुतकेवली नहीं हो सकते। वस्तुतः

दक्षिण देश में विहार करने का कोई प्रमाण नहीं है। इससे उलटा दुर्भिक्ष के अंत में भद्रबाहु का नेपाल के मार्ग में होना[५६] और इनके शिष्यों का ताम्रलिप्ति और पुंड्रवर्धन में चिरकाल रहना[५७] यह बताता

श्रुतकेवली-भद्रबाहु और वराहमिहिर के भाई ज्योतिषी-भद्रबाहु भिन्न व्यक्ति थे। दिगंबराचार्यों ने इन दोनों को भिन्न ही माना है, परन्तु ज्योतिषी भद्रबाहु को वे विक्रम की पहली शताब्दी में हुआ मानते हैं। यह गलती है। हमारे विचार में वराहमिहिर का जो समय है वही इन भद्रबाहु का भी अस्तित्व-समय होना चाहिए। जैसे दिगंबर जैन ग्रंथों में द्वितीय भद्रबाहु को 'चरम-निमित्तधर' लिखा है, वैसे ही श्वेतांबर जैन ग्रंथों में भी भद्रबाहु को 'निमित्त-वेत्ता और भद्रबाहु संहिता नामक ग्रंथ का प्रणेता' लिखा है, पर इन प्रतिष्ठान-निवासी वराहमिहिर के भाई भद्रबाहु को श्रुतकेवली भद्रबाहु से भिन्न नहीं माना—यह एक चिरकालीन भूल कही जा सकती है। संभवत: वराहमिहिर के भाई भद्रबाहु छठी सदी के विद्वान् होंगे। इसी समय के लगभग हरिगुप्त नामक किसी गुप्तराजवंश्य व्यक्ति ने जैसे श्वेतांबर संप्रदाय में दीक्षा ली थी वैसे ही चंद्रगुप्त नामक राजवंशी पुरुष ने भी इन भद्रबाहु के पास दीक्षा अंगीकार की होगी और नवदीक्षित चंद्रगुप्त को लेकर उक्त आचार्य दक्षिणा-पथ की तरफ गए होंगे।

५६ देखो निम्नलिखित आवश्यक चूर्णि का लेख—"तंमि य काले बारसवरिसो दुकालो उवट्ठितो संजताइतो य समुद्दतीरे अच्छित्ता पुणरवि पाडलिपुत्ते मिलिता अण्णस्सउद्देसओ अण्णस्स खंडं एवं संघाडितेहिं तेहिं एक्कारस अंगाणि संघातिताणि, दिट्ठिवादो नत्थि, नेपालवत्तणी भयवं भद्दबाहु-स्सामी अच्छति चोद्दसपुव्वी।"

—आवश्यक चूर्णि २४२

५७ स्थविर भद्रबाहु के शिष्य गोदास से निकले हुए गोदासगण की ४ शाखाएँ थीं, ऐसा कल्पसूत्र की "थेरावली' में लिखा है। देखो नीचे लिखी हुई कल्पसूत्र की पंक्तियाँ—,

"थेरेहिंतो गोदासेहिंतो कासवगुत्तेहिंतो इत्थणं गोदासगणे नामं गणे निग्गए, तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ एवमाहिज्जंति, तंजहा—ताम-लित्तिया कोडीवरिसिया, पुंडवद्धणिया, दासीखब्बडिया।"

इनमें पहली शाखा 'तामलित्तिया' की उत्पत्ति बंग देश की उस समय की राजधानी तामलित्ती वा ताम्रलिप्ति से थी, जो दक्षिणी बंगाल का एक प्रसिद्ध बंदर था। दूसरी शाखा 'कोडीवरिसिया' की उत्पत्ति कोटिवर्ष नगर

है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु और उनका समुदाय दुर्भिक्ष के समय पूर्व देश को छोड़कर कहीं नहीं गया था[५८]।

से थी। यह नगर भी राढ देश (आजकल के मुर्शिदाबाद जिला—पश्चिमी बंगाल) की राजधानी थी। तीसरी शाखा 'पुंड्रवद्धणिया' थी, जो 'पुंड्रवर्द्धन' (उत्तरी बंगाल की राजधानी) से उत्पन्न हुई थी। इन तीनों शाखाओं के उत्पत्तिस्थान पूर्व समुद्र और गंगा नदी के निकट बंगाल में थे, इनमें अधिक समय तक निवास करने के कारण गोदासगण के साधु-समुदाय की शाखाएँ इन स्थानों के नाम से प्रसिद्ध हुई थीं। इससे यह बात निश्चित है कि दुर्भिक्ष के समय में भद्रबाहु और उनका साधु-समुदाय बंगाल में, जहाँ सजलता के कारण दुष्काल का अधिक असर न था वहाँ ही, ठहरा था।

५८ टिप्पणी नंबर ५६ में दिए हुए आवश्यक चूर्णि के पाठ में यह भी सूचित किया है कि दुर्भिक्ष के समय में साधु-समुदाय समुद्र के तट पर की बस्तियों में चला गया था। आचार्य हेमचंद्र भी परिशिष्ट पर्व में यही बात कहते हैं। देखो निम्नलिखित श्लोक—

"इतश्च तस्मिन् दुष्काले, कराले कालरात्रिवत्।
निर्वाहार्थं साधुसंघस्तीरं नीरनिधेर्ययौ ॥ ५५ ॥"

—परिशिष्ट पर्व सर्ग ९।

श्वेतांबर संघ के मान्य विद्यमान आगमों में निशीथ, बृहत्कल्प और व्यवहार नामक सूत्रों का बड़ा महत्त्व है। ये तीनों छंदसूत्र हैं और इनके कर्ता भगवान् भद्रबाहु श्रुतकेवली हैं। यद्यपि इनमें से व्यवहार सूत्र की भाषा कुछ अर्वाचीन प्रतीत होती है, तथापि हम इसे अभद्रबाहुकर्तृक नहीं कह सकते। हो सकता है कि पिछले समय में इसमें कुछ संस्कार हुए हों और भाषा और कहीं कहीं भाव भी बदल दिए गए हों, पर इतने ही कारण से इसे अभद्रबाहुकर्तृक कहना योग्य नहीं है। इन तीनों सूत्रों में जो जो साधुओं के आचार विचार बताए हैं वे एकदम प्राचीन हैं। इनमें जो अपवाद मार्गों का निरूपण है वह अवश्य ही किसी समय-विशेष का सूचक है। जहाँ तक मेरा विचार है, ये तीनों अध्ययन (और कम से कम कल्पाध्ययन तो अवश्य ही) विषम समय की कृति है। इनका आंतर स्वरूप देखने से ये तीन बातें तो स्पष्ट हो जाती हैं कि इन सूत्रों की रचना कलिंग या बंगाल में हुई है। सूत्रकार के समय में कालसंबंधी विषम स्थिति थी; और साधुओं का समुदाय अधिक था।

कल्पाध्ययन के प्रारंभ के प्रलम्ब सूत्र और इसके भाष्य से तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि इस सूत्र की रचना दुर्भिक्ष के समय में तोसलि

हमारे इस विस्तृत विवेचन का तात्पर्य यही है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु और चंद्रगुप्त को समकालीन बतानेवाली आख्यायिकाएँ बिल्कुल निराधार हैं। इन निराधार दंतकथाओं के भरोसे चंद्रगुप्त को भद्रबाहु के समय में खींच लाना और प्रस्तुत गणना-पद्धति को अविश्वसनीय कहना योग्य नहीं है।

आर्य सुहस्ती और राजा संप्रति

निशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार और पंचकल्प जैसे प्राचीन और प्रामाणिक जैन सूत्रों के भाष्यों और चूर्णियों में संप्रति के संबंध में यह कथा दी गई है कि 'राजा अशोक के पौत्र उज्जयिनी के राजा मौर्य संप्रति को जैन आचार्य आर्य सुहस्तीजी ने जैन बनाया और जैन उपासक बनकर संप्रति ने जैन धर्म की बहुत ही उन्नति की।'

युगप्रधानत्व काल-गणना में हम देख आए हैं कि निर्वाण से २९१वें वर्ष में आर्य सुहस्ती का स्वर्गवास हो जाता है, उधर 'राजत्व-काल-गणना' में निर्वाण से २१० वर्ष के बाद मौर्य राज्य का प्रारंभ होता है। पुराण और बौद्ध लेखों के अनुसार चंद्रगुप्त का २४, विंदुसार का २५ और अशोक का ३६ वर्ष परिमित राजत्वकाल मान लिया जाय तो संप्रति का राज्य २९५ (२१० + २४ + २५ + ३६ = २९५) के पहले नहीं आ सकता[४६]। यह गणना उपर्युक्त कथा

देश (कलिंग के एक प्रांत) में हुई है। इससे यदि हम यह मान लें कि दुर्भिक्ष के पहले भद्रबाहु ने 'निशीथाध्ययन' की रचना की, दुर्भिक्ष के समय में उन्होंने तोसलि देश में रहते हुए 'कल्पाध्ययन' का निर्माण किया, और दुर्भिक्ष के बाद 'बृहत्कल्प' का संकलन किया तो कुछ भी अनुचित नहीं है। कुछ भी हो, पर एक बात तो निश्चित है कि दुर्भिक्ष के समय में श्रुत-केवली भद्रबाहु पूर्व देश में ही विचरते थे।

४६ आचार्य जिनसुंदर सूरि दीपाली-कल्प में संप्रति का निर्वाण संवत् ३०० में राजा होना बताते हैं। देखो निम्नलिखित श्लोक—

"दिनतो मम मोक्षस्य, गते वर्षशतत्रये।
उज्जयिन्यां महापुर्यां, भावी संप्रति भूपतिः ॥ १०७ ॥"

—दीपाली कल्प, पृ० ११

के साथ जरा असंगत सी मालूम होती है। इस असंगति को मिटाने के लिये हमें संप्रति-चरित्र के विशेष अंशों पर दृष्टिपात करना होगा।

अशोक अपने बड़े पुत्र कुनाल को युवराज बनाकर उज्जयिनी का शासन देकर वहाँ भेज देता है, कारण-विशेष से कुनाल अंधा हो जाता[६०] है। लाचार हो अशोक उसे दूसरा गाँव देकर वहाँ भेजता

---

६० युवराज कुनाल अंध हो गया था, यह बात जैन और बौद्ध ग्रंथों से जानी जाती है। दोनों मतवाले कुनाल की अपर माता के द्वेष के कारण कुनाल का अंधा होना बताते हैं, पर उसके प्रकार भिन्न भिन्न हैं।

बौद्ध लेखकों ने इस विषय का 'दिव्यावदान' और 'अवदानकल्पलता' में बहुत विस्तार के साथ वर्णन किया है, पर उसका सारांश इतना ही है कि राजकुँवर कुनाल की आँखें बहुत सुंदर थीं। अशोक की तिष्यरक्षिता नामक रानी ने इन सुंदर आँखों पर मोहित होकर कुनाल से अनुचित प्रार्थना की, पर कुनाल बड़ा सुशील था। उसने तिष्यरक्षिता की प्रार्थना का भंग कर दिया, इससे वह कुनाल पर बहुत ही नाराज हुई और अवसर मिलने पर इसका बदला लेने का उसने निश्चय कर लिया। उसके बाद राजा अशोक एक बार बीमार पड़ा और वैद्यों के अनेक उपचार करने पर भी वह अच्छा नहीं हुआ, तब रानी तिष्यरक्षिता ने अपनी कुशल बुद्धि से राजा को नीरोग किया। राजा रानी पर बहुत प्रसन्न हुआ और उसे सात दिन का राज्याधिकार दिया। रानी ने कुनाल का वैर लेने के लिये अशोक के नाम से एक आज्ञा-पत्र तक्षशिला के अधिकारीवर्ग के पास भेजा जिसमें लिखा कि 'कुनाल हमारे कुल में कलंकरूप है, इसलिये इसकी आँखें निकाल दी जायँ।' राजाज्ञा-भंग की कठोरता का विचार करते हुए तक्षशिला-निवासियों ने आँखें निकालने के लिये चांडालों को बुलाया पर उनको इस दुष्टकार्य के करने का साहस नहीं हुआ, तब कुनाल ने स्वयं ही शलाका से अपनी आँखें निकालकर उस आज्ञा का पालन किया।

जैन लेखकों का इस संबंध में जो कथन है उसका सारांश यह है कि 'एक बार राजा अशोक ने अवंति के अधिकारियों को पत्र लिखा जिसमें लिखा गया कि 'अब कुमार विद्याध्ययन करे,' (अधीयउ कुमारो) उस समय अशोक की दूसरी रानी पास में बैठी हुई थी। राजा के कहीं जाने पर उसने पत्र को पढ़ा और सोचा कि यदि कुनाल पढ़ लिखकर होशियार हो गया तो मेरे पुत्र को राज्याधिकार नहीं मिलेगा, इस विचार से उसने कुनाल को अपांग बनाने के इरादे से "अधीयउ" के "अ" के ऊपर कज्जल का बिंदु लगाकर "अंधीयउ कुमारो" बना लिया। राजा ने बिना पढ़े ही पत्र बन्द करके उज्जयिनी भेज

है और उज्जयिनी का शासन दूसरे कुमार को दे देता है। पीछे से अपने गाँव में रहते हुए कुनाल के एक पुत्र होता है और कुनाल अपने पुत्र को अशोक के राज्य का उत्तराधिकारी बनाने की तरकीब सोचता[61] है। गान-कला में प्रवीण कुनाल अपने पुत्र को साथ लेकर, गायक के वेष में, पाटलिपुत्र पहुँचता है और सामंत मंडलिकों

दिया। उज्जयिनी के अधिकारी पत्र को बाँचकर अवाक् रह गए, और कुनाल के पूछने पर उन्होंने आज्ञा की क्रूरता का कुमार से निवेदन किया। कुनाल ने प्रसन्नतापूर्वक राजाज्ञा का पालन करने को कहा लेकिन किसी को यह दुष्ट कार्य करने का साहस नहीं हुआ। तब कुनाल स्वयं अपनी आँखों में शलाका आँजकर अंधा हो गया।'

इस प्रकार दोनों ही धर्मवालों के लेखों से यह बात साबित होती है कि युवराज कुनाल के अंधापे का खास कारण उसकी अपर माता का प्रपंच ही था।

पर एक बात यहाँ पर अवश्य विचारणीय है। वह यह कि बौद्धों के लेखानुसार कुनाल तक्षशिला का शासक था और वहीं वह अंधा हुआ, परंतु जैन लेखों को देखते वह तक्षशिला का नहीं पर उज्जयिनी (अवन्ति) का शासक था, और उज्जयिनी में ही उसकी आँखें गईं। यह एक असाधारण मतभेद मालूम होता है, पर वस्तुतः इसमें कुछ भी मतभेद नहीं है। बौद्धों की तक्षशिला और जैनों की अवंति वास्तव में भिन्न नगरी नहीं थी। 'तक्षशिला' शब्द बौद्धों ने अवंति के ही पर्यायार्थ में लिखा मालूम होता है। प्राचीन समय में तक्षशिला नाम अवंति का भी नामांतर था, यह बात वैजयंती कोश के निम्नलिखित वचन से भी सिद्ध होती है—

"अवंती स्यात्तक्षशिला।"

—वैजयंती, पृ० १५६।

६१ कुनाल अशोक का उत्तराधिकारी था, इसलिये कुनाल के पुत्र संप्रति को उसका उत्तराधिकार मिलना कठिन नहीं था, फिर कुनाल उसे उत्तराधिकार दिलाने के लिये यह तरकीब क्यों सोचता है? यह शंका यहाँ पर अवश्य हो सकती है और इसका परिहार यों हो सकता है कि, कुनाल के अंधा होने के बाद अशोक ने उज्जयिनी दूसरे राजकुमार को दे दी थी—यह बात कल्पचूर्णि में लिखी है। (परितप्पित्ता उज्जेणी अण्णस्स कुमारस्स दिण्णा।) इस प्रकार अन्य कुमार को प्रदत्त उज्जयिनी का अधिकार पीछे कुनाल के पुत्र को मिलना जरा कठिन था, इसलिये बुद्धिमान् कुनाल ने तरकीब से राजा को वचनबद्ध करके उज्जयिनी का अधिकार प्राप्त किया।

के यहाँ अपनी संगीत-कला का परिचय देता हुआ अशोक के दरबार तक पहुँचता है। इस अंध गायक के गान से राजा खूब प्रसन्न होता है और सहसा बोल उठता है 'तुझे क्या दूँ ?'

राजा का वचन मुख से निकलते ही यवनिका के भीतर बैठा हुआ गायक कुनाल कहता है—

"पपुत्तो चंद्रगुत्तस्स, बिंदुसारस्स नत्तुओ।
असोगसिरिणो पुत्तो, अंधो जायइ कागिणिं ॥"

राजा चौंककर पर्दा दूर करवाके कुनाल को गले लगाता है, और कागिणिमात्र माँगने का कारण पूछता है, जिसके उत्तर में मंत्री कहते हैं "राजपुत्रों की परिभाषा में काकिणी का अर्थ राज्य" है। कुनाल की माँग का तात्पर्य समझकर राजा उसे अंधदशा में राज्य माँगने का कारण पूछता है। तब कुनाल अशोक को पौत्रजन्म की बधाई सुनाता है। राजा उसी समय कुनाल के पुत्र को अपनी गोद में लेकर उसे उज्जयिनी का शासक और अपना उत्तराधिकारी युवराज बनाता है और उज्जयिनी भेज देता है[६२]

६२ संप्रति को उज्जयिनी का अधिकार देने के संबंध में जैन लेखकों के दो तरह के लेख मिलते हैं। बृहत्कल्प चूर्णि, कल्पकिरणावली आदि में लिखा है कि जब कुनाल अशोक से मिला और अपने पुत्र संप्रति के लिये राज्य माँगा उसी समय अशोक ने संप्रति को राज्य दे दिया। देखो निम्नलिखित उल्लेख—

"किं काहिसि अंधओ रज्जेणं, कुणालो भणति—मम पुत्तोत्थि संपती नाम कुमारो, दिन्नं रज्जं।"

—बृहत्कल्प चूर्णि २२।

"+ + तस्य सुतः कुणालस्तन्नंदनस्त्रिखंडभोक्ता संप्रतिनामा भूपतिरभूत्, स च जातमात्र एव पितामहदत्तराज्यः।"

—कल्पकिरणावली १६५।

निशीथ चूर्णि का विधान इससे भिन्न है। वहाँ संप्रति को कुमारभुक्ति में उज्जयिनी देने का उल्लेख है। देखो नीचे की पंक्ति—

"उज्जेणी से कुमारभोत्ती दिण्णा।"

उज्जयिनी में रहता हुआ संप्रति अवंति के अतिरिक्त सारे दक्षिणापथ और काठियावाड़ को अपने वश में कर लेता है[६३]।

आचार्य आर्य सुहस्ती जीवंत स्वामी को वंदन करने के लिये उज्जयिनी में आते हैं। रथयात्रा में चलते हुए आचार्य को संप्रति देखता है और उनके मुकाम पर जाकर वह जैन श्रावक हो जाता है[६४]।

पर इन दोनों तरह के लेखों का तात्पर्य्यार्थ एक भी हो सकता है। कल्पचूर्णि के 'राज्य' शब्द का अर्थ 'यौवराज्यं' कर लेने पर संगति हो जाती है कि संप्रति को बचपन में ही अपने राज्य का उत्तराधिकारी युवराज बनाकर अशोक ने अवंति प्रदेश उसे कुमारभुक्ति में दे दिया था।

६३ संप्रति ने काठियावाड़ और दक्षिणापथ को स्वाधीन किया ऐसा निशीथचूर्णि में लिखा है, देखो निम्नलिखित उल्लेख—

"तेण सुरट्ठविसयो अंधा दमिला य ओयविया।"

इसी विषय में कल्पचूर्णिकार का मत इस प्रकार का है—

"ताहे तेण संपइणा उज्जेणीआई काउं दक्खिणावहो सव्वो तत्थ ठिण्ण वि अज्जावितो।"

काठियावाड़ और दक्षिणापथ को जीतने से संप्रति के संबंध में यह अनुमान हो सकता है कि पश्चिम और दक्षिण हिंदुस्थान में उसने युवराज अवस्था में ही अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर दी होगी। अशोक के मरण के बाद वह मगध के राजसिंहासन पर अभिषिक्त हुआ था यह बात भी बौद्धग्रंथों से जानी जाती है, पर आखिर तक पूरे हिंदुस्थान में संप्रति की सत्ता कहाँ तक रही यह निश्चित नहीं कह सकते। पूर्वीय प्रदेश से जो दशरथ मौर्य के शिलालेख मिले हैं उनसे यह भी ध्वनित होता है कि 'देवानां प्रिय के बाद मौर्य दशरथ का राज्याभिषेक हुआ था'। यदि 'देवानां प्रिय' केवल अशोक का ही विरुद है तो इससे यह मानना पड़ेगा कि अशोक के बाद पूर्वीय हिंदुस्थान के कुछ प्रदेश पर अशोक के दूसरे पुत्र दशरथ का अधिकार था। आश्चर्य नहीं अंध अवस्था में कुनाल का अधिकार रद्द करके अशोक ने जिसे उज्जयिनी का राज्य दिया और संप्रति का जन्म होने पर उससे लेकर वापिस संप्रति को दिया वह अशोक का दूसरा पुत्र यही दशरथ हो।

६४ यद्यपि निशीथचूर्णि और उसके पीछे के ग्रंथों में रथयात्रा में जाते हुए आर्य सुहस्ती को देखकर संप्रति को जातिस्मरण ज्ञान होने और उसी समय अवलोकन से नीचे उतरके आचार्य को गुरु धारण करने का उल्लेख

उपर्युक्त कथांश हमें स्पष्ट बताते हैं कि आर्य सुहस्ती और संप्रति का समागम तथा संप्रति का जैन धर्म स्वीकार करना ये सब बातें उज्जयिनी में उस समय की हैं जब संप्रति युवराजपद पर था।

बौद्ध और पौराणिक लेखों से यह बात तो निश्चित है कि संप्रति अशोक का उत्तराधिकारी था[६५] और अशोक की अंतिम बीमारी

है, तथापि कल्पचूर्णि के मत से आचार्य के मकान पर जाकर धर्म चर्चा कर संप्रति ने जैन धर्म को स्वीकार किया था। देखो कल्पचूर्णि का पाठ—

"इतो य अज्जसुहत्थी उज्जेणिं जियसामिं वंदओ आगओ रहाणुज्जाणे य हिंडंतो राउलंगणपदेसे रन्ना आलोयणगतेण दिट्ठो, ताहे रन्नो ईहपोहं करेंतस्स जातं (जाइसरणं जातं) तहा तेण मणुस्सा भणिता-पडिचरह आयरिए कहिं ठितत्ति तेहिं पडिचरिउं कहितं सिरिघरे ठिता। ताहे तत्थ गंतुं धम्मो णेण सुओ, पुच्छितं धम्मस्स किं फलं ?, भणितं अव्यक्तस्य तु सामाइयस्स राजाति फलं, सो संभंतो हाति (होति ?) सच्चं भणसि अहं भे कहिं चिदिट्ठेल्लओ, आयरिएहिं उवउज्जितं दिट्ठेल्लओ त्ति ताहे सो सावओ जाओ पंचाणुव्वयधारी तसजीवपडिक्कमओ पभावओ समणसंघस्स।"

अर्थात् 'इधर आर्य्य सुहस्ती जीवित स्वामी को वंदन करने के लिये उज्जयिनी को आए, और रथयात्रा में चलते हुए वे राजमहल के आँगन में आए। अवलोकन (झरोखे) में बैठे हुए राजा संप्रति को उन्हें देखते ही ईहापोहपूर्वक जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ, तब राजा ने अपने आदमियों को कहा—'तलाश करो, आचार्य कहाँ पर ठहरे हैं।' आदमियों ने पता लगाकर राजा से निवेदन किया कि आचार्य का मुकाम श्रीघर में है। राजा उनके पास गया और धर्मोपदेश सुनने के बाद उसने प्रश्न किया कि 'धर्म का फल क्या है ?' आचार्य ने कहा 'अव्यक्त सामायिक धर्म का फल राजपद-प्राप्ति आदि है' यह सुनकर राजा ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—सत्य कहते हो, महाराज ! आप मुझे पहिचानते हैं ? श्रुतज्ञान का उपयोग देकर आचार्य ने कहा—हाँ, तुम हमारे परिचित (पूर्व भव के शिष्य) हो। तब राजा श्रावक हो गया। वह पंचाणु-व्रतधारी त्रस जीवों की हिंसा का त्यागी और श्रमण-संघ की उन्नति करनेवाला श्रावक हो गया।'

६५ पुराणों में मौर्य राजाओं के नामों में बहुत गड़बड़ है। अशोक मौर्य वंश का तीसरा राजा है, यह बात तो प्रायः सब पुराणों से निर्विवाद सिद्ध है, पर अशोक के बाद के राजाओं का क्रम और नाम दोनों ठीक नहीं मिलते। विष्णुपुराण और भागवत में अशोक के उत्तराधिकारी का नाम

के समय में वह पाटलिपुत्र में था तथा अशोक की मृत्यु के बाद पाटलिपुत्र के राज्यसिंहासन पर उसका राज्याभिषेक हुआ था[६६]।

'सुयशा' है, तब उसी स्थान पर वायुपुराण में 'कुनाल' और ब्रह्मांडपुराण में 'कुशाल' ये नाम उपलब्ध होते हैं। इन सुयशा, कुनाल या कुशाल के पीछे विष्णुपुराण में 'दशरथ' का नाम है तथा वायु और ब्रह्मांड में 'बंधुपालित' नाम मिलता है। भागवतकार इसी स्थान में 'संगत' यह नाम लिखते हैं, और मत्स्यपुराण में अशोक के पीछे इसके पोते 'सप्तति' (संप्रति) का राज्याधिकार लिखा है। मत्स्यपुराण का यह 'सप्तति' ही अशोक का पोता जैनों का 'संप्रति' है।

इस प्रकार मत्स्यपुराण में अशोक के पीछे उसके पोते 'संप्रति' का और उसके बाद दशरथ का राजा होना लिखा है, पर भागवत, ब्रह्मांड और वायुपुराण में 'दशरथ' का नाम ही नहीं है। वायु के कुनाल और ब्रह्माण्ड के कुशाल के बाद दोनों में 'बंधुपालित' का नाम है। विष्णुपुराण में सुयशा के पीछे दशरथ और उसके बाद 'संयुत' नाम लिखा है जो 'संप्रति' का ही विकृत रूप है। इन विकल्पों से एक बात निश्चित हो जाती है कि अशोक के पिछले मौर्य राजाओं की पुराणकारों को ठीक ठीक जानकारी नहीं थी। फिर भी मत्स्यपुराण—जो कि इस संबंध में सबसे प्रामाणिक माना गया है—अशोक के बाद उसके पोते 'संप्रति' के राजा होने और दश वर्ष तक राज्य करने का उल्लेख करता है। यह बात इस विषय के जैन इतिहास की सत्यता साबित करती है। पाठकगण के विलोकनार्थ हम मत्स्यपुराण के उस अंश को नीचे उद्धृत करते हैं—

"षट्त्रिंशत्तु समा राजा, भविताऽशोक एव च।
सप्तति(संप्रति)र्दशवर्षाणि, तस्य नप्ता भविष्यति ॥ २३ ॥
राजा दशरथोऽष्टौ तु, तस्य पुत्रो भविष्यति।"

—मत्स्यपुराण अध्याय २७२।

६६ अशोक की बीमारी के समय उसका पोता युवराज संप्रति पाटलिपुत्र में था, और अशोक के मरण के बाद उसका वहीं राज्याभिषेक हुआ था, यह बात दिव्यावदान नामक बौद्ध ग्रंथ के २९ वें अवदान में दिए हुए निम्नलिखित वृत्तांत से सिद्ध होती है।

'दिव्यावदान में लिखा है कि 'राजा अशोक को बौद्ध संघ को सौ करोड़ सुवर्ण का दान देने की इच्छा हुई, और उसने दान देना शुरू किया। ३६ वर्षों में उसने ९६ करोड़ सुवर्ण तो दे दिया पर अभी ४ करोड़ देना बाकी था, तब वह बीमार पड़ गया, जिंदगी का भरोसा न समझकर उसने चार करोड़ पूरा करने के लिये खजाने से कुक्कुटाराम में भिक्षुओं के लिये द्रव्य भेजना शुरू किया।'

उस समय अशोक के पुत्र कुनाल का पुत्र 'संपदी' नामक राजकुमार युवराज पद पर था। अशोक की दानप्रवृत्ति की बात संपदी को कहकर मंत्रियों ने कहा—राजन् ! राजा अशोक थोड़ी देर का महमान है, वह जो द्रव्य कुक्कुटाराम भेज रहा है, उससे उसे रोकना चाहिए, क्योंकि खजाना ही राजाओं का बल है। मंत्रियों के कहने पर युवराज संपदी ने खजानची को धन देने से रोक दिया। इस पर अशोक अपने सुवर्णमय भोजन-पात्र ही कुक्कुटाराम को भेजने लगा, तब अशोक के भोजन के लिये क्रमशः रौप्य, लोह और मात्तिक पात्र भेजे गए, जिनका भी उसने दान कर दिया। उस समय राजा अशोक के हाथ में सिर्फ आधा आंवला बाकी रहा था। राजा बहुत विरक्त हुआ, मंत्रिगण और प्रजागण को इकट्ठा करके वह बोला—'बोलो इस समय पृथिवी में सत्ताधारी कौन है ?' मंत्रियों ने कहा—'आप ही पृथिवी में ईश्वर-सत्ताधारी राजा हैं।' आँखों से आँसू बहाते हुए अशोक ने कहा—तुम दाक्षिण्य से झूठ क्यों बोलते हो ?: हम तो राज्यभ्रष्ट हैं। इस समय हमारा प्रभुत्व मात्र इस अर्धामलक पर है। पास में खड़े आदमी को बुलाकर अशोक ने वह अर्धामलक उसे दिया और कहा—भद्र ! मेरा यह थोड़ा सा काम कर, कुक्कुटाराम जाकर मेरे वन्दन के साथ यह अर्धामलक संघ को भेंट कर।

भिक्षु-संघ ने अशोक का वह आखिरी दान उसकी इच्छा के अनुसार यूष में मिला करके सारे संघ में बांट दिया।

राजा ने अमात्य राधगुप्त को बुलाकर कहा—'बोल राधगुप्त ! इस समय पृथिवी में ईश्वर कौन है ?' विनय के साथ उत्तर देते हुए राधगुप्त ने कहा—'आप ही तो पृथिवी में ईश्वर हैं।' यह सुनकर अशोक किसी तरह उठा और चारों ओर नजर फिराकर संघ को नमस्कार कर बोला—'महाकोश को छोड़कर इस समुद्रपर्यंत महापृथिवी को संघ के लिये अर्पण करता हूँ' इस प्रकार पृथिवी का दान करके राजा कालशरण हो गया। अमात्यों ने जलसे के साथ अशोक के शरीर का अग्निसंस्कार किया और वे मगध के सिंहासन पर संपदी को बिठाने की तैयारी करने लगे, तब राधगुप्त ने कहा—चार करोड़ सुवर्ण के बदले यह पृथिवी अशोक ने संघ को दान कर दी है, इस वास्ते जब तक संघ से यह पृथिवी छोड़ाई नहीं जाती, तब तक इस पर दूसरा राजा नहीं हो सकता। अमात्यों के पूछने पर उसने बताया कि क्यों अशोक ने संघ को पृथिवी दी। तब अमात्यों ने भगवच्छासन में ४ करोड़ सुवर्ण देकर पृथिवी को छुड़ाया और बाद में संपदी का राज्याभिषेक किया।

पाठकगण के दर्शनार्थ हम दिव्यावदान के उन अंशों को यहाँ उद्धृत करेंगे जिनका कि सार-भाग ऊपर लिखा है।

"अपिच राधगुप्त, अयं मे मनोरथो बभूव कोटीशतं भगवच्छासने दानं दास्यामीति, स च मेऽभिप्रायो न परिपूर्णः। ततो राज्ञाऽशोकेन चत्वारः कोटयः परिपूरयिष्यामीति हिरण्यसुवर्णं कुक्कुटारामं प्रेषयितुमारब्धः।

तस्मिंश्च समये कुनालस्य संपदी नाम पुत्रो युवराज्ये प्रवर्त्तते। तस्यामात्यैरभिहितं—कुमार! अशोको राजा स्वल्पकालावस्थायी इदं च द्रव्यं कुक्कुटारामं प्रेषयते कोशबलिनश्च राजानो निवारयितव्यः। यावत् कुमारेण भांडागारिकः प्रतिषिद्धः। यदा राज्ञोऽशोकस्याप्रतिषिद्धाः (?) तस्य सुवर्णभाजने आहारमुपनाम्यते, भुक्त्वा तानि सुवर्णभाजनानि कुक्कुटारामं प्रेषयति। तस्य सुवर्णभाजनं प्रतिषिद्धं रूप्यभाजने आहारमुपनाम्यते, तान्यपि कुक्कुटारामं प्रेषयति। ततो रूप्यभाजनमपि प्रतिषिद्धं यावल्लोहभाजन आहारमुपनाम्यते। तान्यपि राजा अशोकः कुक्कुटारामं प्रेषयति। तस्य यावन्मृद्भाजन आहारमुपनाम्यते। तस्मिंश्च समये राज्ञोऽशोकस्यार्द्धामलकं करांतर्गतम्। अथ, राजाऽशोकः संविग्नोऽमात्यान् पौरांश्च संनिपात्य कथयति कः साम्प्रतं पृथिव्यामीश्वरः। ततोऽमात्य उत्थायाऽऽसनाद् येन राजाशोकस्तेनांजलिं प्रणम्योवाच—देवः पृथिव्यामीश्वरः। अथ राजाऽशोकः साश्रुदुर्दिननयनवदनोऽमात्यानुवाच,—

दाक्षिण्यात् अनृतं हि किं कथयथ, भ्रष्टाधिराज्या वयम्,
शेषं त्वामलकार्धमित्यवसितं यत्र प्रभुत्वं मम।
ऐश्वर्यं धिगनार्यमुद्धतनदीतोयप्रवेशोपमम्,
मर्त्येन्द्रस्य ममापि यत् प्रतिभयं दारिद्र्यमभ्यागतम् ॥१॥

× × × × × ×

ततो राजाऽशोकः समीपगतं पुरुषमाहूयोवाच—भद्रमुख! पूर्वगुणानुरागाद् भ्रष्टैश्वर्यस्यापि मम इमं तावदपश्चिमं व्यापारं कुरु—इदं ममार्धामलकं ग्रहाय कुक्कुटारामं गत्वा संघे निर्यातय, मद्वचनाच्च संघस्य पादाभिवन्दनं कृत्वा वक्तव्यं, जम्बूद्वीपैश्वर्यस्य राज्ञ एष सांप्रतं विभव इति। इदं तावद् अपश्चिमं दानं तथा प्रति भोक्तव्यं यथा मे संघगता दक्षिणा विस्तीर्णा स्यादिति।

× × × × × ×

यावत्तदर्धामलकं चूर्णयित्वा यूषे प्रक्षिप्य संघे चारितम्। ततो राजाऽशोको राधगुप्तमुवाच—कथय राधगुप्त! कः साम्प्रतं पृथिव्यामीश्वरः। अथ राधगुप्तोऽशोकस्य पादयोर्निपत्य कृताञ्जलिरुवाच—देवः पृथिव्यामीश्वरः। अथ राजाऽशोकः कथञ्चिदुत्थाय चतुर्दिशमवलोक्य संघायाञ्जलिं कृत्वा 'एष इदानीं महत्कोशं स्थापयित्वा इमां समुद्रपर्य्यन्तां महापृथिवीं भगवच्छ्रावकसंघे निर्यातयामि।'

यदि आर्य सुहस्ती के समय में संप्रति सम्राट् होता तो जैन लेखक उसे पाटलिपुत्र का राजा लिखकर उज्जयिनी का राजा अथवा युवराज नहीं लिखते। इससे हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि जिस समय संप्रति को आर्य सुहस्ती ने जैन बनाया उस समय वह युवराज पद पर स्थित होकर अवंति का शासक था, इसलिये सुहस्ती और संप्रति की समकालीनता में कोई असंगति नहीं है।

यावत्पत्राभिलिखितं कृत्वा दत्त (दन्त) मुद्रया मुद्रितम्। ततो राजा महापृथिवीं संघे दत्त्वा कालगतः। यावदमात्यैर्नीलपीताभिः शिविकाभिर्निर्हरित्वा शरीरपूजां कृत्वा राजानं प्रतिष्ठापयिष्याम इति यावद् राधगुप्तेनाभिहितं राज्ञाऽशोकेन महापृथिवी संघे निर्यातिता इति। ततोऽमात्यैरभिहितं किमर्थमिति, राधगुप्त उवाच—एष राज्ञोऽशोकस्य मनोरथो बभूव कोटिशतं भगवच्छासने दानं दास्यामीति तेन षण्णवतिकोट्यो दत्ता यावद् राज्ञा प्रतिषिद्धाः, तदभिप्रायेण राज्ञा पृथिवी संघे दत्ता यावदमात्यैश्चतस्रः कोट्यो भगवच्छासने दत्त्वा पृथिवीं निष्क्रीय संपदी राज्ये प्रतिष्ठापितः।"

—दिव्यावदान २६।

अवदानकल्पलता के ७४ वें पल्लव में क्षेमेन्द्र ने भी संपदी को अशोक का पौत्र और उत्तराधिकारी लिखा है। देखो नीचे का उल्लेख—

"तत्पौत्रः संपदी नाम, लोभान्धस्तस्य शासनम्।
दानपुण्यप्रवृत्तस्य, कोशाध्यक्षैरवारयत्॥ ८॥
दाने निषिद्धे पौत्रेण, संघाय पृथिवीपतिः।
भैषज्यामलकस्यार्धं, ददौ सर्वस्वतां गतम्॥ ९॥
धीमतः सम्मतेनाऽथ, राधगुप्तस्य मन्त्रिणः।
ददौ संघाय निखिलां, पृथिवीं पृथिवीपतिः॥ १०॥
गङ्गाम्बुभाररुचिरां चतुरम्बुराशि-
वेलाविलासवसनां मलयावतंसाम्।
दत्वाऽखिलां वसुमतीं स समाससाद,
पुण्यं प्रमाणकलनारहितं हिताय॥ ११॥
प्रख्यातषण्णवतिकोटिसुवर्णदाने,
याते दिवं नरपतावथ तस्य पौत्रः।
शेषेण मन्त्रिवचसा क्षितिमाजहार,
स्पष्टं क्रयी कनककोटिचतुष्टयेन॥ १२॥"

—बोधिसत्त्वावदानकल्पलता प० ७४ पृ० ५९७॥

संप्रति के राज्य में आर्य महागिरि की विद्यमानता के उल्लेख

उपर्युक्त विवेचन से आर्य सुहस्ती और संप्रति के समय की संगति करने में तो हम लगभग सफल-प्रयत्न हो सकते हैं; पर अब भी एक विकट समस्या हमारे सामने खड़ी है, कि जिसकी चर्चा किए बिना हम आगे नहीं बढ़ सकते।

पूर्वोक्त निशीथादि सूत्रों के भाष्यों और चूर्णिकारों ने जैन श्रमणों में असांभोगिकता-व्यवहार की उत्पत्ति कैसे हुई इसका वर्णन करते हुए लिखा है कि 'औदरिक मृत्यु को याद करते हुए राजा ने नगर के चारों दरवाजों पर रसोड़े बनवा रखे थे, जहाँ पर वह बाहर भीतर जाता आता भोजन किया करता था। ऐसा किसी का कथन है, पर हम कहते हैं कि वे 'सत्र' थे और जाते आते लोग उसमें भोजन पाते थे। लोगों के भोजन कर लेने के बाद उन रसोड़ों में जो भोज्य पदार्थ बचते उनके मालिक रसोइए ठहराए गए थे, और राजा ने रसोइयों को कह रखा था कि जो तुम्हारे भाग में भोज्य पेय पदार्थ आवें उन्हें तुम साधुओं को दिया करो और उनकी जो कीमत हो, राजभंडार से ले लिया करो। सिर्फ रसोइयों को ही नहीं, कंदोइ, तेली, घीया, दोसी आदि सब व्यापारियों को अपनी अपनी चीजें साधुओं को देने और उनकी कीमत के दाम राजखजाने से लेने के लिये राजा ने आज्ञा दे रखी थी। इस राज-संकेत के कारण साधुओं को बड़ी सुलभता से भिक्षा मिलने लगी। आर्य महागिरिजी को इस भिक्षा-सुगमता के विषय में शंका उत्पन्न हुई और आर्य सुहस्ती को चेताते हुए उन्होंने कहा—आर्य! आहारोपधि प्राप्ति में कुछ अपूर्वता दीखती है; जाँच करो, कहीं राजाज्ञा का तो परिणाम न हो? आर्य सुहस्ती ने कुछ भी जाँच न करके कह दिया—इसमें और कारण क्या हो सकता है? राजा की ओर से सत्कार देखकर "यथा राजा तथा प्रजा" इस न्याय से प्रजा भी हमारी भक्ति करती है। पर आर्य सुहस्ती की यह बात महागिरिजी को अच्छी न लगी। वे नाराज होकर बोले—'आर्य, तू ऐसा

समझदार होकर शिष्यों के राग से राजपिंड का सेवन करता है, तो बस आज से मैं तेरे साथ भोजनादि व्यवहार करना बंद करता[६७] हूँ।' अब आर्य महागिरि उनसे जुदा हो गए। पर बाद में राजपिंड न लेने की आर्य सुहस्ती की प्रतिज्ञा पर महागिरिजी ने फिर उनसे संबंध जोड़ लिया।'[६८]

उक्त कथानक से यह ज्ञात होता है कि जिस समय संप्रति उज्जयिनी का राजा था, उस समय आर्य महागिरि आचार्य जीवित थे।

परन्तु, ऊपर कहा गया है कि संप्रति का राज्याभिषेक निर्वाण से २९५ में आता है और युगप्रधान-पट्टावली के अनुसार आर्य महागिरिजी का स्वर्गवास निर्वाण संवत् २४५ में ही हो जाता है, जिस समय शायद संप्रति का जन्म भी नहीं हुआ होगा। तब संप्रति द्वारा साधुओं की भिक्षासुलभता और उसके निमित्त आर्य सुहस्ती से आर्य महागिरि का जुदा होना कैसे संभव है?

---

६७ इस परंपरा के प्रतिपादक कल्पचूर्णि के शब्द इस प्रकार हैं—

"ताए (हे) दारत्ति (ट्ठि) एण रन्ना ओदरियमृत्यु समरता चउसु वि णगरदारेसु महाणसा काराविता, तेसु सो राया कज्जेसु सुणंतो(णिंतो) अइंतो य भुंजइ, केइ एवं भणंति, वयं पुण एवं भणामो—ताणि सत्राणि, तेसु णिंतो अइंतो लोगो भुंजति। पुच्छति राया दिणे दिणे सूवगारे पुच्छति केवइयं सेसं भुत्तं लोगेणं तं च सूवगाराणं आभवति, ताहे राया ते सूवगारे भणति—साधुण देवगाहा कंठा। ण केवलं सूवगारा भणति एमेव तेल्लि गाहा कंठा। पणित्ति महल्लावणा, विपणित्ति दारिद्दावणा, एवं दाणे पुच्छाय महागिरिणो त्ति। महागिरिणा अज्जसुहत्थी पुच्छितो अज्जो! पवरो आहारोवधी, जाणेज्जासि मा रन्ना लोगो पवुत्तओ होज्जा ताहे अज्ज सुहत्थिणा अगवेसित्ता चेव भणितं—अम्हं राया सम्मत्तं करेति तेण अणुराया जणो लोइयधम्ममणुयत्तमाणो देति। संभोइ त्ति। ताहे अज्जमहागिरिणा अज्जसुहत्थी भणितो अज्जो! तुमं नाम एरिसो एवं भणासि। तत्ति संभोगपच्छद्दं कठं।

—बृहत्कल्पचूर्णि उ० १ प० १३५।

६८ देखो निशीथ चूर्णि की निम्नलिखित पंक्ति—

"ततो अज्ज सुहत्थी पच्चाउट्टो मिच्छामि दुक्कडं करोति। 'ण पुणो गेण्हामो' एवं भणिए संभुत्तो।"

—निशीथ चूर्णि उ० ८ प० १६१।

प्रश्न अवश्य विचारणीय है और इस समस्या को हल करने के लिये हमें इन तीन उपायों में से किसी एक को स्वीकृत करना होगा—

(१) संप्रति के राजत्वकाल को आर्य महागिरि के स्वर्गसमय (२४५) के आसपास रखना।

(२) आर्य महागिरि के स्वर्गसमय को संप्रति के राजत्वकाल (२६५) के नजदीक ले जाना, अथवा

(३) आर्य महागिरि ने संप्रति का राज्य देखा ही नहीं यह मान लेना।

इनमें से पहली बात मान लेने का अर्थ होगा निर्वाण और शक संवत्सर का अंतर बतानेवाली प्राचीन और व्यवस्थित गणना-पद्धति को ठुकराकर एक निराधार कल्पना को जन्म देना—कि जिसके परिणाम-स्वरूप गर्दभिल्ल और बलमित्र भानुमित्र संबंधी कालकाचार्यवाली सब घटनाएँ बिल्कुल असंगत हो जायँगी, जिनका कि ४५३ के निकट होना युगप्रधानत्व कालगणना-पद्धति से भी प्रमाणित होता है। इसलिये प्रथम उपाय हमारे लिये किसी काम का नहीं है।

दूसरे उपाय के औचित्य में भी हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। यद्यपि पट्टावलियों और स्थविरावलियों से जुदा पड़कर मैं आर्य महागिरिजी का स्वर्गवास निर्वाण संवत् २६१ में मानता हूँ पर इससे भी संप्रति के राज्य के साथ इनका संबंध नहीं जुड़ सकता, इसलिये अब यह तीसरा उपाय ही हमारे लिये स्वीकार्य कल्पना है कि 'आर्य महागिरिजी ने संप्रति का राज्य देखा ही न था।'

यद्यपि पूर्वोक्त संप्रति के राज्यकाल में असांभोगिकता का प्रारंभ होना लिखा है, पर मेरी समझ में यह घटना संप्रति के समय की नहीं है, पर पिछले लेखकों ने इसको संप्रति-चरित्र के साथ जोड़ दिया है। मेरी इस मान्यता के कारण ये हैं—

१—जहाँ जहाँ उक्त घटना का वर्णन है, वहाँ सर्वत्र विधेयता 'असांभोगिकता' की है; न कि संप्रति के चरितांश की।

२—उक्त कथांश में कहीं भी संप्रति का स्पष्ट नामोल्लेख न होकर केवल अनुवृत्ति से उसका बोध किया जाता है।

३—कल्पचूर्णि के लेख से स्पष्ट है कि आर्य सुहस्तीजी जीवित स्वामी को वन्दन करने के लिये उज्जयिनी में आए; उसके बाद संप्रति जैन हुआ था।

निशीथ चूर्णि का भी यही भावार्थ है कि विदिशा में जीवत्स्वामि को वन्दन करने के लिये आर्य सुहस्ती गए। उसके बाद संप्रति को सुहस्ती का समागम हुआ और आचार्य के उपदेश से वह जैन हुआ।[६६]

---

६६ कल्प चूर्णि और आवश्यकचूर्णि के लेखों से स्पष्ट है कि संप्रति को आर्य्य सुहस्ती का समागम उज्जयिनी में हुआ और वहीं उसे प्रतिबोध हुआ था, पर निशीथ चूर्णि का उल्लेख कुछ और ही बात की सूचना करता है। इस उल्लेख के शब्द यह सूचना देते हैं कि 'अन्य दिन आचार्य्य **विदिशा** में जीवितस्वामि की प्रतिमा के वन्दन करने को गए, वहाँ रथयात्रा निकली। राजा का मकान रथ के मार्ग पर ही था। रथ राजमहल के पास पहुँचा। गवाक्ष में बैठे हुए राजा संप्रति ने यात्रा में चलते हुए आर्य्य सुहस्ती को देखा, और देखते ही उसे पूर्वभव का ज्ञान हो गया। तुरंत महल से उतरकर राजा नीचे आया और आचार्य्य के पैरों में पड़कर उसने प्रश्न किया, 'भगवन्, आप मुझे जानते हैं?' आचार्य्य ने तनिक ध्यान लगाकर सोचा और वे बोले—हाँ, मैं जानता हूँ, तू मेरा पूर्वभव का शिष्य है।

विदिशा में संप्रति के जैन होने की सूचना करनेवाली यह नूतन परंपरा है, पर इसमें असंभव या आश्चर्य मानने का भी कोई कारण नहीं है, क्योंकि **विदिशा** भी उस समय की एक प्रसिद्ध नगरी थी। उसके अवन्ती के अधिकार में होने से वहाँ राजा का मकान और संप्रति का निवास होना भी स्वाभाविक है। **विदिशा** में रथावर्त नामक एक अतिप्रसिद्ध जैन-तीर्थ था और वहाँ जीवंत-स्वामि की प्रतिमा भी थी ऐसा जैनसूत्रों से सिद्ध होता है। इस दशा में यदि यह मान लिया जाय कि संप्रति का प्रतिबोध **विदिशा** में हुआ तो कोई हानि नहीं है।

उक्त घटना के प्रतिपादक निशीथ चूर्णि के मूल शब्द नीचे दिए जाते हैं—

"अण्णया आयरिया वतीदिसं जियपडिमं वंदिया गता। तत्थ रहाणुज्जाते रण्णो घरं रहोवरि अंचति। संपतिरण्णा ओलोयणगएण अज्जसुहत्थी दिट्ठो। जातीसरणं जातं। आगच्छो पाएसु पडिओ पच्चुट्ठिओ विणओणओ

अब इसी विषय में आवश्यक चूर्णिकार का मत सुन लीजिए। वे लिखते हैं—

"× × × दो वि जणा वतिदिसं गया, तत्थ जियपडिमं वंदित्ता अज्जमहागिरी एलकच्छं गया गयग्गपदवंदया, तस्स एलकच्छं नामं ? तं पुव्वं दसण्णपुरनगर मासी × × × ताहे दसण्णपुरस्स एलगच्छं नामं जायं। तत्थ गयग्गपयये पव्वओ। × × तत्थ महागिरी भत्तं पच्चक्खाय देवत्तं गया। सुहत्थी वि उज्जेणिं जियपडिमं वंदया गया।"

'अर्थात् (पाटलिपुत्र से) विहार कर दोनों (आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती) विदिशा (आजकल का भिलसा) गए और वहाँ जीवित प्रतिमा को वन्दन कर आर्य महागिरि एडकाच्च (दशार्णपुर) के गजाग्रपद तीर्थ की वन्दना करने गए और वहाँ (गजाग्रपद तीर्थ) पर अनशन करके वे स्वर्गवासी हुए और आर्य सुहस्ती विदिशा से उज्जयिनी में जीवितप्रतिमा को वन्दन करने को गए।'

आवश्यक सूत्र के उपर्युक्त लेख से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विदिशा से आर्य महागिरि गजाग्रपद पर जाके स्वर्गवासी हो गए। उसके बाद आर्य सुहस्ती उज्जयिनी में जीवितस्वामी को वन्दन करने को आए थे और उसके बाद उन्होंने संप्रति को जैन बनाया। इस अवस्था में संप्रति के संकेत से साधुओं को राजपिंड का मिलना और उसके निमित्त आर्य सुहस्ती से आर्य महागिरि का जुदा होना यह बात सत्य नहीं हो सकती।

संभव है कि आर्य महागिरि और सुहस्ती के समय के दुर्भिक्ष में राजा बिंदुसार ने अपनी राजधानी में दानशालाएँ खोली होंगी जिनसे कि साधु ब्राह्मणादि को भोजन मिलता रहे। उस

भणति—भगवं अहं तं कहिं दिट्ठो ? सुमरह। आयरिया उवउत्ता—आमं दिट्ठो, तुमं मम सीसो आसी। पुव्वभवो कहितो। आउट्टो, धम्मं पडिवण्णो। अतीव परोप्परं गोहो जातो।"

—निशीथ चूर्णि १६१।

समय का युवराज अशोक उज्जयिनी का शासक होगा और उसने भी राजा का अनुसरण करके वहाँ दानशालायें बनवाईं होंगी, जैसा कि बौद्ध उल्लेखों से सूचित होता है[७०]। परन्तु जैन श्रमण अपने आचार के विरुद्ध समझ उन राजकीय दानशालाओं से आहार पानी नहीं लेते होंगे, जिससे गुप्त राजसंकेत से रसोइयों और व्यापारियों की मार्फत जैन साधुओं को आहार वस्त्रादि पहुँचने लगा होगा। महागिरिजी को इस अस्वाभाविक भक्ति के विषय में शंका उत्पन्न हो गई होगी जिससे उन्होंने सुहस्ती से संबंध तोड़ दिया होगा।

इस घटना के वर्णन में दान-प्रवर्तक राजा के संबंध में आए हुए "ओदरियमृत्युं स्मरता" ये शब्द और आर्य महागिरि के मुख से निकलते "अज्जो! इमं अपुव्वं दीसइ" ये शब्द ही उस समय की विषमता के द्योतक हैं। अच्छे समय की यह घटना होती तो दानगृह खोलनेवाले को "औदरिक मृत्यु" (दुर्भिक्षकृत मृत्यु) का स्मरण करने और आर्य सुहस्ती जैसे राजप्रतिबोधक युगप्रधान के शिष्यों को योग्य आहारोपधि की प्राप्ति में आर्य महागिरिजी को अपूर्वता दीखने का कोई कारण नहीं था।

मेरे खयाल से तो यह 'असांभोगिकता' वाली कथा उस दुष्काल के समय की कल्पना है जब कि संप्रति के जीव ने द्रमक के भव में आर्य सुहस्ती के समीप 'कोसंबाहार' में जैन दीक्षा ली थी। पर पिछले लेखकों ने बिंदुसार की इस दुष्काल-प्रतिक्रिया को संप्रति की शासन-प्रभावना का अंग मान लिया।

७० बौद्धों के महावंश के ५ वें परिच्छेद के २३ वें श्लोक में कहा है कि 'अशोक का पिता राजा बिंदुसार नित्य ६०००० (साठ हजार) ब्राह्मणों को भोजन कराता था। उसी प्रकार अशोक भी तीन वर्ष तक ब्रह्मभोज कराता रहा।' देखो महावंश का वह श्लोक—

"पिता सट्ठिसहस्सानि, ब्राह्मणे ब्रह्मपक्खिके।
भोजेसि सो पि ते येव, तीणि वस्सानि भोजयि॥ २३॥

—महावंश प० ५।

भूल अवश्य हुई, पर इसके होने में आश्चर्य नहीं है। लेखकों की दृष्टि के आगे संप्रति ही घूम रहा था और उनके मन में संप्रति के शुभ कामों की ही स्मृति थी। इस दशा में बिंदुसार के एकाध कार्य का संप्रति के कामों में मिल जाने में आश्चर्य क्या हो सकता है ?

ऊपर के विवेचनों में हमने दोनों जैन गणनाओं की पारस्परिक संमतता सिद्ध करने की चेष्टा की है। इसकी सफलता के संबंध में कुछ भी कहना हमारे अधिकार के बाहर की बात है। फिर भी यह कहना अनुचित नहीं होगा कि पूर्वोक्त जैन गणनाओं में कुछ भी विरोध या पारस्परिक असंगति नहीं है।

वाचनांतर का मतभेद

पूर्वोक्त गणनापद्धतियों से यह तो निश्चित है कि शक संवत्सर के प्रारंभ तक वीर निर्वाण की संवत्सरगणना में किसी तरह का मतभेद नहीं था, पर बाद में भिन्न भिन्न वाचनाओं के कारण निर्वाण संवत्सर-गणना में कुछ मतभेद अवश्य हो गया था कि जिसका उल्लेख देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने कल्पसूत्रांतर्गत वीरचरित्र के अंत में—

"वायणंतरे पुण अयं तेणउए संवच्छरे काले गच्छइ इइ दीसइ"
—इस सूत्र में किया है।

इस वाचनाविषयक मतभेद को समझने के लिये पहले हमें वाचनाओं का इतिहास समझ लेना बहुत जरूरी है।

वाचना

वाचना का सामान्य अर्थ है "पढ़ाना"। आचार्य अपने शिष्यों को जो सूत्र और अर्थ पढ़ाते हैं उसे जैनपरिभाषा में "वाचना" कहते हैं। प्रत्येक श्रुतधर आचार्य अपने शिष्यों को वाचना देते हैं और वह वाचना उन्हीं आचार्य की कही जाती है। ऐसी वाचनाएँ महावीर की परंपरा में सैकड़ों हो गई हैं, पर उन सामान्य वाचनाओं के वर्णन का यह स्थल नहीं है। यहाँ पर तो उन्हीं विशेष वाचनाओं

का उल्लेख उपादेय है, जो जैन संघ में एक विशिष्ट घटना की भाँति प्रसिद्ध हैं, और जिनसे हमारी प्रस्तुत कालगणना का घनिष्ठ संबंध है। ऐसी विशिष्ट वाचनाएँ भगवान् महावीर के निर्वाण से एक हजार वर्ष के भीतर भीतर तीन हमारे जानने में आई हैं।

१—पाटलिपुत्री—स्थविर भद्रबाहुकालीन।

२—माथुरी—स्थविर स्कन्दिल कृत।

३—वालभी—वाचक नागार्जुन कृत।

पाटलिपुत्री की वाचना

यह वाचना वीरनिर्वाण से १६० के आस पास नंद राजा के राजत्वकाल में सर्व जैनश्रमणसंघ के समक्ष पाटलिपुत्र नगर में हुई थी इस कारण से यह 'पाटलिपुत्री' कहलाती है।

इस वाचना के समय दुर्भिक्षवश छिन्न भिन्न हुए जैन प्रवचन के ग्यारह अंग फिर से व्यवस्थित किए गए और स्थविर भद्रबाहु के पास साधुओं को भेजकर बारहवाँ अंग दृष्टिवाद प्राप्त किया गया।

इस वाचना में शास्त्र मुखपाठ ही व्यवस्थित किया था या लिखा भी गया था इस बात का अभी तक निश्चय नहीं हुआ।

इस पाटलिपुत्री वाचना का हमारी प्रस्तुत गणना में विशेष उपयोग न होने पर भी यहाँ प्रसंगवश उल्लेख कर दिया है[७१]।

७१ पाटलिपुत्री वाचना का विस्तृत वर्णन तित्थोगाली पइन्नय, आवश्यक चूर्णि, परिशिष्ट पर्व आदि में उपलब्ध होता है। पाठकगण के ज्ञानार्थ हम तित्थोगाली की गाथाओं को सारांश के साथ देकर इस वाचना का स्पष्टीकरण करेंगे।

तित्थोगाली पइन्नय के कर्ता लिखते हैं—

भगवान् महावीर के बाद सातवें पुरुष चौदह पूर्वधर भद्रबाहु हुए जिन्होंने बारह वर्ष तक योगमार्ग का अवलंबन किया और सूत्रार्थ की निबंधों के रूप में रचना की।

उस समय मध्यदेश में प्रबल 'अनावृष्टि' हुई। इस दुर्भिक्ष के कारण साधु वहाँ से दूसरे देशों में चले गए। कोई वैताढ्य पर्वत की गुफाओं में, कोई नदियों के तटों पर और कितनेक समुद्र के तट पर जाकर अपना निरवद्य जीवन

बिताने लगे। तब कतिपय साधुओं ने, जो विराधनाभीरु थे, अपनी खुशी से अन्न जल का त्याग कर दिया।

बहुत वर्षों के बाद जब सुभिक्ष हुआ तब परलोक जाते जाते जो बचे थे वे सब साधु फिर मगध देश में आ पहुँचे और चिरकाल से एक दूसरे को देखकर वे अपना नया अवतार ही मानने लगे।

तब वे साधु एक दूसरे को पूछने लगे कि किसको क्या याद है और क्या नहीं? इस प्रकार पूछते हुए उन्होंने ग्यारह अंग संकलित कर लिए, पर दृष्टिवाद अंग का जाननेवाला वहाँ कोई नहीं रहा। वे कहने लगे—पूर्वश्रुत के बगैर हम जिनप्रवचन का सार किस प्रकार धारण करेंगे? पर हाँ, श्रमण भद्रबाहु इस वक्त भी संपूर्ण चौदह पूर्व के जानकार हैं। उनके पास से हमें पूर्वश्रुत की प्राप्ति हो सकती है। परंतु वे इस वक्त बारह वर्ष का योग धारण किए हुए हैं, इस कारण से वाचना देंगे या नहीं यह संशय है। उसके बाद श्रमण संघ ने अपने दो प्रतिनिधि भद्रबाहु के पास भेजकर कहलाया कि 'हे पूज्य क्षमाश्रमण! आप वर्तमान समय में जिन-तुल्य हैं इसलिये पाटलिपुत्र में एकत्र हुआ 'महावीर का संघ' प्रार्थना करता है कि आप वर्तमान श्रमणगण को पूर्वश्रुत की वाचना दें।'

श्रमणसंघ के प्रमुख स्थविरों की प्रार्थना का उत्तर देते हुए भद्रबाहु ने कहा—'श्रमणो! मैं इस समय तुमको वाचना देने में असमर्थ हूँ, और आत्मिक कार्य में लगे हुए मुझे वाचना का प्रयोजन भी क्या है?'

भद्रबाहु के उत्तर से नाराज होकर स्थविरों ने कहा—क्षमाश्रमण! इस प्रयोजनाभाव से संघ की प्रार्थना का अनादर करते हुए तुम्हें क्या दंड मिलेगा इसका विचार करो।

भद्रबाहु ने कहा—'मैं जानता हूँ संघ इस प्रकार वचन बोलनेवाले का बहिष्कार कर सकता है।'

स्थविर बोले—तुम यह जानते हुए संघ की प्रार्थना का अनादर करते हो। अब कहिए हम तुमको संघ में शामिल कैसे रख सकते हैं? क्षमाश्रमण! हम तुमसे विनती करते हैं पर तुम वाचना देने के लिये तैयार नहीं हो, इसलिये श्रमणसंघ आज से तुम्हारे साथ बारहों प्रकार का व्यवहार बंद करता है।

भद्रबाहु यशस्वी पुरुष थे, वे अपयश से डरते थे। इससे जल्दी सँभलकर बोले—श्रमणो! एक शर्त पर मैं वाचना दे सकता हूँ। शर्त यह है कि 'न वाचना लेनेवाले मुझे बोलावें और न मैं उनको बोलाऊँ।' यदि यह शर्त हो सकती हो तो मैं कायोत्सर्गध्यान पूरा करने के बाद, भोजन के समय में और मकान से बाहर जाने आने के समय में वाचना दे सकूँगा।

भद्रबाहु की उक्त शर्त को मंजूर करते हुए श्रमणसंघ ने कहा—क्षमाश्रमण ! जैसा ही आप कहेंगे, जैसी ही आपकी मरजी होगी वैसा ही हम करेंगे। इस विषय में आप कुछ भी विचार न करें।

इसके बाद बुद्धिशाली और ग्रहण-धारण में समर्थ ५०० साधु विद्यार्थी और प्रत्येक की वैयावृत्य-चाकरी के लिये दो दो दूसरे एवं १५०० साधु भद्रबाहु के पास दृष्टिवाद के अध्ययन के निमित्त भेजे गए।

वे साधु भद्रबाहु के पास वाचना के लिये गए सही; परंतु वहाँ उन्हें अनुकूलता नहीं थी। आचार्य के साथ बोलने की मुमानियत तो थी ही, पर इसके उपरांत उन्हें संतोषजनक वाचना भी नहीं मिलती थी। अमुक अमुक खास प्रसंगों में जब आचार्य उठते तब उनको वाचना मिलती थी; पर बुद्धिमानों को इससे संतोष नहीं होता था। इस कारण से वाचना-प्रतीक्षक धीरे धीरे वहाँ से चले गए, और जाते जाते केवल स्थूलभद्र मुनि पीछे रह गए। पद, आधा पद जो कुछ मिला उसे ही वे पढ़ते रहे पर भद्रबाहु का पीछा नहीं छोड़ा। इस प्रकार रहते हुए स्थूलभद्र को ८ वर्ष हुए तब उन्होंने आठ पूर्व का अध्ययन पूरा किया। अब भद्रबाहु की योगसाधना भी पूरी हो गई और उन्होंने पहले पहल स्थूलभद्र के साथ संभाषण करते हुए पूछा—'क्यों मुनि ! तुझे भिक्षा और स्वाध्याय योग में कुछ तकलीफ तो नहीं है ? स्थूलभद्र ने कहा—नहीं भगवन् ! मुझे कोई तकलीफ नहीं है, पर मैं आपसे एक प्रश्न करता हूँ कि अब तक मैंने कितना सीखा और कितना शेष है ? भद्रबाहु ने कहा—स्थूलभद्र ! अभी तक तैंने सर्षप मात्र ग्रहण किया है और मेरु पर्वत शेष है। भद्रबाहु के इस वचन से स्थूलभद्र बिलकुल निरुत्साह नहीं होते हुए बोले—पूज्य ! मैं अध्ययन से नहीं थका हूँ, पर सिर्फ एक विचार अवश्य मुझे चिन्तित बनाता है कि अपनी इस अल्प जिंदगी में यह मेरुतुल्य श्रुतज्ञान मैं कैसे प्राप्त कर सकूँगा ?'

स्थूलभद्र का विचार सुनकर स्थविर भद्रबाहु ने कहा—वीर स्थूलभद्र ! अब तू इस विषय में कुछ भी फिकर मत कर। अब मेरा ध्यान समाप्त हो गया है और तू बुद्धिमान् है, रात दिन मैं तुझे वाचना देता रहूँगा जिससे अब तू इस दृष्टिवाद का जल्दी ही पार पायगा।

स्थूलभद्र प्रयत्नपूर्वक अध्ययन करने लगे और उन्होंने दशपूर्व सांगोपांग सीख लिए।

एक दिन स्थूलभद्र एकांत स्थल में बैठकर ग्यारहवाँ पूर्व याद करते थे। उस समय उनकी ७ बहिनें भद्रबाहु के पास वंदनार्थ आईं और स्थूलभद्र को न देखकर उनके स्थान के संबंध में उन्होंने प्रश्न किया। भद्रबाहु ने स्थूलभद्र का स्थान

बताया और साध्वियाँ भाई के दर्शनार्थ उस तरफ चलीं। स्थूलभद्र ने अपनी शक्ति का परिचय साध्वियों को कराने के इरादे से निज रूप बदलकर सिंह का रूप धारण कर लिया। साध्वियाँ वहाँ पहुँचते ही सिंह को देखकर भयभीत होकर भद्रबाहु के पास लौट आईं और भयकातर स्वर से कहने लगीं—क्षमा-श्रमण! आपके निर्दिष्ट स्थान पर स्थूलभद्र तो नहीं पर एक विकराल सिंह बैठा हुआ है! न जाने स्थूलभद्र का क्या हुआ! भद्रबाहु ने कहा—आर्याओ! वह सिंह और कोई नहीं तुम्हारा भाई स्थूलभद्र ही है। आचार्य्य के वचन से वे फिर उस स्थान पर गईं तब उन्हें स्थूलभद्र का दर्शन हुआ। आश्चर्य्य का अनुभव करती हुईं साध्वियाँ उनको वंदन करके बोलीं—भाई! तुम्ह सिंह को देखकर हम बहुत ही भयभीत हो गई थीं। स्थूलभद्र ने उत्तर दिया—यह मैंने श्रुतज्ञान की ऋद्धि बताई है।

बहिनों को विदा करके स्थूलभद्र भद्रबाहु के निकट वाचना लेने को गए तब भद्रबाहु ने कहा—'हे अनगार! जो तैंने पढ़ा है वही बहुत है, अब तुझे पढ़ने की कोई जरूरत नहीं।' गुरु के इस वचन से स्थूलभद्र को अपनी भूल का खयाल आया। वे बहुत पछतावा करने लगे और गुरु के चरणों में वंदन करके अपने अपराध की माफी माँगते हुए कहने लगे—पूज्य क्षमाश्रमण! यह मेरी पहली ही भूल है, कृपया क्षमा कीजिए, यद्यपि बाकी के पूर्व अब स्वयं विच्छिन्न होने को हैं फिर भी भविष्य के महत्तर स्थविर कहेंगे कि 'स्थूल-भद्र ने श्रुतमद किया इससे शेष पूर्वों का नाश हुआ।'

अपने गच्छ के साधुओं ने भी हाथ जोड़कर भद्रबाहु से प्रार्थना की कि अब आप इनको वाचना देने की कृपा करें, ये फिर अपराध न करने की प्रतिज्ञा के साथ आपसे क्षमा माँगते हैं।

स्थूलभद्र और शेष श्रमणगण की प्रार्थना का उत्तर देते हुए भद्रबाहु ने कहा—श्रमणो! तुम अब इस विषय में ज्यादा आग्रह मत करो, मैं वाचना देने से इनकार क्यों करता हूँ इसका कारण सुनो। मैं स्थूलभद्र के अपराध के कारण से नहीं पर भविष्य का विचार करके शेष पूर्वों का प्रचार करना बंद करता हूँ। देखो, राजकुल जैसे शकटाल मंत्रि के खानदान में जन्मा हुआ स्थूल-भद्र जैसा गंभीर पुरुष जिसने बारह वर्ष की संगिनी कोशा के प्रेम का क्षण भर में त्याग कर दिया और नंद राजा से दिए जाते मंत्रि पद को ठुकराकर विरक्त-भाव से दीक्षा ग्रहण की, वह भी इस श्रुतज्ञान का दुरुपयोग करने में तत्पर हो गया तो दूसरों की बात ही क्या की जाय? श्रमणो! दिन दिन समय नाजुक आ रहा है, मनुष्यों की मानसिक शक्तियों का प्रति समय ह्रास हो रहा है, उनकी क्षमता और गंभीरता नष्ट होती जाती है। इस दशा में अब शेष

पूर्वों का प्रचार करने में मैं कुशल नहीं देखता। आचार्य्य का यह अन्तिम उत्तर सुनकर स्थूलभद्र दीनतापूर्वक कहने लगे—भगवन्, अब कभी पर-रूप नहीं बनाऊँगा। आप कहें उन शर्तों पर चलकर भी मैं चार पूर्व जानना चाहता हूँ।

अति आग्रह के वश होकर भद्रबाहु ने कहा—स्थूलभद्र! तू इतना आग्रह करता है तो तुझे ४ पूर्व बता दूँगा। पर उसकी अनुज्ञा (दूसरों को पढ़ाने की आज्ञा) नहीं दूँगा। तुझे अनुज्ञा मात्र दश पूर्वों की दूँगा, बाकी के चार पूर्व तेरे साथ ही नष्ट हुए समझ ले।

उक्त कारण से महावीर के पीछे आठवें पुरुष स्थूलभद्र के साथ चार पूर्वों का नाश हुआ।

पाटलिपुत्री वाचना के संबंध में जो जो मुख्य घटनाएँ घटी थीं उनका संक्षिप्त सार ऊपर लिख दिया है, इसी वस्तु का विस्तारपूर्वक वर्णन करनेवाली 'तित्थोगाली' की उन मूल गाथाओं को भी यहाँ अवतरित कर देते हैं, जिसमें प्राकृत भाषा के विद्वानों को इस विषय का मौलिक ग्रंथ देखने का भी सुभीता हो जाय।—

"सत्तमतो थिरबाहु जाणुयसीससुपडिच्छिय सुबाहु।
नामेण भद्दबाहू अविही साधम्म सद्दोत्ति (?) ॥ ७१४ ॥
सो विय चोद्दस पुव्वी, बारसवासाइं जोगपडिवन्नो।
सुतत्थेणं निबंधइ, अत्थं अज्झयणबंधस्स ॥ ७१५ ॥
पलियं (धरियं) च अणावुट्ठी, तइया आसी य मज्झदेसस्स।
दुब्भिक्खविप्पणट्ठा, अण्णं विसयं गता साहू ॥ १६ ॥
कहवि विराहणाभीरुएहिं, अइभीरुएहिं कम्माणम्।
समणेहिं संकलिट्ठं, पच्चक्खायाइं भत्ताइं ॥ १७ ॥
वेयट्ठकंदरासु य, नदीसु सेढीसमुद्दकूलेसु।
इहलोगअपडिबद्धा य, तत्थ जयणाए वट्टंति ॥ १८ ॥
ते आगया सुकाले, सग्गगमणसेसया ततो साहू।
बहुयाणं वासाणं, मगहाविसयं अणुप्पत्ता ॥ १९ ॥
ते दाइं एक्कमेक्कं, गयमयसेसा चिरं स दट्ठूणम्।
परलोगगमणपच्चागय व्व मण्णंति अप्पाणम् ॥ २० ॥
ते बिंति एक्कमेक्कं, सज्झाओ कस्स कित्तिओ धरति।
हंदि हु दुक्कालेणं अम्हं नट्ठो हु सज्झातो ॥ २१ ॥
जं जस्स धरइ कंठे, तं परियट्टिकण सव्वेसिम्।
तो णेहिं पिंडिताइं, तहियं एक्कारसंगाइम् ॥ २२ ॥

ते बिंति सव्वसारस्स, दिट्ठिवायस्स नत्थि पडिसारे ।
कह पुव्वगएण विणा य, पवयणसारं धरेहामो ॥ २३ ॥
समणस्स भद्दबाहुस्स, नवरि चोद्दसवि अपरिसेसाइं ।
पुव्वाइं अणत्थ य उ, न कहिंणिवि (०हिंवि) अत्थि पडिसारो॥२४॥
सो विय चोद्दसपुव्वी बारसवासाइं जोगपडिवन्नो ।
देज्ज न व देज्ज वा वायणंति वाहिप्पउ ताव ॥ २५ ॥
संघाडएण गंतूण, आणितो (णत्तो) समणसंघवयणेणं ।
सो संवथेरपमुहेहिं, गणसमुहेहिं आभट्ठो ॥ २६ ॥
तं अज्जकालियजिणो, वीरसंघो तं जायए सव्वो ।
पुव्वसुयकम्म (कम)धारय पुव्वाणं वायणं देहि ॥ २७ ॥
सो भणति एव भणिए, असिट्ठकिलिट्ठएण वयणेणं ।
न हु ता अहं समत्थो, इण्हिं मे वायणं दाउं ॥ २८ ॥
अप्पट्ठे आउत्तस्स, मज्झ किं वायणाए कायव्वं ।
एवं च भणिय मेत्ता, रोसस्स वसं गया साहू ॥ २९ ॥
अह विण्णविंति साहू, इंचेवसि (?) पाडिपुच्छणं अम्हं ।
एव भणंतस्स तुहं, को दंडो होइ तं मुणसु ॥ ३० ॥
सो भणति एव भणिए, अविसंनो वीरवयणनियमेण ।
वज्जेयव्वो सुयगिन्हतो (निन्हवो) त्ति अह सव्वसाहूहिं ॥ ३१ ॥
तं एव जाणमाणो, नेच्छसि ने पाडिपुच्छयं दाउं ।
तं ठाणं पत्तं ते, कहं तं पासे ठवीहामो ॥ ३२ ॥
बारसविहसंभोगे, वज्जए तो तयं समणसंघो ।
जं ने जाइज्जंतो, नवि इच्छसि वायणं दाउं ॥ ३३ ॥
सो भणति एव भणिए, जसभरितो अयसभीरुतो धीरो ।
एक्केण कारणेणं, इच्छं मे वायणं दाउं ॥ ३४ ॥
अप्पट्ठे आउत्तो, परमट्ठे सुट्ठु दाइं उजुत्तो ।
नविहं वायरियव्वो, अहंपि नवि वाहरिस्सामि ॥ ३५ ॥
पारियकाउसग्गो, भत्तट्ठितो व अहव सेज्जाए ।
निंतो व अइंतो वा, एवं मे वायणं दाहं ॥ ३६ ॥
बाढंति समणसंघो, अम्हे अणुयत्तिमो तुहं छंद ।
देहि य धम्मावादं तुम्हं छंदेण घेच्छामो ॥ ३७ ॥
जे आसी मेहावी, उज्जुत्ता गहणधारणसमत्था ।
ताणं पंचसयाइं, सिक्खगसाहूण गहियाइं ॥ ३८ ॥

वेयावच्चगरा से, एक्केक्कस्सेव उठ्ठिया दो दो ।
भिक्खंमि अपडिबद्धा, दिया य रत्तिं च सिक्खंति ॥ ३९ ॥
ते एग सेव साहू, वायणपरिपुच्छणाए परितंता ।
वाहारं अलहंता, तत्थ य जं किंचि असुणंता ॥ ४० ॥
उज्जुत्ता मे हावी, सद्धाए वायणं अलभमाणा ।
अह ते थोवा थोवा, सव्वे समणा विनिस्सरिया ॥ ४१ ॥
एको नवरि न मुंचति, सगडालकुलस्स जसकरो धीरो ।
नामेण थूलभद्दो, अविहीसाधम्मभद्दोत्ति ॥ ४२ ॥
सो नवरि अपरितंतो, पयमद्धपयं च तत्थ सिक्खंतो ।
अन्नेइ भद्दबाहुं, थिरबाहुं अठ्ठवरिसाइं ॥ ४३ ॥
सुंदर अठ्ठपयाइं, अठ्ठहिं वासेहिं अठ्ठमं पुव्वं ।
भिंदति अभिण्णहियतो, आमेलेउं अह पवत्तो ॥ ४४ ॥
तस्स विदाइं समत्तो, तव नियमो एवं भद्दबाहुस्स ।
सो पारितत्तवनियमो, वाहिरिउं जे अह पवत्तो ॥ ४५ ॥
अह भणइ भद्दबाहू, पढमं ता अठ्ठमस्स वासस्स ।
अणगार न हु किलस्ससि, भिंक्खे सज्झायजोगे य ॥ ४६ ॥
सो अठ्ठमस्स वासस्स, तेण पढमिल्लुयं समाभट्ठो ।
कीस य परितंमीहं, धम्मावाए अहिज्जंतो ॥ ४७ ॥
एक्कंती भे पुच्छं, केत्तियमेत्तंमि सिक्खितो होज्जा ।
कत्तियमेत्तं च गयं, अट्ठहिं वासेहिं किं लद्धं ॥ ४८ ॥
मंदरगिरिस्स पासंमि, सरिसवं निक्खिवेज्ज जो पुरिसो ।
सरिसवमेत्तं ति गयं मंदरमेत्तं च ते सेसं ॥ ४९ ॥
सो भणइ एव भणिए, भीतो नवि ता अहं समत्थोमि ।
अप्पं च महं आउ, वहुसुयं मंदरो सेसो ॥ ५० ॥
मा भाहि नित्थरीहिसि, अप्पतरएण वीर कालेणं ।
मज्झ नियमो समत्तो, पुच्छाहि दिवा य रत्तिं च ॥ ५१ ॥
सो सिक्खउं पयत्तो, दठ्ठत्थो सुठ्ठु दिठ्ठिवायंमि ।
पुव्वक्खतोवसमियं, पुव्वगतं पुव्वनिद्दिट्ठं ॥ ५२ ॥
संपत्ति (?) एकारसमं, पुव्वं अतिवयति वणद्दवो चेव ।
झंतितओ भगिणीतो, सुट्ठुमणा वंदणनिमित्तं ॥ ५३ ॥
जरका य जक्खदिण्णा, भूया तह हवति भूयदिण्णा य ।
सेणा वेणा रेणा, भगिणीतो थूलभद्दस्स ॥ ५४ ॥

एया सत्त जणीओ, बहुस्सुया नाणचरणसंपण्णा ।
सगडालपाणि (बालि) याते, भाउं अवलोइउं एंति ।। ५५ ।।
ते वंदिऊण पाएसु, भद्दबाहुस्स दीहबाहुस्स ।
पुच्छंति भाउओ णे, कत्थगतो थूलभद्दो त्ति ।। ५६ ।।
अह भणइ भद्दबाहु, सो परियट्टेति सिवघरे अंतो ।
वच्चह तहिं विद्दच्छिहइं, सज्झायज्झाणउज्जुत्तं ।। ५७ ।।
इयरो विय भइणीओ, दट्ठूणं तत्थ थूलभद्दरिसी ।
चिंतिइ गारवयाए सुयइट्ठिं ताव दाएमि ।। ५८ ।।
सो धवलवसभमेत्तो, जातो विक्खिणकेसराजडालो ।
घणमुक्कससिसरिच्छो, कुंजरकुलभीसणो सीहो ।। ५९ ।।
तं सीहं दट्ठूणं भीमाउ सिवघरा विनिस्सरिया ।
भणितो य एगाहिं गुरू एत्थ हु सीहो अतिगतो त्ति ।। ६० ।।
तत्थेत्थ कोइ सीहो, सो चेत्र य एस भाउओ तुब्भं ।
इड्ढीपत्तो जातो, सुयस्स इट्ठिं पयंसेइ ।। ६१ ।।
तं वमणं सोऊणं, तातो अंचियतणुरुहसरीरा ।
संपत्तियाउ तत्तो, जत्तो सो थूलभद्दरिसी ।। ६२ ।।
जह सागरो व्व उव्वेलमतिगतो पडिगतो सयं गणं ।
संपलियंकनिसंनो, धंमज्झाणं पुणो झाइ ।। ६३ ।।
दुपुट्ठमहुरकंठं, सो परियट्टेइ ताव पाढमयं ।
भणियं च नाहिं भाउग, सीहं दट्ठूण ने भीया ।। ६४ ।।
सो विय पागडदंतं, दरवियसियकमलसच्छहं हसिउं ।
भणइ य गारवयाए, सुयइट्ठी दरिसिया य मए ।। ६५ ।।
तं वयणं, सोऊणं, तातो अंचियतणूरुहसरीरा ।
पुच्छंति पंजलियउडा, वागरणत्थे सुणिउणत्थे ।। ६६ ।।
इयरो विय भगिणीओ, वीसज्जेऊण थूलभद्दरिसी ।
उचियंमि देशकाले, सज्झायमुवट्ठिओ काउं ।। ६७ ।।
अह भणइ भद्दबाहू, अणगार अलाहि एत्तियं तुज्झं ।
परियट्टंतो अट्ठ (च्छ) सु, एत्तियमेत्तं वियत्तं मे ।। ६८ ।।
अह भणइ थूलभद्दो, पच्छायावेण ताावियसरीरो ।
इट्ठी गारवयाए, सुयविसयं जेण अवरद्धं ।। ६९ ।।
नवि ताव मज्झ मणुं, जह मे ण समाणियाइं पुव्वाइं ।
अप्पा हु मए अवराहितो, त्ति पलियं खमे मण्णुं ।। ७० ।।

एतेहिं नासियव्वं, सएविणावि (?) जह सासणे भणियं ।
जं पुण मे अवरद्धं एयं पुण उहृति सव्वंगं ॥ ७१ ॥
वोच्छं ति य मयहरया, अणागता जेय संपती काले ।
गारवियथूलभद्दंमि, नाम नट्ठाइं पुव्वाइं ॥ ७२ ॥
अह विण्णविंति साहू, सगच्छया करिय अंजलि सीसे ।
भद्दस्स ता पसियह, इमस्स एक्कावराहस्स ॥ ७३ ॥
रागेण व दोसेण व, जं च पमाएण किंचि अवरद्धं ।
तं भे सउत्तरगुणं, अपुणकारं खमावेति ॥ ७४ ॥
अह सुरकरिकरउवमाणबाहुणा भद्दबाहुणा भणियं ।
मा गच्छह निव्वुंतं (?), कारणमेगं निसामेह ॥ ७५ ॥
रायकुलसरिसभूते, सगडालकुलम्मि एस संभूतो ।
दुहराउ चेव पुण्णो, निम्माता सव्वसत्थेसु ॥ ७६ ॥
कोसा नामं गणिया, समिद्धकोसा य विउलकोसा व ।
जीए घरे उवरठ्ठो, रतिसंवेसं विवेसंमि ॥ ७७ ॥
बारस वासा य उत्थो, कोसाए घरंमि सिरघरसभंमि ।
सोऊण य पिउमरणं, रण्णो वयणं निगच्छी (?) ॥ ७८ ॥
तिगिच्छिसरिसवण्णं, कोसं आपुच्छए तयं घणियं ।
खिप्पं खु एह सामिय, अहमं नहु वायरासेहं (?) ॥ ७९ ॥
भवणोरोह विमुक्को, छुज्भइ चंदो व सोमगंभीरो ।
परिमलसिरिं वहंतो, जोण्हानिवहं ससी चेव ॥ ८० ॥
भवणाउ निग्गओ सो, सारंगे परियणेण कढ्हिंतो ।
मत्तवरवारणगओ, इह पत्तो राउलं दारं ॥ ८१ ॥
अंतेउरं अइगतो, विणीयविणओ परित्तसंसारो ।
काऊण य जयसद्दो, रन्नो पुरतो ठितो आसि ॥ ८२ ॥
अह भणइ नंदराया, मंतिपयं गिण्ह थूलभद्द मद्दं ।
पडिवज्जसु तेवट्ठाइं, तिण्णि नगरागरसमाइं ॥ ८३ ॥
रायकुलसरिसभूए, सगडालकुलंमि तं सि संभूओ ।
सत्थेसु य निम्मातो, गिण्हसु पिउसंतियं पुव्वं ॥ ८४ ॥
अह भणइ थूलभद्दो, गणियापरिमलसमप्पियसरीरो ।
सामी कयसामत्थो, पुणो अ भे विण्णवेसामि ॥ ८५ ॥
अह भणति नंदराया, केण समं दाइं तुज्भ सामत्थं ।
को अण्णो वरतरसो निम्मातो सव्वसत्थेसु ॥ ८६ ॥

कंबलरयणेण ततो, अप्पाणं सुट्ठु संवरित्ताण ।
असुणि णिण्हयंतो, असोगवणिय अह पविट्ठो ॥ ८७ ॥
जेत्तियमेत्तं दिण्णं, तेत्तियमेत्तं इमंमि भूतत्ति (?) ।
एत्तो नवरि पडामो, लोगू (सव्वे) मीणाउलघरंमि ॥ ८८ ॥
आणा रज्जं भोगा, रण्णो पासंमि आसणं पढमं ।
सव्वत्त इमं न खमं, खमं तु अप्पखमं काउं ॥ ८९ ॥
केसे परिचिंतंतो, रायकुलाओ य जे परिकिलेसे ।
नरएसु य जे केसे, ता लुंचति अप्पणा केसे ॥ ९० ॥
तं विय परिहियवत्थं छेत्तूण कुणइ अग्गतोआरं ।
कंबल रणोय गुंठिं, काउं रण्णो ठिय पुरतो ॥ ९१ ॥
एयं मे सामत्थं, भणइ अवणेहि मत्थोतोगुंठिं ।
तो णं केसविहूणं, केसेहिं विणा पलोएत्ति ॥ ९२ ॥
अह भणइ नंदराया, लाभो ते धीर नत्थि रोहियणं ।
वाटं ते भाणिऊण, अह सो संपत्थितो तत्तो ॥ ९३ ॥
अह भणइ नंदराया, वच्चइ गणियावरं जइ कहिंचि ।
तोण असच्चवादिं, तीसे पुरिसो चियाएमि (?) ॥ ९४ ॥
सो कुलघरिसामिद्धिं, गणियघरसंतियं च सामिद्धिं ।
पाएण पणोलेउं, नीति णगरा अणवयक्खो ॥ ९५ ॥
जो एवं पव्वइओ, एवं सज्झायज्झाणउज्जुत्तो ।
गारवकरणेण हिओ, सीलभरुव्वहणधोरेओ ॥ ९६ ॥
जह जह एही कालो, तह तह अप्पावराहसंरद्धा ।
अणगारा पडणीते, निसंसयं उवठ्ठवेहिंति ॥ ९७ ॥
उप्पायणीहि अवरे, केई विज्जा य उप्पइत्ताणं ।
विउरुव्विही विज्जाहि, दाइं काहिंति उड्डाहं ॥ ९८ ॥
मंतेहि य चुन्नेहि य, कुच्छिय विज्जाहिं तह निमित्तेण ।
काऊण उवग्घायं, भमिहिंति अणंतसंसारे ॥ ९९ ॥
अह भणइ थूलभद्दो, अण्णं रूवं न किंचि काहामो ।
इच्छामि जाणिउं जे, अहमं चत्तारि पुव्वाइं ॥ ८०० ॥
नाहिसि तं पुव्वाई, सुयमेत्ताई विभुग्गहा हिंति (?) ।
दस पुण ते अणुजाणे, जाण पणट्ठाई चत्तारि ॥ ८०१ ॥
एतेण कारणेण उ पुरिसजुगे अट्ठमंमि वीरस्स ।
सयराहेण पणट्ठाई, जाण चत्तारि पुव्वाइं ॥ ८०२ ॥"

—तित्थोगालि पइन्नय ।

माथुरी वाचना

यह वाचना वीर निर्वाण से ८२७ और ८४० के बीच में किसी वर्ष में युगप्रधान आचार्य स्कंदिल सूरि की प्रमुखता में मथुरा नगरी में हुई थी,[७२] इसलिये यह "माथुरी वाचना" कहलाती है।

---

७२ वालभी स्थविरावली के लेखानुसार 'स्कंदिल' नाम के आचार्य महावीर के बाद के प्रधान स्थविरों में १३ वें पुरुष थे, जो निर्वाण संवत् ३७७ से ४१४ तक युगप्रधान पद पर विद्यमान थे। इन्होंने २२ वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली थी और ४८ वर्ष तक सामान्य श्रमण तथा ३८ वर्ष पर्यंत युगप्रधान पद पर रहकर ये १०८ वर्ष की अवस्था में वी० नि० संवत् ४१४ में स्वर्गवासी हुए थे।

माथुरी स्थविरावली के कथनानुसार उपर्युक्त समय भावी आचार्य का नाम 'खंदिल' (स्कंदिल) नहीं पर संडिल्ल (सांडिल्य) था।

माथुरी का सांडिल्य (संडिल्ल) या वालभी का खंदिल अनुयोग-प्रवर्तक प्रकृत स्कंदिल से भिन्न होने से इनके संबंध में ज़्यादह ऊहापोह करना अप्रस्तुत है।

अब हम अनुयोग-प्रवर्तक दूसरे स्कंदिलाचार्य के संबंध में यह देखेंगे कि ये आचार्य किस गच्छ और शाखा के थे और इनका अस्तित्व-समय क्या था ?

वृद्धवादि प्रबंध में आचार्य प्रभाचंद्र लिखते हैं कि विद्याधर आम्नाय में पादलिप्त सूरि के कुल में आचार्य स्कंदिल हुए जो जैन शासन रूपी नंदन वन में कल्पवृक्ष-समान सर्वश्रुत के अनुयोग को अंकुरित करने में मेघ-समान और विद्याधराम्नाय में चिंतामणि-तुल्य इष्ट देनेवाले थे। देखो उक्त प्रबंध के निम्नलिखित श्लोक—

> "पारिजातोऽपारिजातो, जैनशासननन्दने।
> सर्वश्रुतानुयोगार्ह-कन्दुकन्दलनाम्बुदः ॥ ४ ॥
> विद्याधरवराम्नाये, चिन्तामणिरिवेष्टदः।
> आसीच्छ्रीस्कन्दिलाचार्यः, पादलिप्तप्रभोः कुले ॥ ५ ॥"
>
> —प्रभावकचरितवृद्धवादिप्रबंध ३१।

इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि अनुयोगोद्धारक आर्य स्कंदिल विद्याधर आम्नाय के और पादलिप्त की परंपरा के स्थविर थे।

विद्याधर आम्नाय का अर्थ विद्याधर गच्छ है या शाखा अथवा कुल, इसका हम निश्चय नहीं कर सकते, परंतु यह अनुमान कर सकते हैं कि आर्य सुहस्ती के शिष्य सुस्थित सुप्रतिबुद्ध से चले हुए कोटिक गण की जो ४ शाखाएँ

थीं, उनमें की दूसरी शाखा का नाम विद्याधरी था। संभवतः सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध के दूसरे शिष्य विद्याधर गोपाल से यह शाखा प्रचलित हुई थी और इसकी उत्पत्ति विक्रम पूर्व दूसरी शताब्दी में हुई थी। यही विद्याधरी शाखा पिछले समय में विद्याधरकुल के नाम से प्रख्यात हो गई होगी, जैसा कि 'नाइली' शाखा के संबंध में हुआ है, और यह विद्याधरकुल भी धीरे धीरे विद्याधर गच्छ के नाम से प्रख्यात हो गया होगा जैसा कि नाइल और निर्वृति कुल के विषय में हुआ है। इसलिये यहाँ पर हम 'विद्याधराम्नाय' का अर्थ 'विद्याधर गच्छ' करें चाहे 'विद्याधर कुल' बात एक ही होगी, क्योंकि इन दोनों नामों की उत्पत्ति 'विद्याधरी' शाखा से है। इस दशा में आचार्य स्कंदिल के संबंध में यह कहा जाय कि 'वे विद्याधरी शाखा के स्थविर थे' तो कुछ भी अनुचित नहीं है।

आचार्य मलयगिरिजी नंदीटीका में स्कंदिलाचार्य को सिंहवाचकसूरिशिष्य लिखते हैं—(तान् स्कंदिलाचार्यान् सिंहवाचकसूरिशिष्यान्) परंतु हम इस विषय में इस उल्लेख पर ज्यादा जोर नहीं दे सकते, क्योंकि मलयगिरिजी का उक्त उल्लेख नंदी की स्थविरावली को देवर्धिगणि की गुरुपरंपरा समझ लेने का परिणाम मात्र है। हम आगे किसी प्रसंग पर इस बात को स्पष्ट करके बताएँगे कि नंदी की स्थविरावली देवर्धि की गुरुपरंपरा नहीं किंतु युगप्रधान-पट्टावली है। इसलिये स्कंदिल को सिंहसूरि का शिष्य मानने के लिये हम इस उल्लेख मात्र से तैयार नहीं हो सकते हैं।

दूसरी बात यह भी है कि नंदी की थेरावली में ही इन सिंहवाचक को 'ब्रह्मद्वीपक' कहा है, इससे यह बात तो निर्विवाद है कि ये सिंहसूरि 'ब्रह्मद्वीपिका' शाखा के स्थविर थे। स्कंदिलाचार्य विद्याधरी शाखा की परंपरा के स्थविर थे यह बात पहले ही कह दी गई है, इसलिये स्कंदिल को सिंहसूरि का शिष्य मानना संशय-रहित नहीं होगा।

पूर्वोक्त प्रभावकचरित्र के उल्लेख में स्कंदिलाचार्य का पादलिप्त के कुल में होना लिखा है, इससे यह बात तो निश्चित है कि इनका सत्ता समय पादलिप्त का पिछला समय ही हो सकता है।

प्रभावकचरित्र आदि ग्रंथों के कथन से जाना जाता है कि पादलिप्त सूरि विक्रम की प्रथम शताब्दी के व्यक्ति होने चाहिएँ, क्योंकि वे खपटाचार्य के विद्यार्थी थे और उन्हीं ग्रंथों के अनुसार खपटाचार्य का स्वर्गवास वीर निर्वाण सं० ४८४ में हुआ था। 'पादलिप्त के कुल में स्कंदिल हुए' इस उक्ति से तात्पर्य यह निकलता है कि पादलिप्त के पीछे उनकी परंपरा में स्कंदिल हुए, पर वे कितने अंतर पर हुए इसका खुलासा उक्त उल्लेख से नहीं हो सकता।

जिस प्रकार भद्रबाहु के समय में दुर्भिक्ष के कारण श्रुत-परंपरा छिन्न भिन्न हो गई थी, उसी तरह आचार्य स्कंदिल के समय में भी दुष्काल के कारण आगमश्रुत अव्यवस्थित हो गया था, कितने ही श्रुतधर स्थविर परलोकवासी हो चुके थे, विद्यमान श्रमणगण में भी पठन पाठन की प्रवृत्तियाँ बंद हो चली थीं। उस समय उस प्रदेश में आचार्य स्कंदिल ही एक विशेष श्रुतधर रहने पाए थे। दुर्भिक्ष का संकट दूर होते ही आचार्य स्कंदिलजी की प्रमुखता में मथुरा में

आचार्य मेरुतुंग की विचारश्रेणि में इस विषय में नीचे लिखे अनुसार उल्लेख है—

"श्रीविक्रमात् ११४ वर्षैर्वज्रस्वामी, तदनु २३९ वर्षैः स्कन्दिलः।"

अर्थात्—'विक्रम से ११४ वर्ष में वज्रस्वामी (स्वर्गवासी हुए) और उनके बाद २३९ वर्ष व्यतीत होने पर स्कंदिलाचार्य हुए।'

इस हिसाब से आचार्य स्कंदिल का समय विक्रम संवत् ३५३ में आता है, पर हम देखते हैं कि इस गणना में ३ वर्ष की स्पष्ट भूल है। आचार्य मेरुतुंग ने इस गणना में आर्यवज्र के बाद वज्रसेन के अस्तित्व के ३३ वर्ष ही गिने हैं पर चाहिए थे ३६ वर्ष, क्योंकि वज्र के बाद १३ वर्ष आर्यरक्षित, २० वर्ष पुष्पमित्र और उनके बाद ३ वर्ष तक वज्रसेन युगप्रधान रहे थे, इसलिये वज्र के बाद वज्रसेन ३६ वर्ष तक जीवित रहे। उनके बाद नागहस्ति ६९, रेवतिमित्र ५९ और ब्रह्मद्वीपकसिंह ७८ वर्ष तक युगप्रधान रहे। कुल विक्रम वर्ष ३५६ (११४ + ३६ + ६९ + ५९ + ७८ = ३५६) सिंहसूरि के स्वर्गवास तक हुए, इसके बाद आचार्य स्कंदिल का युगप्रधानत्वपर्याय शुरू हुआ।

आचार्य मेरुतुंग ने स्कंदिल, हिमवत्, नागार्जुन इन तीनों स्थविरों के युगप्रधानत्व पर्याय के एकत्र ७८ वर्ष लिखे हैं, पर यह नहीं बताया कि इनमें से किनके कितने वर्ष लेने चाहिए।

गाँव मुंडारा के यतिजी पं० यशस्वंतसागरजी के पुस्तकभंडार में दुष्षमा संघ-स्तोत्र की प्रति के अंत में देवर्द्धिगणि पर्यंत के स्थविरों की पट्टावली दी हुई है, उसमें स्कंदिलाचार्य का युगप्रधानत्व समय वीर संवत् ८०० से ८१४ तक १४ वर्ष का लिखा है। बहुत प्राचीन न होने के कारण हम इस पट्टावली पर ज्यादा विश्वास नहीं कर सकते तब भी इसमें लिखे अनुसार स्कंदिल के युगप्रधानत्व के १४ वर्ष ठीक मान लें तो अनुयोगप्रवर्तक स्कंदिलाचार्य का समय विक्रम संवत् ३५७ से ३७० (वी० नि० ८२७ से ८४०) तक मानना कुछ भी अनुचित नहीं है।

श्वेतांबर श्रमणसंघ एकत्र हुआ और आगमों को व्यवस्थित करने में लग गया। जिसे जो आगमसूत्र या उसका खंड याद था वह लिख लिया गया। इस तरह आगम और उनका अनुयोग लिखके व्यवस्थित करने के बाद स्थविर स्कंदिलजी ने उसके अनुसार साधुओं को वाचना दी, इसी कारण से यह वाचना "स्कांदिली वाचना" नाम से भी प्रसिद्ध है[७२]।

७२ माथुरी वाचना के विषय में अनेक जैन ग्रंथों में उल्लेख तो मिलते हैं, पर पाटलिपुत्री वाचना का जितना विस्तृत और विशद वर्णन मिलता है उतना वर्णन इसका कहीं भी नहीं मिलता, फिर भी यह वाचना कम महत्त्व की नहीं है। आचार्य मलयगिरिजी की नंदीटीका और ज्योतिषकरंडक-टीका में, भद्रेश्वर की कथावली में और हेमचंद्राचार्य की योगशास्त्र वृत्ति में इस वाचना के संबंध में महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलते हैं, जिनका हम यथास्थान उल्लेख करके पाठकगण की जिज्ञासा पूर्ण करेंगे।

आचार्य मलयगिरिजी ने नंदीथेरावली की—

"जेसिमिमो अणुओगो, पयरइ अज्जा वि अड्ढभरहम्मि।
बहुनयर निग्गयजसे, ते वंदे खंदिलायरिए॥ ३८॥"

—इस गाथा पर टीका करते हुए लिखा है कि 'वर्तमान अनुयोग स्कंदिलाचार्य का क्यों कहलाता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आचार्य स्कंदिल के युगप्रधानत्व समय में बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ा, इस विकट दुर्भिक्ष के समय में साधुओं को भिक्षा मिलना भी असंभव हो गया जिससे न तो वे शास्त्र पढ़ सके और न पठित आगमों को याद ही रख सके। इस कारण से कितना ही अलौकिक श्रुत नष्ट हो गया, परावर्तन न होने से अंगोपांगगत भी भाव से नष्ट हो गया। बारह वर्ष के बाद जब दुर्भिक्ष मिटकर सुकाल हुआ तब मथुरा नगरी में स्कंदिलाचार्य्य की प्रमुखता में श्रमणसंघ इकट्ठा हुआ। उस समय जिसको जो याद था वह कहता गया, इस प्रकार कालिक श्रुत और थोड़े से पूर्वश्रुत की वहाँ संघटना की गई। मथुरा में संपन्न होने के सबब से यह वाचना 'माथुरी' कही जाती है। उस समय के युगप्रधान स्कन्दिलाचार्य्य ने उसे प्रमाण किया और उसका अनुयोग किया इससे वह अनुयोग स्कंदिल संबंधी कहाता है।

'अन्य आचार्य्य इस संबंध में कहते हैं कि दुर्भिक्ष के वश कुछ भी श्रुत नष्ट नहीं हुआ पर स्कंदिलाचार्य को छोड़कर दूसरे अनुयोगधर दुष्काल के सबब से मृत्यु का ग्रास हो चुके थे, इसलिये दुर्भिक्ष के अंत में स्कंदिला-

चार्य्य ने मथुरा में अनुयोग किया, इस कारण से इस वाचना का नाम 'माथुरी' पड़ा और अनुयोग स्कंदिल संबंधी कहलाया।'

विद्वानें के अवलोकनार्थ हम नंदी टीका का वह पाठ कि जिसका आशय ऊपर लिख दिया है, नीचे उद्धृत करते हैं—

"अथायमनुयोगोऽद्भरते व्याप्रियमाणः कथं तेषां स्कन्दिलनाम्नामाचार्याणां संबंधी? उच्यते—इह स्कन्दिलाचार्य्यप्रतिपत्तौ दुष्षमसुषमाप्रतिपन्थिन्याः तद्गतसकलशुभभावग्रसनैकसमारंभायाः दुष्षमायाः साहायकमाधातुं परम-सुहृदिव द्वादशवार्षिकं दुर्भिक्षमुदपादि, तत्र चैवं रूपे महति दुर्भिक्षे भिक्षालाभ-स्याऽसम्भवादवसीदतां साधूनामपूर्वार्थग्रहणापूर्वार्थास्मरणश्रुतपरावर्तनानि मूलत एवापजग्मुः। श्रुतमपि चातिशायिप्रभूतमनेशत्। अङ्गोपाङ्गादिगतमपि भावतो विप्रनष्टम्। तत्परावर्तनादेरभावात्, ततो द्वादशवर्षानन्तरमुत्पन्ने सुभिक्षे मथुरापुरि स्कन्दिलाचार्य्यप्रमुखश्रमणसंघेनैकत्र मिलित्वा यो यत् स्मरति स तत्कथयतीत्येवं कालिकश्रुतं पूर्वगतं च किंचिदनुसन्धाय घटितं, यतश्चैतन्म-थुरापुरि संघटितमत इयं वाचना 'माथुरी'त्यभिधीयते, सा च तत्कालयुगप्रधा-नानां स्कन्दिलाचार्याणामभिमता तैरेव चार्थतः शिष्यबुद्धिं प्रापितेति तदनुयोगः तेषामाचार्याणां सम्बन्धीति व्यपदिश्यते। अपरे पुनरेवमाहुः—न किमपि श्रुतं दुर्भिक्षवशात् अनेशत्, किन्तु तावदेव तत्काले श्रुतमनुवर्तते स्म। केवल-मन्ये प्रधाना येऽनुयोगधराः ते सर्वेपि दुर्भिक्षकालकवलीकृताः, एक एव स्कंदिल सूरयो विद्यन्ते स्म। ततस्तैर्दुर्भिक्षापगमे मथुरापुरि पुनरनुयोगः प्रवर्तित इति वाचना माथुरीति व्यपदिश्यते, अनुयोगश्च तेषामाचार्याणामिति।"

—नन्दी ५१।

इस वाचना के वर्णन में हमने 'जिसे जो आगमसूत्र या उसका खंड याद था वह उससे लिख लिया गया' यह जो उल्लेख किया है इसके संबंध में जरा स्पष्टीकरण आवश्यक है। हम लोगों की सामान्य मान्यता यह है कि हमारे आगम-शास्त्र देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय वीर निर्वाण संवत् ९८० में ही पुस्तकों पर लिखे गए थे, उसके पहले तमाम आगम आचार्यों और साधुओं के मुखपाठ होते थे।

"वलहिपुरम्मि नयरे, देवड्ढिपमुहेण समणसंघेण।
पुत्थइ आगमु लिहिओ, नवसयअसीआओ वीराओ॥"

—इत्यादि परंपरागत गाथाओं का हम यही अर्थ मान लेते हैं कि पहले पहल हमारा शास्त्र देवर्द्धिगणि के समय में लिखा गया, परन्तु वस्तु-स्थिति इससे भिन्न है। देवर्द्धिगणि के समय में शास्त्र लिखा गया इस बात से हम इनकार नहीं करते, पर हम यह भी नहीं कह सकते कि उसके पहले हमारे आगम-शास्त्र लिखे नहीं गए थे।

अनुयोगद्वारसूत्र में पत्र पुस्तक पर लिखे हुए श्रुत को द्रव्यश्रुत कहा है। देखो अनुयोगद्वार का निम्नलिखित वाक्य—

"से किं तं जाणयसरीरभविअसरीरवइरित्तं दव्वसुअं ? पत्तयपोत्थयलिहिअं"

—अनुयोगद्वारसूत्र ३४।

यदि देवर्द्धिगणि के पहले आगम लिखे हुए नहीं होते तो अनुयोगद्वार में द्रव्यश्रुत के वर्णन में पुस्तकलिखित श्रुत का उल्लेख नहीं होता। इससे यह बात तो निश्चित है कि देवर्द्धिगणि के समय से बहुत पहले जैन शास्त्र लिखे जाने की प्रवृत्ति हो चली थी। छेदसूत्रों में साधुओं को कालिकश्रुत और कालिकश्रुत निर्युक्ति के लिये पांच प्रकार की पुस्तकें रखने का अधिकार दिया गया है। देखो निशीथचूर्णि का निम्नलिखित पाठ—

"मेहउग्गहणधारणादिपरिहाणिं जाणिऊण कालियसुयट्ठा, कालियसुयणिज्जुत्तिनिमित्तं वा पोत्थगपणगं घेप्पति॥"

—निशीथचूर्णि उद्देशक १२ पत्र ३२१।

यदि पूर्वकाल में सूत्रों की पुस्तकें लिखी नहीं जाती होतीं तो निशीथभाष्यकार वगैरह इनकी चर्चा और विधान नहीं करते।

इससे यह मानने में तो कोई विरोध ही नहीं है कि देवर्द्धिगणि के पुस्तकलेखन के पहले भी जैन शास्त्र लिखे जाते थे, परंतु यह लेखनप्रवृत्ति कब से शुरू हुई इसका निर्णय होना मुश्किल है। जहाँ तक मेरा खयाल है, आर्यरक्षितजी के समय से ही पूर्वश्रुत के अतिरिक्त जैन आगम-ग्रंथ अल्प प्रमाण में लिखे जाने शुरू हुए होंगे। भगवान् आर्यरक्षितजी ने देश काल का विचार करके प्राचीन कालीन अनेक आचार-परंपराओं को बदला था, इसी सिलसिले में उन्होंने विद्यार्थियों के सुभीते के लिये चारों अनुयोगों को भी पृथक् पृथक् किया था। कोई आश्चर्य नहीं है, यदि उन्होंने उसी समय मंदबुद्धि साधुओं के अनुग्रहार्थ अपवाद मार्ग से आगम लिखने की भी आज्ञा दे दी हो। इनके अभिमत अनुयोगद्वार में 'पुस्तक लिखित श्रुत' शब्द का प्रयोग भी हमारे इस अनुमान का समर्थक है।

प्रस्तुत माथुरी वाचना के समय आगम लिखे गए थे इसके तो हमें स्पष्ट उल्लेख भी मिलते हैं।

आचार्य हेमचंद्र योगशास्त्र वृत्ति में लिखते हैं कि 'दुष्षमा कालवश जिन वचन को नष्टप्राय समझकर भगवान् नागार्जुन स्कंदिलाचार्य प्रमुख ने उसे पुस्तकों में लिखा'। देखो निम्नलिखित पंक्तियाँ—

वालभी वाचना

जिस काल में मथुरा में आर्य स्कंदिल ने आगमोद्धार करके उनकी वाचना शुरू की उसी काल में वलभी नगरी में नागार्जुन सूरि ने भी श्रमणसंघ इकट्ठा किया और दुर्भिक्षवश नष्टावशेष आगम सिद्धांतों का उद्धार शुरू किया। वाचक नागार्जुन और एकत्रित संघ को जो जो आगम और उनके अनुयोगों के उपरांत प्रकरण ग्रंथ याद थे वे लिख लिए गए और विस्मृत स्थलों को पूर्वापर संबंध के अनुसार ठीक करके उसके अनुसार वाचना दी गई।[७४] इस सिद्धांतो-

"जिनवचनं च दुष्षमाकालवशादुच्छिन्नप्रायमिति मत्वा भगवद्भिर्नागार्जुन-स्कंदिलाचार्य्यप्रभृतिभिः पुस्तकेषु न्यस्तम्।"

—योगशास्त्रप्रकाश ३ पत्र २०७।

ऊपर के विवेचन से पाठक महोदय समझ सकेंगे कि माथुरी और वालभी वाचना के समय में स्कंदिलाचार्य्य और नागार्जुन वाचकों ने आगमों को पुस्तकों में लिखाया था, इसमें तो कोई शक नहीं है, पर संभवतः उसके पहले भी आगम लिखे जाते थे और कारण योग से साधु उन पुस्तकों को अपने पास भी रखते थे।

७४ कथावली में माथुरी और वालभी वाचना के संबंध में एकत्र उल्लेख करते हुए आचार्य भद्रेश्वर सूरि लिखते हैं कि—

'मथुरा में स्कंदिल नामक श्रुतसमृद्ध आचार्य्य थे और वलभीपुर में नागार्जुन। उस समय में दुष्काल पड़ने पर उन्होंने अपने साधुओं को भिन्न भिन्न दिशाओं में भेज दिया। किसी तरह दुष्काल का समय व्यतीत करके सुभिक्ष के समय में फिर वे इकट्ठे हुए और अभ्यस्त शास्त्रों का परावर्तन करने लगे, तो उन्हें मालूम हुआ कि प्रायः वे पढ़े हुए शास्त्रों को भूल चुके हैं। यह दशा देख कर आचार्यों ने श्रुत का विच्छेद रोकने के लिये सिद्धांत का उद्धार करना शुरू किया। जो जो आगम पाठ याद था वह वैसे ही स्थापन किया गया और जो भूला जा चुका था वह स्थल पूर्वापर संबंध देखकर व्यवस्थित किया गया।'

देखो कथावली का मूललेख—

"अत्थि महुराउरीए सुयसमिद्धो खंदिलो नाम सूरी, तहा वलहिनयरीए नागज्जुणो नाम सूरी। तेहि य जाए वरिसिए दुक्काले निव्वउ भावओवि फुट्टिं (?) काऊण पेसिया दिसोदिसिं साहवो गमिउं च कहवि दुत्थं ते पुणो मिलिया सुगाले, जाव सज्झायंति ताव खंडुखुरुडीहूयं पुव्वाहियं। तओ मा सुय-

द्धार और वाचना में आचार्य नागार्जुन प्रमुख स्थविर थे इस कारण से इसे "नागार्जुनी वाचना" भी कह सकते हैं।

ऊपर लिखा जा चुका है कि माथुरी और वालभी—ये दोनों वाचनाएँ करीब एक ही काल में संपन्न हुई थीं; और इससे यह कहने की आवश्यकता ही नहीं रहती कि आचार्य स्कंदिल और नागार्जुन समकालीन स्थविर थे। परंतु दुर्भाग्य की बात यह है कि उक्त वाचनाओं का महान् कार्य संपन्न होने के बाद इन सिद्धांतोद्धारक दोनों महास्थविरों का आपस में मिलना नहीं हुआ, इससे उक्त दोनों वाचनाओं में जहाँ कहीं कुछ भिन्नता रह गई थी वह वैसे ही रह गई, जिसका आज तक टीकाओं में उल्लेख पाया जाता है।[७५]

वोच्छित्ती होइ (उ) त्ति पारद्धो सूरीहिं सिद्धंतुद्धारो। तत्थवि जं न वीसरियं तं तहेव संठवियं। पम्हुट्ठट्ठाणे उण पुव्वावरावडंतसुत्तत्थाणुसारओ कया संघडणा।"

—कथावली २९८।

इसी से मिलता जुलता इस विषय का उल्लेख मलयगिरि सूरि कृत ज्योतिषकरंडक टीका में भी उपलब्ध होता है, जिसका सार यह है कि 'दुःष्यमाकाल के प्रभाव से आचार्य स्कंदिल के समय में दुष्काल पड़ा जिससे साधुओं का पठन गुणनादि बंद हो गया था, इसलिये सुभिक्ष होने पर 'वलभी' और 'मथुरा' इन दो जगहों में संघ का सम्मेलन हुआ। वहाँ सूत्र और अर्थ के संघटन में परस्पर कुछ वाचना-भेद हो गया, और भूले हुए सूत्र अर्थ को याद करके व्यवस्थित करने में वाचना-भेद का होना था भी अवश्यंभावी।'

देखो मूल पाठ—"इह हि स्कंदिलाचार्यप्रवृत्तौ दुष्षमानुभावतो दुर्भिक्षप्रवृत्त्या साधूनां पठनगुणनादिकं सर्वमप्यनेशत्। ततो दुर्भिक्षातिक्रमे सुभिक्षप्रवृत्तौ द्वयोः संघयोर्मेलापकोऽभवत्। तद्यथा—एको वलभ्यामेको मथुरायाम्। तत्र च सूत्रार्थसंघटने परस्परवाचनाभेदो जातः। विस्मृतयोर्हि सूत्रार्थयोः स्मृत्वा संघटने भवत्यवश्यं वाचनाभेदो न काचिदनुपपत्तिः।"

—ज्यौतिषकरण्डक टीका।

७५ इस विषय में कथावलीकार कहते हैं कि 'सिद्धांतों का उद्धार करने के बाद स्कंदिल और नागार्जुन सूरि परस्पर मिल नहीं सके, इस कारण से इनके उद्धार किए हुए सिद्धांत तुल्य होने पर भी उनमें कहीं कहीं वाचना-भेद रह गया, जिसको पिछले आचार्यों ने नहीं बदला और टीकाकारों ने अपनी

देवर्द्धिगणि का पुस्तक लेखन[७६]

उपर्युक्त वाचनाओं को संपन्न हुए करीब डेढ़ सौ वर्ष से अधिक समय व्यतीत हो चुका था, उस समय फिर वलभी नगर में देवर्द्धि

टीकाओं में 'नागार्जुनीय ऐसा पढ़ते हैं' इत्यादि उल्लेख करके 'उन वाचना भेदों को सूचित किया है।'

देखो इस विषय का प्रतिपादक कथावली का मूल लेख—

"परोप्परमसंपण्णमेलावा य तस्समयाओ खंदिल्लनागज्जुणायरिया कालं काउं देवलोगं गया। तेण तुल्लयाए वि तदुद्धरियसिद्धंताणं जो संजाओ कथय (कहमवि) वायणाभेओ सो य न चालिओ पच्छिमेहिं। तओ विवरणकारेहिं पि नागज्जुणीया उण एवं पढन्ति त्ति समुल्लिंगिया तहे वायाराइसु।"

—कथावली २९८।

७६ कतिपय जैन विद्वानों की यह मान्यता है कि स्थविर देवर्द्धिगणिजी ने वलभीपुर में सिद्धांतों को पुस्तकों में लिखाया, उसी घटना का नाम 'वालभी वाचना' है, और इस कारण से वे स्कंदिल और देवर्द्धि को प्रायः समकालीन भी मान लेते हैं। इस मान्यता के उदाहरण के तौर पर हम उपाध्याय विनयविजयजी के लोकप्रकाश का एक अंश पाठकगण को भेंट करते हैं।

"दुर्भिक्षे स्कंदिलाचार्यदेवर्द्धिगणिवारके।
गणनाभावतः साधुसाध्वीनां विस्मृतं श्रुतम्॥
ततः सुभिक्षे संजाते संघस्य मेलकोऽभवत्।
वलभ्यां मथुरायां च सूत्रार्थघटनाकृते॥
वलभ्यां संगते संघे देवर्द्धिगणिरग्रणीः।
मथुरायां संगते च स्कंदिलार्योऽग्रणीरभूत्॥
ततश्च वाचनाभेदस्तत्र जातः क्वचित् क्वचित्।
विस्मृतस्मरणे भेदो जातु स्यादुभयोरपि॥
तत्रैस्ततोऽर्वाचीनैश्च गीतार्थैः पापभीरुभिः।
मतद्वयं तुल्यतया कक्षीकृतमनिर्णयात्॥"

—लोकप्रकाश।

उपाध्यायजी के कथन का तात्पर्य वही है जो कथावली में भद्रेश्वर सूरि ने और ज्योतिष्करण्डक टीका में मलयगिरिजी ने कहा है, पर उपाध्यायजी का यह कथन कि 'वालभ्य संघ के अग्रेसर देवर्द्धिगणि थे' बिल्कुल निराधार है। उपर्युक्त ग्रंथों के कथन से यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि स्कंदिलाचार्य के समय में वलभी में मिले हुए संघ के प्रमुख आचार्य नागार्जुन थे और उनकी

गणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में श्रमणसंघ इकट्ठा हुआ, और पूर्वोक्त दोनों वाचनाओं के समय लिखे गए सिद्धांतों के उपरांत जो जो ग्रंथ, प्रकरण मौजूद थे उन सबको लिखाकर सुरक्षित करने का निश्चय किया।

इस श्रमण समवसरण में दोनों वाचनाओं के सिद्धांतों का परस्पर समन्वय किया गया, और जहाँ तक हो सका भेद-भाव मिटाकर उन्हें एक-रूप कर दिया, और जो जो महत्त्वपूर्ण भेद थे उन्हें पाठांतर के रूप में टीका-चूर्णियों में संगृहीत किया। कितनेक प्रकीर्णक ग्रंथ जो केवल एक ही वाचना में थे वैसे के वैसे प्रमाण माने गए।"

दी हुई वाचना ही 'वालभी वाचना' कहलाती है। देवर्द्धिगणि की प्रमुखता में भी वलभी में जैन श्रमणसंघ इकट्ठा हुआ था यह बात सही है, पर उस समय वाचना नहीं हुई, पर पूर्वोक्त दोनों वाचनागत सिद्धांतों का समन्वय करने के उपरांत वे लिखे गए थे, इसी लिये हम इस कार्य को देवर्द्धिगणि की वाचना न कहकर 'पुस्तकलेखन' कहते हैं। इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण आगे किसी टिप्पणी में किया जायगा।

७७ वर्तमान जैन आगमों का मुख्य भाग माथुरी वाचनानुगत है, पर उनमें कोई कोई सूत्र वालभी वाचनानुगत भी होने चाहिएँ। सूत्रों में कहीं कहीं विसंवाद और विरोध तथा विरोधाभाससूचक जो उल्लेख मिलते हैं उनका कारण भी वाचनाओं का भेद ही समझना चाहिए।

आचार्य मलयगिरिजी ज्योतिष्करंडक-टीका में कहते हैं कि 'अनुयोगद्वार आदिक वर्तमान श्रुत माथुरी वाचनानुगत है और ज्योतिष्करंडक सूत्र के कर्ता वालभ्य आचार्य हैं, इसलिये अनुयोगद्वार के साथ इसकी संख्याविषयक शैली की भिन्नता को देखकर संशय नहीं करना चाहिए।'

देखो आचार्य के मूल शब्द—

"तत्राऽनुयोगद्वारादिकमिदानीं वर्तमानं माथुरवाचनानुगतं ज्योतिष्करंडकसूत्रकर्ता चाचार्यो वालभ्यः, तत इहेदं संख्यास्थानप्रतिपादनं वालभ्यवचनानुगतमिति नास्यानुयोगद्वारप्रतिपादितसंख्यास्थानैः सह विसदृशत्वमुपलभ्य विचिकित्सितव्यमिति।"

ज्योतिष्करंडक टीका।

इससे यह बात तो निश्चित है कि वर्तमान श्रुत माथुरी वाचनानुसार है, केवल ज्योतिष्करंड के वालभी वाचना का ग्रंथ होने का उल्लेख है और हमारे

उपर्युक्त व्यवस्था के बाद स्कंदिल की माथुरी वाचना के अनुसार सब सिद्धांत लिखे गए,[१८] जहाँ जहाँ नागार्जुनी वाचना का

विचारानुसार कतिपय युगप्रधान थेरावलियाँ भी वालभी वाचनानुगत हो सकती हैं, पर इसके सिवा कौन कौन सूत्र प्रकरण वालभी वाचनानुगत होंगे इसका निश्चय होना कठिन है।

७८ 'भगवान् देवर्द्धिगणि ने माथुरी वाचनानुगत आगमों को लिखाया और वालभी वाचनानुसारी पाठों को पाठांतर रूप में रखा' इस प्रकार की हमारी मान्यता के लिये निम्नलिखित प्रमाण दिए जा सकते हैं—

(१) देवर्द्धिगणि नंदी की युगप्रधान स्थविरावली में स्कंदिल और नागार्जुन दोनों आचार्यों का वंदन करते हैं, पर नागार्जुन की अपेक्षा स्कंदिल के प्रति किया गया वंदन कुछ विशिष्टतासूचक है, नागार्जुन को किए हुए वंदन में उनके गुण और पद का ही स्मरण है, पर स्कंदिल के वंदन में उनके अनुयोग की भी सूचना है, इतना ही नहीं बल्कि यहाँ तक कहा गया है कि 'आज तक भारतवर्ष में स्कंदिलाचार्य के अनुयोग का प्रचार हो रहा है।' देखो नंदी की निम्न लिखित गाथा—

"जेसि इमो अणुओगो, पयरइ अज्जावि अड्ढभरहम्मि।
बहुनयरनिग्गयजसे, ते वंदे खंदिलायरिए ॥ ३७ ॥"

इस गाथा में गणिजी ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि आजकल स्कंदिलाचार्य का अनुयोग प्रचलित है।

यदि देवर्द्धिजी ने नागार्जुनकृत वालभी वाचना को मुख्य मानकर उसके अनुसार सिद्धांत लिखाए होते तो 'स्कंदिलाचार्य का अनुयोग प्रचलित है' ऐसा वे कभी नहीं कहते। वालभी वाचनानुयायी दूसरे थेरावलिकारों ने अपनी थेरावलियों में अनुयोग-प्रवर्तक स्कंदिलाचार्य्य का नामोल्लेख तक नहीं किया वैसे ही देवर्द्धिगणि भी यदि नागार्जुनानुयायी होते तो स्कंदिलाचार्य्य के संबंध में उपर्युक्त उल्लेख कभी नहीं करते।

(२) पूर्वोक्त ज्योतिष्करंडक टीका में आचार्य्य मलयगिरि जी भी यही कहते हैं कि अनुयोग द्वार प्रभृति वर्तमानकालीन जैन श्रुत माथुरी वाचनानुगत है।

(३) जैन आगमों में सर्वत्र पूर्णांत मास माना गया है इससे भी यही अनुमान हो सकता है कि इन सूत्रों की संकलना पूर्व या उत्तर हिंदुस्तान में हुई होगी।

(४) जैन सूत्रों में जो दो हजार धनुष का कोश माना गया है वह शौरसेन देश की परिभाषा है।

मगध देश की प्राचीन परिभाषा के अनुसार एक कोश एक हजार धनुष का होता था। देखो नीचे के उल्लेख—

"धनुस्सहस्रं मागधक्रोशः।"

—ललितविस्तर १७०—१२।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में एक हजार धनुष का गोरुत (गाउ) और 'चार' गोरुत का योजन लिखा है। • (धनुस्सहस्रं गोरुतम्। चतुर्गोरुतं योजनम्।) कौटिल्य मगध के मौर्य्यराजा चंद्रगुप्त का प्रधान मंत्री था इससे इसने जो ४ हजार धनुष का योजन लिखा है वह मागध परिभाषा ही होनी चाहिए। जैन आगमों में जो २ हजार धनुष का १ कोश अथवा गव्यूत और ८ हजार धनुष का एक योजन माना है वह स्पष्ट ही शौरसेनी परिभाषा है।

वैजयंतीकोश के निम्नलिखित श्लोकों में भी मगध में ४ हजार धनुष का ही योजन होना लिखा है। देखो—

"चतुर्हस्तो धनुर्दण्डो धनुर्धन्वन्तरं युगम्।"
"धन्वन्तरसहस्रं तु क्रोशो गव्या तु तद्‌द्वयम्।
स्त्री गव्यूतिश्च गव्यूतं गोरुतं गोमतं च तत्॥
गव्यूतानि च चत्वारि योजना कोशलादिषु।
गव्यूतिद्वयमेव स्याद्योजनं मगधादिषु॥ ६२॥"

वैजयंती—देशाध्याय ४०।

तात्पर्य्य इसका यह है कि 'चार हस्त प्रमाण १ धनुर्दंड, हजार धन्वंतर (धनुर्दंड) का एक क्रोश, दो क्रोश का १ गव्यूत, ४ गव्यूत का कोशल आदि देशों का १ योजन। मगध आदि में दो गव्यूत (४ क्रोश) का ही १ योजन होता है'।

ऊपर के उल्लेखों से यही साबित होता है कि जैनसूत्रों में क्रोश और योजनों की जो परिभाषा है वह मगध की नहीं पर दूसरे देश की है, और वह दूसरा देश और कोई नहीं पर शौरसेन (मथुरा के आस पास का प्रदेश) ही होना चाहिए, क्योंकि वहीं इन सूत्रों का पुनरुद्धार और संकलन हुआ था।

(५) प्राचीन जैन सूत्रों की भाषा में मागधी के साथ ही शौरसेनी प्राकृत की बहुलता भी उपर्युक्त अनुमान का ही समर्थन करती है।

(६) सूत्रों में जहाँ जहाँ वाचनाकृत पाठभेद था उन सभी स्थलों में नागार्जुन के वालभी वाचनानुगत पाठों को ही टीकाओं में पाठांतरों के रूप में लिखा है। पर कहीं भी स्कंदिलीय वाचनानुगत पाठों का पाठांतर तथा उल्लेख नहीं मिलता। देखो आचारांग तथा सूत्रकृतांग टीका और कथावली के निम्नोद्धृत अवतरण—

मतभेद और पाठभेद था वह टीका में लिख दिया गया, पर जिन पाठांतरों को नागार्जुनानुयायी किसी तरह छोड़ने को तैयार न थे,

---

"नागार्जुनीयास्तु पठंति—एवं खलु० ।"

—आचारांग टीका २४५ ।

"नागार्जुनीयास्तु पठंति—समणा भविस्सामो०"

—आचारांग टीका २५३ ।

"नागार्जुनीयास्तु पठंति—जे खलु० ।"

—आचारांग टीका २५६ ।

"नागार्जुनीयास्तु पठंति—पुट्ठो वा०"

—आचारांग टीका ३०३ ।

"अत्रांतरे नागार्जुनीयास्तु पठंति—सो ऊण तयं उवट्ठियं० ।"

—सूत्रकृतांग टीका ६४ ।

"नागार्जुनीयास्तु पठंति—पलिमंथमहं वियाणिया० ।"

—सूत्रकृतांग टीका ६४ ।

"तओ विवरणकारेहिं पि नागज्जुणीया उण एवं पढंतित्ति समुल्लिंगिया तहेवायाराइसु ।"

—कथावली २९८ ।

इन पाठांतर-उल्लेखों से यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि पुस्तकलेखन के समय में माथुरी वाचनानुगत स्कंदिलाचार्य्य के अनुयोग को मुख्य मान लेने से ही गणिजी को नागार्जुनीय वाचनागत पाठों को पाठांतर मानना पड़ा होगा ।

(७) इसी लेख में हम आगे जाकर देखेंगे कि पूर्वकाल में जैनों में दो युगप्रधान परंपराएँ प्रचलित थीं, एक माथुरी और दूसरी वालभी । वीर निर्वाण संवत् के विषय में दोनों परंपराओं की मान्यता भिन्न भिन्न थी । देवर्द्धिगणि के सिद्धांत-लेखनकाल में माथुरी परंपरा के कथनानुसार निर्वाण का ९८० वां वर्ष चलता था, तब वालभी-वाचनानुयायियों की मान्यता के अनुसार वह ९९३ वां वर्ष था । इन दोनों मान्यताओं को देवर्द्धिजी ने कल्पसूत्र में उल्लिखित किया है, जिसमें माथुरी वाचनानुगत समय विषयक मान्यता को उन्होंने सैद्धांतिक मानकर क्रमप्राप्त स्थान में लिखा और १३ वर्ष के अंतरवाली वालभी वाचनानुगत मान्यता को वाचनांतर की मान्यता कहकर पाठांतर के ढंग से लिखा है ।

इन सब बातों का विचार करने पर यही कहना पड़ता है कि देवर्द्धिगणिजी ने माथुरी वाचना को मुख्य मानकर तदनुसार आगमों को लिखाया था ।

उनका मूलसूत्र में भी "वायणंतरे पुण" इन शब्दों के साथ उल्लेख कर दिया।[७९] कल्पसूत्र का—

---

७९ यद्यपि देवर्द्धि के पुस्तकलेखन के कार्य का विशेष प्रकाश करनेवाला कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता तथापि कार्य की गुरुता देखते हुए यह कहना कुछ भी असंभावित नहीं होगा कि इस कार्य्य-संघटन-समय में दोनों वाचनानुयायी संघों में अवश्य ही संघर्षण हुआ होगा। अपनी अपनी परंपरागत वाचना को ठीक मनवाने के लिये अनेक कोशिशें हुई होंगी और अनेक काट छाँट होने के उपरांत ही दोनों संघों में समझौता हुआ होगा। हमारे इस अनुमान की पुष्टि में निम्नलिखित गाथा उपस्थित की जा सकती है—

"वालब्भसंघकज्जे, उज्जमिअं जुगपहाणतुल्लेहिं।
गंधव्ववाइवेयाल-संतिसूरीहिं लहीए ॥ २ ॥"

यह गाथा एक दुष्षमासंघ स्तोत्रयंत्र की प्रति के हाशिये पर लिखी हुई है। इसका भाव यह है कि 'युगप्रधान तुल्य गंधर्व वादि वेताल शांतिसूरि ने वालभ्य संघ के कार्य्य के लिये वलभी नगरी में उद्यम किया।'

जहाँ तक मैं समझता हूँ, गाथोक्त 'वालभ्य संघ' का तात्पर्य्य वालभी वाचनानुयायी श्रमणसंघ से है और 'इसके कार्य्य के लिये शांतिसूरि ने उद्यम किया' इस उल्लेख में 'देवर्द्धिगणि को आगम लेखन कार्य्य के अवसर पर वालभी वाचना के प्रति न्याय दिखाने के लिये किए हुए गंधर्व वादि वेतालशांति सूरि के उद्यम की सूचना है। यदि मेरा यह अनुमान ठीक हो तो इससे यह सिद्ध हो सकता है कि निर्वाण से ९८० के अर्से में देवर्द्धिगणि की प्रमुखता में वलभी में जो श्वेतांबर श्रमणसंघ एकत्र हुआ था वह माथुरी और वालभी इन दोनों परंपराओं का संमिलित संघ था। माथुरी परंपरा के मुखिया युगप्रधान देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण थे और वालभी परंपरा के प्रमुख कालकाचार्य्य और उपप्रमुख युगप्रधानतुल्य गंधर्ववादि वेताल शांतिसूरि।

इन्हीं शांतिसूरि के संबंध में तपागच्छ की एक जीर्ण पट्टावली में नीचे लिखे अनुसार उल्लेख दृष्टिगोचर होता है—

"श्री वीरात् ८४५ श्री विक्रमात् ३७५ वलभीनगरीभंगः क्वचिदेवं श्रीवीरात् ९०४ गंधर्ववादिवेतालश्रीशांतिसूरिणा वलभीभंगे श्रीसंघरक्षा कृता।"

—अज्ञातकर्तृक तपागच्छीय पट्टावली।

अर्थात् 'वीरनिर्वाण से ८४५ और विक्रम से ३७५ में वलभी नगरी का भंग हुआ। कहीं कहीं ऐसा भी है कि वीरनिर्वाण से ९०४ में वलभी का भंग हुआ और उस अवसर पर गंधर्व वादि वेताल शांतिसूरि ने श्रीसंघ की रक्षा की।'

"वायणंतरे पुण अयं तेणउए संवच्छरे काले गच्छइ इइ दीसइ।" —यह पाठांतर-उल्लेख इसी विषय का एक उदाहरण समझना चाहिए।

ऊपर कहा गया है कि देवर्द्धिगणि चमाश्रमण ने माथुरी वाचना को मुख्य मानकर उसके अनुसार सिद्धांत पुस्तकारूढ़ किया था। गणिजी ने अपने इस कार्य के साथ भगवान् महावीर के निर्वाण समय का संबंध दिखाते हुए कल्पसूत्रांतर्गत महावीरचरित्र के अंत में लिखा है—

"समणस्स भगवत्रो महावीरस्स जाव सव्वदुक्खप्पहीणस्स नव वाससयाइं वइक्कंताइं, दसमस्स वाससयस्स अयं असी इमे संवच्छरे काले गच्छइ।"

अर्थात् 'श्रमण भगवान् महावीर को मुक्त हुए नव सदियाँ बीत गईं और दसवीं सदी का यह अस्सीवाँ वर्ष चलता है।'

इसी सूत्र के अनंतर वे लिखते हैं—

"वायणंतरे पुण अयं तेणउए संवच्छरे काले गच्छइ।"

अर्थात् 'दूसरी वाचना में देखा जाता है, दसवीं सदी का यह तेरानबेवाँ वर्ष चलता है।'

गणिजी के इन उल्लेखों से यह बात स्पष्ट होती है कि उनके समय में महावीर निर्वाण संवत् के विषय में दो मत थे। माथुरी

पट्टावलीकार गंधर्ववादि वेताल के उद्यम का अर्थ 'परचक्र भय से संघरक्षा' ऐसा करते हैं और इस घटना को निर्वाण संवत् ६०४ में हुआ बताते हैं; पर ६०४ के आस पास वलभी भंग बतानेवाले इस उल्लेख का इतिहास से समर्थन नहीं होता। पूर्वोक्त गाथा में भी इस बात का कुछ जिकर नहीं है। राज्यविप्लव में एक आचार्य्य से संघरक्षा का संभव भी नहीं माना जा सकता—इसलिये मेरा खयाल तो यह है कि वलभी-भंग-सूचक उल्लेख के साथ होने से ही इस उल्लेख में भी वलभी भंग शब्द जुड़ गया मालूम होता है। वस्तुतः यह उल्लेख देवर्द्धिगणि के पुस्तकोद्धारकार्य्य में वालभ्यसंघ की ओर से शांतिसूरि द्वारा दिए गए सहयोग का स्मारक है। इसमें संवत् सूचक जो ६०४ का अंक है वह, मेरे विचार में, ठीक नहीं है। मूल में ९८४ अथवा ९९५ संवत् होगा जो पीछे से गलती से ६०४ हो गया है।

वाचनानुयायी कहते ,यह अस्सीवाँ वर्ष है, तब वालभी वाचनावालों का कहना था, यह अस्सीवाँ नहीं, तेरानबेवाँ वर्ष है।

यह मत-भेद कब और कैसे खड़ा हुआ इसका कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, पर प्राचोन स्थविरावलियों का सूक्ष्म पर्यालोचन करने पर इस मत-भेद का बीज हमारी समझ में आ सकता है।

इस समय हमें दो तरह की जैन स्थविरावलियाँ मिलती हैं। पहिली माथुरी—जो नंदि सूत्र के प्रारंभ में भगवान् देवर्द्धिगणि ने दी[८०]

---

८० नंदी सूत्र के प्रारंभ में भगवान् देवर्द्धिगणिजी ने जो स्थविरावली दी है वह हमारे मत से माथुरी वाचनानुगत युगप्रधान स्थविरावली है, पर आचार्य्य मलयगिरिजी मेरुतुंगसूरि प्रभृति आचार्यों का कथन है कि नंदी की थेरावली महागिरि शाखीय देवर्द्धिगणि की गुरुपरंपरा मात्र है। इस विषय का मलयगिरिसूरि का उल्लेख इस प्रकार है—

"तत्र सुहस्तिन आरभ्य सुस्थितसुप्रतिबुद्धादिक्रमेणावलिका विनिर्गता सा यथा दशाश्रुतस्कंधे तथैव द्रष्टव्या, न च तयेहाधिकारः, तस्यामवलिकायां प्रस्तुताध्ययनकारकस्य देववाचकस्याभावात्, तत इह महागिर्यावलिकयाऽधिकारः।"

नंदीसूत्र टीकापत्र ४९।

अर्थात् 'सुहस्ती से शुरू होकर सुस्थित-सुप्रतिबुद्धादि क्रम से जो परंपरा निकली है वह दशाश्रुत स्कंध (कल्प की थेरावली) में लिखी गई है, पर उस का यहाँ अधिकार नहीं है, क्योंकि देववाचक (देवर्द्धिगणि) उस परंपरा के नहीं हैं। यहाँ अधिकार महागिरि की परंपरा का है।'

इसी संबंध में थेरावली टीका में आचार्य्य मेरुतुंग इस प्रकार लिखते हैं—

अत्र चायं वृद्धसंप्रदायः—स्थूलभद्रस्य शिष्यद्वयम्—आर्य्यमहागिरिः आर्य्यसुहस्ती च। तत्र आर्य्यमहागिरेर्या शाखा सा मुख्या। सा चैवं स्थविरावल्यामुक्ता—

सूरि बलिस्सह साई, सामज्जो संडिलो य जीयधरो।
अज्जसमुद्दो मंगू, नंदिल्लो नागहत्थी य॥
रेवइसिंहो खंदिल, हिमवं नागज्जुणा य गोविंदा।
सिरिभूइदिन्न—लोहिच्च—दूसगणिणो य देवड्ढी॥

"असौ च श्री वीरादनु सप्तविंशतमः पुरुषो देवर्द्धिगणिः सिद्धांतान् अव्यवच्छेदाय पुस्तकाधिरूढानकार्षीत्।"

मेरुतुंगीया थेरावली टीका ९।

अर्थात्—'इस विषय में वृद्ध संप्रदाय है कि स्थूलभद्र के दो शिष्य थे

१—आर्य्यमहागिरि और २—आर्य्य सुहस्ती। उनमें आर्य्य महागिरि की शाखा मुख्य थी, वह शाखा स्थविरावली में इस प्रकार कही है—बलिसहसूरि, स्वाति, श्यामाचार्य्य, सांडिल्य, आर्य्यसमुद्र, मंगू, नंदिल, नागहस्ती, रेवति, सिंह, खंदिल, हिमवान्, नागार्जुन, गोविंद, भूतदिन्न, लौहित्य, दुष्यगणि और देवर्द्धि।

इन देवर्द्धिगणि ने, जो महावीर के पीछे के स्थविरों में सत्ताइसवें पुरुष थे, आगमों का विच्छेद न हो जाय इसलिये आगमों को पुस्तकों पर लिखा लिया।'

नंदी टीका के उक्त उल्लेख से हमको दो बातों की सूचना मिलती है, एक तो यह कि देवर्द्धिगणि—जिनका नामांतर देववाचक भी है—आर्य्यमहागिरिजी की शाखा के स्थविर थे और दूसरे, नंदी में जिस स्थविरावली का वर्णन किया है वह वस्तुतः देवर्द्धिगणि की गुरु-परम्परा है।

मेरुतुंग के लेख में इन बातों के उपरांत एक यह बात भी कही गई है कि देवर्द्धिगणि महावीर के पिछले स्थविरों में सत्ताइसवें पुरुष थे।

अब हम इन सूचनाओं की समालोचना करके देखेंगे कि वस्तुतः उक्त सूचनाएँ कहां तक ठीक हैं, और इनकी सत्यता में कुछ प्रमाण भी है या नहीं?

मलयगिरिजी ने नंदी की थेरावली को किस आधार से गुरुशिष्य-परंपरा माना होगा इसकी उन्होंने कुछ भी सूचना नहीं की, पर मेरुतुंग ने इस मान्यता का स्पष्ट खुलासा कर दिया है कि 'इस प्रकार का वृद्धसंप्रदाय है।'

यदि सचमुच ही मेरुतुंग के कथन के अनुसार देवर्द्धिगणि को आर्य्यमहागिरि की शाखा का स्थविर माननेवाला प्राचीन वृद्धसंप्रदाय था, तो मुझे कहना पड़ेगा कि इस संप्रदाय का सत्य होना कठिन है। आज पर्यंत जो जो उल्लेख हमारे दृष्टिगत हुए हैं उनसे तो यही साबित होता है कि देवर्द्धिगणि आर्य्य-महागिरि की शाखा के नहीं, किंतु आर्य्यसुहस्ती की परंपरागत जयंती शाखा के स्थविर थे, और नंदी के आदि में उन्होंने जिन जिन स्थविरों का उल्लेख किया है वे सब गुरुशिष्यपरंपरागत नहीं परंतु युगप्रधान-परंपरागत स्थविर थे। उनके भिन्न भिन्न गच्छ और गुरुओं के शिष्य होने पर भी एक दूसरे के पीछे युगप्रधान-पद प्राप्त होने से देवर्द्धि ने उनको क्रमशः एक-अवलिबद्ध किया है।

हमारी इस मान्यता के समर्थक अनेक कारणों में निम्नलिखित कारण मुख्य हैं—

(१) दशाश्रुतस्कंध के अष्टमाध्याय में वर्णित वीरचरित्र के अंत में वीरनिर्वाण ९८० का उल्लेख होने से मालूम होता है कि यह ग्रंथ देवर्द्धि-

गणि संकलित अथवा इनके द्वारा संस्कृत है, क्योंकि उक्त समय में ही गणिजी ने आगमों को पुस्तकारूढ़ किया था, इस स्थिति में इस अध्ययन में संगृहीत थेरावली भी देवर्द्धिगणि की गुरुपरंपरा ही हो सकती है। यद्यपि इस थेरावली के गद्यभाग में देवर्द्धि का नामनिर्देश नहीं है, पर इसी गद्य के पीछे जो इसका पद्यानुवाद दिया हुआ है उसमें—

"सुत्तत्थरयणभरिए, खमदममद्दवगुणेहिं संपन्ने।
देविड्ढिखमासमणे, कासवगुत्ते पणिवयामि ॥ १४ ॥"

यह देवर्द्धि का निर्देश करनेवाली गाथा विद्यमान है। हो सकता है कि यह गाथा देवर्द्धिगणि की रचना न हो, पर इस थेरावली के अंत में इस गाथा का न्यास होने से यह बात तो निश्चित हो जाती है कि यह थेरावली देवर्द्धिगणि की गुरु-परंपरा है। और इस प्रकार जब देवर्द्धिगणि कल्पसूत्रोक्त थेरावली की आर्य्यसुहस्ती की परंपरा के स्थविर सिद्ध हो गए तो उन्हें आर्य्य-महागिरीय शाखा का स्थविर कहनेवाला वृद्ध संप्रदाय सत्य कैसे हो सकता है?

(२) नंदी-थेरावली गुरु-शिष्य-परंपरा न होने का कारण यह भी है कि उसमें संभूतविजय के बाद भद्रबाहु का और महागिरि के बाद सुहस्ती का वर्णन किया गया है, यदि इसमें गुरु-शिष्य-क्रम से स्थविरों का वर्णन होता तो यहाँ संभूतविजय के पीछे उनके शिष्य स्थूलभद्र का और महागिरि के बाद उन्हीं के पट्टधर शिष्य बलिस्सह का उल्लेख होता। क्योंकि जहाँ गुरु शिष्यों की पट्ट-परम्परा की दृष्टि से पट्टावलियाँ लिखी गई हैं वहाँ संभूतविजय के पीछे उनके पट्टधर स्थूलभद्र का ही नाम लिखा गया है, महागिरि की शाखा में स्थूलभद्र के पीछे महागिरि और उनके बाद उनके शिष्य बलिस्सह का स्थान है। ऐसे ही सुहस्ती की शाखा में स्थूलभद्र, सुहस्ती, सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध इस क्रम से गुरु-परम्परा लिखी जाती थी, पर जहाँ युगप्रधानों की पट्टपरंपरा दिखाने का उद्देश होता वहाँ संभूतविजय के बाद भद्रबाहु और महागिरि के पीछे सुहस्ती का नंबर आता। हम नंदी थेरावली में देखते हैं कि देवर्द्धि ने संभूतविजय के बाद भद्रबाहु और महागिरि के बाद सुहस्ती को स्थविर माना है, इससे ज्ञात होता है कि यह थेरावली गुरु-क्रमवाली थेरावली नहीं पर युग-प्रधान क्रमवाली है।

(३) किसी भी ग्रंथ या प्रकरण के प्रारंभ में अपनी गुरु-परंपरा लिखने का और उसे वंदन करने का रिवाज नहीं था, पर ग्रंथ के अंत में ऐसी परंपरा-प्रशस्तियाँ लिखने मात्र का रिवाज था और अब भी है, ग्रंथ के प्रारंभ में उन्हीं पुरुषों का स्मरण-वंदन किया जाता था जो प्रकृत विषय के अधिक

विद्वान् और मार्गदर्शक हो गए हों, गणिजी ने नंदी में ऐसे पुरुषों की परंपरा का ही वर्णन-वंदन किया है जो अपने अपने समय में आगम के अनुयोग में सर्वश्रेष्ठ होकर युगप्रधान पद भोग चुके थे। गणिजी के अपने शब्दों से भी यही साबित हो रहा है कि नंदी में उन्होंने अपनी गुरु-परंपरा का नहीं परंतु अनुयोगधर युगप्रधान परंपरा का ही वंदन किया है। देखो थेरावली के अंतिम शब्द—

"जे अन्ने भगवन्ते, कालिअसुअआणुओगिरा धीरे।
ते पणमिऊण सिरसा, नाणस्स परूवणं वुच्छं॥ ५०॥"

(४) नंदी-थेरावली में स्वाति सूरि के बाद श्यामार्य्य, और नंदिल के अनंतर नागहस्ती का वर्णन है। ये दोनों आचार्य्य विद्याधर गच्छ के थे ऐसा प्रभावकचरित्र के निम्नलिखित उल्लेख से ज्ञात होता है—

"आसीत्कालिकसूरिः श्री श्रुताम्भोनिधिपारगः।
गच्छे विद्याधराख्ये आर्य्यनागहस्तिसूरयः॥ १५॥"

—प्रभावकचरित्र पादलिप्त प्रबंध ४८।

यह विद्याधर गच्छ आर्य्य सुहस्तीशिष्य सुस्थित—सुप्रतिबुद्ध के शिष्य विद्याधर गोपाल से निकली हुई 'विद्याधरी' शाखा का ही पश्चाद्भावी नाम है। यदि प्रकृत थेरावली आर्य्यमहागिरीय शाखा की गुरुक्रमावली होती तो इसमें सुहस्ती की शाखा के इन दोनों स्थविरों के उल्लेख नहीं होते।

(५) इसी थेरावली में आर्य्य मंगू के अनंतर आर्य्य आनंदिल का निर्देश है। युगप्रधान पट्टावलियों के लेखानुसार आर्य्य मंगू का युगप्रधानत्व पर्याय वीर संवत् ४५१ से ४७० तक था। परन्तु आर्य आनंदिल का समय मंगू से बहुत पीछे का है, क्योंकि ये आर्यरक्षित के पश्चाद्भावी स्थविर थे। आर्यरक्षित का स्वर्गवास वीर संवत् ५९७ में हुआ था इसलिये आर्यानंदिल ५९७ के पीछे के स्थविर हो सकते हैं। इस प्रकार दूर समय में होनेवाले आर्य आनंदिल आर्य मंगू के शिष्य नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त प्रभावकचरित्र में आर्य आनंदिल को आर्य रक्षितजी का वंशज भी कहा है, देखो नीचे का श्लोक—

"आर्यरक्षितवंशीयः, स श्रीमानार्यनन्दिलः।
संसारारण्यनिर्वाहसार्थवाहः पुनातु वः॥ १॥"

—प्रभावकचरित्र।

यदि यह कथन सत्य मान लिया जाय तो आनंदिल सुहस्ती की परंपरा के स्थविर होने से भी आर्य मंगू के शिष्य नहीं हो सकते।

(६) थेरावली में रेवती नक्षत्र के बाद ब्रह्मदीपिक सिंह का उल्लेख है। पर यह कहने की शायद ही जरूरत होगी कि ब्रह्मद्वीपिका शाखा सुहस्ती की

परंपरा के स्थविर आर्यसमित से निकली थी, और सिंह इसी ब्रह्मद्वीपिका शाखा के स्थविर थे—ऐसा स्वयं देवर्द्धि के लेख से ही सिद्ध है, तो अब यह देखना चाहिए कि यदि देवर्द्धि की थेरावली महागिरि शाखा की गुर्वावली होती तो उसमें अन्य शाखा के स्थविर सिंह का उल्लेख क्यों किया जाता ?

(७) सिंह के अनंतर थेरावली में स्कंदिल का वर्णन है, परंतु ये स्कंदिल भी प्रभावकचरित्र आदि ग्रंथों के लेखों से विद्याधर गच्छ के स्थविर थे ऐसा सिद्ध होता है। (देखो टिप्पण नं० ७२)

विद्याधर गच्छ सुहस्ती की शाखा में था यह बात पहले ही कह दी गई है, यदि नंदी थेरावली महागिरिशाखीय स्थविरों की गुरु-परंपरा होती तो उसमें स्कंदिल को स्थान नहीं मिलता।

(८) प्रस्तुत थेरावली में ही देवर्द्धिगणि भूतदिन्न स्थविर के वर्णन में लिखते हैं कि 'भूतदिन्न सूरि नागार्जुन ऋषि के शिष्य और नाइल-कुल-वंश की वृद्धि करनेवाले हैं' देखो थेरावली की निम्नलिखित गाथा में—

"अड्ढभरहप्पहाणे, बहुविहसज्झायसुमुणियपहाणे।
अणुओगियवरवसभे, नाइलकुलवंसनंदिकरे ॥ ४४ ॥
जगभूयहि (हिय) पगब्भे, वंदेऽहं भूयदिन्नमायरिए।
भवभयवुच्छेयकरे, सीसे नागज्जुणरिसीणं ॥ ४५ ॥"

—नंदी थेरावली सूत्र २।

उपर्युक्त नाइल कुल हमारे विचार में नाइली शाखा का ही नाम है। कतिपय लेखकों ने नाइल कुल का तर्जुमा 'नागेंद्र कुल' भी किया है, पर 'नाइल' का रूप 'नागेंद्र' होने के लिये कोई लाक्षणिक नियम नहीं है। कहीं कहीं 'नाइल' के स्थान में 'नागिल' शब्द प्रयुक्त हुआ देखा गया है और यह ठीक भी है। वस्तुतः 'नाइला' शाखा के लिये, जो कि आर्य वज्रसेन के शिष्य आर्य नाइल से निकली थी, पीछे से नाइलकुल, नाइलगच्छ आदि नाम प्रचलित हुए थे। इसलिये स्थविरावली में जो 'नाइलकुल' का उल्लेख है उसका तात्पर्य सुहस्ती शाखानुगत 'नाइला' शाखा से ही है और नाइलकुल को नागेंद्र कुल मान लिया जाय तब भी बात वही है, क्योंकि नागेंद्रकुल भी सुहस्ती शाखानुगत ही है, इसलिये नाइलकुल या नागेंद्रकुल के स्थविर भूतदिन्न और इनके गुरु नागार्जुनसूरि देवर्द्धि के वचन से ही सुहस्ती की परंपरा के सिद्ध होते हैं, यदि देवर्द्धि महागिरि शाखा के स्थविर होते और उन्होंने नंदी में अपनी गुर्वावली का ही वर्णन किया होता तो नागार्जुन और भूतदिन्न आचार्य का यहाँ उल्लेख नहीं किया जाता।

ऊपर के विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि नंदी की थेरावली देवर्द्धि की गुर्वावली नहीं है, किंतु भिन्न भिन्न शाखा और कुल के आचार्यों की युगप्रधानावली है। इसलिये इस थेरावली के आधार पर देवर्द्धिगणि को आर्य महागिरि की शाखा में मानने और इस थेरावली को देवर्द्धि की गुर्वावली मानने का जो वृद्ध संप्रदाय है वह किसी अवस्था में सत्य नहीं हो सकता।

देवर्द्धिगणि को सत्ताईसवाँ पुरुष कहना भी हमारी समझ में कुछ प्रामाणिकता नहीं रखता। क्योंकि युगप्रधान-क्रम से देवर्द्धिगणि ३२ वें युगप्रधान और गुरुशिष्यक्रम में ३४ वें पुरुष थे। यद्यपि मलयगिरि-व्याख्यात नंदी-थेरावली में बलिस्सह के पहले सुहस्ती का नाम शामिल रख और 'गोविंद' का नाम कम करके देवर्द्धि को सत्ताईसवाँ पुरुष ठहराया है, और मेरुतुंग संगृहीत थेरावली गाथाओं में सुहस्ती को कम करके गोविंद का नाम कायम रखकर देवर्द्धि को सत्ताईसवाँ नंबर दिया है, पर हम देखते हैं कि इन दोनों पद्धतियों में एक महत्त्वपूर्ण भूल घुसी हुई है। दोनों थेरावलीकार आर्य मंगू के अनंतर आनंदिल का उल्लेख करते हैं—यह एक स्पष्ट भूल है, क्योंकि मंगू का युगप्रधानत्वकाल तो निर्वाण संवत् ४७० में ही पूरा हो गया था, तब आनंदिल का युगप्रधानत्व पर्याय निर्वाण से ५९७ वर्ष के बाद किसी समय में शुरू हुआ था। अब देखना चाहिए कि मंगू से कम से कम १२७ वर्ष पीछे होनेवाले आर्य आनंदिल मंगू के उत्तराधिकारी युगप्रधान कैसे हो सकते हैं? इस गड़बड़ का अर्थ हम यही करेंगे कि आर्य मंगू और आनंदिल के बीच के कतिपय युगप्रधानों के नाम इन सूचियों में से छूट गए हैं, इन छूटे हुए नामों का पता भी हम आसानी से लगा सकते हैं। हमारे पास एक सटीक और एक मूल मात्र नंदी की थेरावली है। इन दोनों में आर्य मंगू के पीछे आर्य धर्म, भद्रगुप्त, वज्र और आर्य रक्षित के वर्णन की नीचे लिखित गाथाएँ उपलब्ध होती हैं—

"वंदामि अज्जधम्मं, वंदे तत्तो अ भद्दगुत्तं च।
तत्तो अ अज्जवयरं, तवनियमगुणेहिं वयरसमं॥ ३१॥
वंदामि अज्जरक्खिय-खमणे रक्खिअचरित्त सव्वस्से।
रयणकरंडगभूओ, अणुओगो रक्खिओ जेहिं॥ ३२॥"

—मूल नंदी थेरावली २।

आचार्य मेरुतुंग के एक उल्लेख से भी ज्ञात होता है कि उनके समय में उक्त गाथाएँ नंदी की थेरावली में मौजूद थीं, देखो निम्नलिखित उल्लेख—

"स्थविरावल्यां तु आर्यमंगोः परोऽनु आर्यधर्म-भद्रगुप्त-वज्रस्वामि-आर्यरक्षिताभिन्नशाखोद्भवा अपि तस्मिन् समये प्रधानपुरुषा इत्युपात्ताः।"
—विचारश्रेणि पत्र ४।

आर्य गोविंद के वर्णन की निम्नलिखित गाथा भी हमारी थेरावली में इष्टिगत होती है—

"गोविंदाणं पि नमो, अणुओगे विउलधारिणिंदाणं।
निच्चं खंतिदयाणं, परूवणादुल्लभिंदाणं ॥ ४१ ॥"
—मूल नंदी थेरावली २।

मलयगिरि की व्याख्यात नंदी थेरावली में उक्त तीनों गाथाएँ नहीं हैं और संभव है दूसरी टीकाओं में भी ये न हों, पर ये गाथाएँ हैं देवर्द्धिकृत। जिस प्रकार वालभी वाचना के अनुयायियों ने युगप्रधान गंडिका प्रभृति प्रकीर्णक ग्रंथों में अपनी परंपरागत युगप्रधानावली का क्रम दिया है उसी प्रकार देवर्द्धि जी ने भी इस थेरावली में माथुरी वाचनानुयायी युगप्रधान-थेरावली का वर्णन किया है, इसमें कुल ३१ युगप्रधानों का क्रम वर्णित है, पर जब से देवर्द्धि को २७ वाँ पुरुष मानने की दंतकथा प्रचलित हुई तब से इस थेरावली में धर्म, भद्रगुप्त, वज्र, आर्य्यरक्षित और गोविंद के वर्णन की गाथाएँ प्रक्षिप्त समझी जाकर निकाल दी गईं। वस्तुतः उक्त गाथाएँ नंदी की ही हैं और इस हिसाब से देवर्द्धि २७ वें नहीं पर ३२ वें युगप्रधान ठहरते हैं।

दशाश्रुतस्कंधोक्त थेरावली में आर्य्यसुहस्ती की परंपरा में देवर्द्धि का नाम आने से वे इसी शाखा के स्थविर थे यह बात मान लेने में कुछ भी विरोध नहीं है, और इस थेरावली की गणना के अनुसार देवर्द्धिगणि २७ वे नहीं किंतु ३४ वें पुरुष प्रतीत होते हैं। पाठकगण के दर्शनार्थ हम दशाश्रुत-स्कंधोक्त देवर्द्धिगणि की गुरु परंपरा नीचे लिख देते हैं—

देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की गुर्वावली

श्री महावीर

१	आर्य सुधर्मा		९	आर्य	सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध
२	,,	जंबू	१०	,,	इंद्रदिन्न
३	,,	प्रभव	११	,,	दिन्न
४	,,	शय्यंभव	१२	,,	सिंहगिरि
५	,,	यशोभद्र	१३	,,	वज्र
६	,,	संभूतविजय-भद्रबाहु	१४	,,	रथ
७	,,	स्थूलभद्र	१५	,,	पुष्यगिरि
८	,,	सुहस्ती	१६	,,	फल्गुमित्र

१७	आर्य	धनगिरि	२६	आर्य	संपलित-भद्र
१८	,,	शिवभूति	२७	,,	वृद्ध
१९	,,	भद्र	२८	,,	संघपालित
२०	,,	नक्षत्र	२९	,,	हस्ती
२१	,,	रक्ष	३०	,,	धर्म
२२	,,	नाग	३१	,,	सिंह
२३	,,	जेहिल	३२	,,	धर्म
२४	,,	विष्णु	३३	,,	सांडिल्य
२५	,,	कालक	३४	,,	देवर्द्धिगणि

इस गुरुक्रमावली से ज्ञात होगा कि देवर्द्धिगणि ३४ वें पुरुष थे और वे आर्य सांडिल्य के शिष्य थे। आचार्य्य मलयगिरिजी इनको दूष्यगणि के शिष्य लिखते हैं (दूष्यगणि शिष्यो देववाचकः)। प्रसिद्धि में भी देवर्द्धिगणि दूष्यगणि के ही शिष्य कहलाते हैं पर हम समझ सकते हैं कि मलयगिरिजी का उल्लेख और उक्त प्रसिद्धि नंदी थेरावली को देवर्द्धि की गुरुक्रमावली मान लेने का ही फल है और जब हम यह देख चुके हैं कि नंदी थेरावली देवर्द्धि की गुरुपट्टावली नहीं है, तब उसके आधार पर यह कैसे मान लें कि देवर्द्धिगणि दूष्यगणि के शिष्य थे। कल्प थेरावली में भी दूष्यगणि का नामनिर्देश नहीं है, पर यहाँ अंत्यनाम सांडिल्य का है, इससे जाना जाता है कि देवर्द्धिगणि के दीक्षागुरु आर्य सांडिल्य ही होने चाहिएँ। नंदी में देवर्द्धि के पहले दूष्यगणि का नाम होने का अर्थ यह हो सकता है कि वे देवर्द्धिगणि के पुरोगामी युगप्रधान होंगे।

देवर्द्धिगणि की गुर्वावली का कोष्ठक ऊपर दिया जा चुका है, अब हम नंदी थेरावली में दी हुई माथुरी वाचनानुसारिणी युगप्रधान पट्टावली को अवतरित करेंगे जिसमें पाठकगण देख सकेंगे कि देवर्द्धिगणि को हम ३२ वाँ युगप्रधान किस प्रकार मानते हैं।

माथुरी युगप्रधान पट्टावली

भगवान् महावीर

१	आर्य	सुधर्मा	७	आर्य	भद्रबाहु
२	,,	जंबू	८	,,	स्थूलभद्र
३	,,	प्रभव	९	,,	महागिरि
४	,,	शय्यंभव	१०	,,	सुहस्ती
५	,,	यशोभद्र	११	,,	बलिस्सह
६	,,	संभूतविजय	१२	,,	स्वाति

है, और दूसरी वालभी—जो युगप्रधान पट्टावलि के नाम से प्रसिद्ध है।[८१]

१३ आर्य श्यामार्य		२३ आर्य रेवतिनक्षत्र	
१४ ,, सांडिल्य		२४ ,, ब्रह्मद्वीपक सिंह	
१५ ,, समुद्र		२५ ,, स्कंदिलाचार्य	
१६ ,, मंगु		२६ ,, हिमवंत	
१७ ,, आर्यधर्म		२७ ,, नागार्जुन	
१८ ,, भद्रगुप्त		२८ ,, गोविंद	
१९ ,, वज्र		२९ ,, भूतदिन्न	
२० ,, रक्षित		३० ,, लौहित्य	
२१ ,, आनंदिल		३१ ,, दूष्यगणि	
२२ ,, नागहस्ती		३२ ,, देवर्द्धिगणि	

८१ युगप्रधान पट्टावली के नाम से प्रसिद्ध जो जो स्थविरावलियाँ आजकल उपलब्ध होती हैं वे सब वालभी वाचनानुयायी युगप्रधान स्थविरावलियाँ हैं, इनमें माथुरी वाचना के प्रवर्तक स्कंदिलाचार्य का नामोल्लेख तक नहीं है। इसमें स्कंदिल और हिमवंत के युगप्रधानत्व समय को भी नागार्जुन के समय में मान लिया मालूम होता है, क्योंकि मेरुतुंग के कथन के अनुसार स्कंदिल-हिमवंत और नागार्जुन के मिलकर ७८ वर्ष होते हैं पर इन पट्टावलियों में स्कंदिलहिमवंत का कुछ भी निर्देश न करके ७८ वर्ष अकेले नागार्जुन के पर्याय के मान लिए गए हैं।

माथुरी वाचना का अनुसरण करनेवाले देवर्द्धिगणि का भी इसमें उल्लेख नहीं है तथा इस स्थविरावली में आर्य रक्षितजी का युगप्रधानत्व काल निर्वाण संवत् ५८५ से ५९७ तक माना गया है। इन सब बातों का विचार करने के बाद हमने यह निश्चय किया है कि युगप्रधान गंडिका दुष्षमा संघ-स्तोत्र आदि में जिन युगप्रधान पट्टावलियों का निरूपण किया गया है वे सब नागार्जुनीय-वालभी वाचनानुगत स्थविरावलियाँ हैं। आर्य सुहस्ती पर्यंत माथुरी थेरावली के साथ इस पट्टावली का कोई मतभेद नहीं है पर उसके बाद कहीं कहीं भिन्नता आ गई है और आर्य रक्षित के पीछे तो इनकी भिन्नता और भी बढ़ गई है। माथुरी की गणना के अनुसार आर्य रक्षित जी २० वें स्थविर थे, वे निर्वाण संवत् ५८४ में स्वर्गवासी हुए और इनके पीछे ३९६ वर्ष में देवर्द्धि सहित १२ युगप्रधान हुए और देवर्द्धि ने ९८० में पुस्तकोद्धार किया, पर वालभी परंपरानुसार आर्य रक्षित १९ वें युगप्रधान थे और निर्वाण संवत् ५९७ में वे स्वर्गवासी हुए थे, इनके पीछे ३९६ वर्ष में कालकपर्यंत ८ युग-

प्रधान हुए और कालकाचार्य के अंतिम वर्ष निर्वाण संवत् ६६३ में वालभी में पुस्तकोद्धार हुआ। माथुरी और वालभी गणना में निर्वाण संवत् विषयक १३ वर्ष का मतभेद था यह बात इसी लेख में आगे जाकर कही जायगी। इसलिये उपर्युक्त माथुरी के ६८० और वालभी के ६६३ वर्ष वस्तुतः एक ही समय के सूचक भिन्न भिन्न अंक हैं। इससे एक बात स्पष्ट होती है, वह यह कि माथुरी वाचनानुयायी देवर्द्धिगणि और वालभी वाचनानुसारी कालकाचार्य एक ही समय में दो व्यक्ति थे, पर विशेषता यह है कि देवर्द्धि माथुरी थेरावली के ३२ वें पुरुष थे तब कालकाचार्य वालभी युगप्रधानावली के २७ वें युगप्रधान पुरुष थे। क्या आश्चर्य्य है, कालक के २७ वें पुरुष होने से ही इनके सम-कालीन देवर्द्धिगणि के संबंध में भी २७ वें पुरुष होने की प्रसिद्धि चल पड़ी हो।

माथुरी युगप्रधानावली का क्रम ऊपर दिया जा चुका है, अब हम वालभी युग-प्रधान थेरावली के देवर्द्धिगणि के समय तक के युगप्रधानों का क्रम लिखेंगे जिसमें जिज्ञासु गण देख सकें कि इन दोनों परंपराओं में एकता और भिन्नता कहाँ कहाँ है।

वालभी युगप्रधान पट्टावली

		भगवान् महावीर		१५	आर्य	मंगू	२०
१	आर्य	सुधर्मा	२०	१६	,,	धर्म	२४
२	,,	जम्बू	४४	१७	,,	भद्रगुप्त	४१
३	,,	प्रभव	११	१८	,,	वज्र	३६
४	,,	शय्यंभव	२३	१९	,,	रक्षित	१३
५	,,	यशोभद्र	५०	२०	,,	पुष्यमित्र	२०
६	,,	संभूतविजय	८	२१	,,	वज्रसेन	३
७	,,	भद्रबाहु	१४	२२	,,	नागहस्ती	६९
८	,,	स्थूलभद्र	४६	२३	,,	रेवति मित्र	५९
९	,,	महागिरि	३०	२४	,,	सिंहसूरि	७८
१०	,,	सुहस्ती	४५	२५	,,	नागार्जुन	७८
११	,,	गुणसुंदर	४४	२६	,,	भूतदिन्न	७९
१२	,,	कालकाचार्य	४१	२७	,,	कालकाचार्य	११
१३	,,	स्कंदिलाचार्य	३८				
१४	,,	रेवतिमित्र	३६				९८१

उपर्युक्त पट्टावली के संबंध में हमें दो चार बातों का खुलासा करना जरूरी है, क्योंकि यह हमारी संशोधित पट्टावली है। प्रचलित अधिकतर पट्टावलियों में आर्य मंगु का नाम नहीं मिलता और आर्य धर्म का युग-

आर्य सुहस्ती तक ये दोनों स्थविरावलियाँ एक मार्ग पर चलती हैं, पर इसके आगे कहीं कहीं भिन्न मार्ग भी पकड़ लेती हैं।

आर्य रक्षित सूरि पर्यंत इन दोनों स्थविरावलियों का विधान इस प्रकार है—

माथुरी आर्य सुहस्ती के पीछे आर्य महागिरि के शिष्य बलिसह और इनके बाद स्वाति नामक आचार्य को संघ-स्थविर स्वीकार करती है, पर वालभी इन दोनों की जगह गुणसुंदर नामक किसी अप्रसिद्ध श्रुतस्थविर को यह पद देती है। इन गुणसुंदर का वालभी स्थविरावली के सिवाय कहीं भी नामोल्लेख नहीं मिलता। संभव है, राजा संप्रति की प्रेरणा से दक्षिण में सुदूर तक धर्मप्रचारार्थ जानेवाले आर्य सुहस्ती के किसी शिष्य समुदाय के ये गुणसुंदर मुखिया होंगे।[८२]

प्रधानत्व काल ४४ वर्ष प्रमाण लिखा जाता है, तब हमने इसमें मंगु और धर्म दोनों को स्वतंत्र युगप्रधान माना है और भद्रगुप्त का युगप्रधानत्व ४१ वर्ष का मानकर इनके पीछे जो श्रीगुप्त का नाम लिखा मिलता है उसे निकालकर वालभी गणना में से १३ वर्ष कम कर दिए हैं इस कारण से कालकाचार्य का स्वर्गवास ९८१ में बताया है, अन्यथा प्रचलित वालभी गणनानुसार कालक का अंतिम वर्ष ९९४ में आता। इन सब बातों की चर्चा ऊपर मूल लेख में कर दी गई है इसलिये यहाँ विशेष चर्चा नहीं की जाती।

८२ आचार्य मेरुतुंग गुणसुंदर के संबंध में टीका करते हुए लिखते हैं कि 'दोनों शाखाओं में आर्य सुहस्ती के बाद गुणसुंदर और श्यामाचार्य के बाद स्कंदिल दृष्टिगोचर नहीं होते तो भी संप्रदाय इसी तरह का होने से इनका यहाँ निर्देश किया गया है।' देखो मेरुतुंग के इस विषय के शब्द—

"एवं चाऽत्र शाखाद्वयेऽप्यार्यसुहस्तिनोऽनुगुणसुंदरः श्यामार्यादनु स्कंदिलाचार्यश्च न दृश्यते, तथाऽप्यत्र संप्रदाये दृष्टावतस्तावेव प्रोक्तौ।"

—विचारश्रेणि पत्र ५।

मेरुतुंग के इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि वे माथुरी थेरावली को आर्य महागिरि की शाखा और वालभी थेरावली को आर्य सुहस्ती की शाखा समझते थे। मेरुतुंग जिस संप्रदाय का इशारा करते हैं वह युगप्रधान पट्टावलीकारों का संप्रदाय है। युगप्रधान पट्टावलियों में गुणसुंदर और स्कंदिलाचार्य का नाम है, पर मेरुतुंग के विचार में नंदी थेरावली आर्य महागिरीय शाखा की पट्टावली है और दशाश्रुतस्कंधोक्त थेरावली आर्य सुहस्ती

माथुरी स्थविरावली या अन्य किसी ग्रंथ में गुणसुंदर का उल्लेख न होना भी यही साबित करता है कि ये किसी दूर प्रांत में प्रसिद्धि पाए हुए स्थविर होने चाहिएँ।

इस प्रकार बलिसह और स्वाति के स्थान में अकेले गुणसुंदर को मान लेने से वालभी स्थविरावली में एक नंबर कम हो जाता है।

आगे दोनों में श्यामार्य और संडिल युगप्रधान माने गए हैं।

संडिल के बाद माथुरी में आर्यसमुद्र को और वालभी में रेवती-मित्र को संघस्थविर माना है।

इसके आगे दोनों में आर्य मंगू, आर्य धर्म और भद्रगुप्त स्थविर गिने गए हैं।

माथुरी में भद्रगुप्त के पीछे वज्र और वज्र के बाद आर्यरक्षित का नंबर है, तब वालभी में भद्रगुप्त के पीछे १५ वर्ष तक श्रीगुप्त को संघस्थविर माना है, और इनके पीछे ३६ वर्ष वज्र के और वज्र के बाद आर्यरक्षित का स्थान है।

व्यक्तीकरण इस प्रकार है—

माथुरी के अनुसार	वालभी के अनुसार
१० आर्य सुहस्ती	१० आर्य सुहस्ती
११ बलिसह	११ गुणसुंदर
१२ स्वाति	१२ श्यामार्य

की पट्टावली, इन दोनों शाखाओं की पट्टावलियों में उक्त स्थान पर गुणसुंदर और स्कंदिल का नाम न होने से वे संप्रदाय का सहारा लेते हैं, पर वस्तु-स्थिति इससे भिन्न है। "सूरि बलिस्सह" से आरंभ होनेवाली शाखा माथुरी युगप्रधान पट्टावली है और गुणसुंदर से प्रारंभ होनवाली वालभी युगप्रधान स्थविरावली। पहली में श्यामार्य के पीछे संडिल का नाम है ही, और दूसरी में भी सुहस्ती के पीछे गुणसुंदर युगप्रधान का नाम सर्व थेरावलियों में है ही। इसलिये इस विषय में संप्रदाय का सहारा लेने की कोई जरूरत नहीं है। 'सुट्ठिय सुप्पडि बुद्ध' से आरंभ होनेवाली परंपरा में गुण-सुंदर का नाम न होना स्वाभाविक है, क्योंकि यह सुहस्ती की शिष्यपरंपरा है, न कि युगप्रधान-परंपरा।

१३ श्यामार्य	१३ खंदिल
१४ सांडिल्य	१४ रेवतिमित्र
१५ आर्यसमुद्र	१५ आर्यमंगू
१६ आर्यमंगू	१६ आर्यधर्म
१७ आर्यधर्म	१७ भद्रगुप्त
१८ भद्रगुप्त	१८ श्रीगुप्त
१९ आर्यवज्र	१९ आर्यवज्र
२० आर्यरक्षित	२० आर्यरक्षित

इस प्रकार दोनों स्थविरावलियों में आर्यरक्षित का नंबर २० वाँ है। पर वालभी गणना के लिये आर्यरक्षित का २० वाँ नंबर आना एक विरुद्ध घटना है, क्योंकि इस वाचनानुसारिणी युगप्रधान गंडिका, दुष्षमासंघ स्तोत्र आदि समग्र स्थविरावलियाँ और एतत्संबंधी यंत्रों में आर्यरक्षित को १९ वाँ स्थविर लिखा है, इससे यह बात निश्चित है कि इस वालभी गणना में एक स्थविर का नाम अधिक प्रक्षिप्त हो गया है।

आचार्य मेरुतुंग इस विषय में कहते हैं—

"इह केपि मंगु-धर्मयोर्नाम्नैव भेदमाहुः। तन्मते आर्यधर्मस्य वर्षाणि ४४।"

—विचारश्रेणी २।

अर्थात् 'कोई आचार्य मंगू और धर्म में नाम का ही भेद मानते हैं, याने मंगू और धर्म ये एक ही व्यक्ति के दो नाम कहते हैं, उनके मत में आर्यधर्म के ४४ वर्ष होंगे।'

इस कथन के अनुसार आर्य मंगू का नाम कम करने से आर्य-रक्षित का नंबर १९ वाँ हो सकता है, पर हम देखते हैं कि देवर्द्धि-गणिजी ने नंदी की स्थविरावली में—

"भणगं करगं झरगं पभावगं णाणदंसणगुणाणं।
वंदामि अज्जमंगुं, सुयसागरपारगं धीरं॥ ३०॥
वंदामि अज्जधम्मं, वंदे तत्तो अ भद्दगुत्तं च।"

इस तरह आर्यमंगू और धर्म का जुदा जुदा वंदन किया है। अन्य शास्त्रों से भी मंगू और धर्म की भिन्नता प्रगट होती है, इसलिये हमारे मत में मंगू और धर्म को एक मानना निराधार ही नहीं, शास्त्रविरुद्ध भी है।

मेरे नम्र अभिप्राय से तो मंगू का नहीं, पर भद्रगुप्त के बाद श्रीगुप्त का नाम वालभी स्थविरावली में अधिक प्रक्षिप्त हो गया है।

माथुरी स्थविरावली में भद्रगुप्त के पीछे सीधा आर्यवज्र का ही स्थान है।

निम्नलिखित घटनाएँ भी श्रीगुप्त के प्रक्षिप्तपन की ही सूचक हैं—

'आर्यरक्षित ने पूर्वश्रुत का अध्ययन करने के लिये आर्यवज्र की ओर विहार किया, इस बीच में उज्जयिनी में उन्हें स्थविर भद्रगुप्त मिले और उन्होंने अपने अनशननिर्यामण के लिये आर्यरक्षितजी को रोका। भद्रगुप्त के स्वर्गवास के बाद रक्षितार्य वज्रस्वामी के पास गए और पूर्वश्रुत का अध्ययन किया।'[८३]

वालभी स्थविरावली में भद्रगुप्त का स्वर्गवास निर्वाण संवत् ५३३ में हुआ लिखा है और आर्य रक्षित की दीक्षा ५४४[८४] में। अब

---

८३ आर्यरक्षितजी की दीक्षा, पूर्वश्रुताध्ययन के निमित्त—आर्य वज्र की ओर विहार, उज्जयिनी में स्थविरभद्रगुप्त का मिलाप, रक्षितार्य के द्वारा भद्रगुप्त की निर्यामणा और वज्र के पास रक्षितार्य का पूर्वश्रुत पठन इत्यादि बातों को सविस्तर जानने के लिये जिज्ञासुओं को आवश्यक निर्युक्ति की "देविंदवंदिएहिं" इस गाथा की चूर्णि (पृष्ठ ३६७ से ४१५ तक) या टीका देखनी चाहिए।

८४ वालभी थेरावली की "रेवइमित्ते छत्तीस" इस गाथा में आर्य मंगू का स्वर्गवास निर्वाण संवत् ४७० के अंत में बताया है और उसके बाद "चउवीस अज्जधम्मे" इस गाथा में २४ वर्ष आर्य धर्म के और ३९ वर्ष भद्रगुप्त के लिखे हैं, इस हिसाब से (४७० + २४ + ३९ = ५३३) पाँच सौ तेंतीसवें वर्ष में भद्रगुप्त का स्वर्गवास प्राप्त होता है। उधर इसी पट्टावली के—

"सिरिगुत्तिपनरवहरे, छत्तीसं एव पणचुलसी॥
तेरसवासाणि सिरिअज्जरक्खिए"

देखना चाहिए कि ५४४ में दीक्षित होनेवाले आर्यरक्षितजी ५३३ में भद्रगुप्त की निर्यामणा किस तरह करा सकते हैं ? [८५]

इस लेखानुसार निर्वाण संवत् ५८४ में आर्य वज्र का स्वर्गवास होने पर आर्यरक्षित जी युगप्रधान बनते हैं और ५९७ पर्यंत १३ वर्ष तक वे युग-प्रधान पद पर रहते हैं। वालभी थेरावली में ही आर्य रक्षित का सामान्य श्रमण पर्याय ४० वर्ष का लिखा है, ये ४० वर्ष ५८४ में से निकाल देने पर ५४४ वर्ष बचेंगे जो कि आर्य रक्षितजी का दीक्षा-समय होगा।

८५ यह असंगति उपाध्याय धर्मसागरजी के भी लक्ष्य में थी पर उनको इसकी संगति करने का कोई रास्ता नहीं सूझा, वे इस शंका को बहुश्रुतों के सुपुर्द करके ही रह गए हैं, सागरजी का उक्त शंकास्थल नीचे दिया जाता है—

"तत्र श्रीवीरात् त्रयस्त्रिंशदधिकपञ्चशत ५३३ वर्षे श्रीआर्यरक्षितसूरिणा श्रीभद्रगुप्ताचार्यो निर्यामितः स्वर्गभागिति पट्टावल्यां दृश्यते, परं दुष्षमासंवत्सरयंत्रकानुसारेण चतुश्चत्वारिंशदधिकपञ्चशत ५४४ वर्षातिक्रमे श्रीआर्यरक्षित-सूरीणां दीक्षा विज्ञायते तथा चोक्तसंवत्सरे निर्यामणं न संभवतीत्येतद् बहुश्रुतगम्यम् ॥"

—धर्मसागरीय तपागच्छपट्टावली प० ४।

सागरजी की इस शंका का समाधान यही है कि भद्रगुप्त का निर्यामण सं० ५३३ में नहीं पर ५३५ में हुआ था; पट्टावलियों में जो ५३३ वर्ष लिखे हैं वे मतांतर से भद्रगुप्त के युग-प्रधानपद-निक्षेप के हैं, अर्थात् किसी के मत से ५३३ में भद्रगुप्त ने युगप्रधान पद छोड़ा और ५३५ में वे आर्यरक्षित से निर्यामण पाकर स्वर्गवासी हुए, पर हमारे मत से भद्रगुप्त वी० सं० ५३५ तक युगप्रधान रहे थे, उनके बाद १५ वर्ष तक जो श्रीगुप्त नामक युगप्रधान का समय माना गया है वह वस्तुतः प्रक्षिप्त है। इसलिये प्रस्तुत गणना में से इसे निकाल देना चाहिए, ऐसा करने पर फलितार्थ-स्वरूप वी० सं० ५३५ में भद्रगुप्त का स्वर्गवास तथा आर्य वज्र का युगप्रधान पद, ५७१ में आर्य वज्र का स्वर्गवास तथा आर्य रक्षित का युगप्रधान पद और ५८४ में आर्य रक्षित का स्वर्गवास तथा पुष्यमित्र का युगप्रधानपद आयगा। माथुरी वाचना-नुसारी आवश्यक नियुक्ति में आर्य रक्षित का स्वर्गवास वीर सं० ५८४ में ही लिखा है। आर्य रक्षितजी का कुल श्रमणत्व पर्याय ५३ वर्ष का था इस-लिये पूर्वोक्त ५८४ में से ५३ वर्ष निकाल देने पर उनका दीक्षा समय वीर सं० ५३१ में आयगा, इस हिसाब से आर्य रक्षित ने वी० सं० ५३० में दीक्षा ली और अपने ही दीक्षागुरु तोसलिपुत्राचार्य के पास ५ वर्ष तक अभ्यास करके सं० ५३५ में वे वज्र स्वामी के पास अभ्यास करने के लिये निकले, बीच में

इस विरोध से यह बात तो स्पष्ट हो जाती है कि भद्रगुप्त के बाद आर्यरक्षित के पहले के समय की गणना में ही कहीं गड़बड़ हो गई है, और इस गड़बड़ का कारण हमारी समझ में वालभी स्थविरावली में भद्रगुप्त के पीछे श्रीगुप्त के समय को भिन्न मानना—यही हो सकता है।

माथुरी वाचनानुगत आवश्यक निर्युक्ति और चूर्णि के मत से आर्यरक्षितजी का स्वर्गवास निर्वाण संवत् ५८४ में हो जाता है,[८६] पर वालभी स्थविरावली में इनका स्वर्गवास वीर संवत् ५९७ में होना लिखा है।[८७] आचार्य देवर्द्धिजी ने कल्पसूत्र में निर्वाण विषयक १३ वर्ष का जो मत-भेद सूचित किया है उसका यह प्रत्यक्ष उदाहरण है।

यदि भद्रगुप्त का युगप्रधानत्व पर्याय ३९ के स्थान में ४१ वर्ष का मान लिया जाता—जैसा कि वालभी स्थविरावली की ही एक गाथा

उज्जयिनी में उन्हें भद्रगुप्त मिले और उनको निर्यामण कराया, इस प्रकार १३ वर्ष का क्षेपक प्रस्तुत गणना में से निकाल देने पर उपाध्याय धर्मसागरजी की बहु-श्रुतगम्य शंका का निराकरण स्वयं हो जाता है।

८६ आवश्यक चूर्णि, उत्तराध्ययन टीका आदि में निह्नवोत्पत्ति अधिकार में गोष्ठामाहिल निह्नव की उत्पत्ति भी विस्तारपूर्वक लिखी गई है जिसका सार यही है कि 'आर्य रक्षितजी का स्वर्गवास हुआ उसी वर्ष दशपुर नगर में गोष्ठा-माहिल ने 'अबद्धिक' मत निकाला। गोष्ठामाहिल का अबद्धिक-मत आवश्यक नियुक्ति के लेखानुसार वीर सं० ५८४ में निकला था, देखो निम्न-लिखित गाथा—

"पंच सया चुलसीया, तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स।
तो अबद्धियदिट्ठी, दसउरनयरे समुप्पन्ना ॥ २६५ ॥"

—आवश्यक नियुक्ति।

इस प्रकार जब गोष्ठामाहिल के मत की उत्पत्ति ५८४ में है तो इसके पूर्व भावी आर्य रक्षितजी का स्वर्गवास-समय भी ५८४ में ही हो सकता है, पीछे नहीं।

८७ इसके लिये टिप्पण नं० ८४ देखो।

में लिखा है,[८८] और गणना में से श्रीगुप्त के १५ वर्ष—जो प्रक्षिप्त हैं—कम कर दिए जाते तो उक्त सब विरोध मिट जाता और—

"अयं असीइमें संवच्छरे काले गच्छइ"

—इस मान्यतावाली माथुरी वाचना के साथ—

"वायणंतरे पुण अयं तेणउए संवच्छरे काले गच्छइ"

—इस आशयवाली वालभी वाचना एकरूप हो जाती।

एक ही भूल का परिणाम

अब हम उस भूल के संबंध में कुछ लिखेंगे, जो चिरकाल से हमारी राजत्वकालगणना में चली जा रही है, और जिसके कारण जैन इतिहास की अनेक सत्य घटनाएँ विद्वानों की दृष्टि में शंकित

---

८८ आचार्य मेरुतुंग ने अपनी विचार श्रेणि में प्रथम उदय के युग-प्रधानों का गृहस्थ-सामान्यश्रमण-युग प्रधानत्व-पर्याय बतानेवाली स्थविरावली की जो गाथाएँ दी हैं उनमें स्कंदिल, रेवतीमित्र, धर्म, भद्रगुप्त, श्रीगुप्त और वज्र का क्रमशः युगप्रधानत्व पर्याय बतानेवाला गाथा खंड इस प्रकार है—

"अडतीसा छत्तीसा चउचत्तिगयालपनरछत्तीसा।"

इसमें भद्रगुप्त का युगप्रधानत्व समय बतानेवाला शब्द "इगयाल" है, इसका संस्कृत पर्याय "एकचत्वारिंशत्" है, जो ४१ संख्या का वाचक है। यहाँ मूल शब्द "इगुणयाल" होगा ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर गाथा में "चउचत्तिगुणयाल" ऐसा रूप होगा जो छंदोभंग होने के कारण प्रत्यक्ष अशुद्ध है। प्रस्तुत थेरावली गाथा में "इगुणयाल" के स्थान जो "इगयाल" शब्द आ पड़ा है वह अवश्य ही कारणिक है और जहाँ तक मेरा खयाल है इसका कारण भद्रगुप्त का ४१ वर्ष प्रमाण युग प्रधानपर्याय माननेवाली कोई परंपरा है, इसी परंपरा के स्मरणवश थेरावलीकार ने ३९ संख्यावाचक 'इगुणयाल' शब्द के स्थान में ४१ वाचक 'इगयाल' शब्द लिख दिया है। बहुत संभव है, माथुरी स्थविरावली भद्रगुप्त का युग-प्रधानत्व पर्याय ४१ वर्ष प्रमाण मानती होगी, भद्रगुप्त के बाद यह थेरावली आर्य वज्र को युगप्रधान मानती है और आर्यरक्षित का स्वर्गवास वी० सं० ५८४ में मानती है इससे भी यही पाया जाता है कि इस स्थविरावलीकार के मत में भद्रगुप्त का युगप्रधानत्व पर्याय ४१ वर्ष का ही होगा।

हो गई हैं। पर आश्चर्य है कि उस मूल अशुद्धि की तरफ़ किसी की नजर नहीं पहुँची।

मैंने जो पहले 'राजत्वकालगणना' का वर्णन किया है उसमें नंदों के १५०, मौर्यों के १६० और पुष्यमित्र के ३५ वर्ष दिए हैं[८९], पर पाठकगण देखेंगे कि आजकल इस विषय की जो जो गाथाएँ हमें उपलब्ध होती हैं उन सभो में नंदों के १५५, मौर्यों के १०८ और पुष्यमित्र के ३० वर्ष लिखे हुए मिलते हैं, जो कि एक चिरकालीन अशुद्धि का परिणाममात्र है।[९०]

८९ पुराणकारों ने ३६ वर्ष तक पुष्यमित्र का राज्य करना लिखा है, इसके लिये देखो टिप्पण नं० ३७।

९० 'तित्थोगाली पइन्नय' विविध 'पट्टावली' और 'दुष्षमाकाल गंडिका' आदि जिन जिन ग्रंथों में प्रकरणों में राजत्व काल-गणना के उल्लेख हैं वहाँ सर्वत्र इसी प्रकार का कालनिर्देश है, केवल एक पुस्तक में (जिसका मैंने 'दुष्षमाकालगंडिकासार' इस नाम से पहले उल्लेख किया है) पालक का २० और नंदों का १५८ वर्ष का राज्यकाल लिखा है पर प्राचीन न होने की वजह से इस उल्लेख पर हम विश्वास नहीं कर सकते।

आचार्य हेमचंद्र वीर निर्वाण से ६० वर्ष बीतने पर नंदराज्य का प्रारंभ बताते हैं, देखो निम्नलिखित परिशिष्ट पर्व का श्लोक—

"अनंतरं वर्धमान-स्वामिनिर्वाणवासरात्।
गतायां षष्टिवत्सर्यामेष नंदोऽभवन्नृपः॥ २४३॥

—परिशिष्ट पर्व सर्ग ६ पत्र ६५।

इससे यह बात तो निश्चित है कि हेमचंद्र ने पालक संबंधी ६० वर्ष छोड़ नहीं दिए हैं, पर वे वी० सं० १५५ में मौर्य राज्य का प्रारंभ हुआ बताते हैं, यह एक नई हकीकत है। मालूम होता है कि हेमचंद्र पर नंदराज्य के १०० वर्ष बतानेवाले पुराणों का असर होगा जिससे नंदों के १५० वर्ष के स्थान केवल ९५ वर्ष ही मान लिए हैं और ऐसा करके उन्होंने भद्रबाहु-चंद्रगुप्त संबंधी दंत-कथाओं को संगत करने तथा आर्य महागिरि और आर्य्य सुहस्ती के समय के साथ संप्रति के समय का समन्वय करने की बुद्धि से १५५ में चंद्रगुप्त का राजा होना लिख दिया है। मौर्य राजाओं और पुष्यमित्र का राजत्वकाल कितना था इसका हेमचंद्र के ग्रंथों में उल्लेख नहीं है, पर इनके पहले और पीछे के सभी ग्रंथों में यह गलत समय ही लिखा हुआ मिलता है।

नंदों की वर्षसंख्या बतानेवाले "पुण पण्णसयं" इस वाक्यांश के "पुण" शब्द का अशुद्ध रूप "पण" होकर "पण्णसयं" के साथ मिल जाने से और "पणतीसा पूसमित्तस्स" इस वाक्य खंड के पंचवाचक "पण" शब्द के "पुण" होकर तीसा के पीछे चले जाने से दोनों जगह पाँच वर्ष की कमी बेशी हो गई, पर आखिरी संख्या बराबर रह जाने से यह सूक्ष्म भूल किसी के ध्यान में नहीं आई।

आजकल की गाथाओं में मौर्य-काल-सूचक गाथांश—

"अट्ठसयं मुरियाणं"

—यह है, पर इन गाथाओं के मूल ग्रंथ 'तित्थोगाली पइन्नय' में उक्त गाथांश—

"मरुआ(मुरिया)णं अट्ठसयं"

—इस प्रकार है। अवश्य ही यह पाठ भी अशुद्ध है पर इस उपन्यास में से अशुद्धि का मूल हम जल्दी पकड़ सकते हैं।

वस्तुतः "मुरियाणं अट्ठसयं" की जगह "मुरियाणं सट्ठिसयं" पाठ था, पर लेखक की गलती से "सट्ठिसयं" के "स" के स्थान "म" हो गया,[६१] पिछले शोधकों ने इस "मट्ठिसयं" का

६१ केवल "सट्ठिसय" में ही 'स' के स्थान पर 'म' नहीं हुआ, दूसरे भी अनेक शब्दों 'स' के 'म' और 'म' के 'स' हुए तित्थोगाली की प्रति में अभी तक दृष्टिगोचर हो रहे हैं, पाठकगण के दर्शनार्थ हम इस विषय के थोड़े से उदाहरण यहाँ उद्धृत करेंगे।

'स' का 'म' होने के उदाहरण—

तित्थोगाली पत्र, गाथा, पाद

अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
मुरा० । ६ । २०८—२ ।	सुरा० ।
रारवयवामे । १३ । ३१६—२ ।	रारवयवासे ।
निमुंभे य । २३ । ६१०—२ ।	निसुंभे य ।
मंजतो । २६ । ६८०—२ ।	संजतो ।
मुयनिसिल्लो । ३० । ८०६—४ ।	सुयनिसिल्लो ।

अर्थ एक सौ आठ किया और "मट्ठि" के "म्" और "इ" को गलत समझकर उन्हें ठीक करके "मुरियाणं अट्ठसयं" पाठ बना लिया, पर इसमें भी वैकल्पिक संधि से "मुरियाणमट्ठसयं" होकर कहीं मात्रा न घट जाय इस चिंता से पिछले लेखकों ने इसकी काया ही पलट कर "अट्ठसयं मुरियाणं" बना लिया।

अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
सुयरयण । ३२ । ८४६—४ ।	सुयरयण ।
मंकिण्णा । ३४ । ६१२—४ ।	संकिण्णा ।
भमुंडिय । ३६ । ६५०—१ ।	भसुंडिय ।
मुणिविट्ठो । ४५ । ११६६—४ ।	सुणिविट्ठो ।
'म' का 'स' होने के उदाहरण—	
परीसाणं । १ । १३—४ ।	परीमाणं ।
सुहकमला । ११ । २७०—४ ।	मुहकमला ।
धणियसुज्जंता । २५ । ६६७—२ ।	धणियमुज्जंता ।
०सुवट्टिओ । २८ । ७६८—४ ।	०मुवट्टिओ ।
सुतिहिंति । ३५ । ६३५—२ ।	मुतिहिंति ।
सुस्सुर । ३५ । ६३७—२—४ ।	मुम्मुर ।
सुसुर । ३६ । ६६५—४ ।	मुमुर ।
०सासणे । ३६ । १०५०—२ ।	०मासणे ।
रत्थासुह । ४० । १०५८—४ ।	रत्थामुह ।
सहसेण । ४१ । १०६७—४ ।	महसेण ।
सुहे । ४२ । ११४२—४ ।	मुहे ।
सुंचा । ४३ । ११५८—३ ।	मुंचा ।
सुत्तमं । ४४ । ११६७—१ ।	मुत्तमं ।
सुत्ती । ४५ । १२०८—२ ।	मुत्ती ।
सुणह । ४५ । १२२२—४ ।	मुणह ।

उपर्युक्त उदाहरण परंपरा तित्थोगाली की एक प्राचीन प्रति से उद्धृत की गई है। पाठक महाशय इससे यह समझ सकेंगे कि 'स' के स्थान 'म' हो जाने का हमने जो उल्लेख किया है वह कुछ भी क्लिष्ट-कल्पना नहीं है, पूर्व काल में लेखकों की अज्ञता के कारण 'स' का 'म' हो जाना और 'म' का 'स' हो जाना साधारण बात थी, हमने ऊपर 'स' के स्थान में 'म' के लिखे जाने के जो अनेक उदाहरण दिए हैं उन्हीं की कोटि का 'सट्ठि' का 'मट्ठि' होने का भी एक उदाहरण समझ लीजिए।

इस प्रकार यह भूल और इसका इतिहास है। यह भूल कुछ आजकल की नहीं है, चौदहवीं सदी में तो यह भूल अपना वास्तविक स्वरूप भुलाकर शुद्ध गणना के नाम से प्रसिद्ध हो चुकी थी, जैसा कि आचार्य मेरुतुंग की विचारश्रेणि से ज्ञात होता है। संभव है, उसके भी बहुत पहले यह इसी रूप में रूढ़ हो चली हो।

इस भूल का जैन इतिहास पर क्या असर पड़ता है, वह भी जरा देख लेने योग्य है।

प्रभावकचरित्र और इससे भी प्राचीन प्रबंधों में लिखा है कि आर्य खपट जब भरोच में विचरते थे उस समय वहाँ कालकाचार्य के भानजे बलमित्र भानुमित्र का राज्य था। प्रचलित अशुद्ध गणनानुसार बलमित्र भानुमित्र का राज्य निर्वाण संवत् ३५३ से ४१३ तक में आता है, जब खपटाचार्य का स्वर्गवास निर्वाण ४८४ में होना लिखा है,[६२] अब कहिए, आर्य खपट का बलमित्र के राज्य में विचरना कैसे संगत हो सकता है?

सर्व परंपरा, पट्टावलियाँ और प्रबंधों से ज्ञात होता है कि कालकाचार्य वीर निर्वाण संवत् ४५३ में मौजूद थे और इनके भानजे बलमित्र भानुमित्र भी इसी समय में भरोच तथा उज्जयिनी में राज्य करते थे।[६३] यदि बलमित्र भानुमित्र का राजत्वकाल निर्वाण संवत् ३५३ और ४१३ के बीच मान लिया जाय—जैसा कि प्रचलित

६२ देखो प्रभावकचरित्र का निम्नलिखित उल्लेख—

"श्रीवीरमुक्तितः शतचतुष्टये चतुरशीतिसंयुक्ते।
वर्षाणां समजायत श्रीमानाचार्यखपटगुरुः॥ ७६॥

—प्रभावकचरित्रविजयसिंहप्रबंध पृ० ७४।

६३ कालकाचार्य का भानजा बलमित्र भरोच का राजा था ऐसा प्रभावकचरित्र के निम्न उद्धृत श्लोकों से ज्ञात होता है—

"इतश्चास्ति पुरं लाट ललाटतिलकप्रभम्।
भृगुकच्छं नृपस्तत्र बलमित्रोऽभिधानतः॥ ६४॥"

—प्रभावकचरित्रपादलिप्त पृ० ४८।

अशुद्ध गाथाओं के अनुसार आता है—तो कालक और बलमित्र भानुमित्र का समान-कालीनत्व कैसे हो सकेगा ?

ये अनेक विरोध और असंगतियाँ इस भूल के कारण उपस्थित होती हैं जो हमारे संशोधन के बाद नहीं ठहर सकतीं ।

ऊपर हमने जो भूलसंबंधी तर्क किया है, वह केवल कल्पना ही नहीं है, पर तित्थोगाली पइन्नय के लेख से भी यही प्रमाणित होता है कि इसकी गणनाविषयक गाथाओं में कुछ भूल प्रविष्ट हो गई है, क्योंकि आधुनिक पाठ के अनुसार वीर निर्वाण से शक तक के राजाओं के राजत्वकाल के ५५३ वर्ष ही आते हैं, पर हमें चाहिए ६०५ वर्ष, क्योंकि इन्हीं गाथाओं में लिखे हुए वर्षों का जोड़ बताती हुई आगे की गाथा में निर्वाण-शक के अंतर के ६०५ वर्ष और ५ मास दिए हैं, इससे निश्चित है कि उक्त पयन्ने की वर्तमान गाथाओं में से ५२ वर्ष छूट गए हैं, और यह ५२ वर्ष की भूल "सट्ठिसयं" के स्थान "मट्ठिसयं" हो जाने का ही परिणाम हो सकता है ।

गर्दभिल्लों के १५२ वर्ष

हम ऊपर देख चुके हैं कि प्रचलित गणना में मौर्यकाल में से ५२ वर्ष छूट गए हैं, पर पिछले लेखकों ने गर्दभिल्लों के १५२ वर्ष मानकर इस कमी को दूरकर वीर निर्वाण और शक का ६०५ वर्ष का अंतर ठीक कर लिया । इस संबंध में आचार्य मेरुतुंग निम्नलिखित गाथा देते हैं—

"तथा श्रीकालकाचार्य स्वस्त्रीयः श्रीयशोनिधिः ।
भृगुकच्छपुरं पाति, बालमित्राभिधो नृपः ॥ ३०८ ॥"
—प्र० च० पादलिप्त प्रबंध पृ० ६७ ।

बलमित्र उज्जयिनी का राजा था यह बात निशीथचूर्णि और कालकाचार्य कथा में लिखी है, देखो टिप्पण नं० ४१ में उद्धृत इन ग्रंथों के उल्लेख ।

"विक्कमरज्जाणंतर, सतरसवासेहिं वच्छरपवित्ती ।
सेसं पुण पणतीससयं, विक्कमकालम्मि य पविट्ठं ॥"

इसकी व्याख्या वे इस तरह करते हैं-

"सप्तदशवर्षैर्विक्रमराज्यानंतरं वत्सरप्रवृत्तिः । कोऽर्थः ?, नभोवाहनराज्यात् १७ वर्षैर्विक्रमादित्यस्य राज्यम् । राज्यानंतरं च तदैव वत्सरप्रवृत्तिः । ततो द्विपंचाशदधिकशत (१५२) मध्यात् १७ वर्षेषु गतेषु शेषं पंचत्रिंशदधिकशतं (१३५) विक्रमकाले प्रविष्टम्" अर्थात् '१७ वर्षों में विक्रम राज्य के अनंतर संवत्सर चला, इसलिये १५२ में से १७ वर्ष पहले व्यतीत हो चुके थे और १३५ वर्ष विक्रम और शक के अंतर में प्रविष्ट हैं । इस तरह गर्दभिल्ल के राज्यारंभ से शक संवत्सर तक कुल १५२ वर्ष होते हैं ।'

गर्दभिल्लों के १५२ वर्ष सिद्ध करने के लिये मेरुतुंग को यह द्राविड़ीय प्राणायाम करना पड़ा है, क्योंकि किसी भी तरह उन्हें निर्वाण और शक के बीच ६०५ वर्षों का मेल मिलाना था, पर मेरी समझ में उनका यह अर्थ उक्त गाथा से उपस्थित नहीं हो सकता । गाथा के पूर्वार्द्ध का स्पष्ट और स्वाभाविक अर्थ तो यही है कि 'विक्रम राज्य के बाद १७ वर्षों में संवत्सर की उत्पत्ति हुई ।'

राजत्वकालगणना के विवेचन में हम कह चुके हैं कि 'बलमित्र' ही जैनों का विक्रमादित्य[६४] है । निर्वाण संवत् ४५३ में गर्दभिल्ल को उठाकर कथावली आदि के मतानुसार वह उज्जयिनी के राज्या-

---

६४ संस्कृत भाषा में 'बल' और 'विक्रम' शब्द एकार्थक हैं और 'मित्र' तथा 'आदित्य' भी समानार्थक हैं, इसलिये 'बलमित्र' कहो या 'विक्रमादित्य' दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है । संभव है, बलमित्र ही उज्जयिनी के सिंहासन पर बैठने के बाद 'विक्रमादित्य' नाम से प्रख्यात हुआ हो, अथवा उस समय वह 'बलमित्र' और 'विक्रमादित्य' इन दोनों नामों से प्रसिद्ध होगा और 'कृतसंवत्सर' के साथ 'विक्रम' नाम प्रचलित होने के बाद पूर्वोक्त ५२ वर्ष की भूल के परिणाम कालभिन्नता से बलमित्र और विक्रमादित्य भिन्न भिन्न मान लिए गए होंगे ।

सन पर बैठा[६५]। और इसके बाद १७ वर्षों में (निर्वाण सं० ४७०) मालव संवत्सर की प्रवृत्ति हुई, यही घटना पूर्वोक्त गाथा के पूर्वार्द्ध में सूचित की है, पर मौर्यों के राजत्व काल में से ५२ वर्ष छूट जाने के कारण पीछे से इस स्वाभाविक अर्थ की व्यवस्था असंगत हो गई थी इसी लिये आचार्य मेरुतुंग को अस्वाभाविक कल्पना करने की जरूरत पड़ी।

मत्स्य ब्रह्मांड और वायुपुराण में कुल ७ गर्दभिल्ल राजा लिखे हैं,[६६] और ब्रह्मांडपुराण में गर्दभिल्लों का राजत्वकाल सिर्फ ७२ वर्ष का लिखा है।[६७] 'तित्थोगाली पइन्नय' में गर्दभिल्लवंश्य राजाओं की संख्या तो नहीं पर उनका राजत्वकाल १०० वर्ष प्रमाण लिखा है, तब आचार्य मेरुतुंग गर्दभिल्ल १७, विक्रमादित्य ६० धर्मादित्य ४०, भाइल्ल ११, नाइल्ल १४ और नाहड़ १०, इस तरह गर्दभिल्ल

---

६५ अनेक चूर्णियों और कालक कथाओं के लेखानुसार उज्जयिनी के गर्दभिल्ल को उठा के वहाँ के राज्यासन पर कालकाचार्य का आश्रयदाता शाहि बिठलाया गया था, पर भद्रेश्वरसूरि की कथावली में एक ऐसा उल्लेख है जो गर्दभिल्ल के अनंतर ही उज्जयिनी के राज्यासन पर कालक के भानजे बलमित्र का अभिषेक हुआ बताता है। देखो कथावली का निम्नलिखित लेख—

"साहिप्पमुहराएहिं चाहिसित्तो उज्जेणीए कालगसूरिभाणेज्जो बलमित्तो नाम राया, तक्कणिट्ठभाया य भाणुमित्तो नामाहिसित्तो जुवरायाँ।"

—कथावली। २। २८१।

६६ "सप्तैवांध्रा भविष्यंति, दशाभीरास्तथा नृपाः।
सप्त गर्दभिलाश्चापि, शकाश्चाष्टादशैव तु॥ १८॥"

मत्स्यपुराण अ० २७३। पत्र २१६।

"सप्तषष्टिं च वर्षाणि, दशाभीरास्ततो नृपाः।
सप्तगर्दभिनश्चैव भोक्ष्यंतीमां द्विसप्ततिम्॥ ७४॥"

—ब्रह्मांडपुराण म० भा० उपो० पा० ३। अ० ७४

सप्तैव तु भविष्यंति, दशाभीरास्ततो नृपाः।
सप्तगर्दभिनश्चापि, ततोऽथ दश वै शकाः॥ ३५२॥"

—वायुपुराण उत्त० अ० ३७

६७ देखो टिप्पण नं० ६६ में उद्धृत ब्रह्मांडपुराण का श्लोक।

आदि ६ पुरुषों में १५२ वर्षों का समावेश करते हैं,[९८] जो स्वाभाविक रीत्या अधिक है। मेरे मत से तो मेरुतुंग के विक्रमादित्य और धर्मादित्य, बलमित्र और नभःसेन से भिन्न नहीं हैं। विक्रमादित्य और धर्मादित्य का राजत्वकाल मेरुतुंग क्रमशः ६० और ४० वर्ष का देते हैं, तब बलमित्र और नभःसेन ने भी अनुक्रम से ६० और ४० वर्ष तक राज्य किया था। मेरुतुंग विक्रमादित्य को गर्दभिल्ल का पुत्र लिखते[९९] हैं, बलमित्र भी गर्दभिल्ल का पुत्र अथवा वंशज होना चाहिए, क्योंकि गर्दभिल्ल के बाद वह उज्जयिनी के राज्य का अधिकार प्राप्त करता है। बलमित्र-भानुमित्र १२ वर्ष तक उज्जयिनी का शासन करते हैं और इनके बाद संभवतः इन्हीं का पुत्र वा वंशज नभःसेन ४० वर्ष तक उज्जयिनी का राज्य करता है, ये ५२ (१२ + ४० = ५२) वर्ष गर्दभिल्लों के १०० वर्षों में जोड़ देने से गर्दभिल्लों के १५२ वर्ष का लेखा भी मिल जाता है। और दर्पण १, बलमित्र २, भानुमित्र ३, नभःसेन ४, भाइल्ल ५, नाइल्ल ६ और नाहड़ ७ इस प्रकार गर्दभिल्लों की पुराणोक्त संख्या भी मिल जाती है।

यदि उपर्युक्त हमारा अनुमान ठीक माना जाय तो इसका अर्थ यही होगा कि मौर्यकाल में से जो ५२ वर्ष छूट गए थे उनकी

---

९८ देखो मेरुतुंगीय विचारश्रेणी का निम्नलिखित अवतरण—

"× × × गर्दभिल्लः। १३। शकाः ४। एवं ४७०। तदनु विक्रमादित्यः ६०। धर्मादित्यः ४०। भाइल्लः ११। नाइल्लः १४। नाहडः १०। एवं १३५। उभयं ६०५।"

—विचारश्रेणि पत्र ३।

इस प्रकार मेरुतुंगसूरि शक संबंधी ४ वर्ष सहित ६ गर्दभिल्लीय राजाओं का राजत्वकाल १५२ वर्ष प्रमाण लिखते हैं।

९९ देखो विचारश्रेणि का नीचे लिखा हुआ उल्लेख—

"तदनु गर्दभिल्लस्यैव सुतेन विक्रमादित्येन राज्ञोज्जयिन्या राज्यं प्राप्य सुवर्णपुरुषसिद्धिबलात् पृथिवीमनृणां कुर्वता विक्रमसंवत्सरः प्रवर्तितः।"

—विचारश्रेणि पत्र ३।

जगह पूरी करने के लिये पिछले लेखक बलमित्र के १२ और नभः-सेन के ४० वर्षों को भूल से दुबारा गिनकर लेखा ठीक करते थे।

१३ वर्ष के मतभेद का कारण

हम ऊपर देख आए हैं कि राजत्वकालगणना में कुछ गड़बड़ अवश्य हो गई थी, पर निर्वाण और शक के अंतर में मतभेद नहीं था। माथुरी गणना से, वालभी गणना से, मौर्यों के १६० वर्ष मानने से और उनके १०८ वर्ष मानने से भी निर्वाण और शक का अंतर तो ६०५ वर्ष तक ही आता था। इससे यह तो निश्चित है कि जब शक संवत्सर की प्रवृत्ति हुई वहाँ तक जैनों में महावीर निर्वाण के संबंध में कोई मतभेद नहीं था। परंतु पूर्व वर्णित ५२ वर्ष इधर उधर हो जाने के बाद जब—

"विक्कमरज्जाणंतर तेरसवासेहिं वच्छरपवित्ती।"

—इस वाक्य का वास्तविक अर्थ चला गया और—

'वीर निर्वाण से ४७० वर्ष के बाद विक्रम राजा हुआ और पृथिवी को उऋण करके राज्य के तेरहवें वर्ष में उसने अपना संवत्सर चलाया।'

जब इस तरह की अथवा इससे मिलती जुलती मान्यता रूढ़ हो चली[100] तभी से इस १३ वर्ष की आधिक्यवाली मान्यता का समर्थन किया जाने लगा।

---

१०० जब से विक्रम नाम के साथ संवत् लिखने की प्रथा चली है तभी से इस विषय में अनेक प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित हो चुकी हैं। 'विक्रम पहले अवंति का राजा हुआ और पीछे उसने पृथिवी का ऋण चुकाकर अपना संवत्सर चलाया' इस आशय के उल्लेख भी अनेक ग्रंथों में हैं।

प्रभावकचरित्र के जीवदेवसूरि प्रबंध में आचार्य प्रभाचंद्रसूरि ने लिखा है कि 'जिस समय आचार्य जीवदेवसूरि वायट नगर में थे उस समय विक्रमादित्य अवंती (उज्जयिनी) में राज्य करता था, संवत्सर प्रवृत्ति के निमित्त पृथिवी का ऋण चुकाने के लिये राजा ने अपने मंत्री लींबा को वायट भेजा जहां उसने प्रसिद्ध महावीर का मंदिर जीर्ण देखा, मंत्री ने उसका जीर्णोद्धार कराकर विक्रम संवत् ७ में जीवदेवसूरि के हाथ से ध्वजदंड की प्रतिष्ठा कराई।'

प्रबंध के मूल शब्द इस प्रकार हैं—

"इतः श्रीविक्रमादित्यः शास्त्यवंतीं नराधिपः ।
अनृणां पृथिवीं कुर्वन् प्रवर्तयति वत्सरम् ॥ ७१ ॥
वायटे प्रेषितोऽमात्यो लिम्बाख्यस्तेन भूभुजा ।
जनानृण्याय जीर्णं चाऽपश्यच्छ्रीवीरधाम तत् ॥ ७२ ॥
उद्धार स्ववंशेन निजेन सह मंदिरम् ।
अर्हतस्तत्र सौवर्ण-कुंभदंडध्वजालिभृत् ॥ ७३ ॥
संवत्सरे प्रवृत्ते स षट्सु वर्षेषु पूर्वतः ।
गतेषु सप्तमस्यांतः प्रतिष्ठां ध्वजकुंभयोः ॥ ७४ ॥
श्रीजीवदेवसूरिभ्यस्तेभ्यस्तत्र व्यधापयत् ।
अद्याऽप्यभङ्गं तत्तीर्थममूदृग्भिः प्रतिष्ठितम् ॥ ७५ ॥

—प्रभावकचरित्र पृ० ८३ ।

जिनप्रभसूरि के पावापुरी कल्प में भी इसी आशय का उल्लेख है कि 'महावीर-निर्वाण के अनंतर पालक, नंद, चंद्रगुप्त आदि राजाओं के बाद ४७० वर्ष पर विक्रमादित्य राजा होगा। ४७० वर्ष का लेखा इस प्रकार है—पालक वर्ष ६०, नवनंद १५५, मौर्य वंश १०८, पुष्यमित्र ३०, बलमित्र भानुमित्र ६०, नरवाहन ४०, गर्दभिल्ल १३ और शक राज्यवर्ष ४। कुल जोड़ ४७०। इसके बाद विक्रमादित्य राजा होगा। वह (विक्रम) सुवर्ण पुरुष को सिद्ध करके पृथिवी को उऋण कर अपना संवत्सर चलावेगा।'

उक्त कल्प का मूलपाठ इस प्रकार है—

"मह मुक्खगमणाओ पालय-नंद-चंदगुत्ताइ-राईसु वोलीणेसु चउसयसत्तरेहिं वासेहिं विक्कमाइच्चो राया होही। तत्थ सट्ठी वरिसाणं पालगस्स रज्जं, पणपन्नसयं नंदाणं, अट्ठुत्तरं सयं मोरियवंसाणं, तीसं पूसमित्तस्स, सट्ठी बलमित्त-भाणुमित्ताणं, चालीसं नरवाहणस्स, तेरस गद्दभिल्लस्स, चत्तारि सगस्स। तओ विक्कमाइच्चो, सो साहियसुवण्णपुरिसो पुहविं अरिणं काउं नियसंवच्छरं पवत्तेही।"

—पावापुरी कल्प पत्र ६।

इन उल्लेखों से यह तो स्पष्ट झलकता है कि वीरनिर्वाण से ४७० वर्ष के बाद विक्रमादित्य राजा हुआ और उसके बाद कालांतर में उसने अपना संवत्सर प्रचलित किया, पर वह अंतर कितने वर्षों का था इसका इन उल्लेखों में स्पष्टीकरण नहीं है।

माथुरी वाचनावालों के मतानुसार वीर निर्वाण और विक्रम संवत्सर का अंतर ४७० वर्ष का था, इस मान्यता को व्यक्त करते हुए वे कहते—

"विक्कमरज्जारंभा, पुरओ सिरिवीरनिव्वुई भणिया
सुन्नमुणिवेयजुत्तो, विक्कमकालाउ जिणकालो ॥"[१०१]

अर्थात् 'विक्रम राज्यारंभ के ४७० वर्ष पहले वीर निर्वाण हुआ इसलिये विक्रमकाल में ४७० वर्ष मिलाने पर जिनकाल होगा।'

इस मान्यता के उत्तर में वालभी वाचनानुयायी कहते थे—नहीं, विक्रमकाल में ४७० वर्ष ही नहीं, पर ४८३ वर्ष डालने से जिन-काल आयगा, क्योंकि ४७० वर्ष का अंतर तो निर्वाण और विक्रम राज्यारंभ का है, और राज्यारंभ के बाद १३ वर्ष में विक्रम संवत्सर प्रवृत्त हुआ इसलिये ४८३ (४७० + १३ = ४८३) डालने से ही वीर और विक्रम संवत् का अंतर निकलेगा। इसी तात्पर्य को सूचित करनेवाली निम्नलिखित गाथा विद्यमान है—

"विक्कमरज्जाणंतर तेरसवासेसु वच्छरपवित्ती ।
सिरिवीरमुक्खओ वा चउसयतेसीइवासाओ ।"[१०२]

---

१०१ यह गाथा मेरुतुंग व्याख्यात स्थविरावली में है, इसका उत्तरार्द्ध मात्र धर्मघोषसूरि की कालसप्ततिका में भी है। इसके सिवा प्रकीर्णक गाथा पत्रों में भी यह गाथा अनेक जगह दृष्टिगत होती है, पर अभी तक यह मालूम नहीं हुआ कि यह गाथा है किस ग्रंथ की और किसकी रचना।

१०२ यह गाथा भी किस मौलिक ग्रंथ की है इसका पता नहीं है। हमने यह गाथा बड़ोदे के सेठ अम्बालाल नानाभाई के पुस्तकभंडार में रक्षित प्रकीर्णक प्राचीन पत्रों में से लिखी थी। यही गाथा मेरुतुंगीय विचारश्रेणि के परिशिष्ट में भी दृष्टिगोचर होती है पर वहाँ इसके चतुर्थ चरण में "चउसय तेसीइ" के स्थान में "चउसय तेवीस" पाठ है। साथ ही वहाँ नीचे लिखा है कि 'यह गाथा तित्थोगाली प्रकीर्णक में है' (तित्थुगाली प्रकीर्णके) परंतु वर्तमान में उपलब्ध तित्थोगाली प्रकीर्णक में यह गाथा नहीं है। मालूम होता है, अनेक गाथाएँ जैसे तीर्थोद्वार प्रकीर्णके नाम पर चढ़ा दी गई हैं उसी प्रकार इस पर भी किसी ने योंही तित्थोगाली प्रकरण की मुहर लगा दी है। कुछ भी हो, पर यह तो निश्चित है कि वीरनिर्वाण के संबंध में जैनों में १३

यद्यपि इस गाथा के सिवाय दूसरे किसी ग्रंथ में यह स्पष्ट नहीं लिखा कि विक्रम राज्य के किस वर्ष में संवत्सर की प्रवृत्ति हुई थी, पर अनेक लेखक यह तो अवश्य कहते हैं कि निर्वाण से ४७० वर्ष में विक्रम का राज्य प्रारंभ हुआ और बाद में संवत्सर प्रचलित हुआ।[१०३]

कुछ भी हो, पर यह बात तो निश्चित है कि पिछले समय में जैन संघ में एक ऐसा समुदाय भी वर्तमान था, जो वीर निर्वाण का विक्रम राज्यारंभ से और उसके नाम से प्रचलित संवत्सर से जुदा जुदा अंतर मानता था और इस मान्यता का कारण मेरे विचार से ५२ वर्ष के विपर्यास के परिणामस्वरूप—

"तेरसवासेसु वच्छरपवित्ती"—

इस वाक्य के वास्तविक अर्थ का विस्मरण और काल्पनिक अर्थ की उत्पत्ति ही था। और वालभी गणना में जो १३ वर्ष अधिक आते थे वे इस मान्यता के समर्थक थे।

निर्वाण समयविषयक दिगंबरीय सम्मति

अब तक हमने निर्वाण-समय का विचार श्वेतांबर जैनों के सूत्र और प्रकरणों के आधार पर ही किया है, पर इस विषय में दिगंबर जैनाचार्यों की क्या सम्मति है इसका उल्लेख नहीं किया। किंतु जहाँ तक हमारा खयाल है, निर्वाण समय के बारे में प्रामाणिक दिगंबराचार्यों का भी वही मत है जो श्वेतांबर जैनाचार्यों ने "तित्थोगाली पइन्नय" आदि ग्रंथों में निरूपण किया है।

यह बात बार बार कही गई है कि हमारी गणना में वीर निर्वाण और शक संवत्सर के बीच ६०५ वर्ष और ५ मास का अंतर माना गया है, और ठीक यही मान्यता दिगंबर जैनाचार्य यति वृषभ की

वर्ष का मतभेद रूढ़ होने के उपरांत विक्रम संवत् लिखने की प्रवृत्ति शुरू होने के बाद की ये दोनों गाथाएँ हैं जो दोनों पक्ष के मत की रूपरेखा प्रदर्शित करती हैं।

१०३ देखो टिप्पण नं० १००।

"तिलोय पन्नत्ति" और सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्य नेमिचंद्र के "तिलोय सार" में दृष्टिगोचर होती है।

प्रस्तुत विषय की तिलोय पन्नत्ति की गाथा यह है—

"णिव्वाणे वीरजिणे, छव्वाससदेसु पंचवरिसेसु।
पणमासेसु गदेसु, संजादो सगणिओ अहवा।"[१०४]

अर्थात् 'वीर निर्वाण के बाद ६०५ वर्ष और ५ मास के बीतने पर शक राजा हुआ।'

---

१०४ 'अहवा' का अर्थ विकल्प दर्शन है। इससे ज्ञात होता है कि गाथोक्त समय के उपरांत उस समय इसके संबंध में दूसरे विकल्प भी थे जिनका यति वृषभ ने 'अहवा' से सूचन किया है और इस प्रसंग पर दूसरी गाथाओं में उनका निरूपण भी किया है।

इन मतविकल्पों में एक मान्यता यह थी कि 'वीरनिर्वाण से ४६१ वर्ष के बाद ४६२ में 'शक राजा' उत्पन्न हुआ।' यह मान्यता विक्रम और शक राजा को एक मानने संबंधी भूल का परिणाम है। जैसे त्रिलोकसार की टीका में माधव चंद्र ने निर्वाण से ६०५ वर्ष पीछे होनेवाले शक राजा को 'विक्रमांक' कहने की भूल की है ("श्रीवीरनाथ निर्वृतेः सकाशात् पंचोत्तर-षट्छतवर्षाणि गत्वा पश्चाद्विक्रमांक· शकराजोऽजायत।") वैसे ही इस मान्यतावालों ने विक्रम को शक समझने की भूल की। यति वृषभ के समय में दूसरी मान्यता यह थी कि वीरनिर्वाण के बाद ९७८५ वर्ष और ५ मास बीतने पर शक राजा हुआ था, और तीसरी कल्पना यह थी कि वीर निर्वाण से १४७९३ वर्ष बीतने पर शक राजा हुआ। ये तीनों मत त्रिलोक प्रज्ञप्ति की निम्नलिखित गाथाओं से स्पष्ट होते हैं—

"वीरजिणे सिद्धिगदे, चउसदइगसट्ठिवासपरिमाणे।
कालम्मि अदिक्कंते, उप्पन्नो एत्थ सगराओ॥
अहवा वीरे सिद्धे, सहस्सणवकंमि सगसयब्भहिए।
पणासीदिंमि अतीदे, पणमासे सगणिओ जादो॥
चोद्दससहस्ससगसय तेणउदिवासकालविच्छेदे।
वीरेसरसिद्धीदो, उप्पण्णो सगणिओ अहवा॥"

इन गाथाओं के प्रतिपादन के अनुसार क्या सचमुच ही यति वृषभ के समय में वीर और शक के अंतर के संबंध में भिन्न भिन्न मान्यताएँ होंगी? अथवा इन गाथाओं का कुछ और ही तात्पर्य है? विद्वानों को इन गाथाओं की पूरी समालोचना करनी चाहिए।

यही बात नेमिचंद्र के 'तिलोय सार' की नीचे की गाथा में भी कही है—

"पण छस्सयवस्सपणमासजुदं गमियवीरणिव्वुइदो सगराजो" ।
तो कक्की [ति] चदुणवतिमहियसगमासं ॥[१०५]

अर्थात् 'वीर जिन के निर्वाण से ६०५ वर्ष और ५ मास व्यतीत होने पर शक राजा हुआ ।'

उपर्युक्त दोनों प्राचीन दिगंबराचार्यों की निर्वाण-विषयक काल-गणना हमारी गणना के साथ बराबर एकरूप हो जाती है, और वर्त-मान कालीन दिगंबर संप्रदाय भी इन्हीं आचार्यों के कथनानुसार शक से पहले ६०५ वर्ष और ५ मास के अंतर पर ही वीर निर्वाण संवत् मानता है, इसलिये यह कहना अनुचित नहीं होगा कि निर्वाण समय के विचार में दोनों जैन संप्रदाय प्रारंभ से लेकर आज तक एक-मत हैं, और हमारी समझ में प्रचलित निर्वाण समय की सत्यता में यह एक सबल प्रमाण गिना जा सकता है ।

निर्वाण समयविषयक आधुनिक मतभेद

अब हम महावीर के निर्वाण-समय-संबंधी आधुनिक मतभेदों की कुछ चर्चा करके इस लेख को पूरा करेंगे ।

जब से डाक्टर हर्मन याकोबी ने आचार्य हेमचंद्र के एक उल्लेख के आधार पर महावीर निर्वाण के प्रचलित संवत् की सत्यता में संदेह

---

१०५ इस गाथा में 'सगराजो' पर्यंत शक का वृत्तांत है, और उसके बाद राजा कल्कि का । दिगंबर जैनाचार्यों की मान्यता यह है कि वीर निर्वाण के बाद १००० वर्ष बीतने पर प्रथम कल्की और दूसरे हजार वर्ष की संधि में दूसरा कल्की होगा, इस प्रकार हर एक हजार हजार वर्ष की संधि में एक एक कल्की होगा । इस प्रकार २० कल्की होने के बाद २१ वाँ जलमंथन नामक सन्मार्ग का मथन करनेवाला कल्की होगा ।

प्रथम कल्की शक संवत् ३९४ वर्ष और ७ मास में होने का इस गाथा में उल्लेख है इससे यह बात सिद्ध हो चुकी कि वीरनिर्वाण और शक संवत् के बीच जो ६०५ वर्ष ५ मास का अंतर बताया जाता है वही दिगंबर जैना-चार्यों की सैद्धांतिक मान्यता है ।

उपस्थित करके निर्वाण समय के निर्णय में अपना नया मत प्रदर्शित किया है तब से इस विषय की अधिक चर्चा और समालोचना हो रही है।

डा० हर्मन याकोबी और इन्हीं के मतसमर्थक डाक्टर जार्ल चारपेंटियर प्रचलित वीर निर्वाण संवत् में से ६० वर्ष कम करके ई० स० पूर्व ४६७ वर्ष पर महावीर का निर्वाण होना बताते हैं।[१०६]

इस मत के समर्थक विद्वानों की मुख्य दलीलें ये हैं—

(१) 'जिन गाथाओं के आधार पर निर्वाण समय का प्रतिपादन किया गया है, उन गाथाओं में बताए हुए राजाओं का और स्थानों का कुछ भी ऐतिहासिक-संबंध न होने से उनके सत्तासमय के आधार पर की गई निर्वाण-समय गणना सत्य नहीं हो सकती।'

(२) 'महावीर निर्वाण के बाद ४७० वर्ष पर विक्रम संवत् मानकर जो निर्वाण संवत् माना जाता है वह भी ठीक नहीं हो सकता। क्योंकि उस समय में संवत्सरप्रवर्तक विक्रम नामक किसी व्यक्ति के अस्तित्व का ही इतिहास में पता नहीं है, तो उसके नाम से प्रचलित संवत्सर के आधार पर निर्वाण संवत्सरगणना निर्दोष कैसे हो सकती है?'

(३) 'बौद्ध साहित्य से बुद्ध और महावीर की समकालीनता सिद्ध होती है, और बुद्ध का निर्वाण ई० स० पहले ४७७ वर्ष पर हुआ था यह बात निश्चित हो चुकी है, अब जो महावीर का निर्वाण प्रचलित परंपरानुसार ई० स० पहले ५२७ वर्ष पर मान लिया जाय तो महावीर के निर्वाणसमय में बुद्ध की अवस्था सिर्फ ३० वर्ष की होगी; जिस समय कि उन्हें बोधिज्ञान तक प्राप्त नहीं हुआ था तो वे महावीर के समकालीन धर्मप्रवर्तक कैसे हो सकते हैं?'

---

१०६ महावीर के निर्वाण समय के संबंध में प्रो० याकोबी ने कल्पसूत्र और सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट पुस्तक २२ की प्रस्तावना में चर्चा करके निर्वाण समय ई० स० पूर्व ४६७ वर्ष पर स्थापित करने का प्रयत्न किया है, और इन्हीं की दलीलों के आधार पर डा० जार्ल चारपेंटियर ने अधिक विस्तृत निबंध लिख के प्रो० याकोबी के मत का समर्थन किया है। यह लेख इस विषय में आज तक लिखे गए पाश्चात्य विद्वानों के सब लेखों से अधिक विस्तृत है।

डा० याकोबी और चारपेंटियर के निबंधों की ये ही मुख्य दलीलें हैं, और इन सबके संक्षिप्त उत्तर मेरे इस लेख में आ भी गए हैं, पर फिर भी स्पष्टता के विचार से इस विषय में यहाँ कुछ लिखना ठीक होगा।

प्रथम दलील के जवाब में ज्यादा लिखना वृथा है क्योंकि राजत्वकाल-गणना-पद्धति के विवेचन में ही हमने लिख दिया है कि यह गणना किसी राजवंश की वंशावली या पट्टावली नहीं है, किंतु स्मृतियों की एक श्रृंखला है। जैन साधु किसी भी राजवंश या राजस्थान के ग्रासभोगी कीर्तिगाथक नहीं होते थे जो भाटों की तरह हमेशा वहीं रहकर उस वंश की वंशकथा लिखते रहते, किंतु अपने धार्मिक नियमों के अनुसार देश परदेश में भ्रमण करनेवाले अप्रतिबद्ध विहारी साधु थे, वे जिस समय जहाँ होते वहाँ के अधिक प्रसिद्ध राजा के राजत्व काल को अपनी गणना में संबंधित कर लेते थे जिसका कारण मात्र यही था कि निर्वाण काल गणना में किसी तरह की भूल प्रविष्ट न हो जाय, इसलिये इस पद्धति में ऐतिहासिक संबंध ढूँढ़ना निरर्थक है।

बलमित्र भानुमित्र और कालकाचार्य का समय परस्पर न मिलने की जो शिकायत थी वह अवश्य ही विचारणीय थी, पर अब हमारे संशोधन के बाद यह शिकायत भी दूर हो जाती है।

संवत्सरप्रवर्तक विक्रम नामक व्यक्ति के अस्तित्व-नास्तित्व की शंका[१०७] भी जैनगणना में कुछ भी असर नहीं डाल सकती, क्योंकि

इसके अतिरिक्त डा० हार्नेल, गुरिनॉट, राइस्, थॉमस, आदि ने भी महावीर-निर्वाण समय के विषय में लिखा है पर इनमें से अधिकतर विद्वानों का मत ई० स० ५२७ वर्ष पूर्व निर्वाण मानने के पक्ष में है इसलिये इनकी यहाँ समालोचना करना अनावश्यक है।

१०७ अधिकतर पुरातत्त्ववेत्ताओं का कथन है कि 'ई० स० से ५७ वर्ष के अंतर पर जो संवत्सर प्रचलित है उसके साथ विक्रम का वास्तविक कोई संबंध नहीं है। शिलालेख, सिक्का आदि कोई भी ऐसा प्रमाण नहीं है कि इस संवत्सर-प्रवृत्ति के समय में 'विक्रम' नामक व्यक्ति का अस्तित्व भी साबित कर

हमारी प्राचीन गणना निर्वाण से आरंभ होकर ६०५ वर्ष और ५ मास के अंत में शक संवत्सर से आ मिलती है और तब से दोनों संवत्सर आज तक उसी अंतर पर चले आ रहे हैं।

विक्रमादित्य (बलमित्र) की मृत्यु के पीछे ५ वर्ष के उपरांत चले हुए मालवगण संवत् के साथ जब से विक्रम का नाम जुड़ा और उसका व्यवहार में अधिक अंतर प्रयुक्त होने लगा[१०८] तब से जैन लेखकों ने

सके। पहलें पहल 'विक्रमादित्य' उपाधि का उल्लेख द्वितीय चंद्रगुप्त के नाम के साथ मिलता है, इसके पहले किसी का नाम या उपाधि 'विक्रमादित्य' हो ऐसा कुछ भी साधक प्रमाण नहीं है। प्रचलित संवत्सर के साथ विक्रम का नाम बहुत पीछे से लिखा जाने लगा है। ९ वीं सदी के पहले के किसी भी लेख पत्र में संवत् के साथ 'विक्रम' शब्द लिखा नहीं मिलता, इसलिये या तो इस संवत्सर प्रवर्तन के समय में विक्रम नामधारी कोई राजा ही नहीं हुआ, और यदि कोई इस नाम वाला व्यक्ति हुआ भी हो तो उसका इस संवत्सर प्रवृत्ति के साथ कोई संबंध नहीं था।'

हमारे विचार में यद्यपि यह संवत्सर विक्रमादित्य ने नहीं चलाया, पर उस समय में अथवा उसके आस पास के समय में 'विक्रम' नामक व्यक्ति का अस्तित्व मानने में कोई आपत्ति नहीं है। तित्थोगाली पइन्नय की कालगणना में निर्दिष्ट 'बलमित्र' ही वास्तव में संवत्सर संबंधित विक्रमादित्य है। उसका उज्जयिनी में राज्य हुआ, उसके बाद १३ वर्ष पर प्रचलित संवत्सर का आरंभ हुआ था जब कि बलमित्र-विक्रमादित्य को मरे पाँच वर्ष पूरे हो चुके थे, इस भाव को व्यक्त करनेवाली कई प्राचीन जैन गाथाएँ हैं जिनका हमने इसी लेख में यथास्थान उपयोग किया है। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि शुरू में इस संवत्सर के साथ विक्रम का खास संबंध नहीं था यह बात ठीक है, पर इस नाम का कोई राजा ही नहीं हुआ यह नहीं कहा जा सकता। हाल-गाथा-सप्तशती में विक्रमादित्य की प्रशंसा में लिखी हुई एक गाथा उपलब्ध होती है। यदि यह गाथा-सप्तशती सातवाहन वंश के राजा हाल की अथवा उसके समय की कृति मानने में कोई आपत्ति नहीं है तो उसके पहले विक्रमादित्य नामक राजा का अस्तित्व मानने में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

१०८ मालवगण संवत् के साथ विक्रम नाम कब से लिखा जाने लगा इसका निश्चय होना मुश्किल है, क्योंकि नौवीं शताब्दी के पहले के किसी लेख में संवत् के साथ 'विक्रम' शब्द लिखा हुआ नहा मिलता, पर संभव

भी वीर-विक्रम का अंतर बतानेवाली गाथाएँ बना डालीं, और मेरुतुंग सूरि आदि पिछले लेखकों ने उन्हीं गाथाओं के आधार पर विक्रम के ४७० वर्ष पहले महावीर का निर्वाण-समय बताया, तो इसमें भी संदेह करने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि शक के १३५ वर्ष पूर्व और वीर निर्वाण से ४७० वर्ष पीछे एक संवत् चला था यह बात लगभग सर्वमान्य है, मेरुतुंग ने जो निर्वाण और विक्रम संवत् के बीच ४७० वर्ष का अंतर लिखा है उसका तात्पर्य इसी संवत्सर के अंतर से है, चाहे यह संवत् विक्रम से चला हो या दूसरे किसी से।

अब रही बुद्ध और महावीर की समकालीनता की बात, सो यह तो हम भी मानते हैं कि ये दोनों महापुरुष समकालीन ही थे, पर बुद्ध के संदेहपूर्ण निर्वाण-समय को निश्चित मान लेने और महावीर-निर्वाण-समय को, जो निश्चित और निस्संदेह है, इधर उधर घसीट-कर उलटा अव्यवस्थित बना देनेवाली पाश्चात्य विद्वानों की नीति को हम किसी तरह स्वीकार नहीं कर सकते।

है कि इसके बहुत पहले से यह संवत् विक्रम के नाम से प्रसिद्ध हो चुका होगा। जैसे शक संवत् पुराने समय में केवल 'संवत्' लिखा जाता था और कालांतर में 'शक संवत्' लिखा जाने लगा वैसे ही यह संवत् भी पहले विक्रम के नाम से पहिचाना जाता होगा, पर लिखने में केवल 'संवत्' लिखा जाता होगा और जब से शक संवत्, गुप्त संवत् आदि अनेक संवतों ने अपने विशेष नामों के साथ प्रचार पाया होगा तब से इस मालव संवत् ने भी मालवा के प्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य का नाम अपने साथ ले लिया होगा।

जैन ग्रंथों में पहले पहल आचार्य देवसेन के 'दर्शनसार' ग्रंथ में संवत् के साथ विक्रम के नाम का उल्लेख हुआ दृष्टिगोचर होता है। दर्शनसार के कर्ता उक्त आचार्य विक्रम की १० वीं सदी में थे। इसके बाद ग्यार-हवीं सदी के जैन विद्वान् धनपाल की 'पाइअलच्छी नाममाला' में और आचार्य अमितगति के 'सुभाषित रत्नसंदोह' में विक्रम-संवत् का उपन्यास है और इसके बाद के समय में बने हुए ग्रंथों और लेखों में तो ज्यादातर विक्रम संवत् का ही दौरदौरा है, पर दसवीं सदी के पहले के किसी जैन ग्रंथ में इस संवत् के साथ विक्रम शब्द का उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया।

बुद्ध का निर्वाण-समय आज से ही नहीं; हजारों वर्षों से संशयास्पद है, यह कहने की शायद ही जरूरत होगी।

चीनी यात्री फाहिआन ने, जो ई० स० ४०० में यहाँ आया था, लिखा है कि "इस समय तक निर्वाण से १४९७ वर्ष व्यतीत हुए हैं।" *

इससे बुद्ध निर्वाण का समय ई० स० पूर्व १०९७ (१४९७— ४०० = १०९७) के आस पास आता है।

प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनत्संग, जो ई० स० ६३० में यहाँ आया था, अपनी भारतयात्रा के वर्णन में लिखता है—

"श्री बुद्धदेव ८० वर्ष तक जीवित रहे। उनके निर्वाण की तिथि के विषय में बहुत से मतभेद हैं। कोई वैशाख की पूर्णिमा को उनकी निर्वाण-तिथि मानता है। सर्वास्तिवादी कार्तिक पूर्णिमा को निर्वाण-तिथि मानते हैं। कोई कहते हैं कि निर्वाण-काल को १२ सौ वर्ष हो गए। किन्हीं का कथन है कि १५ सौ वर्ष बीत गए। कोई कहते हैं अभी निर्वाण-काल को ९०० वर्ष से कुछ अधिक हुए हैं।"*

इससे मालूम होता है कि हुएनत्संग के समय में बुद्ध निर्वाण-काल के विषय में कम से कम तीन तरह की मान्यताएँ थीं, किसी के मान्यतानुसार बुद्ध निर्वाण ई० स० पूर्व ५७० (१२००—६३० = ५७०) वर्ष पर आता था, किसी के विचार से ८७० वर्ष पर और किसी के मत से २७० वर्ष से कुछ ही अधिक समय पर।

बौद्धों के पालिग्रंथ अशोक के राज्याभिषेक से पूर्व २१८ वर्ष पर बुद्ध का निर्वाण होना प्रतिपादित करते हैं, तब दिव्यावदान प्रमुख उत्तरीय बौद्ध ग्रंथ अशोक के पहले १०० वर्ष पर ही बुद्ध का परिनिर्वाण हुआ बताते हैं। चीन के बौद्ध ई० स० पूर्व ६३८ में बुद्ध का निर्वाण होना मानते हैं, और सीलोन, ब्रह्मा और श्याम में बुद्ध-निर्वाण ई० स० से ५४४ वर्ष पूर्व हुआ माना जाता है और यही मान्यता आसाम के राज-गुरुओं की भी है।

---

* भारतीय प्राचीन लिपिमाला।

इन भिन्न भिन्न मतों के देखने पर यही कहना पड़ता है कि बौद्धों के दोनों संप्रदाय बुद्ध के निर्वाण-समय को बहुत पहले ही भूल चुके थे। पर, हाँ कहीं कहीं इस विषय की सत्य परंपरा भी मौजूद थी, कि जिसके आधार से बुद्धघोष ने महावंशोक्त निर्वाण-समय-गणना का समंतपासादिका में संशोधन करके निर्वाण-समय को ठीक किया है और, जहाँ तक मेरा विचार है, सीलोन ब्रह्मा आदि में जो आजकल बुद्ध-निर्वाण-समय माना जाता है वह बुद्धघोष का संशोधित समय ही है।

यह तो पूर्व काल और वर्तमान समय की बौद्ध परंपराओं की बातें हुईं, पर इतर विद्वानों का भी बुद्ध के निर्वाण-समय के विषय में एक मत नहीं है। जिन जिन ने इस विषय पर चर्चा की है, उनमें से अधिक संख्यक विद्वानों ने अपनी अपनी भिन्न राय ही कायम की है।

डा० बुलहर की राय से बुद्ध का निर्वाण ई० स० पूर्व ४८३–२ और ४७२–१ के बीच में स्थिर होता है। प्रो० कर्न के मत से ई० स० पूर्व ३८८ में, फर्गुसन के विचार से ४८१ में, जनरल कनिंगहाम की सम्मति से ४७८ में, मेक्समूलर तथा मि० बैनरजी के कथनानुसार ४७७ में, पंडित भगवान्लाल इंद्रजी के खयाल से ६३८ में, फ्लीट के अन्वेषणानुसार ४८२ में और डा० व्हीलर तथा तुकाराम कृष्ण लाडू के निर्णयानुसार ४८३ में और वी० ए० स्मिथ के प्रथम शोध के अनुसार ५४३ में और पिछले शोध के अनुसार ई० स० ४८७ पूर्व महात्मा बुद्ध का परिनिर्वाण समय आता है।

इस प्रकार निर्वाण समय के विषय में कम से कम पंद्रह तरह की मान्यताओं की विद्यमानता में निश्चित रूप से यही मान लेना कि बुद्ध का निर्वाण ई० स० पूर्व ४७७ में ही हुआ था, हमारी समझ में केवल मनस्विता है।

भारतवर्षीय विद्वानों में महावीर निर्वाण-समय के संबंध में सबसे पहले और विवेचना-पूर्वक विचार करनेवाले श्री के० पी०

जायसवाल हैं। आपने 'पाटलिपुत्र' 'बिहार-ओरिसा पत्रिका' आदि हिंदी और अँगरेजी पत्रों में निर्वाण-विषयक अनेक लेख दिए हैं और अपनी यह राय स्थिर की है कि महावीर-निर्वाण ई० स० पूर्व ५२७ या ४६७ में नहीं वरन् ५४५ में हुआ था।

प्रस्तुत विषय में आपकी दलीलें ये हैं—

'शाक्य भूमि के शामगाम में रहे हुए बुद्ध ने ज्ञातपुत्र का पावा में मरण हुआ सुना। इस मतलब का जो अंगुत्तर निकाय में उल्लेख है वह प्रामाणिक है और इसके अनुसार महावीर का निर्वाण बुद्ध निर्वाण से पहले हुआ सिद्ध होता है।'

'जैन गणना में जो वीर निर्वाण और विक्रम संवत् के बीच में ४७० वर्ष का अंतर माना जाता है वह वस्तुतः सरस्वतीगच्छ की पट्टावली के लेखानुसार निर्वाण और विक्रमजन्म के बीच का अंतर है, विक्रम १८ वें वर्ष में राज्याभिषिक्त हुआ और उसी वर्ष से संवत् प्रचलित हुआ। इस प्रकार वीरनिर्वाण से (४७० + १८ =) ४८८ वर्ष पर विक्रम संवत्सर की प्रवृत्ति हुई, पर जैन-गणना में से उक्त १८ वर्ष छूट जाने से निर्वाण से ४७० वर्ष पर ही संवत्सर माना जाने लगा जो स्पष्ट भूल है।'

'ब्रह्मा और सीलोन आदि की दंतकथाओं के आधार पर बुद्ध-निर्वाण ई० स० ५४४ के पूर्व होना सिद्ध है, इसलिये वीरनिर्वाण भी इसके पहले ई० स० ५४४ पूर्व मानना युक्तिसंगत है।'

मि० जायसवाल की प्रथम दलील के उत्तर में हमें यहाँ कुछ भी लिखने की जरूरत नहीं है, क्योंकि इस बात का खुलासा हमने इसी लेख में "बुद्ध की जीवित अवस्था में ज्ञातपुत्र का कालधर्म-सूचक बौद्ध उल्लेख" इस हेडिंग के नीचे कर दिया है।

दूसरी दलील वीर और विक्रम के अंतर के विषय में है सो यह भी निर्वाण-समय के निर्णय में कुछ भी प्रकाश नहीं डाल सकती, क्योंकि प्राचीन जैन निर्वाण-गणना का संबंध शक संवत्सर के साथ है, न कि विक्रम संवत् के साथ। निर्वाण और शक का ६०५ वर्ष

का अंतर जो पुराने समय में था वही आज भी है, इसलिये इस विषय में शंका उठाने का कोई भी कारण नहीं है।

निर्वाण के बाद ४७० वर्ष में विक्रम का जन्म, ८ वर्ष तक बाल-क्रीड़ा, १६ वर्ष तक देश-भ्रमण, २५ वर्ष तक मिथ्या धर्मयुक्त राज्य और ४० वर्ष तक जैन-धर्मयुक्त राज्य करके विक्रम की स्वर्गगति बतानेवाली जो पट्टावली और विक्रम प्रबंध की गाथा[109] है वह बिलकुल नवीन और दंतकथा के ऊपर गढ़ी हुई है। ऐसी अप्रामाणिक नूतन गाथाओं के आधार पर चिर-प्रचलित व्यवस्थित गणना को अन्यथा ठहराना हम किसी तरह योग्य नहीं समझते।

हम देखते हैं कि श्वेतांबरों की तरह दिगंबर संप्रदाय में भी जब से विक्रम संवत् का प्रचार हुआ है, कई तरह की भूलें घुसनी शुरू हो गई थीं, कोई विक्रम के जन्म से संवत्सर प्रवृत्ति मानता था,[110] कोई

---

१०९ श्रीयुत जायसवाल ने इस विषय में सरस्वती गच्छ की पट्टावली के जिस उल्लेख का निर्देश किया है वह इस प्रकार है—

"वीरात् ४९२ विक्रम जन्मांतर वर्ष २२, राज्यांत वर्ष ४।"

पट्टावली का यह लेख कितना अनिश्चित और आधुनिक है यह बताने की शायद ही जरूरत होगी।

प्रबंध की गाथाएँ भी बिलकुल अर्वाचीन और अशुद्ध हैं, इनका रचनाकाल शायद ही विक्रम की १६ वीं या १७ वीं सदी के पहले का हो।

पाठकगण के अवलोकनार्थ हम विक्रम प्रबंध की उन गाथाओं को नीचे अवतरित करते हैं; जिनमें विक्रम जीवन-काल को भिन्न भिन्न वर्षों में बाँटा है—

"सत्तर चउसद जुत्तो(त्ते), ति(जि)णकालेविक्कमो हवइजम्मो।
अट्ठवरस बालळीला, सोडसवासेहि(साइं) भम्मए देसो(सं)।
वरस पणवीसा रज्जं, कुणत्ति मिच्छोवदेससंजुत्तो।
चालीस वरस जिणवर-धम्मं पालिय सुरपइं लहियं॥"

(इन गाथाओं का तात्पर्यार्थ मूल लेख में आ गया है।)

११० टिप्पण नं० १०९ में उल्लिखित सरस्वती गच्छ की पट्टावली के आधुनिक उल्लेख से जाना जाता है कि शायद पट्टावलीकार के समय में किसी किसी की मान्यता विक्रम के जन्म से विक्रम संवत् मानने की होगी, पर इस विषय का कोई भी प्रामाणिक उल्लेख नहीं है।

विक्रम के राज्याभिषेक से संवत्सर का प्रारंभ गिनते थे,[१११] और कोई कोई विक्रम की मृत्यु से ही संवत् का आरंभ मानते थे।[११२]

---

१११ विक्रम के राज्याभिषेक से संवत्सर प्रवृत्ति मानने का दिगंबराचार्यों के किन किन ग्रंथों में विधान है इसका इस समय मेरे पास कोई खुलासा नहीं है, परंतु जहाँ तक मेरा खयाल है, जिन जिन आचार्यों ने अपने ग्रंथों में सामान्यतया विक्रम संवत् का उल्लेख किया है वे सब राज्याभिषेक से विक्रम संवत् माननेवाले होने चाहिएँ, क्योंकि यह एक सामान्य प्रथा है कि संवत्सर यदि किसी राजा के नाम का होता है तो वह उसके राज्याभिषेक वर्ष से ही शुरू हुआ माना जाता है और उसका निर्देश सामान्य होता है, पर जहाँ उसका अन्य घटना के साथ संबंध होता है वहाँ बहुधा उस घटना का भी साथ ही निर्देश किया जाता है, जैसे 'वीरनिर्वाण संवत्' तथा 'विक्रममृत्यु संवत्' का। यहाँ पर 'निर्वाण' और 'मृत्यु' घटना का निर्देश किया जाता है।

११२ विक्रम की मृत्यु से संवत्सर प्रवृत्ति माननेवाले आचार्यों में दिगंबर जैनाचार्य्य देवसेन सूरि का नाम खास उल्लेखनीय है। इन्होंने अपने 'दर्शनसार' नाम के ग्रंथ में जहाँ जहाँ ऐतिहासिक घटनाओं का निरूपण किया है वहाँ सर्वत्र विक्रम मृत्यु संवत् का ही उल्लेख है। पाठकों के अवलोकनार्थ हम यहाँ पर दर्शनसार की उन गाथाओं को उद्धृत करेंगे—

"छत्तीसे वरिससए, विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्ठे वलहीए, उप्पण्णो सेवडो संघो॥
पंचसये छव्वीसे, विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिणमहुराजादो, दाविडसंघो महामोहो॥
सत्तसये तेवण्णे, विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
नंदयडे वरगामे, कट्ठासंघो मुणेयव्वो॥"

पाठक-गण देखेंगे कि उक्त प्रत्येक गाथा के पूर्वार्ध में विक्रम मृत्युसंवत्सर का उल्लेख है।

इसके उपरांत आचार्य अमितगति ने अपने 'सुभाषित रत्नसंदोह' में और पं० वामदेव ने 'भावसंग्रह' में विक्रममृत्युसंवत् का उल्लेख किया है, जो नीचे के पद्यों से ज्ञात होगा—

"समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे,
सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पञ्चाशदधिके।
समाप्तं पञ्चम्यां भवति धरणीं मुञ्जनृपतौ,
सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम्॥"

—सुभाषितरत्नसंदोह।

अवश्य ही विक्रम संवत्सर के विषय में मतभेद था, पर कौन मान्यता ठीक थी और कौन गलत, इस बात की चर्चा करने की हमें कोई जरूरत नहीं है। हमारी गणना का मर्यादा-स्तंभ शक काल है और उसमें किसी प्रकार का मतभेद नहीं है।

मि० जायसवाल की इस मान्यता के साथ हम सहमत हैं कि बुद्ध निर्वाण का समय वही ठीक है, जो सीलोन, ब्रह्मा तथा श्याम के बौद्ध और आसाम के राजगुरु मानते हैं। पर हम यह नहीं मान सकते कि महावीर का निर्वाण बुद्ध-निर्वाण के पहले हो चुका था। हमारी राय में बुद्धनिर्वाण के उपरांत बहुत अर्से तक महावीर जीवित रहे थे। इस बात को हमने प्रारंभ में ही स्पष्ट कर दिया है, और हमारी इस गणना में कोई भी विरोध नहीं आता। बल्कि जैन सूत्रों और बौद्ध ग्रंथों का ठीक समन्वय भी हो जाता है जो कि पहले बताया जा चुका है।

वीर निर्वाण शक-पूर्व ६०६ (वर्तमान) और विक्रम पूर्व ४७१ (वर्तमान) वर्ष में हुआ[११३] इस हिसाब से ई० स० पूर्व ५२८

"सप्तत्रिंशे शतेऽब्दानां, मृते विक्रमराजनि।
सौराष्ट्रे वल्लभीपुर्यामभूत्तत्कथ्यते मया॥"

—वामदेवकृत भावसंग्रह।

११३ वर्तमान समय के जैन पञ्चाङ्गों में वीरनिर्वाण के गत वर्ष लिए जाते हैं, पर इस बात को समझनेवाला शायद ही कोई जैन विद्वान् होगा। इस समय विक्रम संवत् का १९८६ वाँ तथा शक का १८५१ वाँ वर्ष वर्तमान है, हमारे जैन पञ्चाङ्गों में यही वर्ष वीर निर्वाण संवत का २४५५ वाँ वर्ष लिखा हुआ है। इसके संबंध में यदि आप कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा के पहले किसी जैन विद्वान् से यह पूछेंगे कि 'अब तक वीर निर्वाण को कितने वर्ष बीते ?' तो तुरंत वह कह उठेगा कि 'निर्वाण को २४५४ वर्ष बीत चुके और ५५ वाँ चलता है,' पर यह वास्तविक उत्तर कोई भी नहीं देगा कि '२४५५ वर्ष बीत चुके और ५६ वाँ चलता है', इसका कारण स्पष्ट है, वर्तमान काल में जो जो संवत् प्रचलित हैं वे बहुधा वर्तमान वर्ष के सूचक हैं, इस कारण से वीर संवत् के संबंध में भी यही मान लेते हैं कि संवत् का अंतिम अंक वर्तमान वर्ष का बोधक है, पर यह कोई भी नहीं सोचता कि हमारे पंचाङ्गों में वीर संवत् के

(वर्तमान) वर्ष के अक्टोबर और नवंबर के बीच में वीरनिर्वाण का समय आता है।

महावीर निर्वाण के पहले १४ वर्ष और ५½ मास पर बुद्ध का परिनिर्वाण हुआ यह बात हम पहले लिख आए हैं, इस सिद्धांतानुसार बुद्ध का निर्वाण ई० स० पूर्व ५४२ (वर्तमान) वर्ष के मई मास में आएगा। सीलोन आदि के बौद्ध ई० स० पूर्व ५४४-३ में निर्वाण मानते हैं। इस मान्यता और हमारी जैन और बौद्ध गणना के बीच एक वर्ष का अंतर है जो कि विशेष महत्त्व नहीं रखता। यदि हम यह मान लें कि वैशाख महीने में बुद्ध ने महावीर के मरण की खबर सुनी और बाद में आगामी कार्तिक की सुदी ८ अथवा सुदी १५ को वे देहमुक्त हुए[११४] तो बुद्ध महावीर के निर्वाण का अंतर करीब १५ वर्ष का आयगा और इस प्रकार बुद्ध का निर्वाण-समय ई० स० पूर्व ५४३ में आयगा जो सीलोन आदि की परंपरा से प्राय: मिल जाता है।

आगे जो वर्षसूचक अंक समुदाय है वह गत वर्षों का बोधक है। वीर संवत् २४५५ का अर्थ यह नहीं है कि निर्वाण का चौबीसौ पचपनवाँ वर्ष चलता है। पर इसका अर्थ यही है कि निर्वाण को २४५५ वर्ष बीत चुके हैं और इसके ऊपर का (छप्पनवाँ) वर्ष चलता है।

हम उन जैन पंचांगप्रकाशक व्यक्तियों और संस्थाओं से अनुरोध करते हैं कि या तो वे अपने पंचांगों में यह स्पष्ट सूचना कर दिया करें कि ये निर्वाण के गत वर्ष हैं। यदि यह सूचना देना ठीक न समझें तो निर्वाणगत वर्षगण में एक संख्या बढ़ाकर उसे वर्तमान वर्ष-सूचक बना लें ता कि निर्वाण-संवत् के विषय में १ वर्ष का जो भ्रम फैला हुआ है वह दूर हो जाय।

११४ पहले कहा गया है कि बुद्ध की निर्वाण-तिथि के संबंध में बौद्ध-संप्रदायों में अनेक मत थे जिनमें सर्वास्तिवादी बौद्ध संप्रदाय बुद्ध का निर्वाण कार्तिकी पूर्णिमा के दिन मानता था। संभव है, सीलोन, ब्रह्मा आदि देशों में जो ई० स० पूर्व ५४४—४३ वर्ष पर बुद्ध निर्वाण होने की मान्यता है वह इसी सर्वास्तिवादी संप्रदाय की निर्वाणतिथि-विषयक मान्यता को प्रमाण मानकर प्रचलित हुई होगी।

उपसंहार

महावीर निर्वाण संवत् के विषय में हमारा वक्तव्य यहाँ पूरा होता है। इस विषय के अन्वेषण में हमें अद्यावधि जो जो प्रमाण प्राप्त हुए और उनके आधार पर हमारा जो मत निश्चित हुआ उसकी रूपरेखा यहाँ बताई गई है।

जैन काल-गणना संबंधी सिर्फ उन्हीं बातों की हमने यहाँ चर्चा की है, जो हमारे प्रस्तुत विषय में खास उपयुक्त थीं। बाकी काल-गणना की चर्चा के लिये कोई खास मौका पसंद किया जायगा।

प्रारंभ से ही लेख को न बढ़ाने का हमारा संकल्प था इस सबब से अनेक बातें यहाँ संक्षेप में कही गई हैं, और अनेक उपयुक्त बातें टीका में लेनी पड़ीं अथवा छोड़ देनी पड़ी हैं। फिर भी लेख धारणा से जरा बढ़ गया है, जिसका कारण विषय की गहनता और विचारणीय बातों की प्रचुरता है।

अंत में एक निवेदन करना उपयुक्त समझता हूँ। वह यह कि जो जो महाशय इस विषय पर लिखना चाहें वे सब यथेच्छ लिखें, पर वह लेखन-प्रवृत्ति जिज्ञासा-जनित अथवा शोधक-बुद्धि-प्रयुक्त होनी चाहिए। क्योंकि जहाँ तहाँ नूतनता ढूँढ़ने की वृत्ति से अथवा केवल शौक पूरा करने के विचार से लिखने से न तो लेख की सार्थकता होती है और न लेखक के परिश्रम की सफलता।

आशा है, सहृदय विद्वान् मेरी इस नम्र प्रार्थना को अनुचित न समझेंगे।